साक्षात्कार करते थे। उनका काव्य मधुकी वृष्टि करनेवाला है और तर्कोंमें उनकी उक्तियाँ शत्रुओंको परास्त करने वाली है, ये बात ग्रन्थके अन्तस्थित—

"ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरा-
द्यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम्।
यत्काव्यं मधुवर्षि, धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः
श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याऽभ्युदीयादियम् ॥" २२–१५३

इस पद्यसे जानी जाती है। महाकवि श्रीहर्षका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दी है। ये न्याय, वेदान्त आदि अनेक शास्त्रोंपर पूर्ण अधिकार रखते थे। इनके ग्रन्थोंका संक्षिप्त परिचय देकर पीछे नैषधीयचरितपर कुछ लिखेंगे—

१ स्थैर्यविचारणप्रकरण—संभवतः इसमें बौद्धोंके क्षणिकवादका खण्डन होगा।

२ विजयप्रशस्ति—इसमें जयचन्द्रके पिता विजयचन्द्रकी प्रशस्ति है।

३ खण्डनखण्डखाद्य—इसमें न्यायकी रीतिका अवलम्बन कर न्यायका खण्डन और अद्वैतसिद्धान्तका मण्डन है। यह अत्यन्त दुरूह और पाण्डित्यका निकषग्रावा माना गया है। बादमें विक्रमकी सोलहवीं शताब्दीके शङ्करमिश्रने इसीकी शैलीपर "वादिविनोद" नामक ग्रन्थकी रचना की थी।

४ गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति—इसमें बङ्गदेशके किसी राजाकी प्रशस्तिका वर्णन है।

५ अर्णववर्णन—इसमें समुद्रका वर्णन होगा।

६ छिन्दप्रशस्ति—इसमें छिन्द नामके किसी राजाकी प्रशस्तिका वर्णन होगा।

७ शिवशक्तिसिद्धि—नामके अनुसार इसमें भी शिव और शक्तिकी सिद्धि की गई होगी।

८ नवसाहसाङ्कचरितचम्पू—संभवतः राजा भोजके पिता "नवसाहसाङ्क" उपाधिवाले सिन्धुराजका चरित होगा।

९ नैषधीयचरित महाकाव्य—महाकविने इसे "तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले" कहकर चिन्तामणि मन्त्रके चिन्तनके फलस्वरूप बतलाया है। इसमें कुल २२ सर्ग हैं। रत्नाकर महाकविके "हरविजय महाकाव्य"—(जिसमे ५० सर्ग हैं) को छोड़कर प्रचलित अन्य समस्त महाकाव्योंमें यह विशाल और श्रेष्ठ है। इसमें तेरहवाँ सर्ग ५६ श्लोकोंका, १५वाँ सर्ग ९३ श्लोकोंका और उन्नीसवाँ सर्ग ६७ श्लोकोंका है। इनको छोड़कर

अन्य सर्गोंमे श्लोकोंकी संख्या शताऽधिक है। किं बहुना १७वाँ सर्ग २२२ श्लोकोंका है।

इसमे समष्टि श्लोकसंख्या २८२८ है। कहा जाता है कि अपने आश्रयदाता महाराज जयचन्द्रकी आज्ञासे महाकविने इस महाकाव्यको रचा था। इसमें उन्नीस छन्दोका प्रयोग किया गया है जिनमें सबसे अधिक उपजाति छन्द है जिसमे ७ सर्ग लिखे गये हैं। वंशस्थमें ४ सर्ग हैं। इनके अतिरिक्त दोधक, वसन्ततिलका, स्वागता, द्रुतविलम्बित, रथोद्धता, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा, शिखरिणी और अनुष्टुप् आदि छन्द है। १७वाँ सर्ग तो अनुष्टुप् छन्दोंमे ही रचित है। इस महाकाव्यपर २३ टीकाएं रची गई है ऐसा प्रतीत हुआ है, जिनमें प्राचीनमें मल्लिनाथकी जीवातु और नारायण पण्डितकी प्रकाश टीका तथा नवीन-मे जीवानन्द विद्यासागर और म० म० हरिदास सिद्धान्तवागीशकी टीकाएं उपलब्ध है, और टीकाएं केवल नाममात्रसे प्रसिद्ध है। श्रीहर्षके ग्रन्थोंमे नैषधीयचरित और खण्डनखण्डखाद्य उपलब्ध हैं अन्य अप्राप्य हैं।

नैषधीयचरितका उपजीव्य है महाभारतके वनपर्वस्थित नलोपाख्यान। इसमे आरम्भमें नलके अनुपम गुणगणोका सविस्तर वर्णन है। दमयन्तीके पूर्वानुरागकी भी विशद चर्चा है। अनन्तर नलकी दमयन्तीमें आसक्ति, दमयन्तीके विरहसे अधीर होकर राजा वनविहारके लिए जाते हैं, वहाँ तालाबके पास एक हंसको पकडते हैं। मनुष्यकी वाणीमें उसका विलाप सुनकर उसको छोड देते है। वह फिर आकर उनसे दमयन्तीका वर्णन करता है, और दमयन्तीके साथ राजाका सम्बन्ध करानेका प्रण कर दमयन्तीके पास जाता है। हंस दमयन्तीसे राजा नलके सौन्दर्य और गुणोंका वर्णन करता है। राजा भीम दमयन्तीके स्वयंम्बरका प्रयोग करते हैं। नारदके मुखसे स्वयम्बरका समाचार सुनकर इन्द्र, यम, वरुण और अग्निके साथ दमयन्तीके स्वयंवरमें जानेके लिए प्रस्तुत होते हैं। रास्तेमे नलको देखकर अपने कौशलसे उन्हे अपना दूत बनाते हैं। बडे समारोहसे स्वयंवर होता है, चारों देवता नलका रूप लेकर उपस्थित होते हैं। नलका निश्चय करनेमें असमर्थ होकर दमयन्ती व्याकुल होती है। अन्तमें देवगण उनकी पति-भक्तिसे प्रसन्न होकर अपने चिह्नोंको प्रकट करते हैं। तब दमयन्तीके साथ नलका विवाह होता है। लौटते समय कलिके साथ देवताओंका सामना होता है। कलिके नास्तिकवाद प्रकाशित करनेपर देवगण उसका खण्डन करते हैं। कलि नलके ऊपर कुपित होकर उनको पीडित करनेका प्रण करके द्वापरके साथ अन्यत्र कहीं उपयुक्त

स्थान न देखकर उनके बागीचेमे रहकर अवसर ताकता रहता है। अन्तमे नल और दमयन्तीकी प्रथम मिलनरात्रिका मनोहर वर्णन करके ग्रन्थ समाप्त होता है।

नलोपाख्यानके अनुसार भाई पुष्करके साथ जूएमे राज्य गँवाकर नलका पर्यटन आदि वृत्तान्त न होनेमे यह महाकाव्य अधूरा-सा प्रतीत होता है। अतएव कहा जाता है कि इसमे पहले ६० सर्ग थे, परन्तु अभी २२ सर्ग मात्र उपलब्ध हैं। इसमें रस, अलङ्कार, ध्वनि, गुण, रीति आदि अलङ्कार शास्त्रके प्रत्यक विषयसे पूर्ण मौलिकता परिलक्षित होती है। कालिदासकी रचनाओंको छोड़कर पूर्ववर्ती समस्त कवियोंकी रचनाएँ इसके सामने हतप्रभ हो गई है। श्रीहर्षने आलङ्कारिकोंके नियमका भी पूर्णरूपसे पालन नही किया है, वर्णनोमे उनकी विलक्षण कल्पनाओंकी उड़ानने सब सीमाका अतिक्रमण कर दिया है। श्री-हर्षने अलङ्कार आदिके प्रयोगोंमे दर्शन और व्याकरणसे उदाहरण लेकर अपनी अनोखी सूझबूझका परिचय दिया है। संस्कृतभाषामे श्रीहर्षका असाधारण अधिकार देखा जाता है। "नैषध विद्वदौषधम्" यह प्रसिद्ध जनश्रुति है। नैषधको शास्त्रकाव्य कहनेमे कुछ भी अत्युक्ति नही प्रतीत होती है। अलङ्कारोंमे उन्होंने अतिशयोक्ति, अपह्नुति, अर्थान्तरन्यास, उपमा, व्यतिरेक, रूपक आदिमे अपना बेजोड कौशल प्रदर्शित किया है। यमक आदि शब्दाऽलङ्कारके प्रयोगमें भी वे अपनी सानी नही रखते है। हाँ, भारवि और माघके समान एकाक्षर और द्वयक्षरवाले श्लोकोका प्रदर्शन कर श्रीहर्षने अपना काव्यशिल्प नहीं दरसाया है, वस्तुतः यह भूषण है, दूषण नही है। नैषधीयचरितके १३वें सर्गके ३४वें श्लोकमे उन्होने पञ्चनलीका वर्णन करनेमे अद्भुत और असाधारण वैदुष्य दिखाया है। नैषधीयचरितमे प्रसाद-गुण और वैदर्भी रीतिका पर्याप्त प्रदर्शन होनेपर भी माधुर्य और ओजोगुण और पाञ्चाली, आदि रीतिकी प्रचुरता उपलक्षित होती है। इस काव्यरत्नके रसास्वा-दनके लिए कठिन परिश्रम और परिमार्जित बुद्धि अपेक्षित है इसमें दो मत नहीं।

अब नैषधीयचरितके कुछ असाधारणश्लोकोंका प्रदर्शन कर इस प्रसङ्गका उपसंहार किया जाता है—

नलके प्रताप और यशका कैसा मनोहर वर्णन है—

"तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा।
तनोति भानोः परिवेषकैतवात्तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि॥ १-१४।

दमयन्तीके विरहसे सन्तप्त होनेपर भी नलके अयाचित-व्रतका पालन कितनी रमणीयतासे वर्णित है—

"स्मरोपतप्तोऽपि भृशं न स प्रभुर्विदर्भराज तनयामयाचत।
त्यजन्त्यसून्शर्म च मानिनो वर त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम् ॥ १–५०।

नलसे पकडे जानेपर हंसके मुखसे करुणरसका कैसा सजीव वर्णन है—

"मदेकपुत्रा जननी जराऽतुरा, नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो! विधे! त्वा करुणा रुणद्धि नो" ॥ १–१३५।

महाराज भीमकी पुरीका श्लिष्ट रूपमे कैसा मनोहर वर्णन है—

"स्थितिशालिसमस्तवर्णता न कथ चित्रमयी बिभर्तु या।
स्वरभेदमुपैतु या कथ कलिताऽनल्पमुखारवा न वा" ॥ २–९८।

नलकी साधुताका वर्णन व्याकरणपाण्डित्यप्रदर्शनपूर्वक कैसी प्रवीणतासे किया गया है—

"क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाऽभिधेया।
या स्वौजसा साधयितु विलासैस्तावत्क्षमानामपदं बहु स्यात्" ॥ ३–२३।

कितनी मार्मिकतासे नलके घोडोका वर्णन अधिकारूढवैशिष्ट्यरूपकसे प्रदर्शित है—

"विना पतत्त्र विनतातनूजैः समीरणैरीक्षणलक्षणीयैः।
मनोभिरासीदनणुप्रमाणैर्न निर्जिता दिक्कतमा तदश्वै" ॥ ३–३७।

कैसी सूझबूझसे नलके गुणोका अतिशयोक्तिसे अशक्यवर्णन प्रतिपादित किया है—

"यदि त्रिलोकी गणनापरा स्यात्तस्याः समाप्तिर्यदि नायुषः स्यात्।
पारेपरार्धं गणित यदि स्याद् गणेयनिःशेषगुणोऽपि स स्यात्" ॥ ३–४०।

चन्द्रमे स्थित कलङ्कको उत्प्रेक्षा और अपह्नुतिसे कैसी सजीवतासे दरसाया है—

"स्मरमुख हरनेत्रहुताऽशनाज्ज्वलदिदं विधिना चक्रषे विधुः।
बहुविधेन वियोगिवधैनसा शशमिषादथ कालिकयाऽङ्कितः" ॥ ४–७३।

इस पद्यमे देवताओंका विग्रह नही है, शब्द ही देवता है ऐसे मीमासासिद्धान्त-को कैसी विलक्षणतासे प्रस्तुत किया है—

"विश्वरूपकलनादुपपन्नं तस्य जैमिनिमुनित्वनुदीये।
विग्रहं मखभुजामसहिष्णुर्व्यर्थता मदशनि स निनाय" ॥ ५–३९।

सार अलङ्कारके द्वारा इन्द्रकी श्रेष्ठताका कैसा मनोहर वर्णन है—

"लोकस्रजि द्यौर्दिवि चादितेया अप्यादितेयेषु महान्महेन्द्रः ।
किङ्कर्तुमर्थी यदि सोऽपि रागाज्जागर्ति कक्षा किमत पराऽपि ॥ ६–८१ ।

स्वर्गसे भी भारतवर्षकी श्रेष्ठताका कितना सुन्दर वर्णन है—

"स्वर्गे सता शर्म, पर न धर्मा भवन्ति भूमाविह तच्च ते च ।
इष्टयाऽपि तुष्टि सुकरा सुराणा कथं विहाय त्रयमेकमीहे" ॥ ६–९८ ।

एक दमयन्तीको देखनेसे अनेक अप्सराओको देखनेका कौतुक पूर्ण होता है, इस बातको कैसी विलक्षणतासे दिखाया है—

"भ्रूश्चित्ररेखा च, तिलोत्तमाऽस्या नासा च, रम्भा च यदूरुसृष्टिः ।
दृष्टा तत· पूरयतीयमेकाऽनेकाऽप्सर प्रेक्षणकौतुकानि" ॥ ७–६२ ।

महाराज नल कामदेव और अश्विनीकुमारोसे भी सुन्दर हैं इस बातका दमयन्तीके मुखसे किस तरह विलक्षणतासे प्रदर्शित किया है—

"न मन्मथस्त्व स हि नाऽस्तिमूर्तिर्न वाऽऽश्विनेयः स हि नाऽद्वितीयः ।
चिह्नै किमन्यैरथवा तवेय श्रीरेव ताभ्यामधिको विशेष." ॥ ८-२६ ।

दमयन्ती नलको "आपकी वाणी मात्रके सुननेसे नाम सुननेकी इच्छा शिथिल नही हुई है" इस बातको दृष्टान्त अलङ्कारसे कैसे मधुरतापूर्वक कहती है—

"गिरः श्रुता एव तव श्रव सुधा , श्लथाऽभवन्नाम्नि तु न श्रुतिस्पृहा ।
पिपासुता शान्तिमुपैति वारिणा, न जातु दुग्धान्मधुनोऽधिकादपि" ॥ ६ ५ ।

नैषधीयचरितके एकसे नौ सर्गों तक आपातत· कतिपय मनोहर श्लोकोका प्रदर्शन किया गया है, इसको परिसंख्याके रूपमे नही समझना चाहिए ।

नैषधीयचरितकी इस नवीन चन्द्रकलाव्याख्यामे मैने प्राचीन तथा नवीन जीवातु, प्रकाश और जयन्तीका निरीक्षणपूर्वक छात्रोको सुगमतया बोध करानेका प्रयत्न किया है, मैं इस विषयमे कहाँ तक सफल हुआ हूँ इस विषयमे कृतवेदी विद्वद्गण तथा छात्रगण ही प्रमाण है ।

अन्तमे त्वरा और प्रमादके कारण होनेवाले स्खलनमे सूचनाकी प्रार्थना कर मैं अपने लघुवक्तव्यको समाप्त करता हूँ ।

वाराणसी, ब्रह्माघाट
सं० २०३३ मेषसंक्रान्तिः ।

शेषराजशर्मा

द्वितीय संस्करण

यद्यपि सस्कृतके महाकवियोकी कृतिमे एक-एक विशिष्ट उत्कर्ष विद्यमान है, जैसे प्रसादगुण, उपमा आदि अलङ्कार और वैदर्भी रीतिमे कालिदास, अर्थगौरव, प्रकृतिवर्णन आदिमे भारवि, पदलालित्य और अनुप्रास आदिमे दण्डी और वर्णन आदिकी व्यापकतामे बाणभट्ट अपनी सानी नही रखते है। तथाऽपि संस्कृत महाकाव्यमे महाकवि श्रीहर्ष अप्रतिम है। मैने पूर्व सस्करणकी भूमिकामें उनकी रचनाकी कतिपय विशेषताको प्रदर्शित किया है तो भी इस द्वितीय संस्करणमे भी थोडासा दिग्दर्शन करनेका प्रयास करता हूँ।

सभी जानते हैं कि प्रतिभा, लोकचरित्रविज्ञता और शास्त्रज्ञता इनसे काव्यकी उत्पत्ति होती है, इन तीनो गुणोके परिपाकसे काव्य चरम उत्कर्षको प्राप्त होता है। जैसे केवल शास्त्रज्ञता होनेसे कवित्व कुण्ठित होती है वैसे केवल लोकचरित्रविज्ञता होनेसे काव्य, ग्राम्यता आदि अनेक दोषोका स्थान होता है। मुरारिकविमे शास्त्रज्ञताकी मात्रा अधिक होनेसे उनके अनर्घराघवमें कवित्वका परिपाक नही हो पाया है। भवभूतिके उत्तररामचरितमे और दिङ्नागकी कुन्दमालाकी तुलनामे उनका अनर्घराघव नही ठहरता है। जैसे प्रतिभाके साथ साथ पूर्वोक्त दोनो गुणोका उत्कर्ष श्रीहर्षके नैषधीयचरितमे देखा जाता है सभवत. वैसा उत्कर्ष विश्वसाहित्यमे प्राप्त नही है।

नैषधीयचरित्रकी विशेषताको परखनेके लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थकी आवश्यकता है, इसलिए अभी इतनेसे ही सन्तोष करते है।

—शेषराजशर्मा

संक्षिप्त कथासार

[नवमसर्गपर्यन्त]

प्रथम सर्ग

निषध देशके महाराज नलके गुणोका वर्णन । उनके गुणोको दूत, द्विज और वन्दी आदिसे सुनकर विदर्भ देशके नरेश भीमकी पुत्री दमयन्तीका उनमे पूर्वरागका वर्णन । उसी तरह दमयन्तीके लोकोत्तर सौन्दर्य और गुणगणोको सुनकर उनपर नलके अनुरागका वर्णन । दमयन्तीके विरहसे आकुल होकर सभाभवनमे रहनेमे नलकी असमर्थता । मन बहलानेके लिए बागीचेमे जानेके लिए उनकी इच्छा । नलके घोडेका वर्णन । घुडसवार अपने वयस्योके साथ उपवनमे नलकी यात्राका वर्णन । उपवनके साथ वहाँके तालाबका सविस्तर वर्णन । वहाँपर एक सुनहरे हसको देखकर नलसे उसका ग्रहण । मनुष्यवाणीमे नलकी निन्दा कर अपनी माता, हसी और बच्चोकी शोचनीयताको प्रकाश कर हसका अतिकरुण विलाप करना । उससे आर्द्रचित्त होकर सहृदय नलका उसे छोड देना ।

द्वितीय सर्ग

नलसे छुटकारा पाकर हसका अपने घोसलेमे जाना और वहाँसे लौटकर फिर राजाके पास आना । हसका राजाके लिए मृगयाका समर्थन करना और प्रत्युपकारके लिए दमयन्तीका और उनके सौन्दर्य आदि गुणोंका सविस्तर वर्णन कर राजाके प्रति दमयन्तीकी आसक्ति उत्पन्न करानेकी प्रतिज्ञा करना । दमयन्तीके विरहसे अपनी अवस्थाका राजासे वर्णन । राजाकी अनुमतिसे आकाशमार्गसे हंसका कुण्डिनपुरके प्रति प्रस्थान । प्रस्थान-समयमे शकुन आदिका वर्णन। कुण्डिनपुर, वहाँके भवनोका और राजप्रसादका सविस्तर वर्णन । उपवनका वर्णन और हसका उपवनमे सखियोके साथ दमयन्तीको देखना ।

तृतीय सर्ग

दमयन्तीके पास जमीनपर हसका उतरना । उसे देखकर पकडनेके लिए दमयन्तीकी इच्छा । उनकी सखियोका निषेध । दमयन्तीका अभिप्राय जानकर प्रतारण कर हसका सखियोसे बहुत दूर एकान्त स्थानमे दमयन्तीको पहुँचाना और मनुष्यवाणीसे उनको उलहना देकर अपना परिचय देकर नलके गुणोका

सविस्तर वर्णन करना। हंसका नलके प्रति दमयन्तीका अनुराग उत्पन्न करनेका प्रयत्न करना और "मैंने आपको परिश्रान्त कर अपराध किया है, अत आपका कौन-सा ईप्सित कर्म करूँ ?" कहना। दमयन्तीका उत्तरके तौरपर आरम्भमे आकारगोपन करना और श्लेषसे द्व्यर्थक पदोका प्रयोग करना, तब नलके प्रति दमयन्तीका सन्देश देनेके लिए हंसकी असमर्थता प्रकट करनेपर दमयन्तीका व्यक्त रूपसे नलमे अपने अनुरागको प्रकाश करना तथा नलको अपने प्रीतिसन्देश देनेके लिए उपयुक्त अवसरका प्रतिपादन करना। हंसका भी नलकी विरहाऽवस्थाका वर्णन करना और दमयन्तीका नलके साथ सम्बन्धमे औचित्यका प्रतिपादन करना। इसी समय ढूँढती हुई सखियोका उस स्थानपर आना और रुखसत होकर हंसका विरहसे व्याकुल और अशोक वृक्षके नीचे शय्यामे लेटे हुए राजाके पास आकर कार्यकी सफलताकी सूचना करना।

चतुर्थ सर्ग

दमयन्तीकी विरहाऽवस्थाका करुण वर्णन। सखियोके सामने उपालम्भपूर्वक दमयन्तीका चन्द्रकी निन्दा और राहुकी स्तुति करना। पीछे उनकी सविस्तर कामदेवकी निन्दा करना। दमयन्तीका कामबाणसे विद्ध होकर ज्यादा बोलनेमे असमर्थ होना, सखियोके साथ उक्तिप्रत्युक्तिमे तत्पर होना जैसे कि पूर्वार्द्धमे सखियोका दमयन्तीको प्रबोध करना उत्तरार्द्धमें दमयन्तीका उत्तर देना। इसी प्रसङ्गमे नैराश्यके कारण दमयन्तीका बेहोश होना, उनको होशमे लानेके लिए सखियोका अनेक उपचार करना। दमयन्तीकी चेतनाका वर्णन, कोलाहल सुनकर राजा भीमका प्रधान मन्त्री और प्रधान वैद्यके साथ कन्याके अन्त.पुरमे आना तथा प्रधानमन्त्री और प्रधान वैद्यका एक ही पद्यमे भिन्न-भिन्न अर्थमें दमयन्तीके उपयुक्त उपचारका प्रतिपादन करना और राजाका स्वयंवर करानेकी सूचना कर दमयन्तीको आश्वासन देना।

पञ्चम सर्ग

राजा भीमका दमयन्तीके स्वयवरमे उपस्थितिके लिए अनेक राजाओको निमन्त्रण देना। उसी अवसरमे पर्वत मुनिके साथ देवर्षि नारदका आकाशमार्गमे इन्द्रके समीप जानेका वर्णन। आतिथ्य कर इन्द्रका "राजाओका धर्मयुद्धमे प्राणपरित्याग न करनेका" कारण पूछना। नारदका स्वयंवरमें दमयन्तीको प्राप्त करनेके लिए राजाओकी युद्धमे अप्रवृत्तिका वर्णन करना और युद्ध देखनेके लिए

अपनी इच्छाको प्रकट करना । इन्द्रका उपेन्द्रके संरक्षणमे युद्धमे अपनी अभीतिका प्रकाश करना और दोनो ऋषियोका मर्त्यलोकके प्रति प्रस्थान । यम, वरुण और अग्निके साथ इन्द्रका कुण्डिनपुरमे दमयन्तीके स्वयवरमे जानेके लिए प्रवृत्त होना, उस समय इन्द्राणी और अप्सराओके भिन्न-भिन्न मनोभावोका सविस्तर वर्णन । इन्द्र आदि देवताओका दमयन्तीके पास दूतीको और राजा भीमके पास मित्रभावसे अनेक उपहारोको भेजना । रास्तेमे रथमे आरूढ होकर कुण्डिनपुरमे प्रस्थानके लिए उद्यत नल का सौन्दर्य देखकर देवताओमे प्रत्येककी दमयन्तीकी प्राप्तिमे निराशाका वर्णन । इन्द्रका अपने साथ देवताओका परिचय देकर नलके प्रति अपनी अर्थिताको जतलाना । इन्द्रका कपट न जानकर अपनेको सौभाग्यशाली समझकर नलका उनकी इच्छा पूर्ण करनेके लिए स्वीकृति देना । तब इन्द्रका दमयन्तीके पास दूतरूपमे जानेके लिए नलसे प्रकाशरूपमे अनुरोध करना । देवताओका कपट जानकर स्वयम् दमयन्तीके प्रणयार्थी होनेसे नलकी अस्वीकृति जतानेपर इन्द्र आदि देवताओके सामूहिक प्रयासकर अदृश्य शक्ति देकर जबर्दस्ती-से नलको अपने दूतकर्ममे प्रवृत्त करना ।

षष्ठ सर्ग

रथमें आरूढ होकर वेगपूर्वक नलका कुण्डिनपुरमे पहुँचना । पहुँचनेके बाद ही उनकी मूर्तिका अदृश्य होना । नलका राजमन्दिरमे और अन्त पुरमे प्रवेश करना । भ्रमसे दमयन्तीका दर्शन होना, और अन्त पुरमे नलका अनेक महिलाओका अनेक क्रियाकलाप देखना । नलकी जितेन्द्रियताका वर्णन । स्त्रियोके स्पर्शसे वचनेके लिए नलका चतुष्पथ (चौराहा) । मे जाना, वहाँपर भी उनका अनेक स्त्रियोके सम्पर्कका वर्णन । अन्त.पुरमे माताको प्रणाम कर लौटती हुई दमयन्तीके साथ योग होनेपर भी भ्रमवश नलका न पहचानना तथा दमयन्तीका भी नलको न देखना । भ्रमणक्रमसे नलका दमयन्तीके प्रासादमे पहुँचना । वहाँपर नलका स्त्रियोकी अनेक क्रियाओको देखना । सखीसमाजमे विद्यमान दमयन्तीको नलका पहचानना । वहाँपर अग्नि, यमराज और वरुणकी दूतियोकी प्रार्थनाओमे दमयन्ती-की अस्वीकृतिसे नलको उनकी प्राप्तिमे प्रत्याशा । दमयन्तीको इन्द्रकी दूतीसे इन्द्रसन्देशका विशेष वर्णन । इन्द्रकी प्रार्थनाको स्वीकार करनेके लिए सखियोकी भी दमयन्तीसे अभ्यर्थना । दमयन्तीसे प्रौढिपूर्वक इन्द्रकी प्रणयप्रार्थनाका प्रत्याख्यान, नलमे आशाका सञ्चार होना ।

सप्तम सर्ग

दमयन्तीके अङ्गप्रत्यङ्गोमे नलका दृष्टिपात। नलका मन ही मन दमयन्तीके केशोसे आरम्भ कर नखपर्यन्त शरीरके अवयवोका सविस्तर वर्णन कर उनके समीप प्रकटरूप होनेकी इच्छा करना।

अष्टम सर्ग

दमयन्ती और उनकी सखियोका नलको देखकर अनेक मनोभावोका वर्णन। उनका नलसे "आप कौन है ? और कहाँसे आये है ?" इस प्रकार प्रश्न करनेमे भी असमर्थ होकर आसन छोडकर उठना, तब स्वयम् दमयन्तीका नलके प्रति मधुरवचनोसे स्वागत वाक्यका भाषण। आसनमे बैठनेका अनुरोध कर "आप कौन है ? कहाँसे आये हैं ? और कहाँ जायेंगे ?" इत्यादि प्रश्न कर दमयन्तीका नलके रूपकी प्रशसा करना। दमयन्तीका नलके कुल आदिका परिचय पूछकर उनमे नलत्वकी सभावना करना। तब आसनमे बैठकर नलका अपनेको इन्द्र आदि देवताओका सन्देश लेकर आया हुआ दूत बतलाना। क्रमपूर्वक नलका दमयन्तीके विरहसे इन्द्र, अग्नि, यम और वरुणकी अवस्थाका वर्णन करना और चारो देवताओके प्रणयसन्देशका वर्णन कर एकको वरण करनेके लिए प्रार्थना करना।

नवम सर्ग

नलवर्णित इन्द्र आदि देवताओके प्रणयसन्देशको अनसुना-सा कर दमयन्तीका पुन नलके कुल और नामका प्रश्न करना। उनमे अनावश्यकताका प्रतिपादन कर नलका देवताओकी प्रणय-प्रार्थनाका उत्तर देनेके लिए दमयन्तीसे अनुरोध कर अपनेको चन्द्रवंशका अङ्कुर बतलाकर "शिष्टलोग अपने नामका ग्रहण नही करते हैं" कहकर नामकीर्तनमे अपनी असमर्थता जताना। तब दमयन्तीका भी परपुरुषके साथ कुलललनाके संभाषणमे अनौचित्य प्रतिपादन कर देवताओके प्रणयसन्देशके उत्तर देनेमे अपनी असमर्थता दिखाना। तब दमयन्तीकी सखीका दमयन्तीके अभिप्रायको अपने वचनसे कहना और नलकी अप्राप्तिमे दमयन्तीकी आत्महत्या करनेका इरादा जताना। तब नलका आत्महत्या करनेपर भी दमयन्तीपर तत्त-द्देवताओंका अधिकार होनेका वर्णन करना। फिर उनका दमयन्तीसे देवताओमें किसी एकको वरण करनेके लिए अनुरोध करना। दमयन्तीका उस वाक्यको अनसुना-सा कर नलको यमदूतके समान कहना। तब सखीका नलके प्रति दमयन्तीका दृढ अनुरागका वर्णन करना, तब भी दूतकर्ममें धुरन्धर नलका इन्द्र

आदि देवताओकी प्रतिकूलतासे नलके साथ दमयन्तीके विवाहमे असभाव्यताका वर्णन करना। अनन्तर दमयन्तीके करुणापूर्ण विलापसे पिघलकर दूतकर्म भूलकर नलका अनेक प्रकारसे दमयन्तीको आश्वासन देना। फिर अपने दूतकर्मका स्मरण होनेसे नलका पश्चात्ताप करना, तब हंसका आकर दमयन्तीको निराश न करनेके लिए अनुरोध करना। अनन्तर नलका "इन्द्र आदि देवताओमे किसी एकको वा मुझे वरण कीजिए" ऐसा अनुरोध कर विचारपूर्वक कार्य करनेको सम्मति देना। नलको पहचान कर दमयन्तीका प्रसन्न और लज्जित होना। उनकी सखीका नल-को वरण करनेके लिए दमयन्तीके दृढ निश्चयकी सूचना करना। यह सुनकर लज्जित होकर नलका देवताओके साथ स्वयवरमे उपस्थितिका ज्ञापन कर जाना। अन्तमे नलका इन्द्र आदि देवताओको दमयन्तीका सब वृत्तान्त सुनाना।

इति शम्।

नायकादिसिद्धाऽन्त।

नैषधीयचरितमें राजा नल धीरोदात्त नायक है, दमयन्ती परकीया (कन्या) नायिका है। ये दोनो विभाव है। हसादि द्वारा नल और दमयन्तीके वर्णनपरक वाक्य पुष्प, चन्दन, चन्द्रोदय, वसन्तऋतु, कोकिलशब्द, भ्रमरझङ्कार आदि उद्दीपन विभाव है, परस्परनिरीक्षण आदि अनुभाव है। निर्वेद आदि व्यभिचार भाव है। १७ सर्गतक विप्रलम्भश्रृङ्गारका पूर्वराग है, अनन्तर सभोगश्रृङ्गार है। प्रधान रस श्रृङ्गार है, करुण आदि अङ्गरस है। स्थायी भाव रति है। वैदर्भी रीति प्रधान है कही-कही गौडी भी है, गुण प्राय प्रसाद है कही-कही माधुर्य और ओज भी है। हस निसृष्टार्थ दूत है।



सूक्तयः

अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनाऽतिथिम् । १-३९ ।

त्यजन्त्यसूञ्शर्म च मानिनो वरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम । १-५० ।

स्मरः स रत्यामनिरुद्धमेव यत्सृजत्ययं सर्गनिसर्ग ईदृशः । १-५४ ।

क्व भोगमाप्नोति न भाग्यभाग् जनः । १-१०२ ।

विगर्हितं धर्मधनैर्निबर्हणं विशिष्य विश्वासजुषा द्विषामपि । १-१३१ ।

तरुणीस्तन एव दीप्यते मणिहारावलिरामणीयकम् । २-४४ ।

ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम् । २-४८ ।

धनिनामितरः सतां पुनर्गुणवत्सन्निधिरेव सन्निधिः । २-५३ ।

स्वत एव सतां परार्थता, ग्रहणाना हि यथा यथार्थता । २-६१ ।

कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते । ३-१७ ।

विधेरपि स्वारसिकः प्रयासः परस्पर योग्यसमागमाय । ६-४८ ।

सन्दर्भ्यते दर्भगुणेन मल्लीमाला न मृद्वी भृशकर्कशेन । ३-४९ ।

ह्रदे गभीरे हृदि चाऽवगाढे शंसन्ति कार्याऽवतरं हि सन्तः । ६-[illegible]३ ।

अशक्यशङ्काव्यभिचारहेतुर्वाणी न वेदा यदि सन्तु के तु । ३-७८ ।

अहेलिना किं नलिनी विधत्ते सुधाकरेणाऽपि सुधाकरेण । ३-८० ।

अलं विलम्ब्य, त्वरितुं हि वेला, कार्ये किल स्थैर्यसहे विचारः ।

गुरूपदेशं प्रतिभेव तीक्ष्णा प्रतीक्षते जातु न कालमर्तिः ।। ३-९१ ।

अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा । ३-९३ ।

आत्यन्तिकाऽसिद्धिविलम्बिसिद्ध्योः कार्यस्य काऽऽर्यस्य शुभा विभाति । ३-९६

इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति । ३-११६ ।

प्रियमनु सुकृतां हि स्वस्पृहाया विलम्बः । ३-१३४ ।

तदुदितः स हि यो यदनन्तरः । ४-३ ।

त्रसति कः सति नाऽऽश्रयबाधने ? ४-१६ ।

क्वसहतामवलम्बलवच्छिदामनुपपत्तिमतीमपि दुःखिता । ४-११० ।

झटिति पराशयवेदिनो हि विज्ञाः । ४-११८ ।

साधने हि नियमोऽन्यजनानां, योगिनां तु तपसाऽखिलसिद्धिः । ५–३ ।
कर्म कः स्वकृतमत्र न भुङ्क्ते ? ५–६ ।
यावदर्हंकरणं किल साधोः प्रत्यवायधुतये न गुणाय । ५–६ ।
आकरः स्वपरभूरिकथानां प्रायशो हि सुहृदोः सहवासः । ५–१२ ।
पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धाः सम्पदो विपद एव विमृष्टाः !
पात्रपाणिकमलार्पणमासां तासु शान्तिकविधिर्विधिदृष्टः ॥ ५–१७ ।
उत्तरोत्तरशुभो हि विभूना कोऽपि मञ्जुलतमः क्रमवादः । ५–३७ ।
वर्त्म कर्षतु पुरः परमेकस्तद्गताऽनुगतिको न महार्घः । ५–५५ ।
द्यौर्न काचिदथवाऽस्ति निरूढा, सैव सा चरति यत्र हि चित्तम् । ५–५७ ।
तं धिगस्तु कलयन्नपि वाञ्छामर्थिवागवसरं सहते यः । ५–८३ ।
याचमानजनमानसवृत्तेः पूरणाय बत ! जन्म न यस्य ।
तेन भूमिरतिभारवतीयं, न द्रुमैर्न गिरिभिर्न समुद्रैः ॥ ५–८८ ।
किं ग्रहा दिवि न जाग्रति ते ते ? भास्वतस्तु कतमस्तुलयाऽऽस्ते ? ५–१०० ।
आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः । ५–१०३ ।
ह्रीगिराऽस्तु वरमस्तु पुनर्मा स्वीकृतैव परवागपरास्ता । ५–१०५ ।
दुर्जया हि विषया विदुषाऽपि । ५–१०६ ।
हास्यतैव सुलभा न तु साध्यं, तद्विधित्सुभिरनौपयिकेन । ४–११५ ।
शंसति द्विनयनी वृढनिद्रां द्राङ् निमेषमिषघूर्णनपूर्णा । ५–१२६ ।
स्वतः सतां ह्रीः परतोऽपि गुर्वी । ६–२२ ।
पलालजालैः पिहितः स्वयं हि प्रकाशमासादयतीक्षुडिम्भः । ८–२ ।
मुग्धेषु कः सत्यमृषाविवेकः ? ८–१८ ।
वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत् ।
खलत्वमल्पीयसि जल्पितेऽपि, तदस्तु बन्दिभ्रमभूमितैव ॥ ८–३२ ।
बिम्बाऽनुबिम्बौ हि विहाय धातुर्न जातु दृष्टाऽतिसरूपसृष्टिः । ८–४६ ।
द्विषन्मुखेऽपि स्वदते स्तुतिर्या, तन्मिष्टता नेष्टमुखे त्वमेया । ८–५१ ।
विवेकधाराशतधौतमन्तः सतां न कामः कलुषीकरोति । ८–५४ ।
नामाऽपि जागर्ति हि यत्र शत्रोस्तेजस्विनस्तं कतमे सहन्ते ? ८–७४ ।
पिपासुता शान्तिमुपैति वारिणा, न जातु दुग्धान्मधुनोऽधिकादपि । ९–५ ।

गरौ गिरः पल्लवनाऽर्थलाघवे मितञ्च सारञ्च वचो हि वाग्मिता । ६–८ ।
जनः किलाचारमुचं विगायति । ९–१३ ।
स्वभावभक्तिप्रवणं प्रतीश्वराः कया न वाचा मुदमुद्गिरन्ति वा । ९–२६ ।
ह्रदस्य हंसावलिमांसलश्रियो बलाकयेव प्रबला विडम्बना । ९–२७ ।
अकाञ्चनेऽकिञ्चननायिकाऽङ्गके किमारकूटाभरणेन न श्रियः ? ९–२८ ।
पृषत्किशोरी कुरुतामसङ्गता कथं मनोवृत्तिमपि द्विपाऽधिपे ? ९–२९ ।
मृणालतन्तुच्छिदुरा सतीस्थितिर्लवादपि त्रुटयति चापलात्किल । ९–३१ ।
निषिद्धमप्याचरणीयमापदि सती क्रिया नाऽवति यत्र सर्वथा ।
घनाऽम्बुना राजपथेऽतिपिच्छिले क्वचिद्बुधैरप्यपथेन गम्यते ॥ ९–३६ ।
क्व वा निधिर्निर्धनमेति किं च तं स वा कपाटं घटयन्निरस्यति ? ९–३९ ।
अयोऽधिकारे स्वरितत्वमिष्यते कुतोऽप्यसां सिद्धरसस्पृशामपि ? ९–४२ ।
मुखं विमुच्य श्वसितस्य धारया वृथैव नासापथधावनश्रमः । ९–४४ ।
····· न्याय्यमुपेक्षते हि कः ? ९–४६ ।
विजृम्भितं यस्य किल ध्वनेरिदं विदग्धनारीवदनं तदाकरः । ९–५० ।
चकास्ति योग्येन हि योग्यसंगमः । ९–५६ ।
सुरेषु विघ्नैकपरेषु को नरः करस्थमप्यर्थमवाप्तुमीश्वरः ? ९–८३ ।
जनाऽऽनने कः करमर्पयिष्यति ? ९–१२५ ।
न वस्तु दैवस्वरसाद्विनश्वरं सुरेश्वरोऽपि प्रतिकर्तुमीश्वरः । ९–१२६ ।
सतां हि चेतःशुचिताऽऽत्मसाक्षिका । ९–१२९ ।
विचार्य कार्यं सृज मा विधान्मुधा कृताऽनुतापस्त्वयि पार्ष्णिविग्रहम् । ९–१३४ ।
न मोघसङ्कल्पधराः किलाऽमराः । १–१४५ ।
स्तवे रवेरप्सु कृतप्लवैः कृते न मुद्वती जातु भवेत्कुमुद्वती । ९–१४८ ।

इति ।

॥ श्री. ॥

नैषधीयचरितं महाकाव्यम्

चन्द्रकलाऽऽख्यया व्याख्यया हिन्द्यनुवादेन च विभूषितम्

प्रथमः सर्गः

मङ्गलाचरणम्

सृष्टिस्थितिप्रलयरूपदशामुपेतो यद्भ्रूविलासवशगोऽस्ति समस्तलोक. ।
आनन्दकाननपतिं गिरिजापतिं त प्रारिप्सित सपदि पूरयितु नमामि ॥ १ ॥
दैवी समृद्धिमिह यत्करुणा बिभर्ति यच्चिन्तन सततमेव सुख पिपर्ति ।
भोगाऽपवर्गजननी परदेवता सा नित्य कृतार्थयतु भक्तजन प्रबोधात् ॥ २ ॥
सौजन्यधन्यबुधतल्लजदेवचन्द्रसौभाग्यभाग्यपरहेमकुमारिसूनु ।
वीणाप्रवीणगुणभूषणकृष्णपूर्णचन्द्रद्वयीसहजनुर्द्विजशेषराज ॥ ३ ॥

सोऽहं करोमि निषधाऽधिपवृत्तकाव्यव्याख्या नितान्तसरलीकरणाशयेमाम् ।
श्रीहर्षकोविदकृति क्व ? मदीयमन्द-सविच्च कुत्र ? सुतरामसमानयोग ॥ ४ ॥
छात्रोपकारपरतामभिलक्ष्य जात जानन्तु मामकमिम प्रगुणप्रयासम् ।
पुष्पोपलब्धिरहितेषु जनेषु जातु किं कोरकोऽपि जनुषा न मुद करोति ? ॥ ५ ॥
हा हन्त ! वर्षनवकाद्दयिताऽनुजेन जातोऽहमस्मि दुरदृष्टवशाद्वियुक्त ।
हा ! मासषट्कसमयात्पुनरस्मि हन्त ! पूज्याऽग्रजेन च वियुज्य नितान्ततान्त ॥ ६ ॥
"रुग्ण मदग्रजवरं किल काशिकायामानीय भेषजविधानपरो भवामि ।"
मन्मानसप्रभवमत्र शुभाऽभिलाष हा ! हन्त !! घातुकविधिर्विफलीचकार ॥ ७ ॥
जैवातृकत्वमरतिं नितरा तनोति स्वस्थास्मृतिश्च हृदय बहुशो दुनोति ।
कालप्रतीक्षणपर. समयं नयामि श्रीविश्वनाथचरणौ शरण प्रयामि ॥ ८ ॥

अथ तत्र भवाश्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनप्राप्ताऽलौकिकप्रतिभाप्रकर्षो महाकवि श्रीहर्षः पुण्यश्लोकश्लोकनपरं नैषधीयचरिताऽभिधान महाकाव्य विधित्सुरादौ वस्तुनिर्देशरूप मङ्गल निर्दिशति निपीयेति—

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथां तथाऽऽद्रियन्ते न बुधा सुधामपि ।
नलः सितच्छत्रितकीर्तिमण्डल स राशिरासीन्महसां महोज्ज्वल. ॥ १ ॥

अन्वयः—यस्य क्षितिरक्षिण कथा निपीय बुधा सुधाम् अपि तथा न आद्रियन्ते । सितच्छत्रितकीर्तिमण्डल महसा राशि महोज्ज्वल स नल आसीत् ॥ १ ॥

व्याख्या—यस्य=प्रकृतस्य, क्षितिरक्षिण =भूपते , कथानायकस्य नलस्येति भाव । कथाम्=उपाख्यान, निपीय=नितरामास्वाद्य, सादर श्रुत्वेति भाव । बुधा =विद्वास , सुधाम् अपि=अमृतम् अपि, तथा=तेन प्रकारेण, न आद्रियन्ते=न आदर कुर्वन्ति, बुधा सुधाम् उपेक्ष्य नलकथा बहु मन्यन्त इति भाव । सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः=शुक्लातपत्रीकृतयशोमण्डल, महसा= तेजसां, राशि =समूह , रविरिवेतिभाव । महोज्ज्वल =उत्सवदीप्यमान., नित्य-महोत्सवशालीति भाव । स =प्रसिद्ध , नल =नलनामको राजा, आसीत्= अभवत् ॥ १ ॥

अनुवाद—जिन राजा नलकी कथाको सुनकर विद्वान् (वा देवता) अमृतका भी वैसा आदर नही करते है । महाराज नल कीर्तिमण्डलको सफेद छत्र बनानेवाले, तेजोके राशिस्वरूप (सूर्यके समान), उत्सवोसे उज्ज्वल अथवा अतिशय शृङ्गार-रसवाले थे ॥ १ ॥

टिप्पणी—विघ्नध्वसके लिए वा आरब्ध कार्य निर्विघ्नपूर्वक समाप्त हो जाय इसके लिए मङ्गलका आचरण किया जाता है । मङ्गलके तीन भेद होते है— नति (नमस्कार), स्तुति और वस्तुनिर्देश । यहाँपर पुण्यश्लोक (पवित्र कीर्तिवाले) नलरूप वस्तुका निर्देश करनेसे वस्तुनिर्देशरूप मङ्गल है । क्षितिरक्षिण =क्षितिं रक्षतीति तच्छील , तस्य, क्षिति–उपपदपूर्वक रक्ष धातु "सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" इस सूत्रसे णिनि प्रत्यय (उपपदसमास) । कथां= कथन कथा ताम् "कथ वाक्यप्रबन्धे" धातुसे "चिन्तिपूजिकथिकुम्बिचर्चश्च" इस सूत्रसे अङ् और "अजाद्यतष्टाप्" इस सूत्रसे टाप् प्रत्यय । निपीय=नितरा पीत्वा, नि–उपसर्गपूर्वक "पीङ् पाने" धातुसे "समानकर्तृकयो पूर्वकाले" इस सूत्रसे क्त्वा प्रत्यय और उसके स्थानमे "समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्" इस सूत्रसे ल्यप् आदेश । यहाँ "पा पाने" धातु नही लेना चाहिए क्योंकि "न ल्यपि" इस सूत्रसे

उसमे ईत्वका निषेध होता है। बुधाः = बुध्यन्त इति, "बुध अवगमने" धातुसे "इगुपधज्ञाप्रीकिर क." इस सूत्रसे क प्रत्यय। "ज्ञातृचान्द्रिसुरा बुधा." इति क्षीरस्वामी। सुधाम् = "पीयूषममृतं सुधा" इत्यमर। आद्रियन्ते = "आड्"-उपसर्गपूर्वक "दृड् आदरे" इस तौदादिक धातुसे लट् + झ। सितच्छत्रितकीर्तिमण्डल. = सितं च तत् छत्र, "विशेषण विशेष्येण बहुलम्" इस सूत्रसे समास और उसकी "तत्पुरुष समानाऽधिकरण कर्मधारय" इससे कर्मधारय सज्ञा हुई है। सितच्छत्र कृत सितच्छत्रित, "तत्करोति तदाचष्टे" इससे णिच् प्रत्यय होकर क्त प्रत्यय हुआ है। कीर्तें मण्डलम् (ष० त०)। सितच्छत्रित कीर्तिमण्डल येन स "अनेकमन्यपदार्थे" इससे बहुव्रीहि समास। महोज्ज्वल = महै उज्ज्वल (तृ० त०)। "क्षण उद्धर्षो मह उद्धव उत्सव" इत्यमर। अथवा महान् (साऽतिशयः) उज्ज्वल (श्रृङ्गार) यस्य स. (बहु०)। "श्रृङ्गार शुचिरुज्ज्वल" इत्यमर। आसीत् = "अस भुवि" धातुसे लङ्। इस पद्यमे सुधासे भी नल-कथाकी मधुरताके आधिक्य वर्णनसे व्यतिरेक अलंकार है। व्यतिरेकका लक्षण है—

"आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा। व्यतिरेक" (सा० द० १०-५२)। इसी तरह कीर्तिमण्डलमे सितच्छत्रका, एवम् नलमे महोराशित्वका आरोप करनेसे दो रूपक अलकार हुए है। रूपकका लक्षण है—"रूपक रूपितारोपाद्विषये निरपह्नवे।" (सा० द० १०—२८)। इस प्रकार व्यतिरेक और रूपकोकी निरपेक्षतया स्थित होनेसे तिल-तण्डुल न्यायसे ससृष्टि अलंकार है। उसका लक्षण है—"मिथोऽनपेक्षयैतेषा स्थिति ससृष्टिरुच्यते।" (सा० द० १०—९८)। इस सर्गमे १—१४२ पद्यतक वशस्थ छन्द है, उसका लक्षण है—"जतौ तु वशस्थमुदोरित जरौ" ।SISSIISISIS ॥ १ ॥

रसैः कथा यस्य सुधाऽवधीरिणी नल स भूजानिरभूद्गुणाद्भुत.।
सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डल ॥ २ ॥

अन्वयः — यस्य कथा रसै सुधाऽवधीरिणी, भूजानि स नल सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डल गुणाऽद्भुत अभूत् ॥ २ ॥

व्याख्या — यस्य = नलस्य, कथा = उपाख्यान, रसै = स्वादै., श्रृङ्गारादिरसैर्वा, सुधाऽवधीरिणी=अमृततिरस्कारिणी, भूजानि = भूपति, स =पूर्वोक्त, नल = तदाख्यो नृप, सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डल = स्वर्णदण्डैकशुक्लच्छत्रितदीप्यमानतेज.पङ्क्तियशोमण्डल, अतएव गुणाऽद्भुत = शौर्यदाक्षिण्यादिभिराश्चर्यभूतः, अभूत् = आसीत् ॥ २ ॥

अनुवाद:—जिन (नल) का उपाख्यान, स्वाद वा शृङ्गार आदि रसोसे अमृतको भी तिरस्कार करनेवाला है, ऐसे महाराज नल दीप्यमान प्रतापपङ्क्तिको सुवर्णदण्ड और कीर्तिमण्डलको एक सफेद छत्र बनानेवाले अतएव शौर्य और दाक्षिण्य आदि गुणोसे आश्चर्यरूप थे ।

टिप्पणी—रसै = "रसो गन्धो रस स्वाद" इति विश्व । सुधाऽवधीरिणी = सुधाम् अवधीरयतीति तच्छीला, सुधा + अव + धीर + णिनि , स्त्रीत्वविवक्षामे "ऋन्नेभ्यो ङीप्" इस सूत्रसे ङीप् (उपपदसमास) । भूजानि =भू जाया यस्य स (बहु०), "जायाया निङ्" इस सूत्रसे जाया शब्दका निङ् आदेश । सुवर्णदण्डैक० इत्यादि = सुवर्णस्य दण्ड (ष० त०), सितं च तन् आतपत्रम् (क० धा०) । एक च तत् सितातपत्र (क० धा०), सुवर्णदण्डश्च एकसितातपत्र च सुवर्णदण्डैकसितातपत्र, "चाऽर्थे द्वन्द्व" इस सूत्रसे इतरेतरयोगद्वन्द्व । सुवर्णदण्डैकसितातपत्रे कृते सुवर्णदण्डैकसिताऽऽतपत्रिते, "सुवर्णदण्डैकसितातपत्र" शब्दसे 'तत्करोति तदाचष्टे" इससे णिच् होकर कर्ममे क्त प्रत्यय । प्रतापानाम् आवलि (ष० त०) । ज्वलन्ती चाऽसौ प्रतापावलि (क० धा०) । कीर्ते मण्डलम् (ष० त०) । ज्वलत्प्रतापावलिश्च कीर्तिमण्डल च (द्वन्द्व) । सुवर्णदण्डैकसितातपत्रिते ज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डले यस्य स (बहु०) । गुणाऽद्भुत = गुणै अद्भुत (तृ० त०) । अभूत् = भू + लुङ् + तिप्, "गातिस्थाघुपाभूभ्य सिच परस्मैपदेषु" इस सूत्रसे सिच्का लुक् हुआ है । यहाँपर व्यतिरेक, दीप्यमान प्रतापावलिमे सुवर्ण दण्डका और कीर्तिमण्डलमे एकसितातपत्रका आरोप करनेसे दो रूपक और यथासख्य इस प्रकार इन तीन अलकारोका ससृष्टि अलकार हुआ है। यथासख्यका लक्षण है—"यथासख्यमनूद्देश उद्दिष्टाना क्रमेण यत् ।" सा० द० १०–७९ ॥ २ ॥

पवित्रमत्रातनुते जगद्युगे स्मृता रसक्षालनयेव यत्कथा ।
कथं न सा मद्गिरमाविलामपि स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति ? ॥ ३ ॥

अन्वय.—अत्र युगे यत्कथा स्मृता (सती) रसक्षालनया इव जगत् पवित्रम् आतनुते । सा आविलाम् अपि स्वसेविनीम् एव मद्गिर कथं न पवित्रयिष्यति ? ॥ ३ ॥

व्याख्या—कवि स्वविनयं प्रदर्शयति—पवित्रमिति । अत्र = अस्मिन्, युगे = कलियुग इत्यर्थ. । यत्कथा = यस्य (नलस्य) कथा (उपाख्यानम्), स्मृता = चिन्तिता (सती), रसक्षालनया इव = जलधावनेन इव, जगत् = लोकं,

पवित्र = विशुद्धम्, आतनुते = करोति । सा = नलकथा, आविलाम् अपि, कलुषाम् अपि, सदोषाम् अपीति भाव, स्वसेविनीम् एव = आत्मवर्णनपराम् एव । मद्गिर = मद्वाचं, नैषधवर्णनरूपामिति भाव । कथं = केन प्रकारेण, न पवित्रयिष्यति = पवित्रा न करिष्यति ? पवित्रा करिष्यत्येवेति भाव ॥ ३ ॥

अनुवादः—इस कलियुगमे जिन महाराज नलकी कथा जलसे प्रक्षालनके समान लोकको पवित्र कर देती है, वह (कथा) कलुष (दोषयुक्त) होनेपर भी अपनी ही सेवा करनेवाली मेरी वाणीको क्यो पवित्र नही करेगी ? ॥ ३ ॥

टिप्पणी—अत्र = अस्मिन् इति, इदम् + त्रल् । यत्कथा = यस्य कथा (ष० त०), स्मृता = स्मृ + क्त + टाप् (कर्ममे) । रसक्षालनया = रसेन क्षालना, तया (तृ० त०) । "शृङ्गारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे।" इति विश्व । णिजन्त "क्षल शौचकर्मणि" धातुसे "ण्यासश्रन्थो युच्" इससे युच् (अन) होकर टाप् प्रत्ययसे "क्षालना" शब्द बनता है । आतनुते=आङ्–उपसर्गक "तनु विस्तारे" धातुसे लट् + त । आविलाम् = "कलुषोऽनच्छ आविल" इत्यमर । स्वसेविनी= स्व सेवते तच्छीला, ताम् । स्व + सेव + णिनि + ङीप् (उपपद०) । यहाँपर जैसे जलसे प्रक्षालन करनेसे वस्तुकी पवित्रता होती है उसी तरह नलकी कथाका स्मरण करनेसे जगत्की पवित्रता होती है ऐसा अर्थ अभिव्यक्त होता है । कहा भी गया है—

"कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च ।
ऋतुपर्णस्य राजर्षे कीर्तनं कलिनाशनम् ॥"

अर्थात् कर्कोटक नाग, दमयन्ती, नल और राजर्षि ऋतुपर्ण इनका कीर्तन करनेसे कलिका नाश होता है । और भी—

"पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिर ।
पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको जनार्दन ॥"

अर्थात् राजा नल, युधिष्ठिर, वैदेही (सीताजी) और जनार्दन (भगवान् कृष्ण) ये सब पुण्यश्लोक अर्थात् पुण्यकीर्तिवाले है, इनका स्मरण करनेसे पुण्यलाभ होता है यह तात्पर्य है । यहाँपर उत्प्रेक्षा अलकार और जिन नलकी कथा स्मरण करनेपर भी शुद्ध करती है, सेवा (वर्णन) करनेसे क्या कहना है ? इस प्रकार कैमुतिक न्यायसे अर्थापत्ति अलंकार है । उसका सोदाहरण लक्षण है—

"अर्थापत्ति स्वयं सिध्येत्पदार्थान्तरवर्णनम् ।
स जितस्त्वन्मुखेनेन्दु. का वार्ता सरसीरुहाम् ॥" (चन्द्रालोक)

इस प्रकार दो अलकारोसे ससृष्टि अलंकार है ॥ ३ ॥

अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः ।
चतुर्दशत्वं कृतवान्कुतः स्वयं न वेद्मि विद्यासु चतुर्दशस्वयम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—अय चतुर्दशसु विद्यासु अधीतिबोधाचरणप्रचारणै उपाधिभि चतस्र· दशा प्रणयन् स्वय चतुर्दशत्व कुत कृतवान् ? (इति) न वेद्मि ॥ ४ ॥

व्याख्या—नलस्य चतुर्दशविद्याध्ययन प्रतिपादयति—अधीतीति । अयं=नल·, चतुर्दशसु = चतुर्दशसंख्यकासु, विद्यासु = वेदादिषु, अधीतिबोधाचरणप्रचारणै· = श्रवणाऽर्थज्ञानतदर्थाऽनुष्ठानप्रसारणै , उपाधिभि· = भेदै , चतस्र =चतु सख्यका , दशाः = अवस्था , प्रणयन् = कुर्वन्, स्वयम्=आत्मना, चतुर्दशत्व = चतुर्दशसख्यकत्व, कुत = कस्मात्, कृतवान् = विहितवाम्, इति, न वेद्मि=नो जाने, चतुर्दशसंख्यकाना विद्याना चतुरावृत्या षट्पञ्चाशत्त्वमापादनीय, कथं केवलं चतुर्दशत्वमिति भाव , चतुरवस्थत्व कृतवानिति विरोधपरिहार ॥ ४ ॥

अनुवादः— महाराज नलने चौदह विद्याओमे, शब्दत अध्ययन, अर्थका ज्ञान, शास्त्रोक्त कर्मका आचरण और प्रचारण इन भेदोसे चार अवस्थाओंको करते हुए स्वयम् चतुर्दशत्व कैसे किया ? यह मै नही जानता हूँ । चौदह विद्याओको चार भेदोसे गुणन करनेपर छप्पन भेद होने चाहिए परन्तु चौदह ही कैसे हुए, ऐसा विरोध होनेपर उन विद्याओको चतुर्दशत्व अर्थात् अध्ययन आदिसे चार अवस्थाओवाली बनानेसे उसका परिहार हो जाता है ॥ ४ ॥

टिप्पणी—चतुर्दशसु = चतुरधिका दश चतुर्दश, तासु, "शाकपार्थिवादीना सिद्धय उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्" इसमे मध्यमपदलोपी समास । विद्यासु=विदन्ति धर्माऽर्थकाममोक्षान् आभिरिति विद्या , तासु, "विद ज्ञाने" धातुसे "सञ्ज्ञाया समजनिषदनिपतमनविदषुञ्शीङ् भृञिण " इस सूत्रसे क्यप् प्रत्यय होकर "अजाद्यतष्टाप्" इस सूत्रसे टाप् प्रत्यय । चौदह विद्याएँ है जैसे कि विष्णुपुराणमे है—

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमासा न्यायविस्तर· ।
धर्मशास्त्रं पुराण च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥"

अर्थात् वेदके छ· अग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष, चार वेद—ऋक्, यजु, साम और अथर्ववेद । मीमासा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण । अधीतिबोधाचरणप्रचारणै. = अध्ययनम अधीतिः, अधि–उपसर्गपूर्वक "इङ् अध्ययने" धातुसे "स्त्रिया क्तिन्" इस सूत्रसे क्तिन्प्रत्यय । बोधनं बोध·, "बुध अवगमने" धातुसे "भावे" इस सूत्रसे घञ् । अधीतिश्च बोधश्च आचरणं

च प्रचारणं च अधीतिबोधाचरणप्रचारणानि, तैः (द्वन्द्व)। यहाँपर "अधीति" पदसे शब्दत अध्ययनका, "बोध" पदसे अर्थज्ञानका, "आचरण" पदसे शास्त्रोक्त कर्मके अनुष्ठानका और "प्रचारण" पदसे अध्यापन वा लोकमें प्रचार करनेका तात्पर्य समझना चाहिए। "उपाधिभि =उपाधिर्धर्मचिन्तायां कैतवे च विशेषणे।" इति विश्व। चतस्र =यह "दशा" इस पदका विशेषण है। "त्रिचतुरो स्त्रियां तिसृचतसृ" इस सूत्रसे स्त्रीलिङ्गमे 'चतुर्' शब्दके स्थानमे "चतसृ" आदेश हुआ है। प्रणयन्=प्रणयतीति, प्र—उपसर्गपूर्वक "णीञ् प्रापणे" धातुसे लट्के स्थानमे "लट शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे" इस सूत्रसे शतृ आदेश, लट्की अनुवृत्ति होनेपर भी फिर लट्के ग्रहणसे कही-कहीपर प्रथमाके सामानाधिकरण्यमे भी शतृ-शानच् आदेश ज्ञापित है। चतुर्दशत्व=चतुर्दशाना भाव चतुर्दशत्व, तत्। चतुर्दश शब्दसे "तस्य भावस्त्वतलौ" इस सूत्रसे त्व प्रत्यय। "त्वाऽन्त क्लीबम्" इस लिङ्गाऽनुशासन सूत्रसे त्व-प्रत्ययाऽन्त शब्द नपुसकलिङ्गमे रहता है। यहाँपर चौदह विद्याओको चार भेदोसे गुणन करनेपर छप्पन होना चाहिए, फिर चतुर्दशत्व कैसे? ऐसा विरोध होनेपर उसका परिहार—"चतुर्दशत्वम्" इसका चतस्र दशा यासा ताश्चतुर्दशा (बहु०), तासा भाव चतुर्दशत्वम् अर्थात् चार अवस्थावालियोका भाव ऐसा अर्थ करनेसे उसका परिहार होता है, अत विरोधाभास अलकार होता है। उसका लक्षण है—

"आभासत्व विरोधस्य विरोधाभास इष्यते।" "चतुर्दशत्वम्" यहाँपर "त्वतलोर्गुणवचनस्य" इससे पुवद्भाव हुआ है। कुत =कस्मात् इति "किम्" शब्दसे "पञ्चम्यास्तसिल्" इस सूत्रसे तसिल् प्रत्यय और "कु ति हो." इससे "किम्" के स्थानमे "कु" आदेश हुआ है। कृतवान्="कृ" धातुसे "निष्ठा" इस सूत्रसे कर्ताके अर्थमे क्तवतु प्रत्यय। वेद्मि=विद् + लट् + मिप्॥ ४॥

अमुष्य विद्या रसनाऽग्रनर्तकी त्रयीव नीताऽङ्गगुणेन विस्तरम्।
अगाहताऽष्टादशतां जिगीषया नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रिया॥ ५॥

अन्वयः—अमुष्य रसनाऽग्रनर्तकी विद्या, त्रयी इव अङ्गगुणेन विस्तरं नीता (सती) नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रिया जिगीषया अष्टादशताम् अगाहत॥ ५॥

व्याख्या—नलस्याऽष्टादशविद्याऽभिज्ञतां प्रतिपादयति अमुष्येति। अमुष्य=नलस्य। रसनाऽग्रनर्तकी=जिह्वाग्रसञ्चारिणी, विद्या=पूर्वोक्ता वेदादिविद्या सूदविद्या च, रसनाऽग्रनर्तनधर्मादिति भाव., त्रयी इव = त्रिवेदी इव, अङ्गगुणेन = शिक्षाद्यङ्गावृत्त्या, विस्तर=वृद्धि, नीता=प्रापिता सती, नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्=

अष्टादशद्वीपपृथग्विजयलक्ष्मीनां, जिगीषया=जेतुमिच्छया (इव), अष्टादशताम्= अष्टादशसङ्ख्यकत्वम्, अगाहत=अभजत ॥ ५ ॥

अनुवादः—नलकी जिह्वाके अग्रभागमे नर्तकीके समान विद्या (वेदादि-विद्या, अथवा पाकविद्या) ने त्रयी=त्रिवेदी (तीन वेदो) के समान शिक्षा आदि छ अङ्गोंकी गुणनक्रियासे वृद्धिको प्राप्त करायी जाती हुई नलकी अठारह द्वीपोकी पृथक्-पृथक् विजय-लक्ष्मियोको जीतनेकी इच्छासे अठारह संख्याको प्राप्त किया ॥ ५ ॥

टिप्पणी—रसनाऽग्रनर्तकी=रसनाया अग्रम् (ष० त०), नृत्यतीति नर्तकी, "नृती गात्रविक्षेपे" धातुसे "शिल्पिनि ष्वुन्" इस सूत्रसे "नृतिखनिरञ्जिभ्य एव" इसके अनुसार "ष्वुन्" प्रत्यय होकर षकारका "ष· प्रत्ययस्य" इससे इत्सञ्ज्ञा होनेसे लोप होकर षित् होनेसे "षिद्गौरादिभ्यश्च" इससे ङीष् । क्रिया-कौशलको "शिल्प" कहते है । रसनाऽग्रे नर्तकी (स० त०) । विद्या नलकी जिह्वाके अग्र भागमे नाचती थी अर्थात् सब विद्याएँ उनको उपस्थित थी । त्रयी= त्रय· (ऋग्यजु सामाख्या , अथवा पद्यगद्यगीतरूपा अथवा प्रायेण धर्माऽर्थकाम-रूपा) अवयवा यस्या सा, 'त्रि' शब्दसे "सङ्ख्याया अवयवे तयप्" इस सूत्रसे तयप् और उसके स्थानमे "द्वित्रिभ्या तयस्याऽयज्वा" इस सूत्रसे अयच् आदेश और श्रुतिका विशेषण होनेमे "टिड्ढाणञ्०" इत्यादि सूत्रसे ङीप् । 'त्रयी' कहनेसे 'ऋक्, यजु, साम ही वेद हे, अथर्वा वेद नही है यह नही समझना चाहिए । यहाँपर 'अङ्गगुणेन' इस पदके साथ सम्बन्ध करनेके लिए ऐसा प्रयोग किया है । वेदके कोई अवयव ऋग्रूप अर्थात् पद्यमय, कोई यजुरूप अर्थात् गद्यमय और कोई समरूप अर्थात् गीतरूप है ऐसा कहनेसे अथर्ववेदका भी इनमे अन्तर्भाव हो जाता है । अथवा प्रायेण मन्त्ररूप वेदके प्रतिपाद्य विषय धर्म, अर्थ, काम ही अवयव है, अतएव भगवान्ने अर्जुनको—

"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवाऽर्जुन" ।

कहा है । मोक्षका प्रतिपादन अधिकतर ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्मे है । अङ्गगुणेन=अङ्गाना गुण·, तेन (ष० त०) । वेदके छ. अङ्ग हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष । त्रयीको छ अङ्गोसे गुणन करनेपर अठारह संख्या होती है । विस्तर=विस्तरणं विस्तर , तम्, वि-उपसर्गपूर्वक "स्तृञ् आच्छादने" धातुसे "ऋदोरप्" इससे अप् प्रत्यय । शब्दके फैलावमे विस्तर शब्द है । इतर विषयके फैलावमे पूर्वोक्त-उपसर्गयुक्त धातुसे "प्रथने वावशब्दे"

इस सूत्रसे घञ् प्रत्यय होकर "विस्तार" शब्द बनता है। अतएव अमर-सिहने कहा है—

"विस्तारो विग्रहो व्यास , स च शब्दस्य विस्तर ।"

नीता = नी + क्त + टाप् । नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रिया = द्वौ अवयवौ यस्य तत् द्वयम्, द्वि + तयप् (अयच्) । द्विर्गता आपो यस्मिन् इति द्वीपम् (बहु०), "द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्" इस सूत्रसे अप्के अकारके स्थानमे ईत्व । "ऋक्पूरब्धू -पथामानक्षे" इस सूत्रसे समासाऽन्त 'अ' प्रत्यय । "द्वीपोऽस्त्रियामन्तरीप यदन्त-र्वारिणस्तटम् ।" इत्यमर । नवाना द्वयम् (ष० त०) । नवद्वय च ते द्वीपा (क० धा०) । नवद्वय कहनेसे अठारह द्वीप जाने जाते है । इनमे सात महाद्वीप है जैसे कि—१ जम्बूद्वीप, २ प्लक्षद्वीप, ३ शाल्मलीद्वीप, ४ कुशद्वीप, ५. क्रौञ्चद्वीप, ६ शाकद्वीप और ७. पुष्करद्वीप । ये नाम श्रीमद्भागवतके अनुसार है। स्वर्णप्रस्थ आदि आठ जम्बूद्वीपके उपद्वीप है, तीन अन्य द्वीप है । महाकवि कालिदासने भी "अष्टादशद्वीपनिखातयूप " कहकर अठारह द्वीपोकी चर्चा की है । जयस्य श्रिय. (ष० त०), नवद्वयद्वीपाना पृथग्जयश्रिय , तासाम् (ष० त०) "जिगीषया" इस कृदन्तपदके योगमे "कर्तृकर्मणो कृति" इस सूत्रसे कर्ममे षष्ठी । जिगीषया = जेतुमिच्छा जिगीषा, सन् प्रत्ययान्त "जि जये" धातुसे "अ प्रत्ययात्" इससे 'अ' प्रत्यय और टाप् । अष्टादशताम् = अष्टौ च दश च अष्टादश (द्वन्द्व), "द्व्यष्टन संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्यो " इससे आत्व हुआ है । अष्टादशाना भाव अष्टादशता, ताम्, अष्टादशन् + तल् + टाप् । अगाहत = "गाहू विलोडने" धातुसे "अनद्यतने लङ्" इस सूत्रसे लङ् । पूर्वोक्त चौदह विद्याओके साथ वेदोके चार उपवेद— आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र इनमे भी महाराज नल पारदर्शी थे यह बात इस पद्यसे सूचित होती है । नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रिया जिगीषया अर्थात् नलसे जीते गये अठारह द्वीपोको पृथक् जयश्रियोको मानो जीतनेकी इच्छासे उनकी विद्याओने भी अठारह सख्याको प्राप्त किया। यहाँपर उत्प्रेक्षावाचक शब्द इव आदि न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा और उपमा, इनका ससृष्टि अलकार है ॥ ५ ॥

✓**दिगीशवृन्दांऽशविभूतिरीशिता दिशां स कामप्रसभाऽवरोधिनीम् ।**
बभार शास्त्राणि दृशं द्वयाऽधिकां निजत्रिनेत्राऽवतरत्वबोधिकाम् ॥

अन्वयः—दिगीशवृन्दाऽशविभूति दिशाम् ईशिता स शास्त्राणि कामप्रसभाऽ-वरोधिनी निजत्रिनेत्राऽवतरत्वबोधिका द्वयाऽधिका दृशं बभार ॥ ६ ॥

व्याख्या—नलस्य देवाशत्वं प्रतिपादयति—दिगीशेति । दिगीशवृन्दाऽशविभूति

=इन्द्रादिदिक्पालमात्रोद्भव , दिशां = प्राच्यादिकाष्ठानाम्, ईशिता=ईश्वर , स = नल , शास्त्राणि = वेदादिशास्त्राणि (एव), कामप्रसभावरोधिनीं = इच्छाया कामदेवस्य वा बलाऽवरोधकारिणी, निजत्रिनेत्राऽवतरत्वबोधिकां = स्वत्रिनयनाविर्भावज्ञापिका, स्वमहादेवाऽवतारत्वज्ञापिका वा, द्वयाऽधिका = द्वितयाऽतिरिक्ता, तृतीयामिति भाव , दृश = नेत्र, बभार = धृतवान् ॥ ६ ॥

अनुवादः—इन्द्र आदि दिक्पालोके अशसे उत्पन्न अतएव दिशाओके स्वामी नलने स्वेच्छाचारिताको वा कामदेवको बलसे निवारण करनेवाली, अपने तीन नेत्रोके आविर्भावका वा महादेवके अवतारत्वका बोधन करनेवाली दो से अधिक शास्त्ररूप दृष्टिको धारण किया ॥ ६ ॥

टिप्पणी—दिगीशवृन्दाऽशविभूति = दिशाम् ईशा (ष० त०), तेषा वृन्दं, (ष० त०), "स्त्रिया तु सहतिर्वृन्द निकुरम्ब कदम्बकम् ।" इत्यमर । दिगीशवृन्दस्य अशा (ष० त०), तै विभूति (उद्भव) यस्य स (व्यधिकरणबहु०) । लोकपालोंके अशोसे राजाकी उत्पत्ति होती है, इस बातको भगवान् मनुने भी कहा है—

इन्द्राऽनिलयमाऽर्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वती ॥ मनु० ७–४ ।

दिशाम् = "ईशिता" इस पदके योगमे "कर्तृकर्मणो कृति" इस सूत्रसे कर्ममे षष्ठी । ईशिता=ईष्ट इति, "ईश ऐश्वर्ये" धातुसे "ण्वुल्तृचौ" इस सूत्रसे तृच्प्रत्यय । नलको "दिशाम् ईशिता" कहने से आठ दिक्पाल इन्द्र आदि एक-एक दिशाके स्वामी है, पर नल सब दिशाओके स्वामी है। अत व्यतिरेक अलकार व्यङ्ग्य होता है। शास्त्राणि=शिष्यते एभिरिति, "शासु अनुशिष्टौ" धातुसे "सर्वधातुभ्य ष्ट्रन्" इस सूत्रसे ष्ट्रन् प्रत्यय । शास्त्रका लक्षण ऐसा किया गया है—"प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च पुसा येनोपदिश्यते । तद्धर्माश्चोपदिश्यन्ते शास्त्रं शास्त्रविदो विदु ।" अर्थात् पुरुषोकी प्रवृत्ति और निवृत्ति एवम् उनके धर्म जिससे उपदेश किये जाते है, उसे "शास्त्र" कहते है। कामप्रसभाऽवरोधिनी = प्रसभेन अवरुणद्धीति प्रसभाऽवरोधिनी, प्रसभ- और अव-उपसर्गपूर्वक "रुधिर् आवरणे" धातुसे णिनि प्रत्यय और स्त्रीत्वविवक्षामें ङीप् । कामस्य प्रसभावरोधिनी ताम् (ष० त०) । स्वेच्छाचारिताको बलसे रोकनेवाली (नलपक्षमे) । कामदेवको बलसे रोकनेवाली (महादेवके पक्षमे) । "प्रसभ" के बदलेमे कहीपर "प्रसर" पदका पाठ है, उसमे कामस्य प्रसर (विस्तारः, वृद्धिर्वा), तम् अवरुणद्धीति ऐसी व्युत्पत्ति करनी चाहिए । निज-

त्रिनेत्राऽवतरत्वबोधिकाम्=अवतरणम् अवतर, अव-उपसर्गपूर्वक तॄधातुसे "ॠदोरप्" इस सूत्रसे अप् प्रत्यय, अवतरस्य भाव अवतरत्वम्, अवतर + त्व, त्रयाणा नेत्राणाम् अवतरत्वम्, "तद्धिताऽर्थोत्तरपदसमाहारे च" इस सूत्रसे उत्तरपदसमास, निज च तत् त्रिनेत्राऽवतरत्वम् (क धा०)। बोधयतीति बोधिका, बुध + ण्वुल् (अक) + टाप्। निजत्रिनेत्राऽवतरत्वस्य बोधिका, ताम् (ष० त०)। अपने तीन नेत्रोके आविर्भावका वा महादेवत्वका बोधन करनेवाली, यह पद "दृशम्" का विशेषण है। द्वयाऽधिका=द्वौ अवयवौ यस्य तत् द्वयम्, द्वि + तयप् (अयच्)। द्वयात् अधिका, ताम् (प० त०)। यह भी "दृशम्" इसका विशेषण है, शास्त्र-रूप दो से अधिक नेत्र यह तात्पर्य है। कहा भी गया है—

"अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षाऽर्थस्य दर्शकम्।
सर्वस्य लोचन शास्त्र यस्य नाऽस्त्यन्ध एव स ॥"

महाराज नलके शास्त्र ही दो से अधिक अर्थात् तीसरे नेत्ररूप थे यह तात्पर्य है। बभार="डुभृञ् धारणपोषणयो" धातुसे लिट् + तिप्। यहाँ शास्त्रोमे दृक्का आरोप होनेसे रूपक अलङ्कार है ॥ ६ ॥

पदैश्चतुर्भि सुकृते स्थिरीकृते कृतेऽमुना के न तप प्रपेदिरे ?
भुवं यदेकाङ्घ्रिकनिष्ठया स्पृशन्दधावधर्मोऽपि कृशस्तपस्विताम् ॥ ७ ॥

अन्वय — अमुना कृते सुकृते चतुर्भि पदै स्थिरीकृते (सति) के तपो न प्रपेदिरे ? यत् अधर्मोऽपि अङ्घ्रिकनिष्ठया भुव स्पृशन् कृश (सन्) तपस्विता दधौ ॥ ७ ॥

व्याख्या— अथ नलस्य प्रभाव दर्शयति—पदैरिति। अमुना=नलेन, कृते= सत्ययुगे, सुकृते=धर्मे, चतुर्भि =चतु सङ्ख्यकै, पदै =चरणै, वृषरूपत्वादितिशेष। स्थिरीकृते=निश्चलीकृते (सति)। तपोज्ञानयज्ञदानरूपै पदैरयमर्थो धर्मपक्षे योज्य। के=जना, तप =चान्द्रायणादिरूप नियमाचरण, न प्रपेदिरे=न प्राप्त-वन्त, अपि तु सर्वं एव तपश्चक्रुरित्यर्थं। यत्=यत, अधर्मोऽपि=धर्मविरोध्यपि, किमुत अन्य इति अपिशब्दाऽर्थं। अङ्घ्रिकनिष्ठया=चरणकनिष्ठया, भुव=भूमि, स्पृशन्=आमृशन्, कृश =दुर्बल (सन्), तपस्विता=तापसत्व, दीनत्व च दधौ= धारयामास, नलस्य शासनादधर्मोऽपि धर्मव्यापृतचित्तोऽभूदिति भाव।

अनुवादः— सत्ययुगमे महाराज नलके धर्मको चार चरणो (तपस्या, ज्ञान, यज्ञ और दान) से स्थिर करनेपर किसने तपस्या नही की ? जो कि अधर्म भी पैरकी छोटो अङ्गुलिसे पृथ्वीका स्पर्श करता हुआ दुर्बल होकर तपस्वी (तपस्या करनेवाला वा दीन) हो गया ॥ ७ ॥

टिप्पणी—कृते=कृ + क्त , कृतम्="युगपर्याप्तयो कृतम्" इत्यमर.। सुकृते= "स्याद्धर्ममस्त्रिया पुण्यश्रेयसी सुकृत वृष ।" इत्यमर ।

"तप पर कृतयुगे, त्रेताया ज्ञानमुच्यते ।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेक कलौ युगे ॥"

इस उक्तिके अनुसार सत्ययुगमे तपस्याकी, त्रैतामे ज्ञानकी, द्वापरमे यज्ञकी और कलियुगमे दानकी प्रधानता है, परन्तु महाराज नलने इन चारो चरणोसे धर्मको स्थिर किया, यह बात इस पद्यसे सूचित होती है । शास्त्रोमे लिखा गया है—सत्ययुगमे पूर्वोक्त तपस्या आदि चारो विषयोकी उपस्थितिसे धर्म चतुष्पाद होता है । परन्तु अन्य युगमे धर्मके एक-एक चरणोकी क्रमसे न्यूनता होती है, जैसे कि त्रेतामे तपस्याकी न्यूनतासे ज्ञान, यज्ञ ओर दानकी स्थितिसे धर्म त्रिपात् होता हे । द्वापरमे तपस्या और ज्ञानकी न्यूनतासे यज्ञ और दानकी स्थितिसे धर्म द्विपात् होता है । इसी तरह कलियुगमे तपस्या, ज्ञान ओर यज्ञकी न्यूनतासे ओर एकमात्र दानकी स्थितिसे धर्म एकपात् हो जाता है । नलने अपने पराक्रमसे तपस्या आदि चारो चरणोसे धर्मको स्थिर रक्खा था । स्थिरीकृते=अस्थिर स्थिर यथा सपद्यते तथा कृत स्थिरीकृतम्, तस्मिन्, "कृभ्वस्तियोगे सपद्य कर्तरि च्वि " इससे च्वि प्रत्यय स्थिर + च्वि + कृ + क्त + ङि । "च्वौ च" इससे अ वर्णका ई भाव होता है । प्रपेदिरे=प्र—उपसर्गपूर्वक "पद" धातुसे लिट् + झ । अधर्म =न धर्म (नञ् त०) । यहाँपर नञ् विरोध अर्थमे है, नञ्के छ अर्थ हैं । जसे कि—

तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्व तदल्पता ।
अप्राशस्त्य विरोधश्च नञर्था षट् प्रकीर्तिता ॥"

अर्थात् नञ्के सादृश्य, अभाव, भिन्नता, अल्पता, अप्रशस्तता और विरोध ये छ. अर्थ होते है । अङ्घ्रिकनिष्ठया=अङ्घ्रे कनिष्ठा, तया (ष० त०) । "पाद पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम् ।" इत्यमर । स्पृशन्=स्पृश + लट् (शतृ०) । तपस्विता=तप अस्याऽस्तीति तपस्वी, तपस् शब्दसे "तप सहस्राभ्या विनीनी" इस सूत्रसे विनि प्रत्यय । तपस्विनो भाव तपस्विता, ताम्, तपस्विन् + तल् + टाप् । तपस्वी पदके दो अर्थ हैं, "तपस्वी शोचनीय स्यात्" इस कोशके अनुसार शोचनीय अर्थात् दीन पुरुष और "मुनिदीनौ तपस्विनौ" इस विश्वकोशके अनुसार तपस्या करनेवाला मुनि भी । दधौ=धा + लिट् + तिप् । यहाँपर "अधर्मोऽपि तपस्वितां दधौ, किमुत अन्य " अर्थात् अधर्म भी तपस्वी हो गया, अन्यका क्या

कहना ? ऐसा कहनेसे कैमुत्य न्यायसे अर्थापत्ति अलङ्कार और अधर्म भी धार्मिक हुआ कहनेसे विरोध अलङ्कार है। इस प्रकार दोनो अलङ्कारोकी निरपेक्षतया स्थिति होनेसे ससृष्टि अलङ्कार है ।। ७ ।।

अथ श्लोकसप्तकेन महाकविर्नलप्रताप वर्णयति—

यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत्प्रतापाऽनलधूममञ्जिम ।
तदेव गत्वा पतित सुधाऽम्बुधौ दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ ।। ८ ।।

अन्वयः—अस्य यात्रासु बलोद्धत स्फुरत्प्रतापाऽनलधूममञ्जिम यत् रज, तद् एव गत्वा सुधाऽम्बुधौ पतितम् (अतएव) पङ्कीभवन् (सत्) विधौ अङ्कता दधाति ।। ८ ।।

व्याख्या—अस्य=नलस्य, यात्रासु = विजययानेषु, बलोद्धत = सैन्योत्क्षिप्त, स्फुरत्प्रतापाऽनलधूममञ्जिम=ज्वलत्तेजोऽग्निधूममञ्जु, यत्, रज = धूलि, तद् एव = रज एव, गत्वा = व्रजित्वा, उत्क्षेपवेगादिति भाव । सुधाऽम्बुधौ=क्षीर-समुद्रे, पतित = निपतित सत्, अतएव, पङ्कीभवत् = कर्दमीभवत् सत्, विधौ = चन्द्रमसि, सुधाऽम्बुधिस्थित इति भाव, अङ्कता = कलङ्कत्व, दधाति = धारयति ।। ८ ।।

अनुवाद—नलकी विजययात्राओमे सेनाओसे उठी हुई और जलते हुए प्रतापरूप अग्निके समान मनोहर जो धूलि है वही जाकर क्षीरसमुद्रमे गिर पड़ी और वही कीचड़ होकर चन्द्रमामे कलङ्कके भावको धारण कर रही है ।। ८ ।।

टिप्पणी—बलोद्धत=बलै उद्धतम् (तृ० त०), स्फुरत्प्रतापाऽनलधूममञ्जिम= प्रताप एव अनल "मयूरव्यसकादयश्च" इससे रूपकसमास, स्फुर-श्चाऽसौ प्रता-पाऽनल (क० धा०), तस्य धूम (ष० त०)। मञ्जोर्भावो मञ्जिमा 'मञ्जु' शब्दसे "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इस सूत्रसे इमनिच् प्रत्यय। "कान्त मनोरमं रुच्य मनोज्ञ मञ्जु मञ्जुलम् ।" इत्यमर । स्फुरत्प्रतापानलस्य धूम. (ष० त०), तस्य इव मञ्जिमा यस्य तत्, "सप्तमी विशेषणे बहुव्रीहौ" इस सूत्रमे "सप्तमी" पदसे ज्ञापित व्यधिकरण बहुव्रीहि। रज=पाशुर्ना न द्वयो रज" इत्यमर । सुधाऽम्बुधौ=अम्बूनि धीयन्ते यस्मिन् स, अम्बुधि. अम्बु-उपपदपूर्वक "धा" धातुसे "कर्मण्यधिकरणे च" इस सूत्रसे कि प्रत्यय। अम्बु + धा + कि । सुधाया अम्बुधि तस्मिन् (ष० त०) पतितं = पत + क्त (कर्तामे अर्थमे)। पङ्कीभवत्=अपङ्क पङ्क यथा सम्पद्यते तथा भवत्, पङ्क + च्वि + भू + लट् (शतृ०)। अङ्कताम्=

अङ्कस्य भाव. अङ्कता, ताम्, अङ्क+तल्+टाप्। "कलङ्काऽङ्कौ लाञ्छन च" इत्यमर । दधाति="डुधाञ् धारणपोषणयो" इस जुहोत्यादि धातुसे लट्+तिप्। यहाँपर द्वितीय चरणमे रूपक और उपमा है। धूलि समुद्रमे पडकर कीचड होती हुई चन्द्रमामे कलङ्करूपको धारण करती है, यहाँपर उत्प्रेक्षाव्यञ्जक इव आदि शब्दोंके न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है, इस प्रकार तीन अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ८ ॥

स्फुरद्धनुर्निःस्वनतद्धनाऽऽशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य सङ्गरे।
निजस्य तेजः शिखिनः परःशता वितेनुरङ्गारमिवाऽयशः परे ॥ ९ ॥

अन्वयः—सङ्गरे परःशताः परे स्फुरद्धनुर्निःस्वनतद्धनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य निजस्य तेजः शिखिनः अङ्गारम् इव अयशः वितेनुः ॥ ९ ॥

व्याख्या—सङ्गरे=युद्धे, परःशताः = शतात् परे, शताधिका इत्यर्थः, बहव इति भावः। परे = शत्रवः, स्फुरद्धनुर्निःस्वनतद्धनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य = प्रसरच्चापघोषसमन्वितनलमेघबाणमहावर्षनिर्वापितस्य, निजस्य = स्वस्य, तेजःशिखिनः = प्रतापाऽग्नेः, अङ्गारम् इव = उल्मुकम् इव, अयशः = अकीर्तिम्, पराजयजनितामिति भावः। वितेनुः = विस्तारयामासुः ॥ ९ ॥

अनुवादः—युद्धमे सैकडो शत्रुओने चमकनेवाले धनु और शब्दोसे युक्त मेघरूप नलके बाणोकी प्रचुर वृष्टिसे बुझाये गये अपने प्रतापरूप अग्निके अङ्गार-(कोयला) के सदृश अकीर्तिको फैलाया ॥ ९ ॥

टिप्पणी— परःशताः = शतात् परे (अनन्ताः) (ष० त०), "पारस्करप्रभृतीनि च सञ्ज्ञायाम्" इस सूत्रसे पारस्करादिगणके आकृतिगण होनेसे सुट् आगमका निपातन हुआ है। महाराज भोज परः शब्दको निपात मानते हैं। परे = "अभिघातिपराऽरातिप्रत्यर्थिपरिपन्थिनः।" इत्यमरः। स्फुरद्धनुर्निःस्वन०= धनुश्च निःस्वनश्च धनुर्निःस्वनौ (द्वन्द्व)। स्फुरन्तौ धनुर्निःस्वनौ यस्य सः (बहु०)। स (नल) एव घन (रूपक०)। स्फुरद्धनुर्निःस्वनश्चाऽसौ तद्धनः (क० धा०) तस्य आशुगा (ष० त०)। प्रगल्भा चाऽसौ वृष्टि (क० धा०)। स्फुरद्धनुर्निःस्वनतद्धनाशुगाना प्रगल्भवृष्टिः (ष० त०), तया व्ययितस्य (संजातव्ययस्य, निर्वापितस्येति भावः) (तृ० त०)। तेजःशिखिनः = तेज एव शिखी, तस्य (रूपक०)। अयशः = न यशः, तत् (नञ्त०)। वितेनुः = वि—उपसर्गपूर्वक "तनु विस्तारे" धातुसे लिट्+झि। यहाँपर रूपक और उत्प्रेक्षाका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ९ ॥

अनल्पदग्धाऽरिपुराऽनलोऽज्वलैर्निजप्रतापैर्वलयं ज्वलद्भुवः ।
प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया रराज नीराजनया स राजघः ॥ १० ॥

अन्वयः—राजघ स अनल्पदग्धाऽरिपुराऽनलोज्ज्वलैः निजप्रतापैः ज्वलत् भुवो वलयं प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया नीराजनया रराज ॥ १० ॥

व्याख्या– राजघ =शत्रुभूपालघातुक , स = नल , अनल्पदग्धारिपुराऽनलोज्ज्वलै =बहुलभस्मीकृतशत्रुनगरवह्निप्रदीप्तैः, निजप्रतापै =स्वतेजोभि·, ज्वलत् = दीप्तं, भुव = भूमे , वलय=मण्डल, प्रदक्षिणीकृत्य = प्रदक्षिणं विधाय, जयाय = जेतु, सृष्टया = निर्मितया, नीराजनया = आरात्रिकेण, प्रतिपक्षराजाऽभावकरणेन वा, रराज = शुशुभे, नलस्य प्रतापो भूमण्डलव्यापकोऽभूदिति भाव ॥ १० ॥

अनुवाद·—शत्रु राजाओको मारनेवाले नल प्रचुर शत्रुनगरोको जलानेवाले और अग्निके समान उज्ज्वल अपने प्रतापोसे प्रदीप्त भूमण्डलकी प्रदक्षिणा करके जीतनेके लिए की गयी नीराजनासे शोभित हुए ॥ १० ॥

टिप्पणी— राजघ =राजान हन्तीति, "राजघ उपसख्यानम्" इस वार्तिकसे इस पदका निपातन हुआ है। अनल्पदग्धाऽरिपुरानलोज्ज्वलै = न अल्पानि अनल्पानि (नञ्०) । अरीणा पुराणि (ष० त०) । अनल्पानि दग्धानि अरिपुराणि यैस्ते (बहु०) । अनला इव उज्ज्वला (उपमानपू० कर्म०) । अनल्पदग्धाऽरिपुराश्च ते अनलोज्ज्वला , तै (क० धा०) । निजप्रतापै = निजस्य प्रतापा , तै (ष० त०) । ज्वलत् = ज्वलतीति, तत्, ज्वल + लट् (शतृ) । प्रदक्षिणीकृत्य = अप्रदक्षिण प्रदक्षिण यथा सपद्यते तथा कृत्वा प्रदक्षिण + च्वि + कृ + क्त्वा (ल्यप्) । जयाय = "तुमर्थाच्च भाववचनात्" इससे चतुर्थी । सृष्टया= सृज् + क्त + टाप् + टा । रराज = "राजृ दीप्तौ" धातुसे लिट् + तिप् (णल्) । यहाँपर निजप्रतापोसे नीराजनासृष्टिके सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धका वर्णन करनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ १० ॥

निवारितास्तेन महीतलेऽखिले निरीतिभाव गमितेऽतिवृष्टयः ।
न तत्यजुर्नूनमनन्यसंश्रया प्रतीपभूपालमृगीदृशां दृशः ॥ ११ ॥

अन्वयः—तेन अखिले महीतले निरीतिभाव गमिते निवारिता अतिवृष्टय· अनन्यसश्रया (सत्य) प्रतीपभूपालमृगीदृशा दृश न तत्यजु नूनम् ॥ ११ ॥

व्याख्या—तेन = नलेन, अखिले=समस्ते, महीतले=भूतले, निरीतिभावम् = अतिवृष्टयादीतिभावराहित्य, गमिते = प्रापिते, सति निवारिता· = निराकृता·, अतिवृष्टय. = अतिवर्षाणि, अनन्यसश्रया = अन्याश्रयस्थानरहिता सत्य·, प्रतीप-

भूपालमृगीदृशा = शत्रुभूपतिसुन्दरीणा, दृश = नेत्राणि, न तत्यजु'=न त्यक्तवत्य, नूनम् = इव ॥ ११ ॥

अनुवादः – महाराज नलने समस्त भूतलसे अतिवृष्टि आदि ईतियोको हटा दिया, तब निवारित अतिवृष्टियाँ दूसरा आश्रयस्थान न होनेसे नलके शत्रु राजाओकी पत्नियोके नेत्रोको नही छोडती थी ऐसा मालूम होता है ॥ ११ ॥

टिप्पणी – महीतले = मह्यास्तल, तस्मिन् (ष० त०)। निरीतिभाव = ईते भाव (ष० त०)। राष्ट्रमे दुर्भिक्ष आदि उपद्रवोकी सूचना करनेवाली ईतियाँ छ प्रकारकी होती है। जैसे कि—

"अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषका शलभा शुका ।
अत्यासन्नाश्च राजान षडेता ईतय' स्मृता ॥"

अर्थात् अतिवृष्टि, अनावृष्टि (वृष्टिका न होना), चूहे, शलभ (टिड्डी), तोते, ज्यादा निकटवर्ती राजा इस प्रकार ईतिके छ भेद होते है। निर्गता ईतयो यस्मिस्तत् (बहु०)। निरीतिनो भाव, तम् (ष० त०)। गमिते = गम् + णिच् + क्त + ङि । निवारिता =नि + वृ + णिच् + क्त + टाप् + जस् । अनन्य-सश्रया । अन्यस्य सश्रय (ष० त०)। अविद्यमान अन्यसंश्रय यासां ता (नञ्बहु०) अनन्यसश्रया = "नञो-स्त्यर्थाना वाच्यो वा चोत्तरपदलोप." इससे (नञ्बहु०) प्रतीपभूपालमृगीदृशा = प्रतिकूला आपौ येषु ते प्रतीपा, प्रति-उपसर्गपूर्वक "अप्" शब्दसे "द्वयन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्" इस सूत्रसे समासाऽन्त अप्रत्यय और 'अप्'के अकारका ईत्व हुआ है (बहु०)। भुवं पालयन्तीति भूपाला, भू-उपपदपूर्वक "पाल रक्षणे" धातुसे "कर्मण्यण्" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय "उपपदमतिङ्" इस सूत्रसे उपपदसमास। प्रतीपाश्च ते भूपाला' (क० धा०)। मृग्या इव दृशौ यासां ता मृगीदृश ' सप्तमी विशेषणे बहुव्रीहौ" इस सूत्रसे ज्ञापित व्यधिकरण बहुव्रीहि। प्रतीपभूपालाना मृगीदृशः, तासाम् (ष० त०)। तत्यजु' = "ज्यज हानौ" धातुसे लिट् + झि (उस्)। नूनम् = यह उत्प्रेक्षावाचक शब्द है, जैसे कि कहा गया है—

"मन्ये शङ्के ध्रुव प्रायो नूनमित्येवमादय. ।
उत्प्रेक्षावाचका' शब्दा इवशब्दोऽपि तादृशः ॥"

शत्रु राजाओकी सुन्दरियोके अश्रुपातके वर्णनसे नलसे उनके शत्रु राजाओंकी पराजय गम्य होता है अत पर्यायोक्त अलङ्कार है, जैसे कि काव्यप्रकाशमे उसका लक्षण है—"पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः ।" १०–११५ ।

इस प्रकारसे उत्प्रेक्षा और पर्यायोक्त इन दोनो अलङ्कारोका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ११ ॥

सिताऽशुवर्णैर्वयति स्म तद्गुणैर्महाऽसिवेम्न सहकृत्वरी बहुम् ।
दिगङ्गनाऽङ्गाभरण रणाऽङ्गणे यशःपटं तद्भटचातुरी तुरी ॥ १२ ॥

अन्वयः—तद्भटचातुरी तुरी महाऽसिवेम्न सहकृत्वरी रणाऽङ्गणे सिताऽशुवर्णै दिगङ्गनाऽङ्गाभरण बहु यश पट वयति स्म ॥ १२ ॥

व्याख्या—तद्भटचातुरी=नलयोद्धृचतुरता, तुरी=सूत्रवेष्टननलिका, महाऽसिवेम्न = विशालखड्गवायदण्डस्य, सहकृत्वरी = सहकारिणी (सती), रणाऽङ्गणे = युद्धाऽजिरे, सिताऽशुवर्णै =चन्द्रवर्णै, शुक्लवर्णैरित्यर्थं । तद्गुणै = नलशौर्यादिगुणैरेव तन्तुभि, दिगङ्गनाऽङ्गाभरण = दिशानार्यवयवभूषण बहु= प्रचुर, यश पट=कीर्तिवस्त्र, वयति स्म = निर्मितवती ॥ १२ ॥

अनुवादः—नलके योद्धाओकी चतुरता-रूप ताँतीने उनके बडेसे तलवाररूप वायदण्डके सहारे युद्धके प्राङ्गणमे चन्द्रसदृश सफेद रूप नलकी शूरता आदि-गुणरूप गुणो (तन्तुओ) से दिशा-रूप स्त्रियोके अङ्गोके भूषण-स्वरूप प्रचुर कीर्तिरूप वस्त्रको बुना ॥ १२ ॥

टिप्पणी—तद्भटचातुरी=तस्य भटा (ष० त०), "भटा योधाश्च योद्धार " इत्यमर । चतुरस्य भावश्चातुरी "चतुर" शब्दसे "गुणवचनब्राह्मणादिभ्य कर्मणि च" इस सूत्रसे भाव और कर्मके अर्थमे ष्यञ् प्रत्यय होकर "ष प्रत्ययस्य" इस सूत्रसे प्रत्ययके आदिमे स्थित मूर्धन्य षकारका लोप होकर "हलस्तद्धितस्य" इससे यकारका लोप हुआ है । "षिद्गौरादिभ्यश्च" इससे ङीष् प्रत्यय । तद्भटाना चातुरी (ष० त०) । महाऽसिवेम्न = महाश्चाऽसौ असि = महाऽसि, "सन्महत्परमोत्कृष्टा पूज्यमानै " इससे समास (क० धा०) हुआ है । महाऽसिरेव वेमा, तस्य (रूपक०) । "पुसि वेमा वायदण्ड " इत्यमर । सहकृत्वरी = सह कृतवती, सह—उपपदपूर्वक 'कृ' धातुसे "सहे च" इस सूत्रसे क्वनिप् प्रत्यय और अनुबन्धका लोप होकर "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" इस सूत्रसे तुक् आगम और स्त्रीत्वविवक्षामे "वनो र च" इस सूत्रसे ङीप् प्रत्यय होकर अन्त्य 'न' के स्थान मे 'र' आदेश हुआ है । रणाऽङ्गणे = रणस्य अङ्गण, तस्मिन् (ष० त०) । "अङ्गण चत्वराऽजिरे" इत्यमर । सिताऽशुवर्णै. = सिता अशवो यस्य स सिताऽशु (बहु०) । सिताऽशोरिव वर्णो येषा ते, तै (व्यधिकरण-बहु०) । तद्गुणै = तस्य गुणा तै (ष० त०)

दिगङ्गनाऽङ्गाभरण=दिश एव अङ्गना दिगङ्गना (रूपक०) तासामङ्गानि, (ष० त०)। तेषाम् आभरणम् (ष० त०)। यश पट=यश एव पट , तम् (रूपक०)। वयति स्म="वेञ् तन्तुसन्ताने" इस धातुसे "स्म" के योगमे "लट् स्मे" इस सूत्रसे भूतकाल के अर्थमे लट्। इस पद्यमे "सिताऽश्ववर्णै" इसमे उपमा और अन्यत्र रूपक अलङ्कार है। इस प्रकार दोनो अलङ्कारोका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर हुआ है ॥ १२ ॥

प्रतीपभूपैरिव किं ततो भिया विरुद्धधर्मैरपि भेत्तृतोज्झिता ।
अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा स यद्विचारदृक्चारदृगप्यवर्तत ॥ १३ ॥

अन्वयः—प्रतीपभूपै इव विरुद्धधर्मै अपि ततो भिया भेत्तृता उज्झिता किम् ? यत् स अमित्रजित्, मित्रजित्, विचारदृक् अपि चारदृक् अवर्तत ॥ १३ ॥

व्याख्या—प्रतीपभूपै इव = विरोधिभूपतिभि इव, विरुद्धधर्मै अपि = मिथोविरोधिधर्मै अपि, तत तस्मात् नलात् इत्यर्थ , भिया = भयेन हेतुना भेत्तृता = भेदनकारिता, पक्षान्तरे भेदज्ञापकता, व्यावर्तकता इति भाव , उज्झिता किं=परित्यक्ता किम् ? यत्=यस्मात्कारणात्, स =नल , ओजसा= तेजसा, अमित्रजित्=मित्रजिद्भिन्न , पर मित्रजित् = मित्रजेता, अत्र योऽमित्रजित् (मित्रजिद्भिन्न) स कथ मित्रजित् (मित्रजेता) इति विरोध. प्रतीयते, तत्परिहारस्तु—ओजसा=प्रतापेन, अमित्रजित्=शत्रुजेता, तथा ओजसा=तेजसा, मित्रजित्=सूर्यजेता इति । इत्थमेव स =नल विचारदृक्=चारदृग्भिन्न । पर चारदृक्=चारदृष्टि , अत्राऽपि यो विचारदृक् (चारदृग्भिन्न) स कथं चारदृक् (चारदृक्) इति विरोध प्रतीयते, तत्परिहारस्तु विचारदृक्=विचारपूर्वक द्रष्टा, चारदृक् = गुप्तचरनेत्र , "राजानश्चारचक्षुष " इति श्रवणादिति भाव । अवर्तत= आसीत् ॥ १३ ॥

अनुवादः—शत्रु राजाओ के समान विरुद्ध धर्मोंने भी उनसे डरकर भेत्तृता= भेदकारिता वा व्यावर्तकता छोड दी है क्या ? क्योकि वे प्रतापसे अमित्रजित् (मित्रको जीतनेवालेसे भिन्न) होकर भी तेजसे मित्रजित् (मित्रको जीतनेवाले थे), यहाँपर विरोध प्रतीत होता है, इसका परिहार है, नल प्रतापसे अमित्र-जित् अमित्र अर्थात् शत्रुओको जीतनेवाले थे और तेजसे मित्रजित्=मित्र अर्थात् सूर्यको जीतनेवाले थे इसी तरह नल विचारदृक् अर्थात् चारदृष्टिसे भिन्न होकर भी चारदृक् अर्थात् चार दृष्टि थे यहाँपर भी विरोध प्रतीत होता है। इसका

परिहार है, नल विचारदृक्=विचारसे इन्साफको देखनेवाले और चारदृक् अर्थात् वे चारो (गुप्तचरो) से सब राष्ट्रके व्यवहारोको देखनेवाले थे ॥ १३ ॥

टिप्पणी—प्रतीपभूपै=प्रतीपाश्च ते भूपा, तै (क० धा०)। विरुद्धधर्मै=विरुद्धाश्च ते धर्मा, तै (क० धा०)। तत=तस्मात् इति, तद्+तसिल्। भिया="भीतिर्भी साध्वस भयम्।" इत्यमर। भेत्तृता=भिनत्तीति भेत्ता, भिद्+तृच्। भेत्तुर्भाव, भेत्तृ+तल्+टाप्। 'भेत्तृता' पदके दो अर्थ है—भेदनीति कराना और व्यावर्तकता अर्थात् दूसरेसे व्यावृत्ति कराना। अमित्रजित्=न मित्राणि अमित्रा (नञ्०) अमित्रान् (शत्रून्) जयतीति अमित्रजित्। अमित्र+जि+क्विप् (उपपद०)। मित्रजित्=मित्र जयतीति, मित्र+जि+क्विप् (उपपद०)। यहाँपर अमित्रजित् अर्थात् जो मित्रजित्से भिन्न है वे कैसे मित्रजित् होगे इस प्रकार विरोध प्रतीत होता है, इसका समाधान है—ओजसा=प्रतापसे अमित्रजित् अर्थात् अमित्रो (शत्रुओ) को जीतनेवाले और ओजसा=तेजसे मित्रजित् अर्थात् मित्र (सूर्य) को जीतनेवाले। विचारदृक्=विचार पश्यति, विचारदृश्+क्विन् (उपपद०)। चारदृक्=चारा एव दृशो यस्य स (बहु०)। इसी तरह नल विचारदृक् अर्थात् चारदृक्से भिन्न होकर भी चारदृक् थे, यहाँपर भी विरोध प्रतीत होता है, इसका समाधान है महाराज नल विचारदृक् विचारको देखनेवाले थे एवम् चारदृक् अर्थात् चार (गुप्तचर) ही उनके नेत्र थे, गुप्तचरोके द्वारसे नल स्वराष्ट्र और परराष्ट्रोके सब व्यवहारोको देखते थे यह तात्पर्य है। अवर्तत="वृतु वर्तने" धातुके लङ्+त सूर्यके समान तेजवाले और गुप्तचररूप नेत्रोवाले नलमे डरकर शत्रुओने भेद और वैरको छोडा यह भाव है। इस पद्यमे "प्रतीपभूपैरिव" यहाँपर उपमा है और "अमित्रजित् मित्रजित्, विचारदृक् चारदृक्" इन अंशोमे विरोध अलङ्कार और 'किं' शब्दके सम्भावनाका बोधक होनेसे उत्प्रेक्षा इस प्रकार तीन अलङ्कारो का अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार हुआ है ॥ १३ ॥

तदोजसस्तद्यशस. स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा।
तनोति भानोः परिवेषकैतवात्तदा विधि कुण्डलना विधोरपि ॥ १४ ॥

अन्वयः—विधि तदोजस तद्यशस स्थितौ इमौ वृथा इति यदा यदा चित्ते कुरुते, तदा परिवेषकैतवात् भानो विधो अपि कुण्डलना तनोति ॥ १४ ॥

व्याख्या—विधि=ब्रह्मा, तदोजस=नलतेजस, तद्यशस=नलकीर्ते, स्थितौ=विद्यमानतायाम्, इमौ=भानुविधू, सूर्यचन्द्रावित्यर्थ। वृथा=व्यर्थप्रायौ, निष्फला-

विति भाव । इति=इत्थ, यदा यदा=यस्मिन् यस्मिन् समये, चित्ते=मनसि, कुरुते=विधत्ते, विमृशतीति भाव । तदा=तस्मिन् तस्मिन् समये, परिवेषकैतवात्=परिधिच्छलात्, भानो =सूर्यस्य, विधो अपि=चन्द्रमस अपि, कुण्डलना=वैयर्थ्य-सूचकं रेखामण्डल, तनोति=विस्तारयति ॥ १४ ॥

अनुवादः—ब्रह्माजी नलके तेजकी और उनकी कीर्तिकी स्थितिमे ये (सूर्य और चन्द्र) व्यर्थ है ऐसा जब-जब विचार करते है तब-तब परिवेष (मण्डल) के छलसे सूर्य और चन्द्रकी कुण्डलना (घेरे) को फैला देते है ॥ १४ ॥

टिप्पणी तदोजस =तस्य ओज , तस्य (ष० त०) । तद्यशस =तस्य यश , तस्य (ष० त०) । स्थितौ=स्था+क्तिन्+डि । यदा=यस्मिन् काले, "सर्वै-कान्यकियत्तद काले दा" इति सूत्रसे यद् शब्दसे दा प्रत्यय । तदा=तस्मिन् काले, पूर्वकथित सूत्रसे तद् शब्दसे दा प्रत्यय । परिवेषकैतवात्=परिवेषस्य कैतव, तस्मात् (ष० त०), हेतुमे पञ्चमी । "परिवेषस्तु परिधिरुपसूर्यक-मण्डले ।" इत्यमर । तनोति="तनु विस्तारे" इस धातुसे लट्+तिप् । यहाँपर प्रसिद्ध उपमानभूत सूर्य और चन्द्रकी निष्फलताका अभिधान होनेसे प्रतीप अलङ्कार है, जैसा कि साहित्यदर्पणमे उसका लक्षण है—

"प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।
निष्फलत्वाऽभिधान वा प्रतीपमिति कथ्यते ॥" १०–११३ ।

इसी तरह यहाँपर प्रस्तुत परिवेषका निषेध कर कुण्डलनाका स्थापन करनेसे अपह्नुति भी है । इस प्रकार दो अलङ्कारोकी निरपेक्षतासे स्थिति होनेसे ससृष्टि अलङ्कार है ॥ १४ ॥

अयं दरिद्रो भवितेति वैधसी लिपि ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम् ।
मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रतां नृप. ॥ १५ ॥

अन्वय.—अल्पितकल्पपादपो नृप अर्थिजनस्य ललाटे "अय दरिद्रो भविता" इति जाग्रती वैधसी लिपि दारिद्र्यदरिद्रता प्रणीय मृषा न चक्रे ॥ १५ ॥

नलस्य दानशौण्डत्व श्लोकद्वयेन प्रतिपादयति—अयमिति ।

व्याख्या—अल्पितकल्पपादप = अल्पीकृतकल्पवृक्ष , नृप =नैषध , अर्थि-जनस्य = याचकजनस्य, ललाटे = भाले, अयम् = एष , जन = नर , दरिद्र = नि स्व, भविता = भविष्यति, इति = इत्थ, जाग्रती = सदा स्थिता, वैधसी = ब्रह्मसम्बन्धिनी, लिपि = लिबि, वर्णावलीमिति भाव., दारिद्र्यदरिद्रता =

दरिद्रताऽभाव, प्रणीय=निर्माय, , मृषा = मिथ्या, न चक्रे = न कृतवान्, एतेन याचितपदार्थस्य दातु कल्पपादपान्नलस्योत्कर्षाऽतिशयो द्योत्यते ॥ १५ ॥

अनुवादः—कल्पवृक्षको भी मात करनेवाले नलने याचकके लिलारमे "यह दरिद्र होगा" ऐसी विद्यमान ब्रह्माकी लिपिको उस याचककी दरिद्रताका दारिद्रय करके झूठा नही बनाया ॥ १५ ॥

टिप्पणी—अल्पितकल्पपादप=अल्प कृत अल्पित, अल्प शब्दसे "तत्करोति तदाचष्टे" इससे णिच् प्रत्यय होकर क्त प्रत्यय। कल्प (सकल्पिताऽर्थ) पूरकः पादप. कल्पपादपः, "शाकपार्थिवादीनां सिद्धय उत्तरपदलोपस्योपसख्यानम्" इस वार्तिकसे मध्यमपदलोपी समास। अल्पित कल्पपादपो येन स. (बहु०)। अर्थिजनस्य = असन्निहित अर्थ अस्याऽस्तीति अर्थी, 'अर्थ' शब्दसे "अर्थान्चाऽसन्निहिते" इस सूत्रसे इनि प्रत्यय। "वनीयको याचनको मार्गणो याचकाऽर्थिनौ।" इत्यमर। अर्थी चाऽसौ जन, तस्य (क० धा०)। दरिद्र = दरिद्रातीति, "दरिद्रा दुर्गतौ" इस धातुसे पचाद्यच्। भविता = "भू सत्तायाम्" इस धातुसे "अनद्यतने लुट्" इससे लुट्+तिप्। जाग्रती = जागर्तीति जाग्रती, ता, "जागृ निद्राक्षये" इस धातुसे लट्के स्थानमे शतृ आदेश और स्त्रीत्वविवक्षामे टित् होनेसे "टिड्ढाणञ्" इत्यादि सूत्रसे डीप् प्रत्यय। वैधसी = वेधस इय वैधसी, ताम्, "वेधस्" शब्दसे "तस्येदम्" इससे अण् प्रत्यय और स्त्रीत्वविवक्षामे "टिड्ढाणञ्०" इत्यादि सूत्रसे डीप्। दारिद्रयदरिद्रता = दरिद्रस्य भाव कर्म वा दारिद्रयं, दरिद्र+ष्यञ्। दरिद्रस्य भावो दरिद्रता, दरिद्र+तल्+टाप्। द्रारिद्रयस्य दरिद्रता, ताम् (ष० त०)। प्रणीय=प्र+नी+क्त्वा (ल्यप्)। मृषा = यह अव्यय है। चक्रे=कृ+लिट्+त। इस पद्यसे नलकी उत्कृष्ट दानशीलता प्रतीत होती है। इस पद्यमे "अल्पितकल्पपादप" इस पदसे उपमान कल्पपादपसे उपमेय नलके आधिक्य वर्णन करनेसे व्यतिरेक अलङ्कार है ॥ १५ ॥

विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात्कृतो न सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययैर्मरुः।
अमानि तत्तेन निजाऽयशोयुगं द्विफालबद्धाश्चिकुराः शिरःस्थितम् ॥ १६

अन्वयः—विभज्य मेरु यत् अर्थिसात् न कृत, उत्सर्गजलव्ययै सिन्धु, यत् मरु न कृत, तत् तेन द्विफालबद्धा चिकुरा शिरःस्थित निजाऽयशोयुगम् अमानि ॥ १६ ॥

व्याख्या—विभज्य = विभाग कृत्वा, खण्डशो विधायेति भाव। मेरु =

सुमेरुपर्वत , यत् = यस्मात्कारणात्, अर्थिसात् = याचकाऽधीन , न कृत = नो विहित , एव च उत्सर्गजलव्ययै = दानसलिलोपयोगै , सिन्धु = समुद्र । यत् = यस्मात्कारणात्, मरु = धन्वा, निर्जलदेश इति भाव , न कृत = नो विहित । तत्=तस्मात् कारणद्वयात्, तेन=नलेन, द्विफालबद्धा =द्विभागनद्धा , चिकुरा = केशा उद्देश्यवाचक पदमेतत् । शिर स्थित = स्वमस्तकस्थ, निजाऽयशोयुग = स्वकीयाऽकीर्तियुग्म, विधेयवाचक पदमेतत् । अमानि = मत, विचारितमिति भाव ॥ १६ ॥

अनुवादः—विभाग करके (खण्ड-खण्ड बनाकर) सुमेरुपर्वतको याचकजनोको नही दिया और न तो दान करनेके समयमे जलका व्यय करके समुद्रको मरुस्थल बनाया इस कारणसे महाराज नलने दो भागोमे बाँधे गये अपने केशोको अपने शिरमे स्थित अपने दो अकीर्तिरूप समझा ॥ १६ ॥

टिप्पणी—विभज्य = वि + भज् + क्त्वा (ल्यप्) । मेरु = "मेरु सुमेरु-हेमाद्री रत्नसानु सुरालय ।" इत्यमर । उक्त कर्ममे प्रथमा । अर्थिसात्= अर्थ्यधीन , "अर्थिन् शब्दसे "तदधीनवचने" इस सूत्रसे "साति" प्रत्यय । उत्सर्गजलव्ययै =उत्सर्गस्य जल (ष० त०), तस्य व्यया ते (ष० त०) । मरु = "समानौ मरुधन्वानौ" इत्यमर । द्विफालबद्धा = द्वयो फालयो बद्धा , "तद्धिताऽर्थोत्तरपदसमाहारे च" इस सूत्रसे उत्तरपदसमास । चिकुरा. = "चिकुर कुन्तलो वाल कच केश शिरोरुह ।" इत्यमर । यह उद्देश्यवाचक पद है । शिर स्थित = शिरसि स्थितम् (स० त०) । निजाऽयशोयुग = न यशसी, (नञ्०) । अयशसोर्युगम् (ष० त०) । निज च तन् अयशोयुगम् (क० धा०), यह विधेयवाचक पद है । अमानि = मन् धातुसे कर्ममे लुङ् । उद्देश्यवाचक "चिकुरा" के बहुवचनान्त होनेपर भी विधेयवाचक पद "निजाऽयशोयुगम्" इसके एकवचनान्त होनेपर विधेयकी प्रधानतासे क्रिया-पदमे एकवचन हुआ है । इस पद्यमे मेरु और मरु इन दोनो अप्रस्तुत पदोकी कर्मतासे सम्बन्ध होनेसे तुल्ययोगिता अलङ्कार है । जैसा कि उसका लक्षण है—

"पदार्थाना प्रस्तुतानामन्येषा वा यदा भवेत् ।
एकधर्माऽभिसम्बन्ध स्यात्तदा तुल्ययोगिता ॥" सा० द० १०-६६ ।

केशोमे कृष्णताकी समतासे अयशका रूपण करनेसे रूपक अलङ्कार है, इस प्रकार तुल्ययोगिता और रूपककी परस्परमे अनपेक्षतया स्थिति होने संसृष्टि अलंकार है ॥ १६ ॥

अजस्रमभ्यासमुपेयुषा समं मुदैव देवः कविना बुधेन च ।
दधौ पटीयान्समयं नयन्नयं दिनेश्वरश्रीरुदयं दिने दिने ॥ १७ ॥

अन्वय — पटीयान् दिनेश्वरश्री अयं देव अजस्रम् अभ्यासम् उपेयुषा कविना बुधेन च समं मुदा एव समयं नयन् दिने दिने उदयं दधौ ॥ १७ ॥

नलस्य विद्वज्जनसंगतिं प्रतिपादयति—अजस्रमिति ।

व्याख्या - पटीयान् = कार्यकुशल, दिनेश्वरश्री = सूर्यसमतेजा, अयं वर्ण्यमान, देव = राजा, नल इत्यर्थ । अजस्रं = निरन्तरम्, अभ्यास = समीपम्, उपेयुषा = प्राप्तवता, कविना = काव्यकर्त्रा शुक्रेण च, बुधेन = पण्डितेन, चन्द्रपुत्रग्रहेण च, समं = सह, मुदा एव = आनन्देन एव, समयं = काल, नयन्=यापयन्, दिने दिने = प्रतिदिनम्, उदयम् = उन्नतिम् उदयपर्वतसम्बन्धं च, दधौ = धृतवान् ॥ १७ ॥

अनुवाद — कार्यकुशल और सूर्यके समान तेजवाले ये महाराज नल जैसे सूर्य निरन्तर समीपमे रहनेवाले कवि (शुक्र) के तथा चन्द्रके पुत्र ग्रहके साथ हर्षके साथ समयको बिताते हुए प्रतिदिन उदयाचलको प्राप्त करते है उसी प्रकार निरन्तर निकट रहनेवाले कवि (काव्यकर्ता) और बुध (विद्वान्) के साथ हर्षसे समयको बिताते हुए प्रतिदिन उन्नतिको प्राप्त करते थे ॥ १७ ॥

टिप्पणी—पटीयान् = अतिशयेन पटु, पटु + ईयसुन् । दिनेश्वरश्री = दिनस्य ईश्वर (ष० त०), तस्य इव श्रीर्यस्य स (व्यधिकरण-बहु०) । अभ्यास "सदेशाऽभ्याससविधसमर्यादसवेशवत् ।" इत्यमर । उपेयुषा=उपेयायेति उपेयिवान्, तेन, "उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च" इस सूत्रसे उप-उपसर्गपूर्वक इण् धातुसे भूतमात्रमे लिट्, उसके स्थानमे क्वसु प्रत्यय और इट् आगम । कविना="उशना भार्गव कवि" इति, "सख्यावान्पण्डित कवि" इति चाऽमर । बुधेन="रौहिणेयो बुध सौम्य" इति "सन्सुधी कोविदो बुध" इति चाऽमर । "समम्" पदके साथ योग होनेसे दोनो पदोसे "सहयुक्तेऽप्रधाने" इस सूत्रसे तृतीया । नयन् = नयतीति, नी + लट् (शतृ) । दधौ = धा + लिट् + तिप् । इस पद्यमे "दिनेश्वरश्री" इस पदमे उपमा और तथा "कविना" और "बुधेन" इन दोनो पदोमे श्लेष होनेसे दो अलङ्कारोकी ससृष्टि है ॥ १७ ॥

अधोविधानात्कमलप्रवालयोः, शिरःसु धानादखिलक्ष्माभुजाम् ।
पुरेदमूर्ध्वं भवतीति वेधसा पदं किमस्याऽङ्कितमूर्ध्वरेखया ॥ १८ ॥

अन्वयः—कमलप्रवालयो अधोविधानात् अखिलक्ष्माभुजा शिरःसु धानात्

इदम् ऊर्ध्वं पुरा भवति इति वेधसा अस्य पदम् ऊर्ध्वरेखया अङ्कित किम् ? ॥१८॥

व्याख्या—कमलप्रवालयो = कमलपल्लवयो , अधोविधानात्=तिरस्करणात्, अरुणतास्निग्धतामृदुत्वाऽतिशयैरिति शेष । तथा अखिलक्षमाभुजा = सकलभूपालाना, शिर सु = मस्तकेषु धानात्=स्थापनात्, "दानात्" इति पाठान्तरेऽपि स एवाऽर्थ । इद=पदम्, ऊर्ध्वं म् = उपरिवर्ति, पुरा भवति = भविष्यति, इति = हेतो , वेधसा=ब्रह्मणा, अस्य = नलस्य, पद=चरणम्, ऊर्ध्वरेखया = उच्चरेखया, अङ्कित किं=चिह्नितं किम् ? ॥ १८ ॥

अनुवाद.—कमल और पल्लवको तिरस्कार करनेसे और सपूर्ण राजाओके मस्तकोमे स्थापन करनेसे, यह चरण उच्च स्थानमे रहेगा इस हेतुसे ब्रह्माजीने इनके चरणको ऊर्ध्वरेखासे अङ्कित किया हे क्या ? ऐसा मालूम पडता है ॥१८॥

टिप्पणी—कमलप्रवालयो = कमल च प्रवालश्च, तयो (द्वन्द्व) । अखिलक्षमाभुजा=क्षमा भुञ्जन्तीति क्षमाभुज , क्षमा + भुज् + क्विप् (उपपद०) । "गौरिला कुम्भिनी क्षमा" इत्यमर । अखिलाश्च ते क्षमाभुज , तेषाम् (क० धा०) । धानात् = धा + ल्युट् + ङसि । पुरा भवति = भू धातुसे "पुरा" पदके योगमे "यावत्पुरानिपातयोर्लट्" इस सूत्रसे भविष्यत् कालमे लट् ऊर्ध्वरेखया = ऊर्ध्वा चाऽसौ रेखा, तया (क० धा०) । सौन्दर्य और शुभ लक्षणोसे सपन्न नलका चरण है, यह तात्पर्य हे । इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ १८ ॥

जगज्जय तेन च कोशमक्षयं प्रणीतवान्शैशवशेषवानयम् ।
सखा रतीशस्य ऋतुर्यथा वनं वपुस्तथाऽऽलिङ्गदथाऽस्य यौवनम् ॥ १९ ॥

अन्वय— शैशवशेषवान् अय जगज्जय, तेन च कोशम् अक्षय प्रणीतवान् । अथ रतीशस्य सखा ऋतु यथा वन, तथा यौवनम् अस्य वपु आलिङ्गत् ॥१९॥

अथ नलस्य तारुण्योपगम क्रमेण वर्णयति—जगज्जयमिति ।

व्याख्या—शैशवशेषवान् = बाल्याऽवशेषयुक्त , षोडषवर्षदेशीय इति भाव । अय = नल , जगज्जय = लोकविजयं, प्रणीतवान्=कृतवान्, तेन च = जगज्जयेन च, कोश = भाण्डारगृहम्, अक्षय=क्षयरहित, परिपूर्णमिति भाव , प्रणीतवान् = कृतवान् । अथ=अनन्तर, शैशवाऽपगमानन्तरमिति भाव । रतीशस्य=रतिपते कामदेवस्येति भाव , सखा=सहचर , मित्रमित्यर्थं । ऋतु =वसन्त , यथा = येन प्रकारेण, वन = काननम्, आलिङ्गति, तथा = तेन प्रकारेण, यौवन = तारुण्यम्, अस्य = नलस्य, वपु = शरीरम्, = आलिङ्गत्=आलिङ्गितवत्, आश्रयदित्यर्थं । नलस्य यौवनप्रादुर्भावो जात इति भाव ॥ १९ ॥

अनुवादः—बाल्यवास्थाका कुछ अवशेष रहनेपर ही नलने जगत्को जीत लिया उससे अपने कोषको अक्षय (परिपूर्ण) बना डाला। जैसे कामदेवका सहकारी (मित्र) ऋतु (वसन्त) वनको आश्रय करता है, वैसे ही बाल्यावस्थाके बीतनेपर यौवनने उनके शरीरका आश्रय लिया, अर्थात् नल युवा हो गये ॥ १९ ॥

टिप्पणी—शैशवशेषवान्=शिशोर्भाव शैशवम्, शिशु शब्दसे "इगन्ताच्च लघुपूर्वात्" इस सूत्रसे अण्, "शिशुत्व शैशवं बाल्यम्" इत्यमर । जगज्जय = जगता जय , तम् (ष० त०) । प्रणीतवान्=प्र+नी+क्तवतु । कोषम्= यह उद्देश्यवाचक है। अक्षयम्=अविद्यमान क्षयो यस्य-तम् (नञ्-बहु०) । यह विधेयवाचक है। रतीशस्य = रते ईश , तस्य (ष० त०) । यौवन= यून भाव युवन्-शब्दसे "हायनाऽन्तयुवादिभ्योऽण्" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय और "अन्" इससे अन् का प्रकृति भाव होनेसे टिलोप नहीं हुआ । "तारुण्य यौवन समे।" इत्यमर । आलिङ्गत्=आङ्+लिगि+लङ्+तिप् । इस पद्यमे उपमा अलङ्कार है ॥ १९ ॥

अथ नलशरीरवर्णनमुपक्रमते—

अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणा क्व तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे ।
तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारितां न शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः ॥ २०॥

अन्वय—तदङ्घ्रिणा पद्मेषु घृणा अकारि । तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे क्व ? शारद पार्विकशर्वरीश्वर तदास्यदास्ये अपि अधिकारिता न गत ॥ २० ॥

व्याख्या—तदङ्घ्रिणा = नलचरणेन, पद्मेषु = कमलेषु, घृणा = जुगुप्सा, अधारि = धृता, नलचरणापेक्षया कमलाना निकृष्टत्वादिति भाव । तच्छयच्छायलव अपि = नलपाणिकान्तिलेश अपि । पल्लवे = किसलये, क्व=कुत्र, नलपाणित कमलाना हीनत्वादिति भाव । शारद = शरदम्युदित., पार्विकशर्वरीश्वर =पूर्णिमाचन्द्र , षोडशकलासपूर्ण इति भाव । तदास्यदास्ये अपि = नलमुखदासभावे अपि, अधिकारिता = योग्यता, न गत = न प्राप्त , शारदपूर्णचन्द्रोऽपि नलमुखतो हीन आसीदिति भाव ॥ २० ॥

अनुवाद—नलके चरणने कमलोमे घृणा की। नलके पाणिकी कान्तिका लेश भी पल्लवमे कहाँ था ? शरत् ऋतुकी पूर्णिमाके चन्द्र उनके मुखके दास होनेके लिए भी अधिकारी (योग्य) नही थे ॥ २० ॥

टिप्पणी—तदङ्घ्रिणा = तस्य अङ्घ्रि , तेन (ष० त०), "पाद पदङ्घ्रि-

श्चरणोऽस्त्रियाम्" इत्यमर । आधारि=धृ + लुङ् (कर्ममे) । तच्छयच्छायलव = तस्य शय तच्छय (ष० त०), "पञ्चशाख शय पाणि " इत्यमर । तच्छयस्य छाया तच्छयच्छायम् (ष० त०), "विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्" इस सूत्रसे विकल्पसे न ुसकलिङ्गी हुआ है । "छाया सूर्यप्रिया कान्ति प्रतिबिम्ब-मनातप ।" इत्यमर । शारद =शरदि भव , शरद्-शब्दसे "सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रे-भ्योऽण्" इस सूत्रसे अण् । पार्विकशर्वरीश्वर = पर्वणि भव पार्विक , पर्वन्-शब्दसे "कालाट्ठञ्" इससे ठञ् । शर्वर्या ईश्वर (ष० त०) । पार्विकश्चाऽसौ शर्वरीश्वर (क० धा०) । तदास्यदास्ये=तस्य आस्यम् (ष० त०) । दासस्य भावो दास्यम्, दास + ष्यञ् । तदास्य य दास्य, तस्मिन् (ष० त०) । अधि-कारिताम्=अधिकरोतीति तच्छील अधिकारी, अधि + कृ + णिनि , अधिकारिणो भाव अधिकारिता, ताम्, अधिकारिन् + तल् + टाप् । इस पद्यमे नलके अङ्घ्रि आदिका कमल आदिमे घृणाका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धकी उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति अलकार है । उसका लक्षण है—

"सिद्धत्वेऽध्यवसायस्याऽतिशयोक्तिर्निगद्यते" ॥ १०–६६ ॥

उसके पाँच भेद इस प्रकार है—

"भेदेऽप्यभेद' सम्बन्धेऽसम्बन्धस्तद्विपर्ययो ।

पौर्वापर्यात्यय कार्यहेत्वो सा पञ्चधा तत " (६७) ॥ २० ॥

किमस्य लोम्नां कपटेन कोटिभिर्विधिर्न लेखाभिरजीगणद् गुणान् ? ।

न रोमकूपौघमिषाज्जगत्कृता कृताश्च किं दूषणशून्यबिन्दवः ? ॥ २१ ॥

अन्वयः—विधि रोम्णा कपटेन कोटिभि लेखाभि अस्य गुणान् किं न अजीगणत् ? । जगत्कृता रोमकूपौघमिषात् दूषणशून्यबिन्दवश्च किं न कृता ?॥२१॥

व्याख्या—विधि =ब्रह्मा, रोम्णा=लोम्ना, कपटेन=व्याजेन, कोटिभि = सार्धत्रिकोटिसख्याभि , लेखाभि =रेखाभि , अस्य = नलस्य, गुणान् = शौर्यौ-दार्यसौन्दर्यादीन्, किं न अजीगणत् = किं न गणितवान्, अजीगणत् इति भाव । तथैव जगत्कृता = लोकसृजा, ब्रह्मणेति भाव , अस्य, रोमकूपौघमिषात्=लोम-कूपसमूहच्छलात्, दूषणशून्यबिन्दव = दोषाऽभावपृषता , किं न कृता = किं नो विहिता , कृता एवेति भाव., नलस्य गुणा अतिप्रचुरा दोषाणा सुतरामभाव इति भाव. ॥ २१ ॥

अनुवादः—ब्रह्माजीने रोओके बहानेसे करोडो रेखाओसे क्या नलके गुणोको

नही गिना ? उसी तरह लोककी सृष्टि करनेवाले उन्होने लोमकूपोके बहानेसे नलके दोषोके अभावसूचक शून्यबिन्दुओको क्या नही किया ? ॥ २१ ॥

टिप्पणी—रोम्णा = "तनूरुह रोम लोम" इत्यमर । अजीगणत् = "गण सख्याने" धातुसे णिच् प्रत्यय होकर लुङ्का रूप है, "ई च गण " इससे ईत्व हुआ है। जगत्कृता = जगन् करोतीति जगत्कृत्, तेन, जगत्+कृ+क्विप्+टा (उपपद०) । रोमकूपौघमिषात् = रोम्णा कूपा (ष० त०), तेषामोघ (ष० त०), तस्य मिष, तस्मात् (ष० त०)। दूषणशून्यविन्दव = दूषणाना शून्यानि (ष० त०) तत्सूचका बिन्दव (मध्यमपदलोपी स०)। इस पद्यमे दो अपह्नुतियाँ और दो अर्थापत्तियाँ इनकी ससृष्टि है॥ २१ ॥

अमुष्य दोर्भ्यामरिदुर्गलुण्ठने ध्रुवं गृहीताऽर्गलदीघपीनता ।
उरःश्रिया तत्र च गोपुरस्फुरत्कपाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता ॥ २२ ॥

अन्वयः—अमुष्य दोर्भ्याम् अरिदुर्गलुण्ठने अर्गलदीर्घपीनता गृहीता ध्रुवम् । तत्र उर श्रिया च गोपुरस्फुरत्कपाटदुर्धर्षतिर प्रसारिता गृहीता ध्रुवम् ॥ २२ ॥

व्याख्या—अमुष्य = नलस्य, दोर्भ्यां = बाहुभ्याम्, अरिदुर्गलुण्ठने=शत्रुदुर्गमस्थलबलात्कारग्रहणे, अर्गलदीर्घपीनता = विष्कम्भायतपुष्टता, गृहीता ध्रुवम् = उपात्ता किम् ? तत्र = अरिदुर्गलुण्ठने, उर श्रिया च = वक्ष स्थलसम्पत्या च, गोपुरस्फुरत्कपाटदुर्धर्षतिर प्रसारिता = पुरद्वारप्रकाशमानकवाटाऽधृष्यता तिर्यक्प्रसरणशीलता च, गृहीता ध्रुवम् = उपात्ता किमु ॥ २२ ॥

अनुवादः—नलकी बाहुओने शत्रुओके किलोको बलात्कारसे ग्रहण करनेमे अर्गलाके समान लम्बाई और मुटाईको ग्रहण कर लिया है ऐसा मालूम पडता है। उसमे वक्ष स्थलकी शोभाने शहरके द्वारमे प्रकाशमान कपाट (किवाड)के समान दुर्धर्षता और तिरछी विस्तृतताको ग्रहण कर लिया है ऐसा प्रतीत होता है ॥ २२ ॥

टिप्पणी—दोर्भ्या = "भुजबाहू प्रवेष्टो दो" इत्यमर । अरिदुर्गलुण्ठने = दुखेन गम्यत एषु इति दुर्गाणि, दुर्—उपसर्गपूर्वक गम् धातुसे "सुदुरोरधिकरणे" इस सूत्रसे ड प्रत्यय । पर्वत आदि दुर्गम स्थानोको "दुर्ग" कहते है। ऐसे दुर्गोंके छ भेद होते है, जैसा कि भगवान् मनुने कहा है—

"धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा ।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥" ७–७० ।

अर्थात् मरुदुर्ग, महीदुर्ग, जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग, मनुष्यदुर्ग, और पर्वतदुर्ग राजा इनमे

एक दुर्गका आश्रय करके नगरमे रहे। अरीणा दुर्गाणि (ष० त०)। तेषा लुण्ठन, तस्मिन्, (ष० त०)। "लुठि स्तेये" धातुसे ल्यट् प्रत्यय होकर "लुण्ठन" पद बनता है। अर्गलदीर्घपीनता = दीर्घं च तत्पीनम् (क० धा०)। तस्य भाव, दीर्घपीन+तल्+टाप्। अर्गलस्य दीर्घपीनता (ष० त०)। "तद्विष्कम्भो र्गल न ना।" इत्यमर। गृहीता = ग्रह+क्त+टाप्। ध्रुवम् = यह उत्प्रेक्षावाचक शब्द है। उर श्रिया = उरस श्री, तया (ष० त०)। गोपुरस्फुरत्कपाटदुर्धर्षतिर प्रसारिता = स्फुरन्च तत्कपाटम् (क० धा०)। गोपुरे स्फुरत्कपाटम् (स० त०)। "पूरद्वार तु गोपुरम्" इत्यमर। दु खेन धर्षितु शक्य दुर्धर्षं, दुर्+धृष्+खल्। तिर प्रसरतीति तत्छील तिर प्रसारि, तिरस्+प्र+सृ+णिनि दु र्षं च तत् तिर प्रसारि (क० धा०), तस्य भाव, दुर्धर्षतिर प्रसारिन्+तल्+टाप्। गोपुरस्फुरत्कपाटस्य दुर्धर्षतिर प्रसारिता (ष० त०)। इस पद्यमे दो उत्प्रेक्षाओकी निरपेक्षतासे स्थिति होनेसे ससृष्टि अलङ्कार है ॥ २२ ॥

स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुन निजाऽशदृक्तर्जितपद्मसम्पद ।
अतद्द्वयीजित्वरसुन्दराऽन्तरे न तन्मुखस्य प्रतिमा चराऽचरे ॥ २३ ॥

अन्वय. - स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुन निजाऽशदृक्तर्जितपद्मसपद तन्मुखस्य प्रतिमा अतद्द्वयीजित्वरसुन्दराऽन्तरे चराऽचरे न ॥ २३ ॥

व्याख्या—स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुन =आत्मक्रीडालवमन्दहास्यविजितचन्द्रस्य, निजाऽशदृक्तर्जितपद्मसपद =स्वभागनेत्रभर्त्सितकमलश्रिय तन्मुखस्य = नलाननस्य, प्रतिमा=उपमा, अतद्द्वयीजित्वरसुन्दराऽन्तरे=चन्द्रपद्मजेतृरुचिरपदार्थरहिते, चराऽचरे = जङ्गमस्थावरात्मके जगति, न = न अवर्तत ॥ २३ ॥

अनुवाद—अपनी क्रीडाके लेशभूत मन्दहास्यसे चन्द्रको जीतनेवाले और अपने अशभूत नेत्रोसे कमलोकी शोभाकी भर्त्सना करनेवाले नलमुखकी उपमा चन्द्र और कमलको जीतनेवाले सुन्दर पदार्थसे रहित चराऽचर (जगत्) मे नही थी ॥ २३ ॥

टिप्पणी—स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुन = स्वस्य केलि (ष० त०)। तस्या लेश (ष० त०)। स्वकेलिलेशश्च तत् स्मितम् (क० धा०)। "ईषद्विकासिनयन स्मित स्यात्स्पन्दिता धरम्" साहित्यदर्पण-(३-२२१) की इस उक्तिके अनुसार जिस हास्यमे नेत्र कुछ विकसित होते है और ओष्ठ हिलता है उसे "स्मित" कहते है। निर्जित इन्दु येन तत् (बहु०)। स्वकेलिलेशस्मितेन निर्जितेन्दु, तस्य

(तृ० त०) । यह और आगेका दूसरा पद ये दोनो पद "तन्मुखस्य" इस पदके विशेषण है । निजाशदृक्तर्जितपद्मसम्पद =निजश्चाऽसौ अश (क० धा०) । स चाऽसौ दृक् (क० धा०) । पद्मस्य सम्पत् (ष० त०) तर्जिता पद्मसपत् येन (बहु०) । निजाशदृशा तर्जितपद्मसपत् तस्य (तृ० त०) । तन्मुखम्य=तस्य मुख, तस्य (ष० त०) । अतदद्वयीजित्वरसुन्दराऽन्तरे=द्वौ अवयवौ यस्या सा द्वयी, द्वि शब्दसे "सख्याया अवयवे तयप्" इस सूत्रसे तयप् प्रत्यय होकर उसके स्थानमे "द्वित्रिभ्या तयस्याऽयज्या" इससे अयच् आदेश होकर स्त्रीत्वविवक्षामे "टिड्ढाणञ्०" इत्यादि सूत्रसे ङीप् प्रत्यय । तयोर्द्वयी (ष० त०) । जयतीति तच्छील जित्वर, जि-धातुसे "इण्नशजिसर्तिभ्य क्वरप्" इस सूत्रसे क्वरप् । तद्द्वय्या जित्वरम् (ष० त०) । अन्यत् सुन्दर सुन्दराऽन्तरम्, "मयूरव्यसका-दयश्च" इस सूत्रसे समास हुआ है । तद्द्वयीजित्वर च तत् सुन्दराऽन्तरम् (क० धा०) । अविद्यमान तदद्वयीजित्वरसुन्दराऽन्तर यस्मिम्, तस्मिन् (नञ् बहु०) । चराऽचरे=चराश्च अचराश्च चराऽचर, तस्मिन्, "सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद्भवति" इस परिभाषासे एकवद्भाव हुआ है । इस पद्यमे व्यतिरेक अलङ्कार, और चन्द्र और पद्मकी विजयकी विशेषणगतिसे नलके मुखमे उपमाऽभावकी हेतुतासे पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है । उसका लक्षण है—

"हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्ग निगद्यते ।" (सा० द० १०-६१)

इस प्रकार दो अलङ्कारोकी ससृष्टि है ॥ २३ ॥

भङ्ग्यन्तरेण तमेवाऽर्थं पुनरप्याह—

सरोरुह तस्य दृशैव निर्जितं, जिताः स्मितेनैव विधोरपि श्रियः ।
कुत परं भव्यमहो महीयसो तदाननस्योपमितौ दरिद्रता ॥ २४ ॥

अन्वय.—तस्य दृशा एव सरोरुहं तर्जितम् । (तस्य) स्मितेन एव विधोः अपि श्रिय जिता । (आभ्याम्) पर भव्य कुत ? अहो ! तदाननस्य उपमितौ महीयसी दरिद्रता ॥ २४ ॥

व्याख्या—तस्य = नलमुखस्य, दृशा एव = नेत्रेण एव, सरोरुह = कमलं, तर्जित = भर्त्सितम् । तस्य स्मितेन एव = मन्दहास्येन एव, विधो अपि = चन्द्र-मस अपि, श्रिय =शोभा , जिता =निर्जिता (आभ्या = सरोरुहविधुभ्याम्), परम्=अन्यत्, भव्य = सुन्दर वस्तु, कुत = कस्मात्, उपलभ्येतेति शेष । अहो= आश्चर्यम् । तदाननस्य=नलमुखस्य, उपमितौ=तुलनाया, महीयसी = अतिमहती,

दरिद्रता=वचनसम्पत्तेरभाव । कवीनामिति शेष, सर्वथा निरुपम नलमुखमिति भाव ॥ २४ ॥

अनुवादः—नलके मुखमण्डलमे वर्तमान नेत्रने ही कमलकी भर्त्सना की और मन्दहास्यसे ही चन्द्रमाकी शोभाओको जीन लिया। इन दोनो (कमल ओर चन्द्र) से अन्य मुन्दर नदार्थ कहाँ है ? आश्चर्य है कि नलके मुखकी उपमामे बडी दरिद्रता है ॥ २४ ॥

टिप्पणी—सरोरुह=सरसि रोहतीति, सरस्—उपपदपूर्वक रुह धातुसे "इगुपधज्ञाप्रीकिर क" इस सूत्रसे क प्रत्यय (उपपद०) । विधो="विधु सुधाऽशु शुभ्राऽशु" इत्यमर । भव्य=भवतीति, "भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा" इस सूत्रसे निपातन हुआ है। कुत =कस्मात् इति, किम्+तसिल् । तदाननस्य=तस्य आनन, तस्य (प० त०) । महीयसी=अतिशयेन महती, महत् शब्दसे "द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ" इस सूत्रसे ईयसुन् प्रत्यय और स्त्रीत्व विवक्षामे ङीप् । दरिद्रता=दरिद्रस्य भाव, दरिद्र+तल्+टाप् । इस पद्यमे व्यतिरेक तथा सरोरुह ओर विधुके विजयरूप वाक्यार्थमे मुखकी उपमाकी दरिद्रताके हेतु होनेसे वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। दोनोकी ससृष्टि है ॥ २४ ॥

स्ववालभारस्य तदुत्तमाङ्गजै समं चमर्येव तुलाऽभिलाषिणः ।
अनागसे शंसति बालचापलं पुन पुन पुच्छविलोलनच्छलात् ॥ २५ ॥

अन्वयः—चमरी एव तदुत्तमाङ्गजै समं तुलाऽभिलाषिण स्ववालभारस्य अनागसे पुन पुन पुच्छविलोलनच्छलात् बालचापल शसति ॥ २५ ॥

व्याख्या—चमरी एव=चमरमृगी एव, तदुत्तमाङ्गजै सम=नलकेशै: सह, तुलाऽभिलाषिण =साम्यकामिन , स्ववालभारस्य=आत्मकेशकलापस्य, अनागसे=अपराधाऽभावाय, पुन पुन =भूयो भूय, पुच्छविलोलनच्छलात् =लाङ्गूलसञ्चालनव्याजात्, बालचापल=रोमचाञ्चल्य यद्वा, बालचापल=शिशुचाञ्चल्य, शसति=सूचयति । यथा माता महापुरुषै सम सघर्षशीलस्य स्वपुत्रस्याऽपराधाऽभावप्रतिपादनाय "एतेन मतिपूर्वक नैतदाचरितम् बालत्वान्मूर्खत्वादेव इत्थमाचरितमि"ति कथयति तथैव चमर्यपि नलकेशै. सम साम्य वाञ्छतो निजबालभारस्याऽपराधाऽभावप्रतिपादनार्थं पुच्छविलोलनच्छलात् इद चापल बालत्वेन कृतमिति सूचयतीति भाव ।

अनुवादः—चमरी मृगी ही नलके केशोके साथ बराबरीकी इच्छा करनेवाले

अपने केशकलापकी निरपराधता-प्रकाशन के लिए वार-वार पूँछ हिलानेके बहानेसे रोओकी चपलता वा यह बालककी चपलता है ऐसी सूचना करती है ॥ २५ ॥

टिप्पणी—तदुत्तमाऽङ्गजै =उत्तम च तत् अङ्गम् (क० धा०)। "उत्तमाऽङ्ग शिर शीर्षं मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम् ।" इत्यमर.। तस्य उत्तमाऽङ्गम् (ष० त०)। तदुत्तमाऽङ्गे जाता, तै, तदुत्तमाङ्ग–उपपदपूर्वक "जनी प्रादुर्भावे" धातुसे "सप्तम्या जनेर्ड" इससे ड प्रत्यय (उपपद०), "समम्" पदके योगमे तृतीया। तुलाऽभिलाषिण = तुलाम् अभिलषतीति तच्छील, तस्य तुला+ अभि+लष्+णिनि +ङस् (उपपद०)। स्वबालभारस्य = स्वस्य वाला (ष० त०), "चिकुर कुन्तलो वाल कच केश शिरोरुह ।" इत्यमर । स्वबालाना भार, तस्य (ष० त०)। अनागसे = न आग, अनाग, तस्मै "क्रियाऽर्थोप-पदस्य च कर्मणि स्थानिन" इससे चतुर्थी। पुच्छविलोलनच्छलात् = पुच्छस्य विलोलन (ष० त०), तस्य छल, तस्मात् (ष० त०)। बालचापल = बालाना चापलम् एव बालस्य चापल तत् (ष० त०)। शसति="शसु स्तुतौ" धातुसे लट्। इम पद्यमे श्लेष और कैतवापह्नुति दो अलकारोका सङ्कर है ॥२५॥

महीभृतस्तस्य च मन्मथश्रिया, निजस्य चित्तस्य च त प्रतीच्छया ।
द्विधा नृपे तत्र जगत्त्रयीभुवा नतभ्रुवां मन्मथविभ्रमोऽभवत् ॥ २६ ॥

अन्वयः—तस्य महीभृत मन्मथश्रिया त प्रति निजस्य चित्तस्य इच्छया च तत्र नृपे जगत्त्रयीभुवा नतभ्रुवा द्विधा मन्मथविभ्रम अभवत् ॥ २६ ॥

व्याख्या तस्य=पूर्वोक्तस्य, महीभृत = राज्ञ, नलस्येति भाव। मन्मथ-श्रिया = कामसदृशशोभया, तं प्रति = नल प्रति, निजस्य = स्वस्य, चित्तस्य = मनस, इच्छया च = स्पृहया च, तत्र=तस्मिन्, नृपे = राजनि, नल इति भाव.। जगत्त्रयीभुवा=लोकत्रितयोत्पन्नाना नतभ्रुवा = सुन्दरीणा, द्विधा=द्वाभ्या प्रकारा-भ्या, मन्मथविभ्रम = कामभ्रान्ति, कामविलासश्च। अभवत् = अभूत्। लोक-त्रितयसुन्दरीणा कामसदृशे नले अय मन्मथ इति भ्रमो मन्मथविलासश्चाऽभव-दिति भाव ॥ २६ ॥

अनुवाद—राजा नलकी कामदेवके समान शोभासे और उनके प्रति अपने चित्तकी इच्छासे उनके विषयमे तीन लोकोमे विद्यमान स्त्रियोमे दो प्रकारोसे कामविभ्रम (ये कामदेव है ऐसी भ्रान्ति और कटाक्ष आदि कामविलास भी) हो गया ॥ २६ ॥

टिप्पणी—महीभृत =मही बिभर्तीति महीभृत्, तस्य मही+भृ+क्विप्+ङस् (उपपद०)। मन्मथश्रिया = मन्मथस्य श्री, तया (ष० त०)। त = "प्रति" के योगमे "अभित परित समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि" इस वार्तिकसे द्वितीया। तत्र = तस्मिन्निति तद्+त्रल्। नृपे=नॄन् पातीति नृप, तस्मिन्, नृ+पा+क (उपपद०)। जगत्त्रयीभुवा = जगता त्रयी (ष० त०), तस्या भवन्तीति जगत्त्रयीभुवः, तासाम्, जगत्त्रयी+भू+क्विप्। नतभ्रुवा = नते भ्रुवौ यासा ता नतभ्रुव, तासाम् (बहु०)। द्विधा = द्वाभ्या प्रकाराभ्याम्, द्विशब्दसे "सख्याया विधार्थे धा" इस सूत्रसे धा प्रत्यय (अव्यय) मन्मथविभ्रमः = मन्मथस्य विभ्रम. (ष० त०)। "भ्रान्तिर्मिथ्यामतिभ्रम" इति—

"स्त्रीणा विलासबिब्बोकविभ्रमा ललित तथा।
हेला लीलेत्यमी भावा. क्रिया शृङ्गारभावजा.॥"

इत्यमर। अभवत् = भू+लङ्+तिप्। यहाँपर तीन भुवनोका स्त्रियोमे वैसे दो मन्मथविभ्रमोके न होनेपर भी वैसे सम्बन्धकी उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति और "मन्मथविभ्रम" पदमे श्लेष अलङ्कार है इस प्रकारसे दो अलङ्कारोकी परम्परामे निरपेक्ष स्थिति होनेसे ससृष्टि अलङ्कार है॥ २६॥

निमीलनभ्रंशजुषा दृशा भृशं निपीय तं यस्त्रिदशीभिरर्जितः।
अमूस्तमभ्यासभर विवृण्वते निमेषनिःस्वैरधुनाऽपि लोचनैः॥ २७॥

अन्वय—त्रिदशीभि निमीलनभ्रंशजुषा दृशा तं भृशं निपीय य. अर्जित.। अमू अधुना अपि निमेषनिःस्वैः लोचनैः तम् अभ्यासभर विवृण्वते॥ २७॥

व्याख्या—त्रिदशीभि = देवीभि, निमीलनभ्रंशजुषा = मुद्रणनिवृत्तिसेविन्या, निमेषव्यापारशून्यया इति भावः। एतादृश्या दृशा=दृष्ट्या, तं = नलं, भृशम् = अत्यर्थं, निपीय=पान कृत्वा, प्रणयाऽतिशयेन दृष्ट्वेति भावः। यः = अभ्यासभर, अर्जित. = उपार्जित। अमू. = त्रिदश्य, देव्य इत्यर्थ.। अधुना अपि = इदानीम् अपि, निमेषनिःस्वै = निमेषव्यापाररहितै, लोचनै =नेत्रै, तम् = पूर्वोपार्जितम्, अभ्यासभरम् = अनुशीलनोत्कर्षं, विवृण्वते = प्रकटयन्ति॥ २७॥

अनुवादः—देवियोने निर्निमेष दृष्टिसे उनको देखकर जो अतिशय अभ्यासको अर्जित किया था वे लोग अभी भी निमेषरहित दृष्टियोसे उसको अभिव्यक्त कर रही हैं॥ २७॥

टिप्पणी—त्रिदशीभिः = तिस्रो (बाल्यकौमारयौवनाख्या) दशा येषा ते त्रिदशा. (बहु०)। त्रिदशानां स्त्रिय. त्रिदश्य, ताभिः "पुंयोगादाख्यायाम्"

इस सूत्रसे ङीष् प्रत्यय वा त्रिदशजातो भवास्त्रिदश्य , ताभि. "जातेरस्त्रीविषया-दयोपधात्" इस सूत्रसे ङीप् प्रत्यय। निमीलनभ्रंशजुषा = निमीलनस्य भ्रंशः (ष० त०), तं जुषत इति निमीलनभ्रंशजुट्, तया, निमीलभ्रंश + जुष् + क्विप् + टा (उपपद०)। निपीय = नि + पा + क्त्वा (ल्यप्)। अर्जित. = "अर्ज अर्जने" धातुसे कर्ममे क्त प्रत्यय। निमेषनि स्वै. = निर्गंत स्व (धनम्) येभ्यः तानि (बहु०)। निमेषेसु नि.स्वानि, तै (स० त०)। अभ्यासभरम्=अभ्यासस्य भर, तम् (ष० त०)। "अथाऽतिशयो भरः" इत्यमरः। विवृण्वते = वि- उपसर्गपूर्वक "वृञ वरणे" धातुसे लट् + झ। इस पद्यमे देवियोकी नलको देखनेकी अभ्यासवासनासे निर्निमेषताकी उत्प्रेक्षा है, वह इव आदि शब्दोका प्रयोग न होने-से प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलङ्कार है॥ २७॥

अदस्तदाकर्णि फलाढ्यजीवितं दृशोर्द्वयं नस्तदवीक्षि चाऽफलम्।
इति स्म चक्षुःश्रवसां प्रिया नले स्तुवन्ति निन्दन्ति हृदा तदाऽऽत्मनः॥२८॥

अन्वयः—चक्षुःश्रवसा प्रिया. अद न. दृशोः द्वय तदाकर्णि (सत्) फलाढ्य-जीवित, तदवीक्षि (सत्) अफल च इति नले आत्मनः हृदा तत् स्तुवन्ति स्म निन्दन्ति स्म च॥ २८॥

व्याख्या चक्षुःश्रवसां = सर्पाणा, प्रियाः = वल्लभाः सर्प्यं इत्यर्थः। अद.= इद, न = अस्माक, दृशोः=नेत्रयो', द्वय = द्वितयं, दृग्द्वयमित्यर्थ.। तदाकर्णि = नलश्रवणशील सत्, फलाढ्यजीवित = सफलजीवितं, वर्तत इति शेष.। एव च तदवीक्षि = नलाऽवेक्षणरहित सत्, अफल च = निष्फल च, इति = अस्माद्धेतोः, नले = नैषधविषये, आत्मन. = स्वस्य, तत् = दृशोर्द्वय, स्तुवन्ति स्म = प्रशंसन्ति स्म, नलाकर्णित्वेनेति शेषः। निन्दन्ति स्म च = जुगुप्सन्ते च नलाऽवीक्षित्वे-नेति शेष॥ २८॥

अनुवादः—सर्पोकी स्त्रियाँ ये हमारो दो आँखें नलके गुणोको सुनाती हैं, इसलिए इनका जीवन सफल है, नलको न देखनेसे ये निष्फल भी है इस प्रकारसे वे (सर्पोंकी स्त्रियाँ) नलके विषयमे अपनी आखोकी स्तुति और निन्दा भी करती है॥ २८॥

टिप्पणी—चक्षुःश्रवसा = चक्षुषी एव श्रवसी येषा ते चक्षु श्रवसः, तेषाम् (बहु०), सर्पके चक्षु (नेत्र) ही कान है, इसलिए उन्हे "चक्षु श्रवा." कहा गया है। परन्तु जब वे चक्षुसे देखते है तब सुनते नही, जब सुनते हैं तो देखते नही, इसी बातको लेकर उनकी नलके विषयमे स्तुति और निन्दाका प्रकाशन

किया गया है। "कुण्डली गूढपाच्चक्षुःश्रवा, काकोदरः फणी।" इत्यमर। नः = अस्मद्+आम् (नस्), "बहुवचनस्य वस्नसौ" इससे नस् आदेश। द्वयं = द्वि+तयप् (अयच्)। तदाकर्णि = तम् आकर्णयतीति, तद्+अम्+आङ्+कर्ण+णिनि+सु। फलाढ्यजीवितं = फलेन आढ्यम् (तृ० त०), तादृशं जीवितं यस्य तत् (बहु०)। तदवीक्षि = वीक्षते तच्छील वीक्षि, वि+ईक्ष+णिनि. (उपपद०) न वीक्षि अवीक्षि (नञ्०)। तस्य अवीक्षि (ष० त०)। अफलम् = अविद्यमान फल यस्य तत् (नञ् बहु०)। नले = विषयमे सप्तमी। आत्मन. = आत्मन्+शस (कर्म)। स्तुवन्ति = स्म = "ष्टुञ् स्तुतौ" धातुसे "स्म"के योगमे "लट स्मे" इससे भूतकालमे लट्। निन्दन्ति स्म= "णिदि कुत्सायाम्" धातुसे 'स्म'के योगमे पहलेके समान लट्। इस पद्यमे यथा-संख्य और वैसी स्तुति और निन्दाके सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धकी उक्तिसे अतिशयोक्ति इस प्रकार इन दोनो अलङ्कारोंकी ससृष्टि है ॥ २८ ॥

विलोकयन्तीभिरजस्रभावनाबलादमुं नेत्रनिमीलनेष्वपि ।
अलम्भि मर्त्याभिरमुष्य दर्शने न विघ्नलेशोऽपि निमेषनिर्मितः ॥ २९ ॥

अन्वयः—अजस्रभावनाबलात् नेत्रनिमीलनेषु अपि अमुं विलोकयन्तीभि मर्त्याभि. अमुष्य दर्शने निमेषनिर्मितः विघ्नलेश· अपि न अलम्भि ॥ २९ ॥

व्याख्या—अजस्रभावनाबलात् = निरन्तरचिन्तनशक्ते·, नेत्रनिमीलनेषु अपि= नयनमुद्रणेषु अपि, अमु = नल, विलोकयन्तीभि. = पश्यन्तीभिः, मनसेति शेष। तादृशीभि. मर्त्याभिः = मानुषीभि स्त्रीभिः, अमुष्य = नलस्य, दर्शने = विलोकने, निमेषनिर्मित. = नेत्रनिमीलनरचितः, विघ्नलेश अपि = अन्तरायलव. अपि, न अलम्भि = नो लब्ध ॥ २९ ॥

अनुवादः—निरन्तर चिन्तनकी शक्तिसे आँखोको मूँदनेपर भी नलको देखने-वाली मर्त्यलोककी स्त्रियोने नलको देखनेमे निमेषसे उत्पन्न विघ्नका लेश भी नही पाया ॥ २९ ॥

टिप्पणी—अजस्रभावनाबलात् = भावनाया बलम् (ष० त०)। अजस्रं (यथा तथा) भावनाबलं, तस्मात् (सुप्सुपा०)। हेतुमे पञ्चमी। नेत्रनिमीलनेषु= नेत्रयो निमीलनानि, तेषु (ष० त०)। विलोकयन्तीभि.=वि+लोक+णिच्+लट् (शतृ)+ङीप्। मर्त्याभि = मर्त्य शब्दके योपध होनेसे "जातेरस्त्री०" इत्यादि सूत्रसे ङीप् न होकर सामान्य स्त्रीत्वमे टाप् प्रत्यय। दर्शने=दृश्+ल्युट्+ङि निमेषनिर्मितः = निमेषेण निर्मितः (तृ० त०)। विघ्नलेश. = विघ्नस्य लेशः

(ष० त० । "विघ्नोऽन्तराय· प्रत्यूह" इत्यमर· । अलम्भि="डुलभष् प्राप्तौ" धातुसे कर्ममे लुङ्, "विभाषा चिण्णमुलो·" इस सूत्रसे नुम् हुआ है। इस पद्यमे मनुष्य-स्त्रियोकी सब अवस्थाओमे नलदर्शनका सम्बन्ध न होनेपर भी उसका वर्णन करनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ २९ ॥

न का निशि स्वप्नगतं ददर्श तं, जगाद गोत्रस्खलिते च का न तम् ।
तदात्मताध्यातधवा रते च का चकार वा न स्वमनोभवोद्भवम् ॥ ३० ॥

अन्वयः— का निशि स्वप्नगत तं न ददर्श। का च गोत्रस्खलिते त न जगाद। का च रते तदात्मताध्यातधवा (सती) स्वमनोभवोद्भव न चकार ॥ ३० ॥

व्याख्या—का=स्त्री, निशि=रात्रौ, स्वप्नगत=स्वापप्राप्त, त=नलं, न ददर्श=नो दृष्टवती, अपि तु सर्वा अपि ददर्शेति भाव । का च=स्त्री, गोत्रस्खलिते=नामविपर्यासे, त=नल, न जगाद=नो बभाषे, अपि तु सर्वा एव जगाद इति भाव । का च=स्त्री, रते=सुरतकेलौ, तदात्मताध्यातधवा=नलरूपचिन्तितभर्तृका सती, स्वमनोभवोद्भव=निजचित्तकामोत्पत्ति, न चकार=न कृतवती, अपि तु सर्वा एव चकारेति भाव ॥ ३० ॥

अनुवाद.—किस स्त्रीने रातमे स्वप्नमे उन्हे नही देखा? किस स्त्रीने नामके उच्चारणकी भ्रान्तिसे उनका नाम नही लिया? किस स्त्रीने रतिक्रीडामे नलके रूपमे अपने पतिकी चिन्ता कर अपने चित्तमे कामदेवको प्रकट नही किया?॥३०॥

टिप्पणी—स्वप्नगत=स्वप्न गत, तम् (द्वि० त०)। ददर्श=दृश्+लिट्+तिप्। गोत्रस्खलिते=गोत्रस्य स्खलितं, तस्मिन् (ष० त०)। "गोत्र नाम्न्यचले कुले" इत्यमर । तदात्मताध्यातधवा=तस्य (नलस्य) आत्मा (स्वरूपम्) यस्य स तदात्मा (व्यधिकरण बहु०)। तदात्मनो भावस्तदात्मता, तदात्मन्+तल्+टाप्। ध्यात धव यया सा (बहु०)। "धव प्रिय पतिर्भर्त्ता" इत्यमर । तदात्मतया ध्यातधवा (तृ० त० । स्वमनोभवोद्भव=स्वस्य मनोभव (ष० त०)। तस्य उद्भव·, तम् (ष० त०) चकार=कृ+लिट्+तिप्। इस पद्यमे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ३० ॥

श्रियाऽस्य योग्याऽहमिति स्वमीक्षितुं करे तमालोक्य सुरूपया धृत ।
विहाय भैमीमपदर्पया कया न दर्पणः श्वासमलीमसः कृतः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—भैमी विहाय कया सुरूपया तम् आलोक्य "श्रिया अहम् अस्य योग्या" इति स्वम् ईक्षितुं करे धृतः दर्पणः अपदर्पया (सत्या) श्वासमलीमसः न कृत ?॥ ३१ ॥

व्याख्या—भैमी = दमयन्ती, विहाय=त्यक्त्वा, कया, सुरूपया = सुन्दर्या, त=नलम्, आलोक्य, श्रिया = शोभया, अहम्, अस्य=नलस्य, योग्या=अनुरूपा, इति=एव, विचार्येति शेष स्वम्=आत्मानम्, ईक्षितु=द्रष्टु, करे = हस्ते, धृत = गृहीत , दर्पण = आदर्श , अपदर्पया = गताऽभिमानया सत्या, श्वासमलीमस = नि श्वासमलिन , न कृत = नो विहित , भैमी विहाय सर्वथा नि श्वासवातेन दर्पणो मलिनीकृत इति भाव ॥ ३१ ॥

अनुवाद.—दमयन्तीको छोडकर किस सुन्दरीने नलको देखकर "शोभासे मै इनके अनुरूप हूँ" ऐसा विचार कर अपने रूपको देखनेके लिए हाथमे लिये हुए दर्पणको दर्पहीन होकर नि.श्वास वायुसे मलिन नही बनाया ? ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—भैमी = भीमस्य अपत्य स्त्री भैमी, ताम् भीम + अण् + ङीप । विहाय = वि + हा + क्त्वा (ल्यप्) । सुरूपया = शोभन रूप यस्या सा सुरूपा, तया (बहु०) । आलोक्य = आङ् + लोक् + क्त्वा (ल्यप्) । योग्या = योगाय प्रभवतीति, योग शब्दसे "योगाद्यच्च" इति सूत्रसे यत् प्रत्यय होकर स्त्रीत्व-विवक्षामे "अजाद्यतष्टाप्" इस सूत्रसे टाप् प्रत्यय । ईक्षितुम् = ईक्ष + तुमुन् । धृत =धृञ् + क्त । दर्पण.="दर्पणे मुकुरादर्शौ" इत्यमर । अपदर्पया = अपगत दर्प यस्या सा तया (बहु०) । श्वासमलीमस =श्वासै: मलीमस (तृ० त०) । "मलीमस तु मलिन कच्चर मलदूषितम् ।" इत्यमर । कृत =कृ + क्त (कर्ममे) । इस पद्यमे भी अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ३१ ॥

यथोह्यमानः खलु भोगभोजिना प्रसह्य वैरोचनिजस्य पत्तनम् ।
विदर्भजाया मदनस्तथा मनो नलाऽवरुद्ध वयसैव वेशितः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—यथा भोगभोजिना वयसा एव उह्यमान. मदनः अनलाऽवरुद्ध वैरोचनिजस्य पत्तनं प्रसह्य वेशित खलु। तथा भोगभोजिना वयसा एव ऊह्यमान मदन. नलाऽवरुद्ध विदर्भजाया मन प्रसह्य वेशित खलु ॥ ३२ ॥

"आदौ वाच्यः स्त्रिया रागः पुस. पश्चात्तदिङ्गितै " इति नियमेन नले भैम्या पूर्वराग प्रस्तौति यथेति ।

व्याख्या—यथा=येन प्रकारेण, भोगभोजिना = सर्पशरीरभोक्त्रा, वयसा एव = पक्षिणा एव, गरुडेनेत्यर्थ. । उह्यमान =प्राप्यमाण मदन. = काम. प्रद्युम्न इत्यर्थः । अनलाऽवरुद्धम्=अग्निपरिवृत, वैरोचनिजस्य = बाणाऽसुरस्य, पत्तनं = नगर, शोणितपुरमिति भावः । प्रसह्य=बलेन, वेशित = प्रवेशित ,

खलु = निश्चयेन । तथा = तेन प्रकारेण, भोगभोजिना = सुखाऽनुभाविना, वयसा एव = अवस्थया एव, तारुण्येन एवेत्यर्थ । ऊह्यमान = वितर्क्यमाण , मदन = काम', नलाऽवरुद्ध, नैषधसम्बद्ध, विदर्भजाया = वैदर्भ्या , दमयन्त्या इति भाव । मन = चित्त, प्रसह्य = बलेन । वेशितः = प्रवेशित , खलु = निश्चयेन । नलस्य गुणगणश्रवणोत्तर दमयन्त्या मनसि यौवनेनैव नलविषयक कामावेश प्रापित्त इति भाव ॥ ३२ ॥

अनुवाद —जैसे सर्पके शरीरको खानेवाले पक्षी गरुडने ही अग्निसे परिवेष्टित बाणाऽसुरके नगर (शोणितपुर)मे प्रद्युम्न (कामदेव) को बलसे प्रवेश कराया वैसे ही सुखका अनुभव करनेवाली अवस्था (जवानी)ने ही सखी-जनोसे तर्कित कामदेवको नलको चिन्ता करनेवाली दमयन्तीके मनमे बलसे प्रवेश कराया ॥ ३२ ॥

टिप्पणी— इस पद्यमे "आदौ वाच्य स्त्रिया राग पुस पश्चात्तदिङ्गितै ।" अलङ्कारशास्त्रके इस नियमके अनुसार नलमे दमयन्तीके पूर्वरागको पहले प्रस्तुत किया है । भोगभोजिना = भोगम् (सर्पशरीरम्) भुनक्तीति भोगभोजी, तेन, भोग + भुज + णिनि (उपपद०) । "अहे शरीर भोग स्यात्" इति "भोग सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययो ।" इति चाऽमर । वयसा = "खग-बाल्यादिनोर्वय " इत्यमर । उह्यमान = उह्यत इति, "वह प्रापणे" धातुसे कर्ममे लट (शानच्) । अनलाऽवरुद्धम् = अनलेन अवरुद्धम्, तत् (तृ० त०) । वैरोचनिजस्य=विरोचनस्य (प्रह्लादपुत्रस्य) अपत्य पुमान् वैरोचनि (बलि), विरोचन + इञ । वैरोचने जात वैरोचनिज , तस्य । पञ्चम्यामजातौ" इस सूत्रसे वैरोचनि-उपपदपूर्वक जन् धातुसे ड प्रत्यय (उपपद०) । पत्तन = 'पूः स्त्री पुरीनगर्यौ वा पत्तन पुटभेदनम् ।" इत्यमर । यह कर्म है । प्रसह्य = प्र + सह + क्त्वा (ल्यप) । वेशित = विश + णिच् + क्त । ऊह्यमान = ऊह्यत इति, "ऊह वितर्के" इस धातुसे कर्ममे लट् (शानच) । नलाऽवरुद्ध = नलेन अवरुद्ध तत् (तृ० त०) । विदर्भजाया=विदर्भेषु जायत इति विदर्भजा, तस्या , विदर्भ + जन् + ड + टाप् + ङस् । (उपपद०) । इस पद्यमे "यथोह्य-मान " "मनोनल ०" यहाँपर शब्दश्लेष और अन्यत्र "भोगभोजिना" 'वयसा" यहाँपर अर्थश्लेष है । श्लिष्ट विशेषणवाली यह उपमा वयोरूप द्व्यर्थक दो पदोंका अभेदाऽध्यवसायमूलक अतिशयोक्तिसे अनुप्राणित है अत सङ्कर अलङ्कार है ।

पौराणिक कथा—उषाकी सखी चित्रलेखाने बाणाऽसुरकी कुमारी उषासे

स्वप्नमे देखे गये अनिरुद्धको योगबलसे लाकर उषासे समागम कराया। बाणाऽसुरने यह वृत्तान्त जानकर अनिरुद्धको बन्दी बनाया। नारदमे इस बातको जानकर कृष्ण, बलराम और प्रद्युम्नने गरुडपर सवार होकर शोणितपुरमे प्रवेश कर बाणाऽसुरको संग्राममे जीतकर अनिरुद्धको छुडाया यह कथा श्रीमद्भागवत महापुराणमे है॥ ३२॥

नृपेऽनुरूपे निजरूपसम्पदां दिदेश तस्मिन्बहुशः श्रुतिं गते।
विशिष्य सा भीमनरेन्द्रनन्दना मनोभवाज्ञैकवशंवदं मन.॥ ३३॥

अन्वयः—सा भीमनरेन्द्रनन्दना निजरूपसम्पदाम् अनुरूपे तस्मिन् नृपे बहुश श्रुतिगते विशिष्य मनोभवाज्ञैकवशवद मन दिदेश॥ ३३॥

सम्प्रति दमयन्त्याश्चित्तासङ्गाख्या द्वितीयावस्था प्रतिपादयति—नृप इति।

व्याख्या सा=पूर्वोक्ता, भीमनरेन्द्रनन्दना = भीमभूपतनया, दमयन्तीत्यर्थं, निजरूपसम्पदां = स्वसौन्दर्यसम्पत्तीनाम्, अनुरूपे = योग्ये, तस्मिन् = पूर्वोक्ते, नृपे = राजनि, नल इत्यर्थ.। बहुश = अनेकवार, श्रुतिं = श्रवणगोचर, गते = प्राप्ते सति। विशिष्य = अतिशयेन, मनोभवाज्ञैकवशवद = कामदेवादेशैकाधीन, मन = चित्त, दिदेश=अर्पितवती, नल प्रति चित्त निदधाविति भाव॥ ३३॥

अनुवादः—दमयन्तीने अपनी रूपसम्पत्तियोके योग्य नलके वारंवार कर्णगोचर होनेपर विशेषतया कामदेवकी आज्ञाके एकमात्र अधीन अपने मनको उनमे लगाया॥ ३३॥

टिप्पणी—भीमनरेन्द्रनन्दना=नन्दयतीति नन्दना, "टुनदि समृद्धौ" धातुमे णिच् होकर "नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यच" इस सूत्रसे ल्यु (अन) प्रत्यय होकर स्त्रीत्वविवक्षामे टाप। भीमश्चाऽसौ नरेन्द्र (क० धा०)। भीमनरेन्द्रस्य नन्दना (ष० त०)। निजरूपसम्पदा=रूप च सम्पदश्च (द्वन्द्व)। निजाश्च ता रूपसम्पद तासाम् (क० धा०)। अनुरूपे=रूपस्य योग्यम् अनुरूपम्, "अव्यय विभक्ति०" इत्यादि सूत्रस्थे योग्यता-रूप यथाके अर्थमे समास होकर, अनुरूपम् अस्याऽस्ति इति "अर्शआदिभ्योऽच्" इससे अच् प्रत्यय। नृपे=नॄन् पातीति नृप, तस्मिन्, नृ+पा+क (उपपद०)। बहुश=बहून् वारान्, बहु शब्दसे "संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्" इस सूत्रसे शस् प्रत्यय। यह पद अव्यय है। विशिष्य = वि-उपसर्गपूर्वक "शिष्लृ विशेषणे" धातुसे क्त्वाके स्थानमे ल्यप् आदेश। मनोभवाज्ञैकवशंवदं = मनोभवस्य आज्ञा (ष० त०)। वशं वदतीति

वशंवद, वश—उपपदपूर्वक वद धातुसे "प्रियवशे वदः खच्" इससे खच् प्रत्यय और "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इस सूत्रसे मुम् आगम हुआ है (उपपद०)। एक च तद् वशंवदम् (क धा०)। मनोभवाज्ञाया एकवशंवद, तत् (ष० त०)। इस पद्यमे पूर्वार्द्धमे छेकाऽनुप्रास और वृत्त्यनुप्रासका एक आश्रयमे अनुप्रवेशरूप सङ्कर अलङ्कार है ॥ ३३ ।

उपासनामेत्य पितु स्म रज्यते दिने दिने साऽवसरेषु वन्दिनाम् ।
पठत्सु तेषु प्रति भूपतीनलं विनिद्ररोमाऽजनि शृण्वती नलम् ॥ ३४ ॥

अन्वयः—सा दिने दिने वन्दिनाम् अवसरेषु पितु उपासनाम् एत्य रज्यते स्म । तेषु भूपतीन् प्रति पठत्सु नल शृण्वती अल विनिद्ररोमा अजनि ॥ ३४ ॥

अथ दमयन्त्याः श्रवणाऽनुराग श्लोकचतुष्टयेन प्रतिपादयति—उपासनामिति ।

व्याख्या - सा=दमयन्ती, दिने दिने=प्रतिदिनम्, वन्दिना=स्तुतिपाठकानाम्, अवसरेषु=प्रसङ्गेषु, स्तुतिपाठस्येति शेष । पितु=जनकस्य, भीमभूपालस्येति भाव, उपासना=सेवाम्, एत्य=प्राप्य, रज्यते स्म = अनुरक्ता बभूव। तेषु= बन्दिषु, भूपतीन्=राज्ञ, प्रति पठत्सु=वदत्सु, स्तुतिकर्मत्वेनेति शेष । नल=नैषधं, शृण्वती = आकर्णयन्ती सती, अलम् = अत्यर्थं, विनिद्ररोमा = रोमाञ्चयुक्ता, अजनि = जाता, दमयन्ती नलगुणाकर्णनाऽनन्तर साऽतिशयं सञ्जातपुलकाऽभूदिति भाव । एतेन भैम्या बन्दिमुखेभ्यो नायकगुणगणाकर्णनं वर्णितम् ।

अनुवादः—दमयन्ती प्रतिदिन स्तुतिपाठकोके स्तुतिपाठके अवसरोमे पिताकी सेवाके लिए उपस्थित होकर नलके प्रति अनुरक्त होती थी, जब वे राजाओका स्तुतिपाठ करते थे उस समय नलके गुणोको सुननेपर दमयन्ती अतिशय रोमाञ्च-युक्त हो जाती थी ॥ ३४ ॥

टिप्पणी—दिने दिने=वीप्सामे द्विरुक्ति । वन्दिना=वन्दन्ते (स्तुवन्ति) इति वन्दिन , तेषा "वदि अभिवादनस्तुत्यो " इस धातुसे ग्रह्यादिगणमे पठित होनेसे णिनि । "वन्दिन स्तुतिपाठका " इत्यमर । अवसरेषु="प्रसङ्ग. स्यादवसर." इत्यमर. । उपासनाम्=उपासनम् उपासना, ताम् उप-उपसर्गपूर्वक "आस" धातुसे "ण्यासश्रन्थो युच्" इससे युच् और टाप् । एत्य=आङ्+इण+क्त्वा (ल्यप्)। रज्यते स्म="रञ्ज रागे" धातुसे लट्, "अनिदिता हल उपधाया. क्ङिति" इस सूत्रसे नकारका लोप । 'स्म' का योग होनेसे "लट स्मे" इस सूत्रसे भूतार्थमे लट् । भूपतीन्=भुव पतयः, तान् (ष० त०)। "प्रति" के

योगमे "अभितः-परितः समया निकषा हा प्रतियोगेऽपि" इससे द्वितीया। पठत्सु=पठन्तीति पठन्तः, तेषु, पठ्+लट् (शतृ)+सुप्। 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्" इससे सप्तमी। शृण्वती=शृणोतीति, श्रु+लट् (शतृ)+ङीप्। अल = "अल भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्।" इत्यमर.। विनिद्ररोमा = विगता निद्रा येभ्यस्तानि विनिद्राणि (बहु०)। विनिद्राणि रोमाणि यस्या सा (बहु०)। अजनि="जनी प्रादुर्भावे" धातुसे लुङ्, "दीपजनबुधपूरितायिप्या-यिभ्योऽन्यतरस्याम्" इससे 'च्लि' के स्थानमे चिण्। "जनिवध्योश्च" इससे वृद्धिका निषेध। इस पद्यमे विनिद्ररोमत्व (रोमाञ्च)-रूप सात्त्विक भावके उदयसे भावोदय अलङ्कार है ॥ ३४ ॥

कथाप्रसङ्गेषु मिथः सखीमुखात्तृणेऽपि तन्व्या नलनामनि श्रुते।
द्रुत विधूयान्यदभूयताऽनया मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया ॥ ५ ॥

अन्वयः—तन्व्या अनया मिथः कथाप्रसङ्गेषु सखीमुखात् नलनामनि तृणे अपि श्रुते द्रुतम् अन्यत् विधूय मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया अभूयत ॥ ३५ ॥

व्याख्या– तन्व्या=कृशशरीरया, अनया=दमयन्त्या, मिथः=रहसि परस्पर वा, कथाप्रसङ्गेषु=वार्तालापाऽवसरेषु, सखीमुखात्=वयस्याऽऽननात्, नलनामनि= नलनामधेये, तृणे अपि=अर्जुने अपि, श्रुते=आकर्णिते, द्रुत=शीघ्रम्, अन्यत्=अपर, कार्यं कथान्तर वा, विधूय=परित्यज्य, मुदा=हर्षेण, तदाकर्णनसज्जकर्णया=नल-श्रवणतत्परश्रोत्रया, अभूयत=भूतम् ॥ ३५ ॥

अनुवादः—कृश शरीरवाली दमयन्तीने परस्परमे वार्तालापके अवसरोमे सखीके मुखसे "नल" नामवाले तृण (खश-खश) के सुननेपर भी झटपट सब काम छोडकर हर्षसे नलके श्रवणमे कर्णोको तत्पर बनाया ॥ ३५ ॥

टिप्पणी—तन्व्या = "तनु" शब्दसे "वोतो गुणवचनात्" इस सूत्रसे विकल्पसे ङीष्। कथाप्रसङ्गेषु=कथाया प्रसङ्गा, तेषु (ष० त०)। सखी-मुखात्=सख्या मुख, तस्मात् (ष० त०)। नलनामनि=नल नाम यस्य तत् नलनाम, तस्मिन् (बहु०)। "नलः पोटगले राज्ञि" इति विश्वः। तृणे = "तृणमर्जुनम्" इत्यमर। श्रुते=श्रु+क्त+ङि। द्रुत="लघु क्षिप्रमर द्रुतम्" इत्यमर। अन्यत्="अन्य" शब्दसे अमूमे "अद्ड्डतरादिभ्य पञ्चभ्यः" इस सूत्रसे अद्ड् आदेश। विधूय=वि+धू+क्त्वा (ल्यप्)। तदाकर्णनसज्जकर्णया = तस्य आकर्णनम् (ष० त०)। सज्जौ कर्णौ यस्या सा सज्जकर्णा (बहु०)। तदाकर्णने सज्जकर्णा, तया (स० त०)। अभूयत="भू सत्तायाम्" धातुमे

भावमे लङ् "सार्वधातुके यक्" इससे यक्। इस पद्यमे औत्सुक्य और हर्ष ये दो व्यभिचारिभाव नलविषयक रति भावके अङ्ग हुए है, इस कारणसे भावसन्धि अलङ्कार है ॥ ३५ ॥

स्मरात्परासोरनिमेषलोचनाद् बिभेमि तद्भिन्नमुदाहरेति सा।
जनेन यूनः स्तुवता तदास्पदे निदर्शनं नैषधमभ्यषेचयत् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—"परासो' अनिमेषलोचनात् स्मरात् बिभेमि, तद्भिन्नम् उदाहर" इति सा यूनः स्तुवता जनेन तदास्पदे निदर्शनं नैषधम् अभ्यषेचयत् ॥ ३६ ॥

व्याख्या—पराऽसो =मृतात्, अत एव अनिमेषलोचनात्=निमेषरहितनेत्रात्, देवाच्चेति गम्यते, स्मरात्=कामात्, बिभेमि=भीता भवामि, अतः तद्भिन्न= स्मरभिन्न जनम्, उदाहर=वद, इति=इत्थ, सा=दमयन्ती, यून =तरुणान् जनान्, स्तुवता=प्रशसता, जनेन=सखीजनेन, तदास्पदे=स्मरस्थाने, निदर्शन=दृष्टान्तभूत, नैषध=नलम्, अभ्यषेचयत्=अभिषेचितवती, दमयन्ती स्मरस्थाने परमसुन्दरनरत्वेन नल स्थापयामासेति भाव ॥ ३६ ॥

अनुवाद.—"मरे हुए अत एव निमेषहीन नेत्रोवाले कामदेवसे मै डर जाती हूँ, इसलिए कामदेवसे भिन्न पुरुषका उदाहरण दो" ऐसा कहकर दमयन्तीने सुन्दर तरुणोकी तारीफ करनेवाली सखीके द्वारा कामदेवके स्थानमे दृष्टान्तभूत नलको स्थापित किया ॥ ३६ ॥

टिप्पणी—पराऽसो =परागता असवो यस्मात्स पराऽसु., तस्मात् (बहु०)। अनिमेषलोचनात्=अविद्यमानौ निमेषौ ययोस्ते अनिमेषे (नञ बहु०)। अनिमेषे लोचने यस्य, तस्मात् (बहु०)। स्मरात्="काम पञ्चशर स्मर" इत्यमर। "भीत्रा-र्थाना भयहेतु" इससे अपादान सज्ञा होनेसे पञ्चमी। बिभेमि="जिभी भये" इस धातुसे लट्+मिप। तद्भिन्न=तस्मान् भिन्न, तम् (ष० त०)। उदाहर=उद्+आङ्-उपसर्गपूर्वक "हृञ् हरणे" धातुसे लोट्+सिप्। यून=युवन्+शस, "श्वयुवमघोनामतद्धिते" इस सूत्रसे सम्प्रसारण, "वय स्थस्तरुणो युवा" इत्यमर। स्तुवता=स्तौति इति स्तुवन्, तेन "ष्टुञ् स्तुतौ" इस धातुसे लट्के स्थानमे शतृ+टा। तदास्पदे=तस्य आस्पद, तस्मिन् (ष० त०)। "आस्पदम्" इसमे "आस्पद प्रतिष्ठायाम्" इस सूत्रसे सुटका निपातन। निदर्शनं= नि+दृश्+ल्युट। नैषध=निषधानामय नैषध, तम् "तस्येदम्" इससे अण् प्रत्यय ओर "तद्धितेष्वचामादे" इससे आदि वृद्धि। यहाँपर निषधाना राजा ऐसा विग्रह करेगे तो न आदिमे होनेसे "जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ" इस सूत्रको बाधित

कर "कुरुनादिभ्यो ण्य." इससे ण्य प्रत्यय होकर "नैषध्य" ऐसा रूप बनेगा। अभ्यषेचयत्=अभि–उपसर्गपूर्वक णिजन्त "षिच क्षरणे" धातुसे लङ्+तिप् "प्राक् सितादड्व्यवायेऽपि" इससे षत्व हुआ है। इस पद्यमे अतिशयोक्ति अलङ्कार है॥ ३६॥

नलस्य पृष्टा निषधागता गुणान्मिषेण दूतद्विजबन्दिचारणाः।
निपीय तत्कीर्तिकथामथाऽनया चिराय तस्थे विमनायमानया॥ ३७॥

अन्वय—अनया निषधागता दूतद्विजवन्दिचारणा मिषेण नलस्य गुणान् पृष्टा अथ तत्कीर्तिकथा निपीय चिराय विमनायमानया तस्थे॥ ३७॥

व्याख्या—अनया=दमयन्त्या, निषधागता=निषधेभ्य आयाता, दूतद्विजबन्दिचारणा = सन्देशहरब्राह्मणस्तुतिपाठकनटा, मिषेण = व्याजेन, नलस्य = नैषध्यस्य, गुणान्=सौन्दर्यशौर्यादीन्, पृष्टा.=अनुयुक्ता, अथ=अनन्तरं, तत्कीर्तिकथां=नलयशोवर्णन, निपीय=पान कृत्वा, प्रणयाऽतिशयेन श्रुत्वेति भाव.। चिराय = बहुकालपर्यन्त, विमनायमानया = अन्तर्मनायमानया सत्या, तस्थे = स्थितम्॥ ३७॥

अनुवाद.—दमयन्तीने निषध देशसे आये हुए दूत, ब्राह्मण, स्तुतिपाठक और नटोसे किसी बहानेसे नलके गुणोको पूछा, तब नलकी कीर्ति-कथाका पान कर वे बहुत समयतक अनमनी-सी हो जाती थी॥ ३७॥

टिप्पणी—अनया=अनुक्त कर्तामे तृतीया। निषधागता=निषधेभ्य आगता (प० त०)। दूतद्विजबन्दिचारणा=दूताश्च द्विजाश्च बन्दिनश्चचारणाश्च (द्वन्द्व.)। यह गौणकर्म है "स्यात्सन्देशहरो दूत" इति "भरता इत्यपि नटाश्चारणाश्च कुशीलवा.।" इत्यप्यमर। पृष्टा=प्रच्छ+क्त। कर्ममे क्त प्रत्यय। तत्कीर्तिकथा= तस्य कीर्ति (ष० त०), तस्याः कथा, ताम् (ष० त०)। निपीय=नि+पा+क्त्वा (ल्यप्)। चिराय=' चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिराऽर्थका.।" इत्यमरः। यह अव्यय है। विमनायमानया=विगत मनो यस्या सा (बहु०)। "दुर्मना विमना अन्तर्मना स्यात्" इत्यमर.। विमना इव आचरतीति विमनायमाना, तया। विमनस् शब्दसे "कर्तु क्यङ् सलोपश्च" इस सूत्रसे क्यङ् प्रत्यय 'स' का लोप, "अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घ." इससे दीर्घत्व और ङित् होनेसे "अनुदात्तङित आत्मनेपदम्" इससे आत्मनेपद होकर लट्के स्थानमे शानच्+टाप्+टा। तस्थे=स्था धातुसे भावमे लिट्। इस पद्यमे चिन्ता नामक व्यभिचारि भावका उदय होनेसे भावोदय अलङ्कार है॥ ३७॥

प्रियं प्रियां च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाऽधिलीलागृहभित्ति कावपि ।
इति स्म सा कारुतरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते ।। ३८ ।

अन्वयः—"अधिलीलागृहभित्ति कौ अपि त्रिजगज्जयिश्रियौ प्रिय प्रिया च लिख" इति सा कारुतरेण लेखित नलस्य स्वस्य च सख्यम् ईक्षते स्म ।। ३८ ।।

अथ दमयन्त्या कान्तप्रतिकृतिदर्शनरूप विनोदोपायमुपस्थापयति प्रियमिति–

व्याख्या—अधिलीलागृहभित्ति = विलासभवनकुडचे, कौ अपि = कौ चित्, अनिर्दिष्टनामधेयौ, त्रिजगज्जयिश्रियौ = लोकत्रयविजयिशोभौ, प्रिय = नायक, प्रियां = नायिका च, लिख = चित्रीकुरु, इति = इत्थम्, आदिश्येति शेष । सा= दमयन्ती, कारुतरेण = कुशलचित्रकरेण, लेखित = चित्रित, नलस्य = नैषधस्य, स्वस्य च = आत्मनश्च, सख्य = सखित्व, चित्ररूपे सहस्थितिमिति भाव । ईक्षते स्म = अद्राक्षीत् ।। ३८ ।।

अनुवादः—"विलास-भवनकी दीवारपर तीन लोकोको जीतनेवाली शोभा-वाले किन्ही नायिका और नायकको लिखो" इस प्रकार आज्ञा देकर दमयन्ती कुशल चित्रकारसे लिखे गये चित्रमे नल और अपनी सहस्थितिको देखती थी ।।३८।।

टिप्पणी—अधिलीलागृहभित्ति = लीलाया गृह (ष० त०), तस्य भित्ति (ष० त०), भित्ति स्त्री कुडचम्" इत्यमर । लीलागृहभित्तौ इति अधिलीला-गृहभित्ति, "अव्यय विभक्ति०" इत्यादि सूत्रसे विभक्तिके अर्थमे अव्ययीभाव० । कौ=का च कश्च कौ, तौ, "पुमान् स्त्रिया" इससे एकशेष । त्रिजगज्जयिश्रियौ = त्रयाणा जगता समाहार त्रिजगत्, 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इस सूत्रसे समास, उसकी "सख्यापूर्वो द्विगु " इस सूत्रसे द्विगुसज्ञा । त्रिजगत् जयतीति तच्छीला त्रिजगज्जयिनी, त्रिजगत्-उपपदपूर्वक "जि जये" धातुसे "जिदृक्षिवि-श्रीण्वमाव्यथाभ्यमपरिभूप्रसूभ्यश्च" इस सूत्रसे इनि प्रत्यय । त्रिजगज्जयिनी श्रीर्ययोस्तौ, तौ (बहु०) । प्रिय = प्रीणातीति प्रिय , त, "प्रीञ् तर्पणे" धातुसे "इगुपधज्ञाप्रीकिर क " इस सूत्रसे क प्रत्यय । लिख = "लिख अक्षरविन्यासे" धातुसे विधि अर्थमे लोट् + सिप् । कारुतरेण = कुर्वन्तीति कारव , कृ धातुसे "कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्" इस उणादिसूत्रसे उण् प्रत्यय, "कारु शिल्पी" इत्यमर । अतिशयेन कारु कारुतर. (तरप् प्रत्यय) तेन, लेखित, लिख + णिच् + क्त. । सख्य = सख्युर्भाव , तद् "सख्युर्य. इस सूत्रसे सखि शब्दसे य प्रत्यय । ईक्षते स्म = ईक्ष + लट + त, "स्मे लट्" इस सूत्रसे 'स्म'के योगमे भूत अर्थमे लट् ।। ३८ ।।

मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं निशि क्व सा न स्वपती स्म पश्यति ?
अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम् ॥ ३९ ॥

अन्वय.— स्वपती सा मनोरथेन स्वपतीकृतं नल क्व निशि न पश्यति स्म ? सुप्ति अदृष्टवैभवात् अदृष्टम् अपि अर्थं जनदर्शनाऽतिथिं करोति ॥ ३९ ॥

व्याख्या—स्वपती = निद्राती, सा = दमयन्ती, मनोरथेन = अभिलाषेण, स्वपतीकृतम् = निजनाथीकृत, नल = नैषध, क्व = कुत्र, निशि=रात्रौ, न पश्यति स्म = नो दृष्टवती, सर्वस्या रात्रावपि ददर्शेति भाव । उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति । सुप्ति =स्वप्न , अदृष्टवैभवात् = धर्माऽधर्मप्रभावात्, अदृष्टम् अपि = अविलोकितम् अपि, अर्थं = पदार्थं, जनदर्शनाऽतिथिं = लोकविलोकनगोचर, करोति = विदधाति स्वप्नरूपेण दर्शयतीति भाव ॥ ३९ ॥

अनुवाद — सोती हुई वे (दमयन्ती) अभिलाषसे अपने पति बनाये गये नलको किस रातमे नही देखती थी । स्वप्न धर्म और अधर्मके प्रभावमे नही देखे गये पदार्थको भी जनोका दर्शनगोचर बनाता है ॥ ३९ ॥

टिप्पणी स्वपति="ञि वप शये" धातुसे लटके स्थानमे शतृ आदेश और स्त्रीत्वविवक्षामे ङीप् । स्वपतीकृत = स्वस्य पति (ष० त०) । अस्वपति. स्वपतिर्यथासपद्यते तथा कृत स्वपतीकृत , तम् । स्वपति + न्वि + कृ = क्त । क्व = कस्यामिति, 'किमोऽत्" इस सूत्रसे 'किम्' शब्दसे अत् और "क्वाऽति" इससे 'किम्'के स्थानमे क्व आदेश । पश्यति स्म=दृश (पश्य) + लट् + तिप, 'स्म' के योगमे भूतकालमे लट् । सुप्ति =स्वप्न, "ञिष्वप शये" धातुसे "स्त्रियां क्तिन्" इससे क्तिन् और सम्प्रसारण । अदृष्टवैभवात् = न दृष्टम् अदृष्टम् (नञ्०) धर्म और अधर्म । अदृष्टस्य वैभव, तस्मात् (ष० त०) । अदृष्ट = न दृष्ट., तम् (नञ्०) । अर्थम् = "अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु ।" इत्यमरः । जनदर्शनाऽतिथिं = जनाना दर्शनम् (ष० त०), तस्य अतिथिः, तम् (ष० त०) । करोति=कृ + लट् + तिप । इस पद्यमे सामान्यसे विशेषका समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ ३९ ॥

निमीलितादक्षियुगाच्च निद्रया हृदोऽपि बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् ।
अदर्शि संगोप्य कदाऽप्यवीक्षितो रहस्यमस्या स महन्महीपतिः ॥ ४० ॥

अन्वयः—निद्रया निमीलितात् अक्षियुगात् बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् हृद अपि सगोप्य कदाऽपि अवीक्षित. अस्या महत् रहस्य स महीपति अदर्शि ॥ ४० ॥

व्याख्या—निद्रया = स्वापेन, निमीलितात् = मुद्रितात्, अक्षियुगात् = नेत्र-

युगलात्, बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात्=बहिरिन्द्रियाऽव्यापारनिमीलितात्, हृद. अपि = मनसः अपि, सगोप्य = सम्यग् गोपयित्वा, कदाऽपि = कस्मिन्नपि काले, अवीक्षित = अदृष्ट , अस्या = दमयन्त्या , महत् = महत्त्वपूर्णं, रहस्य = गोपनीय वस्तु, सः=पूर्वोक्त , महीपति =राजा, नल इत्यर्थः । अदर्शि = दर्शितः ॥ ४० ॥

अनुवादः—नींदसे मूँदे गये दो नेत्र से बाह्य इन्द्रियके व्यापारभावसे निष्क्रिय अन्त.करण (मन) से भी छिपाकर कभी भी नही देखे गये इन (दमयन्ती) के अत्यन्त गोपनीय महाराज नलको निद्राने दमयन्तीको दिखाया।

टिप्पणी—निमीलिताद् = नि + मील + क्त. (कर्ममे) । अक्षियुगात् = अक्ष्णो युग, तस्मात् (ष० त०) । बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात्=बहिर्भवानि बाह्यानि, बहिस् शब्दसे "बहिषष्टिलोपो यञ्च" इस सूत्र से यञ् प्रत्यय और 'टि' (इस्)का लोप हुआ है । बाह्यानि च तानि इन्द्रियाणि (क० धा०) । मुनेर्भावो मौनम्, 'मुनि' शब्दसे "इगन्ताच्च लघुपूर्वात्" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय । बाह्येन्द्रियाणा मौनम् (ष० त०), तेन मुद्रितं, तस्मात् (तृ० त०) । हृद ="चित्त तु चेतो हृदय स्वान्त हृन्मानस मन ।" इत्यमर । संगोप्य = सम्-उपसर्गपूर्वक "गुपू-रक्षणे" धातुसे 'क्त्वा' के स्थानमे ल्यप् । अवीक्षित = न वीक्षित (नञ्०) । रहस्य = रहसि भव, रहस्-शब्दसे "तत्र भव" इस सूत्रसे यत् । महीपतिः = मह्या पति (ष० त०) । अदर्शि = दृश् + णिच + लुङ ॥ ४० ॥

अहो ! अहोभिर्महिमा हिमागमेऽप्यतिप्रपेदे प्रति ता स्मरार्दिताम् ।
तपर्तुपूर्तावपि मेदसां भरा विभावरीभिर्बिभराम्बभूविरे ॥ ४१ ॥

अन्वयः—अहो ! स्मरार्दिता ता प्रति हिमागमे अपि अहोभि महिमा अतिप्रपेदे, तपर्तुपूर्तौ अपि विभावरीभि मेदसा भरा बिभराम्बभूविरे ॥ ४१ ॥

दमन्त्याश्चिन्ताजागरौ प्रतिपादयति—अहो इति ।

व्याख्या— अहो = आश्चर्यम्, स्मरार्दिता=कामपीडिता, ता प्रति=दमयन्ती प्रति, हिमागमे अपि = हेमन्ते अपि । अहोभि. = दिनै , महिमा = महत्त्व, दैर्घ्य-मिति भाव । अतिप्रपेदे = अतिशयेन प्राप्त, तपर्तुपूर्तौ अपि = ग्रीष्मर्तुपूरणे अपि, विभावरीभि = रात्रिभि , मेदसा = वसाना, भरा. = अतिशया , दैर्घ्यरूपा इति भाव । बिभराम्बभूविरे =धृता । हेमन्ते दिनानि ह्रस्वानि, ग्रीष्मे रात्रयो ह्रस्वा भवन्ति पर नलवियोगपीडिताया दमयन्त्याः कृते हेमन्ते दिनानि दीर्घाणि, ग्रीष्मर्तौ रात्रयो दीर्घरूपा प्रतीयन्ते स्मेति भाव ॥ १ ॥

अनुवादः—आश्चर्य है ! कामदेवसे पीडित दमयन्तीके लिए हेमन्त ऋतुमे भी

दिन लम्बेसे प्रतीत होते थे, ग्रीष्म ऋतुमे भी रात्रियोसे दीर्घताका धारण किया जाता था ॥ ४१ ॥

टिप्पणी—अहो = "अहो हीति विस्मये" इत्यमरः। ओकाराऽन्त निपात है, इसलिए "अहो अहोभि" यहाँपर "ओत्" इस सूत्रसे 'अहो' पदको प्रगृह्यसज्ञा होकर प्रकृतिभाव होनेसे पूर्वरूप नही हुआ। स्मरार्दिता = स्मरेण अर्दिता, ताम् (तृ० त०)। तां="प्रति" इस पदके योगमे "अभित. परित: समया निकषा हा-प्रतियोगेऽपि" इससे द्वितीया हुई है। हिमाऽऽगमे = हिमस्य आगम, तस्मिन् (ष० त०)। अहोभि = "घस्रो दिनाऽहनी वा तु क्लीबे दिवसवासरौ ।" इत्यमर। महिमा = महत भाव, महत्-शब्दसे "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इस सूत्रसे इमनिच् प्रत्यय, यह पुंलिङ्गी शब्द है। अतिप्रपेदे = अति+प्र+पद्+लिट्+त (कर्ममे)। तपर्तुपूर्तौ=तपश्चाऽसौ ऋतु तपर्तु (क० धा०), "आद्गुणः" इससे "उरण रपर" इसके सहकारमे अर् गुण। "निदाघ उष्णोप-गम उष्ण ऊष्मागमस्तप ।" इत्यमर। तपर्तो पूर्ति., तस्याम् (ष० त०)। विभावरीभिः="विभावरीतमस्विन्यौ रजनी यामिनी तमी ।" इत्यमर। मेदसा= "मेदस्तु वपा वसा" इत्यमर। "मेद" पदसे चरबीका बोध होता है। विभराम्बभूविरे = "डुभृञ् धारणपोषणयो" इस धातुसे कर्ममे लिट्+झ, "भीह्री-भृहुवा श्लुवच्च" इससे श्लुवद्भाव होनेसे द्वित्व हुआ है। इस पद्यमे पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धमे दो विरोधाभास है, निरपेक्षतामे उनकी स्थिति होनेसे ससृष्टि अलङ्कार है। इस पद्यसे दमयन्तीकी निरन्तर चिन्ता और रातमे जागरण प्रतीत होता है। ॥ ४१ ॥

साम्प्रतं नलस्यापि दमयन्त्यामनुराग सूचयति—

स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः श्रयन्तमन्तर्घटनागुणश्रियम् ।
कदाचिदस्या युवधैर्यलोपिनं नलोऽपि लोकादश्रृणोद् गुणोत्करम् ॥ ४२ ॥

अन्वय.—नल. अपि कदाचित् लोकात् स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रज. अन्तर्घटनागुणश्रियं श्रयन्त युवधैर्यलोपिनम् अस्या गुणोत्करम् अश्रृणोत् ॥ ४२ ॥

व्याख्या—नल अपि = नैषध अपि, कदाचित् = जातुचित्, लोकात्=जनात्, स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रज =आत्मसौन्दर्ययश समूहमुक्तामालाया., अन्तर्घटना-गुणश्रियम् = अभ्यन्तरगुम्फनसूत्रशोभा, श्रयन्तम्=आश्रयन्तं, युवधैर्यलोपिन = तरुणधीरत्वनाशकम्, अस्याः = दमयन्त्या, गुणोत्कर = सौन्दर्यसौशील्यादिगुण-समूहम्, अश्रृणोत् = श्रुतवान् ॥ ४२ ॥

अनुवाद—नलने भी किसी समय लोगोसे अपने सौन्दर्यके यश समूहरूप हारके भीतर गुम्फनके लिए सूत्रकी शोभा करनेवाले और युवकोंके धैर्यको हटानेवाले दमयन्तीके गुणगणको सुना ॥ ४२ ॥

टिप्पणी—लोकात्=हेतुमे पञ्चमी "लोकस्तु भुवने जने" इत्यमर । स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रज =स्वस्य कान्ति· (ष० त०) कीर्तीनां व्रज. (ष० त०) । स्वकान्ते कीर्तिव्रज (ष० त०) । मौक्तिकाना स्रक् (ष० त०) । स्वकान्तिकीर्तिव्रज एव मौक्तिकस्रक् (रूपक०), तस्या । अन्तर्घटनागुणश्रियम्=अन्त घटना (सुप्सुपा०) । अन्तर्घटनाया गुण (ष० त०), तस्य श्री , ताम् (ष० त०) । श्रयन्त=श्रयतीति श्रयन्, तम्, श्रि+लट्+शतृ+अम् । युवधैर्यलोपिन=यूना धैर्यम् (ष० त०) । युवधैर्यं लुम्पतीति युवधैर्यलोपी, तम् । युवधैर्य+लुप्+णिनि (उपपद०) । गुणोत्कर=गुणानाम् उत्कर., तम् (ष० त०) । अशृणोत्="श्रु श्रवणे" धातुसे लङ्+तिप् । इस पद्यमे रूपक अलङ्कार है ॥ ४२ ॥

तमेव लब्ध्वाऽवसर तत. स्मर. शरीरशोभाजयजातमत्सर. ।
अमोघशक्त्या निजयेव मूर्तया तया विनिर्जेतुमियेष नैषधम् ॥ ४३ ॥

अन्वय—तत शरीरशोभाजयजातमत्सर. स्मर तम् एव अवसर लब्ध्वा मूर्तया निजया अमोघशक्त्या इव तया नैषध विनिर्जेतुम् इयेष ॥ ४३ ॥

अथ नलस्य दमयन्त्यां रागोदय वर्णयति—तमेवेति ।

व्याख्या—तत =अनन्तर, नलकर्तृकदमयन्तीगुणश्रवणाऽनन्तरमिति भाव । शरीरशोभाजयजातमत्सर.=स्वदेहसौन्दर्यविजयोत्पन्नविद्वेष., स्मर =काम , तम् एव=नलकृतदमयन्तीगुणश्रवणात्मकम् एव, अवसर=प्रसङ्ग, लब्ध्वा=प्राप्य, मूर्तया=मूर्तिमत्या, निजया=स्वकीयया, अमोघशक्त्या इव=अकुण्ठसामर्थ्येन इव, तया=दमयन्त्या, करणभूतयेति भाव । नैषधं=नलं, विनिर्जेतुं=पराभवितुम्, इयेष=ऐच्छत्, शत्रवो रन्ध्राऽन्वेषणपरायणा भवन्तीति भाव ॥ ४३ ॥

अनुवाद—तब अपने शरीरके सौन्दर्यको जीतनेसे विद्वेषसे युक्त कामदेवने उसी अवसरको पाकर मूर्तिमती अपनी सफल शक्तिके समान दमयन्तीके द्वारा ही नलको जीतनेकी इच्छा की ॥ ४३ ॥

टिप्पणी—शरीरशोभाजयजातमत्सर =शरीरस्य शोभा (ष० त०) । तस्या जय (ष० त०) । जात मत्सर यस्य स (बहु०) । शरीरशोभाजयेन जातमत्सर· (हेतुमे तृतीया और तृ० त०) । लब्ध्वा=लभ्+क्त्वा । अमोघ-

शक्त्या=अमोघा चाऽसौ शक्ति तया (क० धा०)। नैषधं = निषध + अण्। विनिर्जेतुम्=वि + निर् + जि + तुमुन्। इयेष="इषु इच्छायाम्" धातुसे लिट् + तिप। इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ४३ ॥

अकारि तेन श्रवणाऽतिथिर्गुणः क्षमाभुजा भीमनृपात्मजाश्रयः ।
तदुच्चधैर्यव्ययसहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मशरासनाश्रयः ॥ ४४ ॥

अन्वय—तेन क्षमाभुजा भीमनृपात्मजाश्रय गुण श्रवणाऽतिथि अकारि; तदुच्चधैर्यव्ययसहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मशरासनाश्रय· गुण· श्रवणाऽतिथि अकारि ॥ ४४ ॥

व्याख्या—तेन=पूर्वोक्तेन, क्षमाभुजा=राज्ञा, नलेनेत्यर्थं । भीमनृपात्मजाऽऽश्रय =दमयन्तीनिष्ठ, गुण =सौन्दर्यवैदुष्याऽऽदि, श्रवणाऽतिथि =श्रोत्रेन्द्रियागन्तुक, कर्णविषय इति भाव· । अकारि=कृत, नलेन दमयन्त्या गुणगण· श्रुत. इति भाव । तत तदुच्चधैर्यव्ययसहितेषुणा=नलोन्नतधीरताविनाशार्थं सयोजितबाणेन, स्मरेण च=कामदेवेन च, स्वात्मशरासनाश्रय = निजदृढधनुर्निष्ठः, गुण =मौर्वी, श्रवणाऽतिथि =श्रोत्रेन्द्रियागन्तुक, अकारि=कृत, कामदेवेन नलविजयार्थं स्वचापारोपितो गुण आकर्ण कृष्ट इति भाव. ॥ ४४ ॥

अनुवाद—महाराज नलने दमयन्तीमे रहनेवाले सौन्दर्य और वैदुष्य आदि गुणोको अपने कानोका अतिथि बनाया, अर्थात् दमयन्तीके गुणोको सुना। नलके उन्नत धैर्यका नाश करनेके लिए धनुमे बाणका सन्धान करनेवाले कामदेवने अपने दृढ धनुमे चढायी गयी प्रत्यञ्चाको कानोतक खीचा ॥ ४४ ॥

टिप्पणी—क्षमाभुजा=क्षमां भुनक्तीति क्षमाभुक, तेन, क्षमा + भुज् + क्विप्। भीमनृपात्मजाश्रय =भीमश्चाऽसौ नृप (क० धा०), तस्य आत्मजा (ष० त०)। भीमनृपात्मजा आश्रय· यस्य स (बहु०)। श्रवणाऽतिथि = श्रवणयो अतिथि (ष० त०)। अकारि=कृ + लुङ् (कर्ममे)। तदुच्चधैर्यव्ययसहितेषुणा=उच्च च तत् धैर्यम् (क० धा०)। उच्चधैर्यस्य व्ययः (ष० त०)। तस्य उच्चधैर्यव्यय. (ष० त०)। संहित इषु येन स (बहु०)। तदुच्चधैर्यव्ययाय सहितेषु, तेन (च० त०)। स्वात्मशरासनाश्रय· = आत्मनः शरासनम् (ष० त०)। शोभनम् आत्मशरासनम् "कुगतिप्रादय·" इससे गतिसमास। स्वात्मशरासनम् आश्रय· यस्य स (बहु०)। गुण· = "मौर्वीज्या शिञ्जिनी गुण" इत्यमर। श्रवणतिथि = श्रवणयोः अतिथिः (ष० त०)। अकारि=कृ + लुङ् + त (कर्ममे)। इस पद्यमे "अकारि"

इस एक क्रियाके साथ नल और स्मर इन दोनो प्रस्तुतोकी कर्तृतासे सम्बन्ध होनेसे तुल्ययोगिता अलङ्कार है और "स्वात्मशरासनाश्रय." इस पदमे स्व और आत्मन् शब्दके प्रयोगसे पहले पुनरुक्ति प्रतीत होती है, पीछेसे सु-(शोभन) आत्मशरासन ऐसे अर्थकी प्रतीति होनेसे पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार है, उसका लक्षण है—

आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्याऽवभासनम् ।
पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दग.॥ १०—२ (सा० द०)।

इस प्रकार दो अलङ्कारो की ससृष्टि है ॥ ४४ ॥

अमुष्य धीरस्य जयाय साहसी तदा खलु ज्यां विशिखैः सनाथयन् ।
निमज्जयामास यशांसि संशये स्मरस्त्रिलोकीविजयार्जितान्यपि ॥ ४५ ॥

अन्वयः—साहसी स्मरः धीरस्य अमुष्य जयाय तदा ज्या विशिखैः सनाथयन् त्रिलोकीविजयार्जितानि अपि यशासि सशये निमज्जयामास खलु ॥ ४५ ॥

व्याख्या—साहसी = साहसकर , स्मर. = कामदेवः, धीरस्य = धैर्ययुक्तस्य, अमुष्य=नलस्य, जयाय=विजयाय, तदा=तस्मिन् समये, ज्या=मौर्वीं, विशिखै = बाणै , सनाथयन्=सनाथा कुर्वन्, सयोजयन्नित्यर्थः। त्रिलोकीविजयार्जितानि अपि=त्रिभुवनजयोपार्जितानि अपि, यशासि=कीर्ती , सशये=सन्देहे, निमज्जयामास = स्थापयामास, खलु = निश्चयेन, त्रिभुवनविजेताऽपि कामः नलविजयार्थं प्रवर्तमानः सन् "सोऽय काम नलविजये समर्थो भवेन्नवेति सशयपात्रं बभूवे"ति भाव. ॥ ४५ ॥

अनुवाद.—साहसी कामदेवने धैर्यशाली नलको जीतनेके लिए उस समय प्रत्यञ्चामे बाणोको चढाकर तीन लोकोको जीतकर उपार्जित अपने यशको सशयमे डाल दिया ॥ ४५ ॥

टिप्पणी—साहसी==साहसम् अस्याऽस्तीति, साहस शब्दसे "अत इनिठनौ" इससे इनि प्रत्यय। "न सशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति" इस न्यायसे विलम्ब नही करता हुआ यह तात्पर्य है। जयाय="क्रियाऽर्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" इससे चतुर्थी। सनाथयन्=नाथै सहिता सनाथा (तुल्ययोग बहु०)। सनाथा कुर्वन्, "तत्करोति तदाचष्टे" इस सूत्रसे णिच् प्रत्यय होकर लट्के स्थानमे शतृ आदेश। त्रिलोकीविजयार्जितानि=त्रयाणां लोकाना समाहार. त्रिलोकी, "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इससे समास, "संख्यापूर्वो द्विगु." इससे उसकी द्विगुसज्ञा और "अकाराऽन्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः" इससे स्त्रीलिङ्ग होनेसे

"द्विगोः" इस सूत्रसे ङीष् । त्रिलोक्या विजयः (ष० त०) । तेन अर्जितानि, तानि (तृ० त०) । निमज्जयामास=नि–उपसर्गपूर्वक " टुमस्जो शुद्धौ" इस धातुसे णिच् होकर लिट + तिप् । कामदेवके उक्त संशयसे सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धका प्रतिपादन होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ४५ ॥

अनेन भैमी घटयिष्यतस्तथा विधेरवन्ध्येच्छतया व्यलासि तत् ।
अभेदि तत्तादृगनङ्गमार्गणैर्यदस्य पौष्पैरपि धैर्यकञ्चुकम् ॥ ४६ ॥

अन्वयः—दैवयोगात्कामस्य नलविजयोद्यमः सफल इति प्रतिपादयति—अनेनेति । अनेन भैमी घटयिष्यत विधेः अवन्ध्येच्छतया तत् तथा व्यलासि । यत् पौष्पै अपि अनङ्गमार्गणै. अस्य तादृक् तत् धैर्यकञ्चुकम् अभेदि ॥ ४६ ॥

व्याख्या—अनेन=नलेन सह, भैमी=दमयन्ती, घटयिष्यतः=संयोजयिष्यत , विधेः=ब्रह्मण , अवन्ध्येच्छतया=अमोघाऽभिलाषत्वेन, तत्, तथा=तेन प्रकारेण, व्यलासि = विलसितम् । यत् पौष्पै. अपि = पुष्पमयैः अपि, न तु कठिनैरिति भावः । अनङ्गमार्गणै = अनङ्गबाणै. न तु अङ्गिबाणैः, अस्य = नलस्य, तादृक् = अतिकठोरम्, तत् = प्रसिद्ध, धैर्यकञ्चुकं = धीरत्वकवचम्, अभेदि = भिन्नम् । विधेरभिलाषसाफल्येनाऽनङ्गस्य कुसुमरूपैरपि बाणैर्नलस्य धैर्यकवच भिन्नमिति भाव ॥ ४६ ॥

अनुवाद—नलके साथ दमयन्तीका संयोग करानेवाले ब्रह्माजीकी इच्छाके अमोघ होनेसे ऐसा हुआ कि कामदेवके वैसे पुष्पमय बाणोसे भी नलका धैर्यरूप कवच भिन्न हो गया ॥ ७६ ॥

टिप्पणी—अनेन="सह युक्तेऽप्रधाने" इस सूत्रसे सहका योग गम्यमान होनेपर भी तृतीया । भैमी=भीमस्य अपत्य स्त्री भैमी, ताम्, भीम + अण् + ङीप् + अम् । घटयिष्यत =घट + णिच् + लृट् + (शतृ) + ङस् । अवन्ध्येच्छतया = न वन्ध्या (नञ् तत्पु०), अवन्ध्या इच्छा यस्य स (बहु०) । अवन्ध्येच्छस्य भाव अवन्ध्येच्छता, तया (अवन्ध्येच्छ + तल् + टाप् + टा) । व्यलासि=वि + लस + लुङ् (भावे) । पौष्पै =पुष्पाणाम् इमे, तै (पुष्प + अण् + भिस्) । अनङ्ग मार्गणै =अविद्यमानानि अङ्गानि यस्य स. अनङ्ग (नञ् बहु०) । "कन्दर्पो-दर्पकोऽनङ्ग काम पञ्चशरः स्मर ।" इत्यमर । अनङ्गस्य मार्गणा , तै (ष० त०) । तादृक्=तदिव दृश्यते इति, तद्-उपपदपूर्वक दृश् धातुसे "त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च" इस सूत्रसे क्विन् प्रत्यय और "आ सर्वनाम्न " इस सूत्रसे आत्व । धैर्यकञ्चुक=धैर्यम् एव कञ्चुकम्, "मयूरव्यसकादयश्च" इस सूत्रसे

रूपकसमास । "कञ्चुको वारबाणोऽस्त्री" इत्यमरः । अभेदि="भिदिर् विदारणे" इस धातुसे कर्ममे लुङ् । इस पद्यमे पुष्पमय बाणोसे कञ्चुकके भेदमे विरोधकी प्रतीति होती है, विधिकी अवन्ध्य इच्छासे उसका परिहार होनेसे विरोधाभास अलङ्कार है । धैर्यमे कञ्चुकका आरोप होनेसे रूपक अलङ्कार है । इस प्रकार रूपक और विरोधाभासका अङ्गाऽङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ४६ ॥

किमन्यदद्यापि यदस्त्रतापितः पितामहो वारिजमाश्रयत्यहो ।
स्मरं तनुच्छायतया तमात्मनः शशाक शङ्के स न लङ्घितुं नलः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—अहो ! अन्यत् किम् ? यदस्त्रतापितः पितामहः अद्यापि वारिजम् आश्रयति । स नलः आत्मनः तनुच्छायतया तं स्मरं लङ्घितुं न शशाक (इति) शङ्के ॥ ४७ ॥

व्याख्या—अहो = आश्चर्यम्, अन्यत् = अपर, किं = किम् उच्यते, यदस्त्रतापितः = यस्य (स्मरस्य) आयुधसन्तापितः, पितामहः = ब्रह्मा, अद्यापि = इदानीम् अपि, वारिजं = कमलम्, आश्रयति=अवलम्बते, कामसन्तापाऽपनयनाय कमलासनमधिवसतीति भावः । सः=पूर्वोक्तः, नलः, आत्मनः = स्वस्य, तनुच्छायतया = शरीरकान्तिमत्त्वेन अथवा शरीरच्छायत्वेन, तं = पूर्वोक्तं, स्मरं = कामदेवं, लङ्घितुम्=अतिक्रमितुं, न शशाक न समर्थो बभूव, इति, शङ्के = शङ्कां करोमि, स्वसदृशः आत्मच्छाया वा लङ्घितुं न शक्यत इति भावः ॥ ४७ ॥

अनुवाद—आश्चर्य है ! और क्या कहना है ? जिस कामदेवके अस्त्रसे तापित ब्रह्माजी आज भी कमलका आश्रय ले रहे है । महाराज नल अपने शरीरकी कान्तिके सदृश होनेसे वा अपने शरीरकी छाया होनेसे कामदेवको लङ्घन करनेके लिए समर्थ नही हुए मै ऐसा समझता हूँ ॥ ४७ ॥

टिप्पणी—यदस्त्रतापितः = यस्य (स्मरस्य) अस्त्राणि (ष० त०), तैः तापितः (तृ० त०) । पितामहः=पितुः पिता, "पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः" इससे निपातन, "मातृपितृभ्यां पितरि डामहच्" इस वार्तिकसे पितृ शब्दसे डामहच् प्रत्यय । वारिजं = वारिणि जातं तत्, वारि+जन्+ड+अम् । आश्रयति = आङ्+श्रिञ+लट+तिप् । तनुच्छायतया = तनोः इव छाया (कान्तिः) यस्य सः (व्यधिकरण बहु०) । अथवा आत्मनः छाया आत्मच्छायं, "विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्" इससे विकल्पसे नपुसकलिङ्गता । "छाया त्वनातपे कान्तौ" इति वैजयन्ती । तनुच्छायस्य भावः, तत्ता, तया, तनुच्छाय+तल्+टाप्+टा । लङ्घितुं = लघि+तुमुन् । शशाक = शक+लिट्+तिप् ।

शङ्के = शकि + लट् + त । इस पद्यमे अर्थापत्ति, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति इन तीनों अलङ्कारोकी ससृष्टि है ॥ ४७ ॥

उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भित नवोपहारेण वयःकृतेन किम् ।
त्रपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य सा नलस्य तन्वी हृदय विवेश यत् ॥ ४८ ॥

अन्वय—तन्वी सा त्रपासरिद्दुर्गम् अपि प्रतीर्य नलस्य हृदय यत् विवेश तत् वय कृतेन नवोपहारेण उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भित किम् ? ॥ ४८ ॥

व्याख्या—तन्वी=कृशाऽङ्गी, सा=दमयन्ती, त्रपासरिद्दुर्गम् अपि = लज्जा-नदोदुर्गमस्थलम् अपि, प्रतीर्य = प्रकर्षेण तीर्त्वा, नलस्य=नैषधस्य, हृदय = मन॰, यत्, विवेश = प्रविष्टवती, तत् = नलहृदयप्रवेशन, वय.कृतेन = यौवनविहिनेन, नवोपहारेण = नूतनोपायनरूपेण, उरोभुवा = वक्ष स्थलोत्पन्नेन, कुम्भयुगेन = कलशयुग्मेन, कुचयुगलरूपेणेति शेष जृम्भित किम् = विलसित किमु ॥ ४८ ॥

अनुवादः—कृशाऽङ्गी दमयन्तीने लज्जारूप नदी दुर्गको भी पार कर नलके हृदयमें जो प्रवेश किया, वह यौवनसे किये गये उपहाररूप छातीमे उत्पन्न दो कुचकलशोने विलास किया है क्या ? ॥ ४८ ॥

टिप्पणी—त्रपासरिद्दुर्गं = त्रपा एव सरित् (रूपक०), "मन्दाक्ष ह्रीस्त्रपा व्रीडा लज्जा" इत्यमरः । त्रपासरित् एव दुर्गं, तत् (रूपक०) । प्रतीर्य = प्र + तृ + क्त्वा (ल्यप) । विवेश = "विश प्रवेशने" धातुसे लिट् + तिप् । वय-कृतेन = वयसा कृत, तेन (तृ० त०) । नवोपहारेण=नवश्चाऽसौ उपहार , तेन (क० धा०) । उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा ।" इत्यमर । उरोभुवा = उरसि भवतीति, तेन, उरस् + भू + क्विप (उपपद०) । कुम्भयुगेन = कुम्भयोः युग, तेन (ष० त०) । जृम्भित = "जृभि गात्रविनामे" इस धातुसे क्त प्रत्यय (भावमें) । इस पद्यमे अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा और रूपक इनकी निरपेक्षतासे स्थिति होनेसे ससृष्टि अलङ्कार है ॥ ४८ ॥

अपह्नुवानस्य जनाय यन्निजामधीरतामस्य कृत मनोभुवा ।
अबोधि तज्जागरदुःखसाक्षिणी निशा च शय्या च शशाऽङ्ककोमला ॥ ४९ ॥

अन्वयः – निजाम् अधीरता जनाय अपह्नुवानस्य अस्य मनोभुवा यत् कृत, तत् जागरदु खसाक्षिणी शशाऽङ्ककोमला निशा शय्या च अबोधि ॥ ४९ ॥

अधुना नलस्य जागराऽवस्थां प्रतिपादयति—अपह्नुवानस्येति ।

व्याख्या— निजा = स्वकीयाम्, अधीरताम् = अधैर्य, चपलतामिति भाव । जनाय = लोकाय, अपह्नुवानस्य = अपलपत , अस्य = नलस्य, मनोभुवा=काम

देवेन, यत्=जागरप्रलापादिक, कृत=विहित, तत्, जागरदु खसाक्षिणी=अनिद्रा-पीडाया साक्षाद्द्रष्ट्री, शशाऽङ्ककोमला=चन्द्रमृदुला, शीतलेति भाव । निशा=रात्रि, शशाऽङ्ककोमला, शय्या च=शयनीय च, अबोधि=ज्ञातवती । निशा शय्या च नलजागरदु खसाक्षिणीति भाव ॥ ४९ ॥

अनुवाद·—अपनी अधीरताको लोकसे छिपानेवाले राजा नलका कामदेवने जो किया, उसको उनके जागरणके दु खकी साक्षिणी चन्द्रसे कोमल (शीतल) रात और चन्द्रके समान कोमल शय्या भी जानती थी ॥ ४९ ॥

टिप्पणी– अधीरता=न धीरता, ताम् (नञ् त०)। जनाय = "अपह्नुवानस्य" इस ह्नुञ् धातुके योगमे "श्लाघह्नुङ्स्थाशपा ज्ञीप्स्यमान." इस सूत्रसे सम्प्रदानसञ्ज्ञा होनेसे चतुर्थी । अपह्नुवानस्य=अपह्नुत इति अपह्नुवान., तस्य, अप-उपसर्गपूर्वक "ह्नुङ् अपनयने" इस धातुसे लट्के स्थानमे शानच् आदेश। मनोभुवा=मनसि भवतीति मनोभू, तेन, मनस् + भू + क्विप् + टा । जागरदु.ख-साक्षिणी=जागरण जागर, "जागृ निद्राक्षये" धातुसे घञ् प्रत्यय । जागरे दु खम् (स० त०)। साक्षाद्द्रष्ट्री साक्षिणी, 'साक्षात्' शब्दसे "साक्षाद्द्रष्टरि सञ्ज्ञायाम्" इससे इनि प्रत्यय और स्त्रीत्वविवक्षामे "ऋन्नेभ्यो ङीप्" इस सूत्रसे ङीप् । जागरदु खस्य साक्षिणी (ष० त०)। शशाऽङ्ककोमला=शश अङ्क यस्य स शशाङ्क (बहु०)। शशाङ्केन कोमला (तृ० त०), यह विग्रह निशाके विशेषणमे है। शशाऽङ्क इव कोमला, "उपमानानि सामान्यवचनै" इससे समास । यह विग्रह शय्याके विशेषणमे है। शय्या=शेते अस्याम् इति, "शीङ् स्वप्ने" धातुसे "संज्ञाया समजनिषदनिपतमनविदषुञ्शीङ्भृञिण" इस सूत्रसे क्यप् प्रत्यय और "अयङ् यि क्ङिति" इससे अयङ् आदेश। अबोधि = बुध् + लुङ् + त (कर्तामे)। यहाँ तुल्ययोगिता और उपमा अलङ्कार है ॥ ४९ ॥

स्मरोपतप्तोऽपि भृश न स प्रभुर्विदर्भराज तनयामयाचत ।
त्यजन्त्यसून्शर्म च मानिनो वर त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम् ॥ ५० ॥

अन्वयः—प्रभु स भृशं स्मरोपतप्त अपि विदर्भराज तनया न अयाचत । मानिनः असून् शर्म च त्यजन्ति वरम्, तु एकम् अयाचितव्रत न त्यजन्ति ॥ ५० ॥

व्याख्या प्रभु=समर्थ, स=नल., भृशम्=अत्यर्थं, स्मरोपतप्त अपि=कामसन्तप्त अपि, विदर्भराज=भीमनृप, तनया=पुत्री, तत्पुत्री दमयन्तीमिति भाव., न अयाचत=नो याचितवान् । तथा हि—मानिन = अभिमानिन, मनस्विन इत्यर्थ । असून्=प्राणान्, शर्म च=सुखं च, त्यजन्ति = जहति, वरं = प्राणसुख-

त्यागोऽपि मनाक् प्रियः, तु=किन्तु, एकम्=अद्वितीयम्, अयाचितव्रतम्=अयाचना-नियमं तु, न त्यजन्ति=नो जहति, मनस्विना प्राणादित्यागदुःखादपि याचनादुःख दुःसहं भवतीति भावः ॥ ५० ॥

अनुवादः—समर्थ महाराज नलने अतिशय कामपीडित होकर भी विदर्भराज भीमसे उनकी पुत्री दमयन्तीको नही मॉगा। क्योकि मनस्वी पुरुष प्राणोको और सुखको भी छोड देते है, यह त्याग भी कुछ उत्कर्ष ही है परन्तु एक अयाचित व्रतको नही छोडते है ॥ ५० ॥

टिप्पणी—स्मरोपतप्तः=स्मरेण उपतप्तः (तृ० त०)। विदर्भराज=विदर्भाणा राजा विदर्भराजः, तम् (ष० त०)। "राजाऽह सखिभ्यष्टच्" इस सूत्रसे समासाऽन्त टच् प्रत्यय। "अयाचत" इस "याच्" धातुका "अकथित च" इससे कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया। यह गौण कर्म है। तनयाम्=यह मुख्य कर्म है। अयाचत='याचृ याच्आयाम्" धातुसे लङ्+त। मानिन=मान+इनि+जस। असून्="पुसि भूम्न्यसवः प्राणा" इत्यमर। वर="देवाद् वृते वर श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबे मनाक् प्रिये।" इत्यमर। अयाचितव्रत=याचन याचितम्, 'याच' धातुसे "नपुसके भावे क्त" इससे क्त प्रत्यय। न याचितम् (नञ् तत्पु०)। अयाचित च तद्व्रतम् (क० धा०)। त्यजन्ति=त्यज्+लट्+झि। इस पद्यमे सामान्यसे विशेषका समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार और तुल्ययोगिताका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ५० ॥

मृषाविषादाऽभिनयादय क्वचिज्जुगोप नि श्वासतर्ति वियोगजाम्।
विलेपनस्याऽधिकचन्द्रभागताविभावनाच्चापललाप पाण्डुताम् ॥ ५१ ॥

अन्वयः—अय क्वचित् मृषाविषादाऽभिनयात् वियोगजा नि श्वासतर्ति जुगोप। विलेपनस्य अधिकचन्द्रभागताविभावनात् पाण्डुता च अपललाप ॥ ५१ ॥

व्याख्या—अयं=नल, क्वचित् = कुत्रचित् विषये, मृषाविषादाऽभिनयात् = मिथ्याखेदप्रकाशनात्, वियोगजा=भैमीविरहोत्पन्ना, नि श्वासतर्ति=नि श्वासपर-म्परां, जुगोप=गोपितवान्, सववारेत्यर्थ। विलेपनस्य=चन्दनादिलेपन–द्रव्यस्य, अधिकचन्द्रभागताविभावनात्=अतिरिक्तकर्पूरांऽशताज्ञापनात्, पाण्डुता च=शरीर-पाण्डिमान च, अपललाप=अपलपितवान् ॥ ५१ ॥

अनुवादः—नलने किसी विषयमे मिथ्याखेदको प्रकाशित करके दमयन्तीके वियोगसे उत्पन्न नि श्वासपरम्पराको छिपाया। चन्दन आदि लेपनद्रव्यमे ज्यादा कर्पूरका भाग पड गया है ऐसा कहकर शरीरकी पाण्डुताको छिपाया ॥ ५१ ॥

टिप्पणी—मृषाविषादाऽभिनयात् = मृषा चाऽसौ विषाद. (क० धा०)। 'मृषा' यह अव्यय है। मृषाविषादस्य अभिनय , तस्मात् (ष० त०), "विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्" इस सूत्रसे हेतुमे पञ्चमी। वियोगजा = वियोगात् जाता, ताम्, वियोग-उपपदपूर्वक 'जन्' धातुसे "पञ्चम्यामजातौ" इस सूत्र से ड प्रत्यय होकर स्त्रीत्वविवक्षामे टाप्। नि श्वासततिं = नि श्वासाना तति , ताम् (ष० त०)। जुगोप = "गुपूरक्षणे" धातुसे लिट् + तिप्। अधिकचन्द्रभागताविभावनात् = चन्द्रस्य भाग (ष० त०)। "घनसारश्चन्द्रसज्ञ सिताभ्रो हिमवालुका।" इत्यमर। अधिकश्चाऽसौ चन्द्रभाग (क० धा०), तस्य भाव तत्ता अधिक-चन्द्रभाग + तल् + टाप्। अधिकचन्द्रभागताया विभावन, तस्मात् (ष० त०), पहलेके सूत्रसे हेतुमे पञ्चमी। पाण्डुता=पाण्डोर्भाव , ता, पाण्डु + तल् + टाप् + अम्। "हरिण पाण्डुर पाण्डु" इत्यमर। अपललाप=अप-उपसर्गपूर्वक "लप व्यक्ताया वाचि" धातुसे लिट् + तिप्। "अपलापस्तु निह्नव" इत्यमर। इस पद्यमे व्याजोक्ति अलङ्कार है, उसका लक्षण है—

"व्याजोक्तिर्गोपन व्याजादुद्भिन्नस्याऽपि वस्तुन।" सा० द० १०–१२०।

शशाक निह्नोतुमयेन तत्प्रियामयं बभाषे यदलीकवीक्षिताम्।
समाज एवाऽऽलपितासु वैणिकैर्मुमूर्च्छ यत्पञ्चममूर्च्छनासु च॥ ५२॥

अन्वयः—अयम् अलीकवीक्षिता प्रिया यत् बभाषे, वैणिकै पञ्चममूर्च्छनासु आलपितासु समाज एव च यत् मुमूर्च्छ, तत् अनेन निह्नोतु शशाक॥ ५२॥

व्याख्या—नलस्य प्रलापाख्या कामदशा प्रतिपादयति—शशाकेति। अयं = नल , अलीकवीक्षिता=मिथ्याऽवलोकिता, प्रिया = वल्लभा, दमयन्तीमित्यर्थ। यत्, बभाषे=भाषितवान्, निरन्तरध्यानवशात्पुर सम्प्राप्ता विदित्वेति शेष। वैणिकै = वीणावादकै:, पञ्चममूर्च्छनासु = पञ्चमस्वरमूर्च्छासु, आलपितासु=पुन: पुनर्गीतासु सतीषु, समाजे एव च = सभास्थितजनसमूहे एव च, यत्=यस्मात्कार-णात्, मुमूर्च्छ=मूर्च्छां प्राप, स्फुटता न प्रापेति भाव। तत् = भाषणम्, अनेन = प्रकारेण, निह्नोतु=गोपायितु, शशाक=समर्थो बभूव॥ ५२॥

अनुवाद—इन्होने भ्रमसे देखी गयी प्रिया (दमयन्ती) को जो कहा, बीन बजानेवालो के पञ्चम स्वरकी मूर्च्छनाओके आलाप करनेपर जनसमूहमे ही जिससे स्फुट नही हुआ इस कारणसे उसे छिपानेके लिए नल समर्थ हुए॥ ५२॥

टिप्पणी—अलीकवीक्षिताम् = अलीकम् (यथा तथा) वीक्षिता, ताम् (सुप्सुपा०) बभाषे=भाष + लिट् + त। वैणिकै = वीणावादनं शिल्प (क्रिया-

कौशलम्) येषा ते वैणिका , तैः, "शिल्पम्" इस सूत्रसे ठञ् । पञ्चममूर्च्छनासु= पञ्चमस्य मूर्च्छना , तासु (ष० त०) । तन्त्री (तार) और कण्ठसे उत्पन्न होनेवाले शुद्ध स्वर सात प्रकारके होते हैं, जैसे कि—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद । स्वरोंके आरोह और अवरोहके क्रमको "मूर्च्छना" कहते हैं । मूर्च्छनाके इक्कीस भेद होते हैं । आलपितासु = आङ् + लप + क्त + टाप् + सुप् । यत्=यद्-शब्दका प्रतिरूपक अव्यय । मुमूर्च्छ="मूर्च्छा मोहसमुच्छ्राययो" इस धातुसे लिट् + तिप् । निह्नोतु=नि-उपसर्गपूर्वक "ह्नुङ् अपनयने" धातुसे "समानकर्तृकेषु तुमुन्" इस सूत्रसे तुमुन् प्रत्यय । शशाक= "शक्लृ मर्षणे" धातुसे लिट् + तिप् । इस पद्यमे "मूर्च्छ" "मूर्च्छ" इस प्रकारसे व्यञ्जनसमुदायका एक बार अनेक प्रकारसे समता होनेसे छेकानुप्रास अलङ्कार है । उसका लक्षण है—

"छेको व्यञ्जनसङ्घस्य सकृत्साम्यमनेकधा ।" सा० द० १०–४ ।। ५२ ।।

अवाप साऽपत्रपतां स भूपतिर्जितेन्द्रियाणां धुरि कीर्तितस्थिति ।
असंवरे शम्बरवैरिविक्रमे क्रमेण तत्र स्फुटतामुपेयुषि ।। ५३ ।।

अन्वय.—जितेन्द्रियाणा धुरि कीर्तितस्थिति स भूपति तत्र असवरे शम्बर-वैरिविक्रमे क्रमेण स्फुटताम् उपेयुषि साऽपत्रपताम् अवाप ।। ५३ ।।

व्याख्या—जितेन्द्रियाणा=वशीकृत-हृषीकाणा जनाना, धुरि = अग्रे, कीर्तित-स्थिति = स्तुतमर्याद , स = पूर्वोक्त , भूपति = राजा, नल इत्यर्थ. । तत्र = तस्मिन्, समाज इति शेष । असवरे = निरोद्धुम् अशक्ये, शम्बरवैरिविक्रमे = मदनपराक्रमे, मदननानाविधविकार इति भाव , क्रमेण = परिपाट्या, स्फुटता = व्यक्तताम्, उपेयुषि=प्राप्तवति सति, साऽपत्रपताम्=अन्येभ्यो लज्जितताम्, अवाप= प्राप, जनसमाजे कामविकारे व्यक्ते सति नलो लज्जितो बभूवेति भाव ।। ५३ ।।

अनुवादः—जितेन्द्रियोंके अग्रभागमे वर्णित मर्यादावाले महाराज नल समाज-मे कामविकारके रोकनेमे अशक्य होकर क्रमसे व्यक्त हो जानेपर अन्य लोगोंके सम्मुख लज्जित हुए ।। ५३ ।।

टिप्पणी—जितेन्द्रियाणा = जितानि इन्द्रियाणि यैस्ते, तेषाम् (बहु०) । कीर्तितस्थिति =कीर्तिता स्थिति येषा ते (बहु०) । "संस्था तु मर्यादा धारणा स्थिति " इत्यमर. । भूपति = भुव पति (ष० त०), तत्र = तस्मिन्निति, तद् + त्रल् । असवरे=सवरण सवर , सम्-उपसर्गपूर्वक "वृञ् वरणे" धातुसे "ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च" इस सूत्रसे अप् प्रत्यय । अविद्यमान. सवरो यस्य सः

तस्मिन् (नञ् बहु०)। शम्बरवैरिविक्रमे = शम्बरस्य वैरी (ष० त०), "शम्बराऽरिर्मनसिज" इत्यमर । शम्बरवैरिण विक्रम, तस्मिन् (ष० त०)। स्फुटता = स्फुट + तल् + टाप् । उपेयुषि=उप-उपसर्गपूर्वक इण् धातुसे "उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च" इस सूत्रसे क्वसु प्रत्यय + ङि । साऽपत्रपताम् = अन्यत लज्जा अपत्रपा, "लज्जा साऽपत्रपाऽन्यत" इत्यमर । अपत्रपया सहित सापत्रप्र., "तेन सहेति तुल्ययोगे" इससे तुल्ययोगबहुव्रीहि, "वोपसर्जनस्य" इस सूत्रसे 'सह' के स्थानमे विकल्पसे 'स' भाव । साऽपत्रपस्य भाव सापत्रपता, ताम्, साऽपत्रप + तल् + टाप् + अम् । अवाप = अव-उपसर्गपूर्वक "आप्लृ व्याप्तौ" धातुसे लिट् + तिप् । इस पद्यमे प्रथमचरणमे 'प'कारका वारवार साम्य होनेसे वृत्यनुप्रास अलकार है, उसका लक्षण है—

"अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाऽप्यनेकधा ।
एकस्य सकृदप्येष वृत्यनुप्रास उच्यते ॥" सा० द० १०–५

पूर्वार्द्धमे अन्त्या-नुप्रास है । उसका लक्षण है—

"व्यञ्जनं चेद्यथाऽऽवस्थं सहाद्येन स्वरेण तु ।
आवर्त्यते-न्त्ययोज्यत्वादन्त्याऽनुप्रास एव तत् ॥" १०–७ ।

उत्तरार्द्धमे "वरे म्बर" "क्रमे क्रमे" इस प्रकार व्यञ्जनसमुदायका अनेक प्रकारसे साम्य होनेसे छेकाऽनुप्रास है, इस प्रकार वृत्यनुप्रास, अन्त्याऽनुप्रास और छेका-नुप्रास इन अलकारोकी निरपेक्षतया स्थिति होनेसे ससृष्टि अलकार है ॥ ५३ ॥

अलं नल रोद्धुममी किलाऽभवन्गुणा विवेकप्रभवा न चापलम् ।
स्मर स रत्यामनिरुद्धमेव यत्सृजत्ययं सर्गनिसर्ग ईदृशः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—अमी विवेकप्रभवा गुणा नल चापल रोद्धुम् अलं न अभवन् किल । यत् स स्मर रत्याम् अनिरुद्धम् एव सृजति, ईदृश अयं सर्गनिसर्ग ।

व्याख्या—विवेकादयो गुणा नलचापलं निवारयितु कथ न समर्था जाता इत्यत्राऽऽह—अल नलमिति । अमी = एते, विवेकप्रभवा = पृथगात्मतोत्पन्ना, गुणा =धैर्यादय इत्यर्थ । नलं=नैषधं, नलादिति भाव, चापलं=चाञ्चल्य, कामजनितमिति शेष । रोद्धु=निवारयितुम्, अल = समर्था, न अभवन्=नो जाता, किल = निश्चयेन । अत्र हेतुमुपपादयति—स्मर इति । यत् = यस्मात्कारणात्, स = प्रसिद्ध., स्मर = कामदेव, रत्याम् = अनुरागे सति, अथवा रतिनामस्व प्रियायाम्, अनिरुद्धम् एव = अनिवारितम् एव, चापलम् एव, पुरुषमिति शेष

पक्षान्तरे—अनिरुद्धनामकं पुत्रम् एव, सृजति = करोति, ईदृश = एतादृश, अयम्=एष, सर्गनिसर्ग = सृष्टिस्वभाव, काम. रतौ=अनुरागे सति पुरुष चपलमेव करोति अथवा काम रतौ = स्वप्रियायाम्, अनिरुद्धम् एव = अनिरुद्धनामकं पुत्रम् एव उत्पादयति, एतादृश सृष्टिस्वभाव इत्यर्थं ॥ ५४ ॥

अनुवादः—ये विवेकसे उत्पन्न धैर्य आदि गुण नलकी कामचञ्चलताको रोकनेके लिए समर्थ नही हुए । जो कि कामदेव अनुराग उत्पन्न होनेपर मनुष्यको चञ्चल ही कर देता हे अथवा कामदेव प्रद्युम्न रति (पत्नी) मे अनिरुद्ध (पुत्र) को उत्पन्न करते है । ऐसा यह सृष्टिका स्वभाव है ॥ ५४ ॥

टिप्पणी—विवेकप्रभवा = विवेक प्रभव येषा ते (बहु०) । "विवेक पृथगात्मता" इत्यमर । नलम् = अधिकरण वा सम्बन्धकी विवक्षा न करके "अकथित च" इस सूत्रसे कर्मसज्ञा होकर द्वितीया । चापल = चपलस्य भाव चापल, तत्, "चपल" शब्दसे युवादिगणमे पठित होनेसे "हायना न्तयुवादिभ्यो ऽण्" इस सूत्रसे अण्, ब्राह्मणादिगणमे पठित होनेसे ष्यञ् प्रत्यय होकर "चापल्यम्" ऐसा रूप भी बनता है । यह मुख्य कर्म है । रोद्धुम् = "अलम्" इस पदका योग होनेसे "पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु" इससे तुमुन् प्रत्यय । अलम्="अल भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम् ।" इत्यमर । अभवन् = भू + लङ् + झि । रत्याम्=रम् + क्तिन् + ङि । अनिरुद्धम् = न निरुद्धम्, तद् (नञ त०) । अथवा अनिरुद्धम् = प्रद्युम्नपुत्रम् । सृजति = सृज् + लट् + तिप् । सर्गनिसर्ग =सर्गस्य निसर्ग (ष० त०) । "सर्ग स्वभावनिर्मोक्षनिश्चयाऽध्यायसृष्टिषु ।" इति "स्वरूप च स्वभावश्च निसर्गश्च" इत्यप्यमर. । इस पद्यमे उत्तरार्धस्थित सामान्यसे पूर्वार्द्धस्थित विशेष अर्थका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलकार है । उसका लक्षण है—

"सामान्य वा विशेषेण, विशेषस्तेन वा यदि ।
कार्यं च कारणेनेद, कार्येण च समर्थ्यते ॥
साधर्म्येणेतरेणा ऽर्थान्तरन्यासो ऽष्टधा तत ।" सा० द० १०-८०॥५४॥

अनङ्गचिह्नं स विना शशाक नो यदासितुं संसदि यत्नवानपि ।
क्षणं तदाऽऽरामविहारकैतवान्निषेवितुं देशमियेष निर्जनम् ॥ ५५ ॥

अन्वय.—स यत्नवान् अपि ससदि यदा अनङ्गचिह्न विना आसितु नो शशाक, तदा क्षणम् आरामविहारकैतवात् निर्जनं देश निषेवितुम् इयेष ॥ ५५ ॥

अथ नलस्याऽभीष्टपूर्त्तिसहायकहंससमागमहेतुकोपवनविहार प्रस्तौति अनङ्गेति ।

व्याख्या—स. = नल , यत्नवान् अपि = प्रयत्नसम्पन्न अपि, अनङ्गचिह्न-

गूहन इति शेष । ससदि = सभाया, यदा = यस्मिन् समये, अनङ्गचिह्न विना = स्तम्भादिकामलक्षण विना, आसितुम् = उपवेष्टु, नो शशाक = न समर्थो बभूव । तदा = तस्मिन् समये, क्षण=कञ्चित्काल यावत्, आरामविहारकैतवान् = उपवन-क्रीडाच्छलात्, निर्जन = जनरहित, देश = स्थान, निषेवितुम् = आश्रयितुम्, इयेष = इष्टवान्, लज्जापरिहारार्थमिनि शेष ॥ ५५ ॥

अनुवादः—नल प्रयत्न करनेपर भी सभामे जब काम लक्षणके बिना रहनेको समर्थ नही हुए, तब कुछ समय तक बगीचेमे क्रीडाके बहानेसे उन्होने निर्जन स्थानका आश्रय लेनेके लिए इच्छा की ॥ ५५ ॥

टिप्पणी—यत्नवान् = यत्न अस्याऽस्तीति यत्नवान्, "यत्न" शब्दसे "तद-स्याऽस्त्यस्मिन्निति मतुप्" इस सूत्रसे मतुप्, 'म' कारके स्थानमे "मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्य " इससे वकार आदेश । ससदि="समज्या परिषद्गोष्ठी सभा-समितिससद ।" इत्यमर । अनङ्गचिह्न विना = अविद्यमानानि अङ्गानि यस्य स अनङ्ग (नञ् बहु०) । अनङ्गस्य चिह्न, तत् (ष० त०), "विना" इस पदके योगमे "पृथग्विनानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्" इससे तृतीया, पञ्चमी और द्वितीया होती है, यहाँपर द्वितीया । आसितुम्=आस + तुमुन् । शशाक=शक + लिट् + तिप् । क्षण="कालाऽध्वनोरत्यन्तसयोगे" इस सूत्रसे द्वितीया, "निर्व्यापार-स्थितौ कालविशेषोत्सवयो क्षण " इत्यमर । "आरामविहारकैतवात्=आराम-स्य विहार (ष० त०), "आराम स्यादुपवनम्" इत्यमर । आरामविहारस्य कैतव, तस्मात् (ष० त०) "कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे ।" इत्यमर । निर्जन = निर्गता जना यस्मात्, तम् (बहु०) । निषेवितु = नि + सेव + तुमुन् । "परिनिविभ्य. सेवसितसयसिवुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम्" इससे मूर्धन्य षकार । इयेष = इष् + लिट् + तिप् । यहाँपर वृत्यनुप्रास अलङ्कार है ॥ ५५ ॥

अथ श्रिया भर्त्सितमत्स्यकेतनः सम वयस्यैः स्वरहस्यवेदिभि ।
पुरोपकण्ठोपवनं किलेक्षिताऽऽदिदेश यानाय निदेशकारिणः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—अथ श्रिया भर्त्सितमत्स्यकेतन स्वरहस्यवेदिभि वयस्यै सम पुरोपकण्ठोपवनम् ईक्षिता (सन्) यानाय निदेशकारिण आदिदेश किल ॥५६॥

व्याख्या—अथ=अनन्तर, निर्जनदेशनिषेवणेच्छानन्तरमिति भाव । श्रिया = स्वशरीरकान्त्या हेतुना, भर्त्सितमत्स्यकेतन = तिरस्कृतकाम , नल इति भाव । स्वरहस्यवेदिभि = आत्मगोप्यविषयाऽभिज्ञै , वयस्यै = तुल्यवयस्कै मित्रै , समं = सह, पुरोपकण्ठोपवनं = नगरनिकटारामम्, ईक्षिता = अवलोकिता सन्,

यानाय=यानम्, वाहनमानेतु, गमनाय वा, निदेशकारिण =आज्ञाकारिणा जनान्, आदिदेश=आज्ञापयामास ॥ ५६ ॥

अनुवाद — तब शरीरकी शोभा से कामदेवको तिरस्कृत करनेवाले नलने अपने रहस्यके जानकार मित्रोके साथ शहरके निकटस्थ बगीचेको देखनेके लिए वाहन लानेके लिए कर्मचारियोको आज्ञा दी ॥ ५६ ॥

टिप्पणी— श्रिया = "हेतौ" इससे तृतीया । भर्त्सितमत्स्यकेतन = मत्स्य केतन (चिह्नम्) यस्य स (बहु०) । "भर्त्सितमत्स्यलाञ्छन" "भर्त्सित-मीनकेतन ' ऐसे पाठान्तरोमे भी अर्थमे भेद नही है । "मदनो मन्मथो मार प्रद्युम्नो मीनकेतन" इत्यमर । स्वरहस्यवेदिभि = रहसि (एकान्ते) भव रहस्यम्, रहस् + यत् । स्वरहस्य विदन्तीति तच्छीला , तै , स्वरहस्य + विद् + णिनि + भिस् (उपपद०) । वयस्यै =वयसा तुल्या वयस्या , तै "वयस्" शब्दसे नौवयोधर्म०" इत्यादि सूत्रसे यत् प्रत्यय । ' समम्" इस पदके योगमे तृतीया । पुरोपकण्ठोपवन=पुरस्य उपकण्ठ (ष० त०), "उपकण्ठाऽन्तिकाऽभ्यर्णाऽभ्यग्रा अप्यभितोऽव्ययम् ।" इत्यमर । पुरोपकण्ठे उपवन, तत् (स० त०) । "ईक्षिता" इस तृन् प्रत्ययान्तपदके योगमे "कर्तृकर्मणो कृति" इस सूत्रसे कर्ममे षष्ठीकी प्राप्ति थी, पर "न लोकाऽव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" इससे निषेध हुआ है । ईक्षिता= ईक्षत इति, ईक्ष + तृन् । यानाय = "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिन" इस सूत्रसे चतुर्थी । निदेशकारिण निदेश कुर्वन्तीति तच्छीला , तान्, निदेश + कृ + णिनि (उपपद०) । आदिदेश = आङ् + दिश + लिट् + तिप् । इस पद्यमे उपमा अलङ्कार है ॥ ५६ ॥

अमी ततस्तस्य विभूषितं सितं जवेऽपि मानेऽपि च पौरुषाऽधिकम् ।
उपाहरन्नश्वमजस्रचञ्चलैः　खुराञ्चलैः　क्षोदितमन्दुरोदरम् ॥ ५७ ॥

अन्वयः —तत अमी तस्य विभूषितं सितं जवे अपि माने अपि पौरुषाऽधिकम् अजस्रचञ्चलै खुराऽञ्चलै क्षोदितमन्दुरोदरम् अश्वम् उपाहरन् ॥ ५७ ॥

व्याख्या—तत आदेशनाऽनन्तरम्, अमी निदेशकारिणो जना , तस्य = नलस्य, विभूषितम् = अलङ्कृत, सित = श्वेतवर्णं, जवे अपि = वेगे अपि, माने अपि=प्रमाणे अपि, पौरुषाऽधिक=पुरुषप्रमाणाऽतिरिक्तम्, एव च अजस्रचञ्चलै = निरन्तरचपलै , खुराऽञ्चलै =शफाऽग्रभागै , क्षोदितमन्दुरोदर = विदारितवाजि-शालामध्यम्, अश्वं = हयम्, उपाहरन् = उपानीतवन्त ॥ ५७ ॥

अनुवादः—तब आज्ञाकारी भृत्य अलङ्कृत, सफेद, वेग और प्रमाणमे भी

पुरुषके प्रमाणसे अधिक तथा निरन्तर चलनेवाले खुरोके अग्रभागोसे घुडशालके मध्यभागको विदारित करनेवाले घोडेको नलके पास ले आये ॥ ५७ ॥

टिप्पणी—विभूषितं=वि+भूष+क्त (कर्ममे)। पौरुषाऽधिक =पुरुषस्य भाव पौरुषं, पुरुष+अण्, युवादिगणमे पठित होनेसे अण्। जवके पक्षमे यह व्युत्पत्ति है। मानके पक्षमे—पुरुष प्रमाणमस्य पौरुष, "पुरुषहस्तिभ्यामण् च" इससे अण्। पौरुषात् अधिक, तम् (प० त०)। अजस्रचञ्चलै =अजस्र (यथा तथा) चञ्चला, तै (सुप्सुपा०)। खुराऽञ्चलै =खुराणाम् अञ्चला, तै (ष० त०), क्षोदितमन्दुरोदर=मन्दुराया उदरम् (ष० त०)। "वाजिशाला तु मन्दुरा।" इत्यमर। क्षोदित मन्दुरोदर येन स, तम् (बहु०)। उपाहरन् = उप-उपसर्गपूर्वक "हृञ् हरणे" धातुसे लङ्+झि। इस पद्यमे वृत्यनुप्रास और छेकाऽनुप्रासकी ससृष्टि अलङ्कार है ॥ ५७ ॥

अथाऽन्तरेणाऽवट्टुगामिनाऽध्वना निशीथिनीनाथमह.सहोदरैः।
निगालगाद्देवमणेरिवोत्थितैर्विराजित केशरकेशरश्मिभिः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—अथ निशीथिनीनाथमह सहोदरै निगालगात् देवमणे आन्तरेण अवट्टुगामिना अध्वना उत्थितै इव केशरकेशरश्मिभि विराजितम् ("त हय क्षिति-पाकशासन स आरुरोह" इति चतु षष्टितमश्लोकस्थै. पदै सम्बन्ध) ॥ ५८ ॥

अथ अश्ववर्णनप्रसङ्गे सप्तभि कुलकमाह अथेति।

व्याख्या—अथ = अश्वोपहाराऽनन्तर, निशीथिनीनाथमह सहोदरै = चन्द्र-किरणसदृशै, शुक्लैरिति भाव। निगालगात् = गलोद्देशस्थात्, देवमणे = देव-मणिनामकदक्षिणावर्तात्, आन्तरेण=कण्ठमध्यवर्तिना, अवट्टुगामिना = कृकाटिका-पर्यन्तगतेन, अध्वना=मार्गेण, उत्थितै इव = उद्गतै इव, स्थितैरिति शेष। तादृशै केशरकेशरश्मिभि =केशररूपचिकुरकिरणै, विराजित = शोभितम् (त= तादृश, हयम् = अश्व, क्षितिपाकशासन. = भूमहेन्द्र., स = नल. आरुरोह = आरूढवान्, इति चतु षष्टितमश्लोकस्थै. पदै. सम्बन्ध, एव परत्राऽपि) ॥ ५८ ॥

अनुवादः—तब घोडेको लानेके अनन्तर (सफेद) गलेके निकटवर्ती देवमणि-नामक दक्षिण आवर्तसे कण्ठके बीचमे रहनेवाले कृकाटिका तक गये हुए मार्गसे उठे हुएके समान चन्द्रकिरणोके सदृश केशररूप केशोकी किरणोसे शोभित (उस घोडेके ऊपर नल सवार हुए) ॥ ५८ ॥

टिप्पणी—निशीथिनीनाथमह.सहोदरै = निशीथ (अर्धरात्र.) अस्या अस्तीति निशीथिनी (रात्रि.), निशीथ शब्दसे "अत इनि ठनौ" इस सूत्रसे

इनि प्रत्यय और तदन्तसे स्त्रीत्वविवक्षामे "ऋन्नेभ्यो डीप्" इस सूत्रसे डीप्, निशीथ + इनि + डीप् । "अर्धरात्रनिशीथौ द्वौ" इति "निशा निशीथिनी रात्रिस्त्रियामा क्षणदा क्षपा ।" इत्यमर । निशीथिन्या नाथ (ष० त०), तस्य महाँसि (ष० त०), "महश्चोत्सवतेजसो" इत्यमर । सह (समानम्) उदर येषा ते सहोदरा (बहु०) । "वोपसर्जनस्य" इसके "स" भावकी विकल्पतासे एक पक्षमे न होनेसे यह रूप होता है। प्राय सहोदर भाइयोमे तुल्यरूपता होती है इसलिए यहाँपर 'सहोदर' शब्दका सदृश अर्थ लक्षित होता है । निशीथिनीनाथमहसा सहोदरा, तँ (ष० त०) । महस् और मह अकारान्त भी शब्द देखा जाता है । निगालगात्=निगाल गच्छतीति, निगालग, तस्मात्, निगाल + गम् + ड + ङसि, देवमणे ="देवमणि शिवेश्वस्य कण्ठावर्ते च कौस्तुभे ।" इति विश्व । आन्तरेण=अन्तरे भव आन्तर, तेन, अन्तर + अण् + टा । अवटुगामिना = अवटु गच्छतीति तच्छील, तेन अवटु + गम् + णिनि + टा । "अवटुर्घाटा कृकाटिका" इत्यमर । उत्थितै =उद् + स्था + क्त + भिस् । केशरकेशररश्मिभि = केशरा एव केशा (रूपक०) । घोड़ेके स्कन्धके बालोको 'केशर' कहते है। त एव रश्मय, तै (रूपक०) । विराजित = वि + राज् + क्त । इस पद्यमे द्वितीय चरणमे उपमा, तृतीय चरणमे उत्प्रेक्षा ओर चतुर्थ चरणमे रूपक इस प्रकार इन तीनो अलङ्कारोकी निरपेक्ष रूपसे स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है ॥ ५८ ॥

अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैरुपास्यमानं चरणेषु रेणुभि ।
रयप्रकर्षाऽध्ययनाऽर्थमागतैर्जनस्य चेतोभिरिवाऽणिमाङ्कितै. ॥ ५९ ॥

अन्वय.— रयप्रकर्षाऽध्ययनाऽर्थम् आगतै अणिमाङ्कितै जनस्य चेतोभि इव अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतै रेणुभि चरणेषु उपास्यमानम् इव (त हयं क्षितिपाकशासन स आरुरोह) ॥ ५९ ॥

व्याख्या—रयप्रकर्षाऽध्ययनार्थं=वेगाऽतिशयपठनाऽर्थम्, आगतै = आयातै, अणिमाङ्कितै =अणुभावचिह्नितै, जनस्य=लोकस्य, चेतोभि इव=मनोभि इव "अयौगपद्याज्ज्ञानाना तस्याऽणुत्वमिहेष्यते ।" इति नैयायिकसिद्धान्ते मनसो णु परिमाणत्व स्वीकृतम् । अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतै =निरन्तरधरातलविदारणोत्थितै., रेणुभि =धूलिभि, चरणेषु=पादेषु, उपास्यमानम् इव=सेव्यमानम् इव (त हय क्षितिपाकशासन स आरुरोह) । यथा शिष्यो गुरुचरणयोरुपास्ते तथैवाऽणुपरिमाणैर्जनमनोभिश्चरणेषूपास्यमानमिव त हयं राजाऽऽरूढवानिति भाव ॥ ५९ ॥

अनुवादः—वेगके उत्कर्षके अध्ययनके लिए आये हुए अणुपरिमाणवाले लोगोके मनोके तुल्य, लगातार जमीनको विदारण करनेसे उत्पन्न धूलियोसे चरणोमे सेवित (उस घोडेके ऊपर राजाने आरोहण किया) ॥ ५९ ॥

टिप्पणी—रयप्रकर्षाऽध्ययनाऽर्थम् = रयस्य प्रकर्षः (ष० त०) "रंहस्तरसी तु रय स्मय जव" इत्यमर । रयप्रकर्षस्य अध्ययनम् (ष० त०)। रयप्रकर्षाऽध्ययनाय इद, "चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितै" इस सूत्रसे "अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्" इस वार्तिकके सहकारसे चतुर्थीतत्पुरुष, यह "आगतै" इसका क्रियाविशेषण है। आगतै =आङ् + गम् + क्त + भिस्, अणिमाङ्कितै =अणोर्भाव अणिमा, "अणु" शब्दसे "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इस सूत्रसे इमनिच् । अणिम्ना अङ्कितानि, तै (तृ० त०)। जनस्य="जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्" इस सूत्रसे जातिमे एकवचन। अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतै = भूम्या तटम् (ष० त०)। 'भूमि' शब्दसे "कृदिकारादक्तिन" इस गणसूत्रसे ङीष्। भूमीतटस्य कुट्टनम् (ष० त०) अजस्र (यथा तथा)। भूमीतटकुट्टनम् (सुप्सुपा०)। अजस्रभूमीतटकुट्टनेन उत्थिता , तै (तृ० त०)। उपास्यमानम्=उपास्यत इति, उप + आस् + लट् (कर्ममे) + यक् + शानच् + अम् । जैसे अध्ययनके लिए शिष्य गुरुचरणोमे उपासना करते है वैसे ही अतिशय वेगके अध्ययनके लिए आये हुए अणुपरिमाण मनुष्योके मनोके समान धूलियोसे चरणोमे उपासना किये गये घोडे पर राजा आरूढ हुए यह भाव है। नलका अश्व मनके समान वेगवाला है यह अर्थ व्यङ्ग्य होता है। इस पद्यमे चित्तोमे शिष्यव्यवहारका समारोप होनेसे समासोक्ति अलकार है, उसका लक्षण है—

"समासोक्ति समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणै ।
व्यवहारसमारोप प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुन. ॥" सा० द० १०-७४।

"चेतोभिरिव" यहाँपर उत्प्रेक्षा है, इन दोनोका एकाश्रयाऽनुप्रवेशरूप सङ्कर अलंकार है। उसका लक्षण है—

"अङ्गाऽङ्गित्वेऽलङ्कृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ ।
सन्दिग्धत्वे च भवति सङ्करस्त्रिविधः पुन ॥" सा० द० १०-१२८।

चलाचलप्रोथतया महीभृते स्ववेगदर्पानिव वक्तुमुत्सुकम् ।
अलं गिरा, वेद किलाऽयमाशयं स्वयं हयस्येति च मौनमास्थितम् ॥६०॥

अन्वयः— चलाचलप्रोथतया महीभृते स्ववेगदर्पान् वक्तुम् उत्सुकम् इव, अयं

स्वयं हयस्य आशयं वेद किल, "गिरा अलम्" इति मौनम् आस्थित च (त हयं क्षितिपाकशासन. स आरुरोह) ॥ ६० ॥

व्याख्या—चलाचलप्रोथतया = अतिचञ्चलनासिकत्वेन, महीभृते=राज्ञे, नलायेत्यर्थ. । स्ववेगदर्पान्,=आत्मजवगर्वान्, वक्तु = प्रतिपादयितुम्, उत्सुकम् इव = उत्कण्ठितम् इव, तर्हि किमर्थं स्ववेगदर्पो न प्रतिपादित इत्याशङ्क्याह—अलमिति। अयं = महीभृत्, नल इत्यर्थ । स्वयम् = आत्मना एव, हयस्य = अश्वस्य, आशयम् = अभिप्राय, वेद = जानाति, किल = निश्चये न, अत. गिरा = वाण्या, वेगदर्पप्रकाशनकारिण्येति शेष । अल = पर्याप्तं, राज्ञ· स्वयमभिज्ञत्वाद् गिरा साध्यं नाऽस्तीति भाव । इति = अनेन कारणेन, मौनं = तूष्णीकत्वम्, आस्थितं च = आश्रित च (त हय क्षितिपाकशासन स आरुरोह) ॥ ६० ॥

अनुवादः—अत्यन्त चञ्चल नाक होनेसे राजाको अपने वेगके दर्पको कहनेमे उत्कण्ठितके समान परन्तु ये (राजा) स्वयम् घोडेका अभिप्राय जानते है, वाणीसे क्या ? इस कारण मोनको धारण करनेवाले (घोडेके ऊपर राजा आरूढ हुए) ॥ ६० ॥

टिप्पणी—चलाचलप्रोथतया = चलनशीलं चलाचलं, 'चल' धातुसे "चरिचलिपतिवदीना वा द्वित्वमच्याक चाभ्यासस्येति वक्तव्यम्" इस वार्तिकसे अच् प्रत्यय, विकल्पसे द्वित्व और आक् आगम । "चलन कम्पन कम्प्र चल लोल चलाचलम् ।" इत्यमर । चलाचल प्रोथ यस्य स (बहु०) । "घोणा तु प्रोथमस्त्रियाम्" इत्यमर । चलाचलप्रोथस्य भावश्चलाचलप्रोथता, तया, चलाचलप्रोथ + तल + टाप + टा । महीभृते=मही बिभर्तीति महीभृत्, तस्मै, मही + भृ + क्विप् + ङे । "क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्" इससे सप्रदानसज्ञा होकर चतुर्थी । स्ववेगदर्पान=स्वस्य वेग (ष० त०), तस्य दर्पा , तान् (ष० त०) । वक्तु = वच + तुमुन् । आशयम् = "अभिप्रायश्छन्द आशयः" इत्यमर । वेद= "विद् ज्ञाने" धातुसे लट्, "विदो लटो वा" इस सूत्रसे तिपके स्थानमे णल् । गिरा="गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका" इससे तृतीया । मौन = मुनेर्भावो मौनम्, तत्, मुनि + अण् + अम् । आस्थितम् = आङ् + स्था + क्त + अम् । इस पद्यमे पूर्वार्द्धमे वाच्या उत्प्रेक्षा और उत्तरार्द्धमे प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा है, इस प्रकार दो उत्प्रेक्षाओकी निरपेक्षतासे स्थिति होनेसे ससृष्टि अलङ्कार है। नलकी अश्वशास्त्रमे अभिज्ञता महाभारतके वनपर्व मे उल्लिखित है ॥ ६० ॥

महारथस्याऽध्वनि चक्रवर्तिनः पराऽनपेक्षोद्वहनाद्यशःसितम् ।
रदाऽवदातांऽशुमिषादनीदृशां हसन्तमन्तर्बलमर्वतां रवेः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—अध्वनि महारथस्य चक्रवर्तिन पराऽनपेक्षोद्वहनात् यश सित रदाऽवदातांऽशुमिषात् अनीदृशा रवे अर्वतां बलम् अन्त हसन्तम् (त हय क्षितिपाकशासनः स आरुरोह) ॥ ६१ ॥

व्याख्या—अध्वनि=मार्गे, महारथस्य=बृहत्स्यन्दनस्य, अयुतयोधिनो वा, चक्रवर्तिन=सार्वभौमस्य, नलस्येति भाव.। पराऽनपेक्षोद्वहनात्=अन्याऽश्वाऽपेक्षाऽभावेन वहनात्, एकाकित्वेन धारणादिति भावः। यश सित=कीर्तिशुभ्र, रदाऽवदातांऽशुमिषात् = दन्तोज्ज्वलकिरणच्छलात्, अनीदृशाम् = अनेतादृशानां, पराऽनपेक्षोद्वहनाऽसमर्थानामिति भाव । रवे=सूर्यस्य, अर्वताम्=अश्वाना, सप्तसख्यकानामिति भाव । बल=शक्तिम्, अन्त=अन्त करणे, हसन्तम्=उपहसन्तम् इव स्थितम् (त हय क्षितिपाकशासन स आरुरोह) ॥ ६१ ॥

अनुवाद—मार्गमे बडे रथवाले अथवा दश हजार धनुर्धारियोसे युद्ध करनेवाले चक्रवर्ती महाराज नलको दूसरे घोडोकी अपेक्षा न रखकर ढोनेसे कीर्तिसे शुभ्र, दाँतोकी उज्ज्वल किरणोके बहानेसे अन्य घोडोकी अपेक्षाके बिना ढोनेमे असमर्थ सूर्यके (सात) घोडोके बलको मन ही मन उपहास करते हुए (उस घोडेके ऊपर महाराज नलने आरोहण किया) ॥ ६१ ॥

टिप्पणी—महारथस्य=महान् रथो यस्य स महारथ, तस्य (बहु०), "आन्महत. समानाधिकरणजातीययो." इस सूत्रसे "महत्" शब्दका आत्व। महारथ शब्दका लक्षण है—

"एको दश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् ।
शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च विज्ञेय. स महारथः ॥"

चक्रवर्तिन=चक्रे (राजमण्डले) मुख्यत्वेन वर्तते तच्छील. चक्रवर्ती, तस्य, चक्र+वृत्+णिनि+ङस्। "चक्रवर्ती सार्वभौम" इत्यमर.। पराऽनपेक्षोद्वहनात्=न अपेक्षा अनपेक्षा' (नञ्त०)। परेषाम् अनपेक्षा (ष० त०)। पराऽनपेक्षया उद्वहन, तस्मात् (तृ० त०)। यश सित=यशसा सित, तम् (तृ० त०)। रदाऽवदाताऽशुमिषात् = अवदाताश्च ते अशव (क० धा०), "अवदात सितो गौरोऽवलक्षो धवलोऽर्जुन.।" इत्यमर। रदानाम् अवदातांऽशवः (ष० त०)। रदाऽवदाताऽशूना मिष, तस्मात् (ष० त०)। अनीदृशा=न ईदृश., तेषाम् (नञ्०)। अर्वताम्="अर्वणस्त्रसावनञः" इस सूत्रसे "तृ"

अन्तादेश । "वाजिवाहार्वगन्धर्वहयसैन्धवसप्तय ।" इत्यमर । सूर्यके सात घोडे हैं, जैसे कि—

"जयोऽजयश्च विजयो जितप्राणो जितश्रम. ।
मनोजवो जितक्रोधो वाजिनः सप्त कीर्तिता ॥"

(भविष्योत्तरपुराण, आदित्यहृदयस्तोत्र) ।

"हरित सूर्यस्य" निघण्टुको इस उक्तिके अनुसार सूर्यके घोडोका वर्ण हरा है । बलम्="हसे हसने" धातु अकर्मक है, अतः, "बलम्" इस पदके अनन्तर "उद्दिश्य" इस पदका ऊह करना चाहिए । सूर्यके घोडोके बलको उद्देश्य करके भीतर हँसनेवाले ऐसा अर्थ करना चाहिए । हसन्तं=हस + लट् + शतृ + अम् । इस पद्यमे अपह्नुतिके साथ "हसन्तम्" इस पदमे "इव" के गम्यमान होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है और सूर्यके घोडोसे नलके घोडेका उत्कर्ष प्रतीत होनेसे व्यतिरेक अलङ्कार है, इस प्रकार इनका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ६१ ॥

सितत्विषश्चञ्चलतामुपेयुषो मिषेण पुच्छस्य च केसरस्य च ।
स्फुटां चलच्चामरयुग्मचिह्नकैरनिह्नुवानं निजवाजिराजताम् ॥ ६२ ॥

अन्वयः—सितत्विष. चञ्चलताम् उपेयुष पुच्छस्य केसरस्य च मिषेण चलच्चामरयुग्मचिह्नकै स्फुटा निजवाजिराजताम् अनिह्नुवानम् (त हय क्षिति-पाकशासन स आरुरोह) ॥ ६२ ॥

व्याख्या—सितत्विषः=शुक्लकान्तियुक्तस्य, चञ्चलता=चपलताम्, उपेयुषः=प्राप्तवत., पुच्छस्य=लाङ्गूलस्य, केसरस्य च=ग्रीवावालसमूहस्य च, मिषेण=छलेन, चलच्चामरयुग्मचिह्नकै=चलत्प्रकीर्णकयुगललक्षणै, स्फुटा=प्रसिद्धा, निजवाजि-राजताम्=स्वहयराजताम्, अनिह्नुवानम्=अनिषेधन्तं, प्रकटयन्तमिति भाव । (त हय क्षितिपाकशासनः स आरुरोह) ॥ ६२ ॥

अनुवादः—सफेद कान्तिवाले, चञ्चल भावको प्राप्त करनेवाले, पूँछ और कन्धेके बालोके छलसे चलते हुए दो चँवरोके चिह्नोसे प्रसिद्ध अपने अश्वराजत्व-को प्रकट करते हुए (उस घोडेपर राजा नलने आरोहण किया) ॥ ६२ ॥

टिप्पणी—सितत्विष=सिता त्विट् यस्य, तस्य (बहु०) । चञ्चलतां=चञ्चल + तल् + टाप् + अम् । उपेयुष =उप + इण् + क्वसु + ङस् । चलच्चामर-युग्मचिह्नकै.=चलत इति चलती । चल् + लट् (शतृ) + औ । चलती च ते चामरे (क० धा०), "चामर तु प्रकीर्णकम्" इत्यमरः । चलच्चामरयोर्युग्मम्

(ष० त०) । चिह्नानि एव चिह्नकानि, स्वार्थमे क प्रत्यय । चलच्चामरयुग्म-योश्चिह्नकानि, तैः (ष० त०) । निजवाजिराजता = वाजिना राजा वाजिराज. (ष० त०), "राजाऽह सखिभ्यष्टच्" इससे समासाऽन्त टच् । वाजिराजस्य भावो वाजिराजता, वाजिराज + तल् + टाप् । निजा चाऽसौ वाजिराजता, ताम् (क० धा०) । अनिह्नुवान = निह्नुत इति निह्नुवान , नि + ह्नुङ् + लट् (शानच्), न निह्नुवान , तम् (नञ्०) इस पद्यमे अपह्नुति और उत्प्रेक्षा इन दोनोकी ससृष्टि है ॥ ६२ ॥

अपि द्विजिह्वाऽभ्यवहारपौरुषे मुखाऽनुषक्तायतवल्गुवल्गया ।
उपेयिवांसं प्रतिमल्लतां रयस्मये जितस्य प्रसभं गरुत्मतः ॥ ६३ ॥

अन्वय—रयस्मये प्रसभ जितस्य गरुत्मत. द्विजिह्वाऽभ्यवहारपौरुषे अपि मुखाऽनुषक्तायतवल्गुवल्गया प्रतिमल्लताम् उपेयिवासम् (त हय क्षितिपाकशासन. स आरुरोह) ॥ ६३ ॥

व्याख्या—रयस्मये = वेगाहङ्कारे, प्रसभ=बलात्कारेण, जितस्य = पराजित-स्य, गरुत्मत = गरुडस्य, द्विजिह्वाऽभ्यवहारपौरुषे अपि = सर्पभक्षणपुरुषाऽर्थेऽपि, मुखाऽनुषक्तायतवल्गुवल्गया = आननलग्नदीर्घमनोहररज्ज्वा, प्रतिमल्लता=प्रति-द्वन्द्विताम्, उपेयिवास=प्राप्तवन्तम् (त हय क्षितिपाकशासन स आरुरोह) ॥६३॥

अनुवादः—वेगके अहकारमे बलपूर्वक जीते गये गरुडके सर्पभक्षणरूप पुरुषाऽर्थमे भी मुखमे लगी हुई लम्बी और सुन्दर लगामसे प्रतिद्वन्द्विभावको प्राप्त करनेवाले (उस घोडेपर राजा नलने आरोहण किया) ॥ ६३ ॥

टिप्पणी—रयस्मये = रयस्य स्मय , तस्मिन् (ष० त०) । "दर्पोऽवलेपो-ऽवष्टम्भश्चित्तोद्रेक स्मयो मद ।" इत्यमर । प्रसभम् = यह क्रियाविशेषण है । गरुत्मत = गरुत सन्ति यस्य स गरुत्मान्, तस्य (गरुत् + मतुप् + ङस्) । यवादिगणमे 'गरुत्' शब्दका पाठ होनेसे "झय." इस सूत्रसे वत्व नही हुआ । यह शब्द योगरूढ है, "गरुत्मान्गरुडस्ताक्ष्र्यो वैनतेय. खगेश्वर. ।" इत्यमरः । द्विजिह्वाऽभ्यवहारपौरुषे = द्वे जिह्वे येषा ते द्विजिह्वा. (बहु०) । "द्विजिह्वौ सर्पसूचकौ" इत्यमर. । द्विजिह्वानाम् अभ्यवहार. (ष० त०), स एव पौरुषं, तस्मिन् (रूपक०) । मुखाऽनुषक्तायतवल्गुवल्गया=मुखे अनुषक्ता (स० त०) । आयता चाऽसौ वल्गुः (क० धा०) । आयतवल्गुश्चाऽसौ वल्गा (क० धा०) । मुखाऽनुषक्ता चाऽसौ आयतवल्गुवल्गा, तया (क० धा०) । प्रतिमल्लता = प्रतिकूलो मल्लः प्रतिमल्ल, "कुगतिप्रादय " इस सूत्रसे समास । प्रतिमल्लस्य

भाव प्रतिमल्लता, ताम् । प्रतिमल्ल+तल्+टाप्+अम् । उपेयिवासम् = उप+इण्+क्वसु +अम् । इस पद्यमे गरुडके जयका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धकी उक्तिसे अतिशयोक्ति और "प्रतिमल्लताम् उपेयिवासम्" यहाँपर साहश्यका आक्षेप होनेसे उपमा इस प्रकार दो अलकारोकी निरपेक्षतया स्थित होनेसे संसृष्टि है ॥ ६३ ॥

स सिन्धुजं शीतमहःसहोदरं हरन्तमुच्चैःश्रवसः श्रिय हयम् ।
जिताऽखिलक्ष्माभृदनल्पलोचनस्तमारुरोह क्षितिपाकशासनः ॥ ६४ ॥

अन्वयः—जिताऽखिलक्ष्माभृन् अनल्पलोचन क्षितिपाकशासन स सिन्धुजं शीतमह सहोदरम् उच्चै श्रवस श्रिय हरन्त त हयम् आरुरोह ॥ ६४ ॥

व्याख्या— जिताऽखिलक्ष्माभृत्=वशीकृतसकलभूभृत्, अनल्पलोचन =विशाल-नयन , क्षितिपाकशासन = महीमहेन्द्र , स = नल , सिन्धुज = सिन्धुदेशोत्पन्न समुद्रोत्पन्न वा, शीतमह सहोदर चन्द्रसहोदर, चन्द्रसदृश शुक्लवर्णमित्यर्थो वा, एव च उच्चै श्रवस = इन्द्रहयस्य, श्रिय = शोभा, हरन्त = गृह्णन्त, त=पूर्वोक्त, हयम् = अश्वम् आरुरोह = आरूढवान् ॥ ६४ ॥

अनुवाद—सम्पूर्ण राजाओको जीतनेवाले, दीर्घ नेत्रोवाले, पृथ्वीके इन्द्र महा-राज नल सिन्धुदेशमे वा समुद्रमे उत्पन्न चन्द्रमाके सदृश (श्वेत वर्णवाले) आर इन्द्र-के अश्व उच्चै श्रवाकी शोभाको हरण करनेवाले ऐसे घोडेपर आरूढ हुए ॥ ६४ ॥

टिप्पणी— जिताऽखिलक्ष्माभृत् = क्ष्मा बिभ्रतीति क्ष्माभृत क्ष्मा+भृ+क्विप्+जस् (उपपद०) । जिता अखिला क्ष्माभृत (राजान) येन, स (बहु०)। अनल्पलोचन = न अल्पे अनल्पे (नञ्०) । अनल्पे लोचने यस्य स (बहु०), क्षितिपाकशासन = शास्तीति शासन , "शासु अनुशिष्टौ" धातुसे "कृत्यल्युटो बहुलम्" इस सूत्रमे बहुलग्रहण करनेके सामर्थ्यसे कर्तामे ल्युट् । पाकस्य (दैत्य-भेदस्य) शासन. (ष० त०) । "इन्द्रो मरुत्वान्मघवा विडौजा पाकशासन ।" इत्यमर. । क्षितौ पाकशासन. (स० त०) । पूर्वोक्त दो पदोसे इन्द्र और नलका उपमानोपमेयमाव व्यङ्ग्य होता है । इन्द्रके पक्षमे "जिताऽखिलक्ष्माभृन्" इस पदमे विद्यमान 'क्ष्माभृत्' पदसे पर्वतरूप अर्थ भी व्यङ्ग्य होता है । इन्द्रने सब पर्वतोके पक्षोको काट दिया था । "अनल्पलोचनः" इस पदमे इन्द्रके पक्षमे न अल्पानि अनल्पानि (नञ्०), प्रचुराणि इत्यर्थ., अनल्पानि लोचनानि यस्य स (बहु०) । अनल्पलोचन अर्थात् हजार नेत्रोवाले इन्द्र यह अर्थ है । सिन्धुज = सिन्धौ देशे जायते इति सिन्धुज', तम्, "सप्तम्या जनेर्डः" इस सूत्रसे सिन्धु-उपपदपूर्वक जन

धातुसे ड प्रत्यय । उच्चै श्रवाका भी यह पद विशेषण हो सकता है। उस पक्षमे सिन्धौ (समुद्रे) जायत इति । शीतमह सहोदर=शीत मह (कान्ति) यस्य स शीतमहा (बहु०), शीतमहस सहोदर , तम् (ष० त०) । चन्द्रमा और इन्द्रका घोडा दोनो ही समुद्रसे उत्पन्न है, इसलिए वे सहोदर भाई हो गये है, यह तात्पर्य है । हरन्त=हृञ् + लट् (शतृ) + अम । आरुरोह=आङ् + रुह् + लिट् + तिप् । इस पद्यमे श्लेष, उपमा और "श्रिय हरन्तम्" इस अशमे अन्यकी श्री (शोभा) को अन्य कैसे हरण करेगा इस प्रकार सादृश्यका बोधन करनेसे निदर्शना अलङ्कार है, अत ससृष्टि है । अट्ठावनवे श्लोकसे चौसठवे श्लोकतक कुल सात श्लोकोमे परस्पर सम्बन्ध होनेसे कुलक हो गया है, जैसे कि—

छन्दोबद्धपद पद्य, तेनैकेन च मुक्तकम् ।
द्वाभ्या तु युग्मक, सन्दानितक त्रिभिरिष्यते ॥
कलापक चतुर्भिश्च, पञ्चभि कुलक मतम् ॥" सा० द० ६-३०२

अर्थात् छन्दोबद्ध पदवालोको "पद्य" कहते है । दूसरे पद्यसे असम्बद्ध एक पद्यको "मुक्तक", दो पदोमे परस्पर सम्बन्ध होनेसे "युग्मक" और तीन पद्योमे "सन्दानितक" कहते है । सन्दानितकको ही कोई विशेषक और कोई "तिलक" भी कहते है । चार श्लोकोमें परस्पर सम्बन्ध रहनेसे "कलापक" और पाँच श्लोकोमे वा उनसे अधिक श्लोकोमें परस्पर सम्बन्ध रहनेसे "कुलक" कहते है ॥ ६४ ॥

निजा मयूखा इव तीक्ष्णदीधितिं स्फुटाऽरविन्दाऽङ्कितपाणिपङ्कजम् ।
तमश्ववारा जवनाऽश्वयायिनं प्रकाशरूपा मनुजेशमन्वयुः ॥ ६५ ॥

अन्वयः—प्रकाशरूपा निजा मयूखा स्फुटाऽरविन्दाङ्कितपाणिपङ्कज जवनाऽश्वयायिन तीक्ष्णदीधितिम् इव प्रकाशरूपा निजा अश्ववारा स्फुटाऽरविन्दाऽङ्कितपाणिपङ्कज जवनाऽश्वयायिन त मनुजेशम् अन्वयु ॥ ६५ ॥

व्याख्या—प्रकाशरूपा = द्योतस्वरूपा , निजा = स्वकीया., मयूखा = किरणा , स्फुटाऽरविन्दाऽङ्कितपाणिपल्लव = विकसितरक्तकमलचिह्नितकरकमलं, जवनाऽश्वयायिन = वेगयुक्तसप्तहयगामिन, तीक्ष्णदीधितिम् इव = सूर्यम् इव, प्रकाशरूपा = प्रसिद्धसौन्दर्या , निजा = आत्मीया , अश्ववारा = हयारोहा , स्फुटाऽरविन्दाऽङ्कितपाणिपङ्कज=व्यक्तरेखारूपकमलचिह्नितकरकमल, जवनाऽश्वयायिन=वेगवद्धरुयगामिन, त=पूर्वोक्त, मनुजेश=नरपति, नलमित्यर्थ. । अन्वयु = अनुगतवन्त ॥ ६५ ॥

अनुवादः—प्रकाशस्वरूपवाले अपने किरणसमूह जैसे विकसित रक्तकमलोसे चिह्नित करकमलवाले तथा वेगवाले सात घोडोसे गमन करनेवाले सूर्यका अनुगमन करते है उसी प्रकार प्रसिद्ध सौन्दर्यवाले नलके घुडसवारोने स्पष्ट रेखारूप कमलोसे चिह्नित करकमलोवाले तथा वेगवाले घोडेसे यात्रा करनेवाले राजा नलका अनुगमन किया ॥ ६५ ॥

टिप्पणी—प्रकाशरूपा =प्रकाश रूप येषा ते (बहु०) । "प्रकाशो द्योत आतप." इत्यमर । स्फुटाऽरविन्दाऽङ्कितपाणिपल्लव=स्फुटे च ते अरविन्दे (क० धा०), ताभ्याम् अङ्कितम् (तृ० त०), पाणि पङ्कजम् इव, पाणिपल्लवम्, "उपमित व्याघ्रादिभि , सामान्याऽप्रयोगे" इससे समास । स्फुटाऽरविन्दाऽङ्कित पाणिपङ्कजं यस्य, तम् (बहु०) । मनुजेश पक्षमे—स्फुटानि च तानि अरविन्दानि (क० धा०) । और अश पहलेके समान । जवनाऽश्वयायिन=जवशीला: जवना , "जु" यह सौत्र (सूत्रपठित) धातु गति और वेग अर्थमे है, उससे "जुचङ्क्रम्यदन्द्रम्यसृगृधिज्वलशुचलषपतपद" इस सूत्रसे युच् प्रत्यय, "जवनस्तु जवाऽधिक" इत्यमर । जवनाश्च ते अश्वा (क० धा०), तैं यातीति तच्छील , तम्, जवनाऽश्व + या + णिनि + तम् (उपपद०) । मनुजेशपक्षमे—जवशील जवन , स चाऽसौ अश्व (क० धा०) । और पहलेके तुल्य । तीक्ष्णदीधिति=तीक्ष्णा दीधितिर्यस्य, तम् (बहु०) । "भानु करो मरीचि स्त्रीपुसयोर्दीधिति स्त्रियाम् ।" इत्यमर । प्रकाशरूपा =प्रकाश रूप येषा ते (बहु०) । अश्ववारा =अश्वान् वृण्वत इति, अश्व-उपपदपूर्वक "वृञ् वरणे" धातुसे "कर्मण्यण्" इस सूत्रसे अण् (उपपद०) । इसी 'अश्ववार' शब्दका अपभ्रंश हिन्दी भाषाका 'सवार' शब्द है । मनुजेशम्=मनौ जाता मनुजा , मनु + जन् + ड (उपपद०) । मनुजानाम् ईश , तम् (ष० त०) । अन्वयु =अनु-उपसर्गपूर्वक "या प्रापणे" धातुसे लङ्के 'झि' के स्थानमे "लङ शाकटायनस्यैव" इस सूत्रसे विकल्पसे जुस् आदेश । एक पक्षमे "अन्वयान्" ऐसा रूप भी बनता है । इस पद्यमे पूर्णोपमा अलङ्कार है ॥ ६५ ॥

चलन्नलङ्कृत्य महारय हय स वाहवाहोचितवेषपेशलः ।
प्रमोदनिःष्पन्दतराऽक्षिपक्ष्मभिर्व्यलोकि लोकैर्नगरालयैर्नलः ॥ ६६ ॥

अन्वय—वाहवाहोचितवेषपेशल स नल महारय हयम् अलङ्कृत्य चलन् प्रमोदनिष्पन्दतराऽक्षिपक्ष्मभि नगरालयै. लोकै व्यलोकि ॥ ६६ ॥

व्याख्या—वाहवाहोचितवेषपेशल =अश्वारोहणयोग्यनेपथ्यसुन्दर , स =पूर्वोक्त',

नलः = नैषध्य., महारयम् = अतिशयजव, हयम् = अश्वम्, अलकृत्य = भूषयित्वा, चलन् = गच्छन्, भूषणीभूय गच्छन्निति भावः, प्रमोदनिष्पन्दतराऽक्षिपक्ष्मभि = हर्षनिश्चलतरनेत्रलोमभिः, नगराऽऽलयै = पुरनिवासिभि , लोकैः = जनै , व्यलोकि = विलोकित , विस्मयहर्षाभ्यामिति शेष. ॥ ६६ ॥

अनुवादः—घुडसवारीके योग्य वेशसे सुन्दर और बडे वेगवाले घोडेको अलकृत कर चलते हुए नलको हर्षसे निश्चेष्ट नेत्रलोमवाले नगरवासी लोगोने देखा ॥ ६६ ॥

टिप्पणी—वाहवाहोचितवेषपेशल. = उह्यते अनेन इति वाह , "वह प्रापणे" धातुसे "हलश्च" इस सूत्रसे करणमे घञ्। "वाजिवाहाऽर्वगन्धर्वहयसैन्धवसप्तय. ।" इत्यमर॰ । वहन वाह , "वह" धातुसे "भावे" सूत्रसे भावमे घञ् । वाहस्य वाहः (ष० त०) तस्मिन् उचित (स० त०) । वाहवाहोचितश्चाऽसौ वेष (क० धा०), तेन पेशल (तृ० त०) । "चारौ दक्षे च पेशल " इत्यमर । महारय= महान् रयो यस्य स महारय , तम् (बहु०) । अलकृत्य = अल + कृ + क्त्वा (ल्यप्) । चलन् = चल + लट् (शतृ) । प्रमोदनिष्पन्दतराऽक्षिपक्ष्मभि = निर्गत स्पन्दो येभ्यस्तानि निष्पन्दानि (बहु०) । अतिशयेन निष्पन्दानि निष्पन्दतराणि, 'निष्पन्द' शब्दसे ' द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ" इस सूत्रसे तरप् प्रत्यय । अक्ष्णो. पक्ष्माणि (ष० त०) । निष्पन्दतराणि अक्षिपक्ष्माणि येषा ते निष्पन्दतराऽक्षिपक्ष्माण (बहु०) । प्रमोदेन निष्पन्दतराऽक्षिपक्ष्माण , तै. (तृ० त०) । नगराऽऽलयै = नगा सन्ति अस्मिन्निति नगरम्, 'नग' शब्दसे "नगपासुपाण्डुभ्यश्च" इससे र प्रत्यय । नगरम् आलयो येषा ते, तै (बहु०) । व्यलोकि = वि-उपसर्गपूर्वक "लोकृ दर्शने" धातुसे लुङ् + त (कर्ममे) इस पद्यमे वृत्यनुप्रास अलङ्कार है ॥ ६६ ॥

क्षणादथैष क्षणदापतिप्रभः प्रभञ्जनाऽध्येयजवेन वाजिना ।
सहैव ताभिर्जनदृष्टिवृष्टिभिर्बहिः पुरोऽभूत्पुरुहूतपौरुष. ॥ ६७ ॥

अन्वयः—अथ क्षणदापतिप्रभ पुरुहूतपौरुष एष प्रभञ्जनाऽध्येयजवेन वाजिना क्षणात् ताभि , जनदृष्टिवृष्टिभि. सह एव पुर बहि अभूत् ॥ ६७ ॥

व्याख्या—अथ = लोकविलोकनाऽनन्तरं, क्षणदापतिप्रभ =चन्द्रसदृश., सुन्दर इत्यर्थ , पुरुहूतपौरुष = इन्द्रसमपुरुषाऽर्थयुक्त , एष = अय, नल इत्यर्थ. । प्रभञ्जनाऽध्येयजवेन = वायुशिक्षणोयवेगेन, वाजिना = अश्वेन, क्षणात् = अल्प-

कालात्, ताभि = पूर्वोक्ताभिः, जनदृष्टिवृष्टिभिः = लोकदृष्टिपातै, सह एव = समम् एव, पुर = नगरात्, बहि = बहिर्गत., अभूत् = अवर्तिष्ट ॥ ६७ ॥

अनुवाद.—अनन्तर चन्द्रमाके सदृश कान्तिसे सम्पन्न, इन्द्रके समान पराक्रमी नल वायुसे पढनेके योग्य वेगवाले घोडेपर आरूढ होकर अल्प क्षणमे ही जनोके दृष्टिपातोके साथ ही शहरसे बाहर हो गये ॥ ६७ ॥

टिप्पणी— क्षणदापतिप्रभ =क्षण ददातीति क्षणदा, क्षण-उपपदपूर्वक "डुदाञ् दाने" धातुसे "अतोऽनुपसर्गे क" इस सूत्रसे क प्रत्यय और टाप् । (उपपद०) । "निशा निशीथिनी रात्रिस्त्रियामा क्षणदा क्षपा ।" इत्यमर । क्षणदाया. पति (ष० त०) । क्षणदापतेरिव प्रभा (कान्ति) यस्य सः (व्यधिकरणबहु०) । पुरुहूतपौरुष =पुरुभिः (बहुभि) हूत (आकारित.), इति पुरुहूतः (तृ० त०) "पुरुहूत पुरन्दर" इत्यमर । प्रभञ्जनाऽध्येयजवेन = अध्येय जव यस्य स (बहु०) प्रभञ्जनेन अध्येयजव, तेन (तृ० त०) । वाजिना = बहिर्भवन क्रियामे "साधकतम करणम्" इस सूत्रसे करणसंज्ञा होकर तृतीया । जनदृष्टिवृष्टिभि =दृष्टीना वृष्टय (ष० त०) । जनानां दृष्टिवृष्टय, ताभि (ष० त०) । "सह" पदके योगमे तृतीया । पुर = "अपपरिबहिरञ्चव· पञ्चम्या" इस सूत्रमे पञ्चमी समासका विधान होनेसे पञ्चमी । अभूत् = भू + लुङ् + तिप् । इस पद्यमे "क्षणदापतिप्रभ" "पुरुहूतपौरुष" इन दो स्थलोमे उपमा और अश्ववेगका प्रभञ्जनसे अध्येयजवत्वका सम्बन्ध न होकर भी सम्बन्धकी उक्तिसे अतिशयोक्ति इन दो अलङ्कारोकी ससृष्टि है ॥ ६७ ॥

ततः प्रतीच्छ प्रहरेति भाषिणी परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे ।
मृषामृधं सादिबले कुतूहलान्नलस्य नासीरगते वितेनतुः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—तत "प्रतीच्छ प्रहर" इति भाषिणी परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे नलस्य नासीरगते सादिबले कुतूहलात् मृषामृध वितेनतुः ॥ ६८ ॥

व्याख्या—तत = पुराद्बहिर्गमनाऽन्तरं, प्रतीच्छ = गृहाण, मच्छस्त्रप्रहार स्वाऽङ्गे स्वीकुर्विति भाव, प्रहर = मयि प्रहारं कुरु, इति = एव, भाषिणी = भाषमाणे, परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे = अन्योन्यप्रसारिततोमराऽग्रे, नलस्य = नैषध्यस्य, नासीरगते = सेनामुखप्राप्ते, सादिबले = तुरङ्गसैन्ये, कुतूहलात् = कौतुकात्, मृषामृध=मिथ्यायुद्धं, युद्धनाटकमित्यर्थ, वितेनतुः = चक्रतु. ॥ ६८ ॥

अनुवाद.—नगरसे बाहर निकलनेके अनन्तर "मेरा शस्त्रप्रहार ले लो, प्रहार करो" ऐसा भाषण करते हुए परस्पर पल्लवके समान तोमरको उठाते हुए नलके

सेनामुखमे स्थित नलके घुडसवारोकी दो सेनाओने कुतूहलसे मिथ्या युद्धका अभिनय किया ॥ ६८ ॥

टिप्पणी—प्रतीच्छ=प्रति + इष् + लोट् + सिप् । प्रहर=प्र + हृ + लोट् + सिप् । भाषिणी=भाषेते तच्छीले, भाष + णिनि + औ । परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे="परस्परम्" यहाँपर पर शब्दसे वीक्षामे द्वित्व होकर "कस्कादिषु च" इससे सत्व हुआ है । परस्परम् उल्लासितानि (सुप्सुपा०) । शल्यानि पल्लवानि इव (उपमित०) "शल्य तोमरम्" इत्यमर । परस्परोल्लासितानि शल्यपल्लवानि याभ्या ते (बहु०) । नासीरगते=नासीर गते (द्वि० त०), "सेनामुख तु नासीरम्" इत्यमर । सादिवले=अवश्य सीदन्तीति सादिन, "षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु" धातुसे "आवश्यकाऽधमर्ण्ययोर्णिनि" इससे णिनि । "अश्वारोहास्तु सादिन" इत्यमर । सादिना बले (ष० त०) । मृषामृध="मृधमास्कन्दन सख्यम्" इत्यमर । वितेनतु = वि–उपसर्गपूर्वक "तनु विस्तारे" धातुसे लिट् + तस् (अतुस्), एत्व और अभ्यास लोप । इस पद्यमे उपमा अलङ्कार है ॥ ६८ ॥

प्रयातुमस्माकमियं कियत्पद धरा तदम्भोधिरपि स्थलायताम् ।
इतीव वाहैर्निजवेगदर्पितैः पयोधिरोधक्षममुत्थितं रज ॥ ६९ ॥

अन्वयः—इय धरा अस्माकं प्रयातु कियत्पदम्, तत् अम्भोधि अपि स्थलायताम् इति इव निजवेगदर्पितै वाहै पयोधिरोधक्षम रज उत्थितम् ॥ ६९ ॥

व्याख्या—इयम्=एषा, धरा=भू, अस्माक=धावताम् अश्वानाम्, प्रयातु=प्रस्थातु, कियत्पद=किंपरिमाण स्थान, भवेदिति शेष । न किञ्चित्पर्याप्तमित्यर्थं । तत्=तस्मात् कारणात्, अम्भोधि अपि=समुद्र अपि, स्थलायता=स्थलवत् आचरतु, भूरेव भवतु इति भाव । इति इव = इति मत्वा इव, निजवेगदर्पितै =स्वजवदर्पयुक्तै, वाहै =अश्वै, पयोधिरोधक्षम = समुद्राच्छादनसमर्थं, रज =धूलि, उत्थितम्=उत्थापितम् । "उद्धतम्, उद्धृतम्" इति पाठान्तरयोरपि अयमेवाऽर्थं ॥ ६९ ॥

अनुवादः—'यह पृथ्वी हम लोगोके प्रस्थानके लिए कितने पगोके लिए होगी ?' इस कारणसे समुद्र भी स्थल हो जाय मानो ऐसा विचार कर अपने वेगसे दर्प करनेवाले घोडोने समुद्रको आच्छादन करनेके लिए पर्याप्त धूल उडा दी ॥६९॥

टिप्पणी—प्रयातु=प्र + या + तुमुन् । कियत्पदं=कियन्ति पदानि यस्मिन् (कर्मणि) तद्यथा तथा (बहु०) । अम्भोधि =अम्भासि धीयन्ते अत्र इति

अम्भस् + धा + कि । स्थलायता=स्थलवत् आचरतु "कर्तुं क्यङ् सलोपश्च" इससे क्यङ्, स्थल + क्यङ् + लोट् + त । निजवेगदर्पितै =दर्प सजातो येषा ते दर्पिता, "दर्प" शब्दसे "तदस्य सजात तारकादिभ्य इतच्" इससे इतच्प्रत्यय। निज-श्चाऽसौ वेग (क० धा०), तेन दर्पिता, तै (तृ० त०)। पयोधिरोधक्षम= पयासि धीयन्ते अस्मिन् पयोधि, पयस् + धा + कि । पयोधे रोध (ष० त०), तस्मिन् क्षमम् (स० त०)। रज =पाशुर्ना न द्वयोरज" इत्यमर । उत्थितम्= उद् + स्था + क्त, यहाँ णिच्का अर्थ अन्तर्भावित है। इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ६९ ॥

हरेयदक्रामि पदैककेन ख पदैश्चतुर्भि क्रमणेऽपि तस्य न.।
त्रपा हरीणामिति नम्रिताऽऽननैर्न्यवर्ति तैरर्धनभःकृतक्रमैः ॥ ७० ॥

अन्वय —"यत् ख हरे एककेन पदा अक्रामि, तस्य चतुर्भि पदै. क्रमणे अपि हरीणा न त्रपा" इति नम्रिताऽऽननै अर्धनभ कृतक्रमै तै न्यवर्ति ॥ ७० ॥

व्याख्या यत्, खम्=आकाश, हरे =विष्णो., एककेन=एकाकिना, असहायेन एकेनेति भाव, पदा=पादेन, अक्रामि=अलङ्घि, तस्य=खस्य, चतुर्भि =चतु-सख्यकै, पदैः=पादै, क्रमणे अपि=लङ्घने कृते अपि, हरीणा=वाजिना, विष्णूना चेति गम्यते, न =अस्माक, त्रपा=लज्जा, एकस्य हरे एकाकिना पदेन यत् ख लङ्घित, तस्य बहूना हरीणाम् (अश्वानां, विष्णूना वा) चतुर्भि पदैर्लङ्घने लज्जेति भाव । इति=अस्मात् कारणात् इव, नम्रिताऽऽननै =अवनतीकृतमुखै, तथा अर्द्धनभःकृतक्रमै =अर्द्धाकाशविहितपादविक्षेपै, तै =हरिभि, न्यवर्ति=निवृत्तम्। एतेन प्लुतगतिरुक्ता तत्र गगनलङ्घनस्य सभवादिति भाव ॥ ७० ॥

अनुवादः —"जिस आकाशका विष्णुके एक चरणने लङ्घन किया था उस- (आकाश) का चार चरणोसे लङ्घन करनेपर भी हरि (घोडे अथवा बहुतसे हरि) हम लोगोको लज्जा है" मानो इस कारणसे नम्र मुख करनेवाले तथा आधे आकाशमे चरणविक्षेप करनवाले वे लोग लौट गये ॥ ७० ॥

टिप्पणी — ख="नभोऽन्तरिक्ष गगनमनन्त सुखवर्त्म खम् ।" इत्यमर.। एककेन=एक एव एकक, तेन, 'एक' शब्दसे "एकादाकिनिच्चाऽसहाये" इस सूत्रमे चकारका पाठ होनेसे कन् प्रत्यय । पदा="पाद" शब्दकी टा विभक्तिमे "पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छस्प्रभृतिषु" इस सूत्रसे पद् आदेश । अक्रामि=क्रम् + लुङ् (कर्ममे) + त । यहाँपर "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्याऽनाचमे." इस सूत्रसे वृद्धि-निषेध हानेसे यह प्रयोग "च्युतसस्कृति"

दोषसे युक्त है, "अक्रमि" होना इष्ट है। क्रमणे = क्रम + ल्युट् + ङि। हरीणा= "यमाऽनिलेन्द्रचन्द्राऽर्कविष्णुसिंहाऽंशुवाजिषु। शुकाऽहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु।" इत्यमर। न = "अस्माकम्" के स्थानमे "बहुवचनस्य वस्नसौ" इस सूत्रसे नस् आदेश। नम्रिताऽऽननै = नम्र कृत नम्रितम्, 'नम्र' शब्दसे णिच् प्रत्यय कर क्तप्रत्यय। नम्रितम् आनन यै, तै (बहु०)। अर्धनभ कृतक्रमै. = अर्ध नभस अर्धनभ "अर्ध नपुसकम्" इससे समास। कृत क्रमो यैस्ते कृतक्रमा (बहु०)। अर्धनभसि कृतक्रमा, तै (स० त०)। न्यवर्ति = नि—उपसर्गपूर्वक "वृतु वर्तने" धातुसे भावमे लुङ्। इस पद्यमे "इति" के आगे "इव" पदका प्रयोग न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलङ्कार है॥ ७०॥

चमूचरास्तस्य नृपस्य सादिनो जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव सैन्धवाः।
विहारदेश तमवाप्य मण्डलीमकारयन् भूरितुरङ्गमानपि॥ ७१॥

अन्वय—तस्य नृपस्य चमूचरा सैन्धवा सादिन जिनोक्तिषु श्राद्धतया इव तं विहारदेशम् अवाप्य तुरङ्गमान् भूरि मण्डलीम् अपि अकारयन्॥ ७१॥

व्याख्या—तस्य = पूर्वोक्तस्य, नृपस्य = राज्ञ, नलस्येत्यर्थ। चमूचरा = सेनाचरा, सैन्धवा = सिन्धुदेशोत्पन्ना, सादिन = अश्वारोहा, जिनोक्तिषु = बुद्धवचनेषु, श्राद्धतया इव = श्रद्धालुतया इव, त = प्रसिद्ध, विहारदेश = सञ्चारभूमिम्, बौद्धमठ च, अवाप्य = प्राप्य, तुरङ्गान् = अश्वान्, भूरि = बहुल, मण्डलीम् अपि=मण्डलाकार च, मण्डलासन च, अकारयन् = कारितवन्त, बौद्धा अपि स्वकर्माऽनुष्ठाने प्रायेण मण्डलानि कुर्वन्तीति प्रसिद्धि॥ ७१॥

अनुवाद—जैसे बौद्ध बुद्धके वचनमे श्रद्धालु होकर बौद्धमठमे मण्डलासन कराते है वैसे ही राजा नलके सैन्यमे रहनेवाले सिन्धु-देशवाले घुडसवारोने विहारभूमि पहुँचकर घोडोको मण्डलाकार रूपमे भ्रमण कराया॥ ७१॥

टिप्पणी—नृपस्य = नृ + पा + क (उपपद०)। चमूचरा = चम्वा चरन्तीति, चमू—उपपदपूर्वक "चर" धातुसे "चरेष्ट" इस सूत्रसे ट प्रत्यय। सैन्धवा = सिन्धौ भवा, "सिन्धु" शब्दसे "तत्र भवः" इस सूत्रसे अण्। "देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम्।" इत्यमर। जिनोक्तिषु = जिनस्य उक्तय, तासु, (ष० त०) "समन्तभद्रो भगवान्मारजिल्लोकजिज्जिन।" इत्यमर। श्राद्धतया=श्रद्धा अस्ति येषा ते श्रद्धा, "श्रद्धा" शब्दसे "प्रज्ञाश्रद्धाऽर्चाभ्यो ण" इस सूत्रसे ण प्रत्यय। श्राद्धाना भाव श्राद्धता, तया, श्राद्ध + तल् + टाप् + टा। विहारदेश = विहारश्चाऽसौ देश, तम् (क० धा०)।

"विहारो भ्रमणे स्कन्धे लीलाया सुगतालये ।" इति विश्व । अवाप्य = अव + आप् + क्त्वा (ल्यप्) । तुरङ्गमान्="हृक्रोरन्यतरस्याम्" इस सूत्रसे विकल्पमे कर्मसज्ञा होकर द्वितीया, एक पक्षमे "तुरङ्गमै" ऐसा भी रूप बनता है । मण्डलीम् = "मण्डल" शब्दसे "षिद्गौरादिभ्यश्च" इस सूत्रसे ङीष् । अकारयन्= 'कृ' धातुसे णिच् प्रत्यय होकर लङ् + झि । नल सत्ययुगमे हुए परन्तु बुद्धदेव कलियुगके प्रथम चरणमे हुए इसलिए नलके समयमे बौद्धोके विहारकी चर्चा अनुचित प्रतीत होती है, पर नलसे पूर्वकल्पके बुद्धकी विवक्षा करनेसे दोष-परिहार समझना चाहिए । इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलकार है ॥ ७१ ॥

द्विषद्भिरेवाऽस्य विलङ्घिता दिशो यशोभिरेवाऽब्धिरकारि गोष्पदम् ।
इतीव धारामवधीर्य मण्डलीक्रियाश्रियाऽमण्डि तुरङ्गमैः स्थली ॥ ७२ ॥

अन्वय.—अस्य द्विषद्भि एव च दिश विलङ्घिता , अस्य यशोभि एव अब्धि गोष्पदम् अकारि, इति इव तुरगमै धाराम् अवधीर्य मण्डलीक्रियाश्रिया स्थली अमण्डि ॥ ७२ ॥

व्याख्या—अस्य = नलस्य, द्विषद्भि एव = शत्रुभि एव, पलायमानैरिति शेष । दिश = ककुभ , विलङ्घिता = अतिक्रान्ता , अस्य = नलस्य, यशोभि एव = कीर्तिभि एव, अब्धि = समुद्र , गोष्पद गोखुरप्रमाण , अकारि = कृत , इति = एव विचार्य, इव, अन्यसामान्य कर्म उत्कर्षाय न भवेदिति विमृश्य इवेति भाव । तुरगमै = अश्वै , धाराम् = आस्कन्दितादिगतिम् । अवधीर्य=अनादृत्य, मण्डलीक्रियाश्रिया = मण्डलीकरणशोभया, मण्डलगत्यैव इति भाव । स्थली = अकृत्रिमा भूमि , अमण्डि = मण्डिता, भूषितेति भाव ॥ ७२ ॥

अनुवादः—नलके शत्रुओंने ही दिशाओंको लङ्घन किया है इनकी कीर्तियोंने ही समुद्रको गायके खुरके समान बना डाला है, मानो ऐसा विचार कर घोडोने आस्कन्दित आदि गतियोका अनादर करके मण्डलीकरणकी शोभासे भूमिको अलङ्कृत कर दिया ॥ ७२ ॥

टिप्पणी - द्विषद्भि = द्विषन्तीति द्विषन्त , तै , "द्विष अप्रीतौ" धातुसे लट्के स्थानमे शतृ आदेश । "रिपौ वैरिसपत्नाऽरिद्विषद्द्वेषणदुर्हृद ।" इत्यमर । अब्धि =आप. धीयन्ते अत्र, अप् + धा + कि , "समुद्रोऽब्धिरकूपार" इत्यमर । गोष्पद=गाव. पद्यन्ते अस्मिन्स्थले तत्, गोभि सेवितं गोष्पद, "गोष्पद सेविताऽसेवितप्रमाणेषु" इस सूत्रसे सुट् और 'स' के स्थानमें "ष" । अकारि = "कृ"

धातुसे लुङ्+त (कर्ममे), धाराम्=जातिमे एकवचन । आस्कन्दित आदि पाँचों गतियोको यह तात्पर्य है जैसे कि—

"आस्कन्दित धौरितक रेचित वल्गित प्लुतम् ।

"गतयोऽमू पञ्चधारा" इत्यमर. । अवधीर्य=अव–अधि–उपसर्गपूर्वक "ईर प्रेरणे" धातुसे 'क्त्वा' के स्थानमे ल्यप् आदेश । "शकन्ध्वादिषु पररूप वाच्यम्" इससे पररूप । मण्डलीक्रियाश्रिया=मण्डल्या क्रिया (ष० त०), तस्या श्री , तया (ष० त०) । स्थली = अकृत्रिम अर्थमे "जानपदकुण्डगोणस्थल०" इत्यादि सूत्रसे ङीष् प्रत्यय । कृत्रिम भूमिके लिए "स्थला" ऐसा प्रयोग होता है । अमण्डि = "मडि भूषायाम्" धातुसे णिच् होकर लुङ् (कर्ममे)+त । इस पद्यमे अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा इन दोनो अलकारोका एकाश्रयाऽनुप्रवेशरूप सङ्कर है ।। ७२ ।।

अचीकरच्चारु हयेन या भ्रमीर्निजातपत्रस्य तलस्थले नलः ।
मरुत्किमद्याऽपि न तासु शिक्षते वितत्य वात्यामयचक्रचङ्क्रमान् ।। ७३ ।।

अन्वयः—नल निजातपत्रस्य तलस्थले हयेन या भ्रमी चारु अचीकरत्, तासु मरुत् अद्य अपि वात्यामयचक्रचङ्क्रमान् वितत्य किं न शिक्षते ? ।। ७३ ।।

व्याख्या—नल = नैषध्य , निजाऽऽतपत्रस्य = स्वच्छत्रस्य, तलस्थले=अध - प्रदेशे, हयेन = अश्वेन, या , भ्रमी. = मण्डलगतो , चारु = मनोहर यथा तथा, अचीकरत् = कारितवान्, तासु = भ्रमीषु विषये, मरुत् = वायु , अद्य अपि = अधुना अपि, वात्यामयचक्रचङ्क्रमान् = वातसमूहमयमण्डलगती , वितत्य = विस्तीर्य, किं न शिक्षते=किमर्थं न जिज्ञासते, शिक्षितश्चेन्मरुत् तथा गतिं कुर्यादिति भाव. । नलो वायोरप्यसभाविता गती अश्वेन कारयामासेति तात्पर्यम् ।। ७३ ।।

अनुवादः—नलने अपने छत्रके अधोभागमे घोडेसे जिन मण्डलगतियोको मनोहरतासे कराया, उनमे वायु अभी भी वायुओकी मण्डलगतियोको फैलाकर क्यो नही सीखना चाहता है ? ।। ७३ ।।

टिप्पणी—निजातपत्रस्य = आतपात् त्रायते इति आतपत्रम्, आतप+त्रैं (त्रा)+कः (उपपद०) । निज च तत् आतपत्र, तस्य (क० धा०) । तलस्थले = तलञ्च तत् स्थल, तस्मिन् (क० धा०) । हयेन = "हृक्रोरन्यतरस्याम्" इससे कर्मत्वके वैकल्पिक होनेसे तृतीया । भ्रमी = "भ्रमु अनवस्थाने" धातुसे "इक् कृष्यादिभ्य " इससे इक् । चारु=यह क्रियाविशेषण है । अचीकरत् = णिजन्त 'कृ' धातुसे लुङ्+तिप् । "णिश्रिद्रुस्रुभ्य कर्तरि चङ्" इससे

चङ् और द्वित्व आदि। वात्यामयचक्रचङ्क्रमान्=वाताना समूहो, वात्या, "वात" शब्दसे "पाशादिभ्यो य" इस सूत्रसे य प्रत्यय और टाप् । वात्यास्वरूपा वात्या-मया , 'वात्या' शब्दसे "तत्प्रकृतवचने मयट्" इस सूत्रसे स्वरूप अर्थमे मयट् । पुन पुनः क्रमणानि चङ्क्रमाः, "क्रमु पादविक्षेपे" धातुसे "धातोरेकाचो हलादे क्रियासमभिहारे यङ्" इस सूत्रसे यङ् द्वित्व होकर घञ्, ह्रस्व अकारका लोप और "यस्य हल" इससे यकारका लोप । चक्रस्य चङ्क्रमा (ष० त०)। वात्यामयाश्च ते चक्रङ्क्रमा, तान् (क० धा०) । वितत्य = वि+तन्+ क्त्वा (ल्यप्)। शिक्षते = शक धातुसे "धातो कर्मण समानकर्तृकादिच्छाया वा" इस सूत्रसे सन् प्रत्यय और शिक्षेर्जिज्ञासायाम्" इससे आत्मनेपद लट्+ त । इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥ ७३ ॥

विवेश गत्वा स विलासकाननं ततः क्षणात्क्षोणिपतिर्धृतीच्छया ।
प्रवालरागच्छुरितं सुषुप्सया हरिर्घनच्छायमिवाऽम्भसां निधिम् ॥ ७४ ॥

अन्वयः—ततः हरि सुषुप्सया विलासकाऽननं प्रवालरागच्छुरितं घनच्छायम् अम्भसा निधिम् इव स क्षोणिपति धृतीच्छया गत्वा प्रवालरागच्छुरितं घनच्छाय विलासकानन क्षणात् विवेश ॥ ७४ ॥

व्याख्या—तत = अनन्तर, हरि = विष्णु, सुषुप्सया = स्वप्तुम् इच्छया, विलासकाऽनन = सर्पप्राणनं, प्रवालरागच्छुरित = विद्रुमाऽऽरुण्यरूषितं, घन-च्छाय = मेघकान्तिम्, अम्भसा = जलाना, निधिम् इव = शेवधिम् इव, समुद्रम् इवेत्यर्थं । स = पूर्वोक्त, क्षोणिपति = भूपति, नल इनि भाव । धृतीच्छया= सन्तोषकाङ्क्षया, गत्वा = गमनं कृत्वा, प्रवालरागच्छुरित = पल्लवारुण्यरञ्जितं, घनच्छायं = सान्द्राऽऽतप, विलासकानन = क्रीडावन, क्षणात् = अल्पकालात्, विवेश = प्रविष्ट. ॥ ७४ ॥

अनुवादः—तब जैसे भगवान् विष्णु सोनेकी इच्छासे सर्पोंके स्थानभूत, मूगोके वर्णसे रञ्जित, मेघकी समान कान्तिसे युक्त समुद्रमे प्रवेश करते हैं वेसे ही राजा नलने दिल बहलानेकी इच्छासे जाकर पल्लवोके वर्णसे अनुरञ्जित, गाढ छायासे सम्पन्न क्रीडावनमें थोडे ही समयमे प्रवेश किया ॥ ७४ ॥

टिप्पणी—सुषुप्सया = स्वप्तुम् इच्छा सुषुप्सा, तया "ञिष्वप् शये" धातुसे सन् प्रत्यय, द्वित्व होकर तदन्तसे "अ प्रत्ययात्" इससे अ प्रत्यय और टाप्—टा । बिलासकाऽनन = 'ब' और 'व' मे अभेद होनेसे बिले आसते इति बिलासका , (सर्पा), बिल-उपपदपूर्वक आस धातुसे "ण्वुल्तृचौ" इस सूत्रसे ण्वुल् (अक्)

प्रत्यय । विलासकानाम् अननम् (प्राणनम्), तत् (ष० त०)। प्रवालराग-च्छुरित=प्रवालाना रागः, (ष० त०), "प्रवालो वल्लकादण्डे विद्रुमे नवपल्लवे ।" इत्यमर । प्रवालरागेण छुरित, तम् (तृ० त०)। घनच्छाय = घनस्य (मेघस्य) इव छाया यस्य, तम् (व्यधिकरणबहु०)। क्षोणिपति = क्षोणे. पति (ष० त०)। धृतीच्छया=धृते इच्छा, तया (ष० त०)। गत्वा=गम् धातुसे "समानकर्तृकयो पूर्वकाले" इस सूत्रसे क्त्वा । घनच्छायं=घना छाया यस्य, तत् (बहु०)। "छाया त्वनातपे कान्तौ" इति विश्व । विलासकाननं=विलासस्य कानन, तत् (ष० त०)। विवेश="विश प्रवेशने" धातुसे लिट्+तिप् । इस पद्यमे पूर्णोपमा अलङ्कार है ॥ ७४ ॥

वनाऽन्तपर्यन्तमुपेत्य सस्पृह क्रमेण तस्मिन्नवतीर्णदृक्पथे ।
न्यवर्ति दृष्टिप्रकरैः पुरौकसामनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभि पुरौकसा दृष्टिप्रकरै वनाऽन्तपर्यन्त सस्पृहम् उपेत्य क्रमेण तस्मिन् अवतीर्णदृक्पथे (सति) न्यवर्ति ॥ ७५ ॥

व्याख्या—अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभि =अनुगच्छद्बान्धवसङ्घसदृशै , स्नेहादिति शेष । पुरौकसा=नगरवासिना, दृष्टिप्रकरै =नेत्रसमूहै (कर्तृभि), वनाऽन्त-पर्यन्त=काननोपान्तसीमाम्, उदकप्रान्तपर्यन्त च, सस्पृह=साऽभिलाष यथा तथा, उपेत्य=गत्वा, क्रमेण=समयपरिपाट्या, तस्मिन्=नले, अवतीर्णदृक्पथे=अतिक्रान्त-नेत्रविषये सति, न्यवर्ति=निवृत्तम् । यथा जना प्रवासोन्मुख जन जलाशय यावदनुगम्य "ओदकान्तमनुव्रजेत्" इति शास्त्रेण निवर्तन्ते तथैव बन्धुसदृशानि नागरिकाणां नेत्राणि अपि गच्छन्तं नल काननोपान्तसीमा यावद् गत्वा, तस्मिन्नति-क्रान्तनेत्रमार्गे सति न्यवर्तन्त इति भाव ॥ ७५ ॥

अनुवादः—पीछे जानेवाले बान्धवसमाजोके सदृश नगरवासियोके नेत्र उपवन-की सीमातक जाकर क्रमसे नलके दृष्टिसे ओट हो जानेपर लौट गये ॥ ७५ ॥

टिप्पणी—अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभि =अनुव्रजन्तीति अनुव्रजन्त , अनु+व्रज+लट् (शतृ) + जस् । बन्धूना समाजा (ष० त०)। अनुव्रजन्तश्च ते बन्धुसमाजा (क० धा०)। अनुव्रजद्बन्धुसमाजाना बन्धव , तै (ष० त०)। यहाँपर पिछले "बन्धु" शब्दका अर्थ सदृश है । पुरौकसा=पुरम् ओक येषा ते पुरौकस , तेषाम् (बहु०)। दृष्टिप्रकरै =दृष्टीना प्रकरा , तै (ष० त०)। वनाऽन्तपर्यन्त=वनस्य अन्त (ष० त०)। "वन" का अर्थ यहाँपर "अटव्य-रण्य विपिन गहन कानन वनम् ।" इत्यमर , इस कोशके अनुसार वन और "वने

सलिलकानने" इत्यमर , इस कोशके अनुसार जल अर्थ भी होता है। वनाऽन्तस्य-पर्यन्तम् (ष० त०)। सस्पृह=स्पृहया सहित यथा तथा (तुल्ययोगवहु०)। उपेत्य=उप + इण् + क्त्वा (ल्यप्)। अवतीर्णदृक्पथे=दृशो पन्था दृक्पथ (ष० त०), "ऋक्पूरब्धू पथामानक्षे" इस सूत्रसे समासाऽन्त अ प्रत्यय। अवतीर्ण दृक्पथ येन तस्मिन् (बहु०)। भावलक्षणमे सप्तमी। न्यवर्ति=नि + वृत् + लुङ् + त (भावमे लुङ्)। जैसे प्रवासमे जानेके लिए उद्यत जनको बन्धु-गण जलाशयतक उसको पहुँचाकर लौट जाते है वैसे ही बगीचेमे जाते हुए नलके दृष्टिपथसे ओट होनेपर पुरवासियोके नेत्र लौट पडे यह तात्पर्य है। इस पद्यमे चतुर्थ चरणमे उपमा अलङ्कार है ॥ ७५ ॥

तत प्रसूने च फले च मञ्जुले स सम्मुखस्थाऽङ्गुलिना जनाधिपः ।
निवेद्यमान वनपालपाणिना व्यलोकयत्काननरामणीयकम् ॥ ७६ ॥

अन्वय—तत स जनाऽधिप मञ्जुले प्रसूने फले च सम्मुखस्थाऽङ्गुलिना वनपालपाणिना निवेद्यमान काननरामणीयक व्यलोकयत् ॥ ७६ ॥

व्याख्या—तत =अनन्तर, स =पूर्वोक्त , जनाऽधिप =नरेश , नल इत्यर्थ । मञ्जुले=मनोहरे, प्रसूने=पुष्पे, मञ्जुले फले च=सस्ये च, सम्मुखस्थाऽङ्गुलिना=अभिमुखस्थकरशाखेन, वनपालपाणिना=उद्यानरक्षकहस्तेन, निवेद्यमान=ज्ञाप्य-मान, प्रदर्श्यमानमिति भाव । काननरामणीयक = वनसौन्दर्य, व्यलोकयत्=अपश्यत् ॥ ७६ ॥

अनुवादः—तब राजा नलने सुन्दर फूल और फलमे उद्यानरक्षकसे उँग-लियोको समुख कर दिखलायी गयी वनकी सुन्दरताको देखा ॥ ७६ ॥

टिप्पणी—जनाऽधिप =जनानाम् अधिप (ष० त०)। सम्मुखस्थाङ्गुलिना=सम्मुख तिष्ठन्तीति सम्मुखस्था , समुख + स्था + क. (उपपद०)। सम्मुखस्था अङ्गुलयः यस्य स , तेन (बहु०)। "अङ्गुल्य. करशाखा स्युः" इत्यमर.। वनपालपाणिना=वन पालयतीति वनपाल, वन-उपपदपूर्वक "पाल रक्षणे" धातुसे "कर्मण्यण्" इस सूत्रसे अण् (उपपद०)। वनपालस्य पाणि , तेन (ष० त०)। निवेद्यमान = निवेद्यत इति, तत्, नि + विद् + णिच् + लट् (कर्ममे) + यक् + शानच् + अम्। काननरामणीयक=रमणीयस्य भावो राम-णीयकम्, "रमणीय शब्दसे "योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्" इस सूत्रसे वुञ् (अक) प्रत्यय। "कामनीयकम्" ऐसे पाठमे भी कमनीयस्य भाव ऐसा विग्रह और पूर्व सूत्रसे वुञ्। अर्थ भी वही है। काननस्य रामणीयक, तत् (ष० त०)। यहाँ-

पर "रामणीयकम्" इस गुणवाचकपदके साथ 'कानन' पदका समास "पूरणगुण-सुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाऽधिकरणेन" इस सूत्रसे निषिद्ध था। परन्तु "तदशिष्यं सञ्ज्ञाप्रमाणत्वात्" इत्यादि निर्देशसे वह निषेध अनित्य है, अत समास हुआ। व्यलोकयत् = वि + लोकृ + णिच् + लङ् + तिप्। इस पद्यमे मञ्जुलत्वरूप एक गुणके साथ प्रसून और फल इन पदार्थोका अभिसम्बन्ध होनेसे तुल्ययोगिता अलङ्कार है। उसका लक्षण है—

"पदार्थाना प्रस्तुतानामन्येषा वा यदा भवेत्।
एकधर्माऽभिसम्बन्ध स्यात्तदा तुल्ययोगिता॥" सा० द० १०—६६।

फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते।
स्थितैः समाधाय महर्षिवार्द्धकाद्वने तदातिथ्यमशिक्षि शाखिभिः॥ ७७॥

अन्वय.—वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते पल्लवे करे फलानि पुष्पाणि च समाधाय स्थितै. वने शाखिभिः महर्षिवार्द्धकात् तदातिथ्यम् अशिक्षि॥ ७७॥

व्याख्या—वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते=पक्षिपातोत्पन्नवायुकम्पिते, महर्षिपक्षे—बाल्याद्यवस्थाऽपगमोत्पन्नवातदोषकम्पिते, पल्लवे करे=किसलये एव पाणौ, महर्षिपक्षे—पल्लवे = किसलये इव कोमल इति भाव, करे=पाणौ, फलानि= सस्यानि, पुष्पाणि च = कुसुमानि च, समाधाय=निधाय, स्थितै.=तिष्ठद्भिः, कने=उपवने, शाखिभि.=वृक्षै, वेदशाखाऽध्यायिभिश्च, महर्षिवार्द्धकात् = वृद्धमहर्षिसङ्घात्, तदातिथ्य=नलाऽतिथिसत्कारः, अशिक्षि=शिक्षितम्, नो चेत्कथ-मिदमाचरितमिति भाव॥ ७७॥

अनुवादः—बाल्य आदि अवस्थाके बीतनेसे उत्पन्न वात दोषसे कम्पित पल्लवके समान हाथमे फलो और फूलोको लेकर रहनेवाले वेदशाखाका अध्ययन वरनेवाले बूढे महर्षियोके समान वनमे पक्षियोके उडनेसे उत्पन्न हवासे हिलते हुए पल्लवरूप हाथमे फलो और फूलोको लेकर रहनेवाले वृक्षोने बूढे महर्षियोसे राजाके आतिथ्यको सीखा॥ ७७॥

टिप्पणी—वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते = वयस अतिपात. (ष० त०), "खगबाल्यादिनोर्वय." इत्यमर.। वयोतिपातेन उद्गत. (तृ० त०), स चाऽसौ वातः (क० धा०) तेन वेपित, तस्मिन् (तृ० त०)। महर्षिपक्षमे "पल्लवे" यहाँपर पल्लव सदृशमे लक्षणा है। वृक्षपक्षमे "पल्लवे एव करे" इस प्रकार व्यस्तरूपक है। समाधाय=सम् + आङ् + धा + क्त्वा (ल्यप्)। शाखिभि. = शाखा (महर्षि-पक्षमे वेदशाखा) सन्ति येषा ते, तै "व्रीह्यादिभ्यश्च" इस

सूत्रसे इनि प्रत्यय। महर्षिवार्द्धकात्=महान्तश्च ते ऋषयः महर्षय, "सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टा पूज्यमानै" इस सूत्रसे समास और "आन्महत समानाधिकरणजातीययो" इससे आत्व और अर् गुण। वृद्धाना समूहो वार्द्धकम्, 'वृद्ध' शब्दसे "वृद्धाच्चेति वक्तव्यम्" इस वार्तिकसे वुञ् प्रत्यय। महर्षीणा वार्द्धक, तस्मात् (ष० त०), सामर्थ्यसे वृत्तिके अन्तर्गत 'वृद्ध' शब्दका अन्वय होकर "शिवभागवत" पदके समान समास हुआ है। "आख्यातोपयोगे" इसमे अपादानसज्ञा होकर पञ्चमी। तदातिथ्यम्=अतिथये इदम् आतिथ्यम्, 'अतिथि' शब्दसे "अतिथेर्ञ्य" इस सूत्रसे ञ्य प्रत्यय। तस्य आतिथ्यम् (ष० त०)। अशिक्षि= "शिक्ष विद्योपादाने" धातुसे कर्ममे लुङ्+त। इस पद्यमे "पल्लवे करे" यहाँपर व्यस्तरूपक, श्लेष और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा इनका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है॥ ७७॥

विनिद्रपत्त्राऽऽलिगताऽलिकैतवान्मृगाऽङ्कचूडामणिवर्जनार्ऽजितम्।
दधानमाशासु चरिष्णु दुर्यशः स कौतुकी तत्र ददर्श केतकम्॥ ७८॥

अन्वयः—कौतुकी स तत्र विनिद्रपत्त्राऽऽलिगताऽलिकैतवात् मृगाऽङ्कचूडामणिवर्जनार्ऽजितम् आशासु चरिष्णु दुर्यश दधान केतक ददर्श॥ ७८॥

व्याख्या—कौतुकी=कुतूहली, आरामदर्शन इति शेष। स=नल., तत्र=उपवने, विनिद्रपत्त्राऽऽलिगताऽलिकैतवात्=विकसिदलपङ्क्तिस्थितभ्रमरच्छलात्, मृगाऽङ्कचूडामणिवर्जनार्ऽजित=शिवपरिहारोपार्जितम्, आशासु=दिशासु, चरिष्णु =सचरणशील दुर्यश.=अपकीर्ति, दधान=धारयन्, केतकं=केतकी कुसुम, **ददर्श=दृष्टवान्॥ ७८॥**

अनुवादः—उपवन देखनेके लिए कुतूहल रखनेवाले नलने वहाँपर विकसित पत्तोकी पङ्क्तिमे स्थित भ्रमरके छलसे शिवजीके छोडनेसे उपार्जित तथा दिशाओंमें सञ्चरणशील अपकीर्तिको धारण करते हुए केतकी पुष्पको देखा॥ ७८॥

टिप्पणी—कौतुकी=कौतुकम् अस्याऽस्तीति, "अतइनिठनौ" इस सूत्रसे इनि प्रत्यय, कौतुक+इनि। विनिद्रपत्त्राऽऽलिगताऽलिकैतवात्=पत्त्राणाम् आलि (ष० त०)। विनिद्रा चाऽसौ पत्त्राऽऽलि (क० धा०)। विनिद्रपत्त्रालिगता (द्वि० त०)। ते च ते अलय (क० धा०)। विनिद्रपत्त्राऽऽलिगतालीनां कैतवं, तस्मात् (ष० त०)। मृगाऽङ्कचूडामणिवर्जनार्ऽजित=मृग अङ्क यस्य स (बहु०)। चूडाया मणि (ष० त०)। मृगाङ्क चूडामणिः यस्य सः (बहु०), शिव इत्यर्थः। मृगाऽङ्कचूडामणिना वर्जनम् (तृ० त०)। तेन

अर्जितम् (तृ० त०) तत् । चरिष्णु=चरणशील तत्, 'चर' धातुसे "अलङ्कृञ्निराकृञ्प्रजनोत्पचोत्पतोन्मदरुच्यपत्रपवृतुवृधुसहचर इष्णुच्" इससे इष्णुच् । दुर्यशः= दुष्ट यश, तत् 'कुगतिप्रादय" इस सूत्रसे समास। केतक=केतक्या विकारः (पुष्पम्) इति केतक, तत् । 'केतकी' शब्दसे "तस्य विकार" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय, उसका "पुष्पमूलेषु बहुलम्" इससे लुक् और "लुक् तद्धितलुकि" इससे स्त्रीप्रत्ययका लुक् । ददर्श=दृश्+लिट्+तिप् ।

पूर्वकालमे ब्रह्मा और विष्णुके श्रेष्ठत्वके विषयमे विवाद होनेपर शिवलिङ्ग प्रकट हुआ और "इसका ऊर्ध्वभाग और अधोभाग जो देख सके वह श्रेष्ठ है" ऐसी आकाशवाणीके होनेपर ब्रह्मा ऊपर और विष्णु नीचे गये। विष्णु शिवलिङ्गका पार न पाकर लौट गये, परन्तु ब्रह्माजीने पार न पाकर भी मैने पार पाया कहकर केतकी पुष्पको साक्षी बनाया । तब मिथ्याभाषणके कारण शिवजीने केतकीका वर्जन किया, अतएव "न केतक्या सदाशिवम्" ऐसे निषेधवचनका उद्गम हुआ, ऐसी पौराणिक प्रसिद्धि है । इस पद्यमे "अलिकैतवात्" इस पदमे अलित्वका अपह्नव कर उसमे दुर्यशस्त्वका स्थापन करनेसे कैतवाऽपह्नुति अलङ्कार और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा हे । उन दोनोकी ससृष्टि है ॥ ७८ ॥

वियोगभाजा हृदि कण्टकै. कटुर्निधीयसे कर्णिशरः स्मरेण यत् ।
ततो दुराकर्षतया तदन्तकृद्विगीयसे मन्मथदेहदाहिना ॥ ७९ ॥

अन्वयः—(हे केतक !) यत् (त्वम्) स्मरेण वियोगभाजा हृदि कण्टकैः कटु कर्णिशर (सन्) निधीयसे, ततो दुराकर्षतया तदन्तकृत् (सन्) मन्मथदेहदाहिना विगीयसे ॥ ७९ ॥

व्याख्या—अथ नल कामोद्दीपकत्वात्त्रिभि केतकमुपालभते वियोगभाजामिति । (हे केतक !) यत्=यस्मात्कारणात् (त्वम्), स्मरेण=कामदेवेन, वियोगभाजा = विरहिणा जनाना, हृदि = वक्ष स्थले, कण्टकै = निजतीक्ष्णाऽवयवै", कटु.=तीक्ष्ण', कर्णिशर =प्रतिलोमशल्यवद्बाण सन्, निधीयसे=निक्षिप्यसे, ततः= तस्मात्कारणात्, दुराकर्षतया = दुरुद्धारतया, तदन्तकृत् = वियोगिनाशकारी सन्, मन्मथदेहदाहिना = स्मरहरेण, विगीयसे = निन्द्यसे, अत एव परिह्रियसेऽपीति शेष ॥ ७९ ॥

अनुवाद—हे केतकीपुष्प ! जो तुम कामदेवसे वियोगियोके हृदयमे कॉटोसे तीक्ष्ण और नुकीला बासावाला होकर रक्खे जाते हो, दु खसे निकाला जानेवाला होकर वियोगियोका प्राण लेनेसे महादेव तुम्हारी निन्दा करते है ॥ ७९ ॥

टिप्पणी—वियोगभाजा=वियोगं भजन्तीति वियोगभाज, तेषाम् वियोग–उपपदपूर्वक भज धातुसे "भजो ण्वि" इस सूत्रसे ण्विप्रत्यय (उपपद०)। कर्णिशर=कर्ण इव कर्ण, स अस्या-स्तीति कर्णी, कर्ण+इनि। कर्णी चाऽसौ शरः (क० धा०)। निधीयसे=नि–उपसर्गपूर्वक धा धातुसे कर्ममे लट्। दुराकर्षतया=दु खेन आक्रष्टु शक्य दुराकर्ष, दुर+आङ्+कृष्+खल् (उपपद०)। तस्य भाव तत्ता, तया, दुराकर्ष+तल्+टाप्+टा। तदन्तकृन्=तेषाम् अन्तः (ष० त०)। तदन्तं करोतीति, तदन्त+कृ+क्विप् (उपपद०)। विगीयसे=वि–उपसर्गपूर्वक गै धातुसे लट् (कर्ममे) थास् (से)। द्वेष्य कामदेवके समान द्वेष्यका साधन भी असह्य होता है, वह भी हिंसाशील हो तो क्या कहना है? यह तात्पर्य है। शिवजीसे की गयी कामनिन्दामे कामदेवसे की गयी वियोगि-हिंसाकी कारणताकी उत्प्रेक्षा व्यङ्ग्य होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा और केतकी पुष्पमे कर्णि-शरत्वका आरोप होनेसे रूपक अलङ्कार, इस प्रकार सङ्कर अलङ्कार है॥ ७९॥

त्वदग्रसूचीसचिवः स कामिनोर्मनोभवः सीव्यति दुर्यश.पटौ।
स्फुटं च पत्त्रैः करपत्त्रमूर्तिभिर्वियोगहृद्दारुणि दारुणायते॥ ८०॥

अन्वय—त्वदग्रसूचीसचिव स मनोभव कामिनो दुर्यश पटो सीव्यति। च करपत्त्रमूर्तिभि पत्त्रै वियोगिहृद्दारुणि दारुणायते॥ ८०॥

व्याख्या—(हे केतक!) त्वदग्रसूचीसचिव=त्वन्मूलसीवनीसहकारी, स=प्रसिद्ध, मनोभव=कामदेव, कामिनो=तरुणदम्पत्यो, दुर्यश पटौ=अपकीर्ति-वस्त्रे, सीव्यति=योजयति, कण्टकस्यूत करोतीति भाव। च=किञ्च, करपत्त्र-मूर्तिभिः=क्रकचाकारै, पत्त्रै=दलै, वियोगिहृद्दारुणि=विरहिवक्ष काष्ठे, दारु-णायते=भीषणवत् आचरति॥ ८०॥

अनुवाद—(हे केतकीपुष्प!) तुम्हारी नोकरूप सुईकी सहायतासे कामदेव तरुण दम्पतियोके अपकीर्तिरूप वस्त्रको सीता है और आरेके समान आकारवाले पत्तोंसे वियोगियोके वक्ष स्थलरूप काष्ठमे भयङ्कर आचरण करता है॥ ८०॥

टिप्पणी—त्वदग्रसूचीसचिव.=तव अग्राणि त्वदग्राणि (ष० त०), युष्मद् शब्दके स्थानमे "प्रत्ययोत्तरपदयोश्च" इस सूत्रसे उत्तरपदके परे रहते "त्वद्" आदेश हुआ है। त्वदग्राणि एव एव सूच्य (रूपकम्)। त्वदग्रसूच्य एव सचिवा यस्य स (बहु०)। मनोभव=मनसि भवतीति, मनस्+भू+अच्। कामिनोः=कामिनी च कामी च कामिनौ, तयो, "पुमान् स्त्रिया" इस सूत्रसे एकशेष। दुर्यशःपटौ=दुष्टे यशसी (गति०), ते एव पटौ, तौ (रूपक०)। सीव्यति=

"षिवु तन्तुसन्ताने" धातुसे लट्+तिप्। "हलि च" इससे दीर्घ। करपत्र-मूर्तिभि=करपत्रस्य इव मूर्तिर्येषां तानि करपत्रमूर्तीनि, तै (व्यधिकरण-बहु०)। "क्रकचोऽस्त्री करपत्रम्" इत्यमर। वियोगिहृद्दारुणि = वियोगिन. हृत् (ष० त०)। वियोगिहृत् एव दारु, तस्मिन् (रूपक०)। "काष्ठ दार्विन्धनं त्वेध इध्ममेध. समित्स्त्रियाम्।" दारुणायते=दारुणवत् आचरति, 'दारुण' शब्दसे "कर्तु क्यङ् सलोपश्च" इससे क्यङ्+लट्+त। इस पद्यमे रूपक और उपमाका ससृष्टि अलङ्कार है॥ ८०॥

धनुर्मधुस्विन्नकरोऽपि भीमजापरं परागैस्तव धूलिहस्तयन्।
प्रसूनधन्वा शरसात्करोति मामिति क्रुधाऽऽक्रुश्यत तेन केतकम्॥ ८१॥

अन्वयः—(हे केतक!) "प्रसूनधन्वा धनुर्मधुस्विन्नकरः अपि तव परागैः धूलिहस्तयन् भीमजापर मा शरसात् करोति", इति तेन क्रुधा केतकम् आक्रुश्यत॥ ८१॥

व्याख्या—(हे केतक!) प्रसूनधन्वा=पुष्पचाप, काम इति भाव। धनुर्मधुस्विन्नकर अपि = कार्मुक (पुष्प) मकरन्दार्द्रपाणि सन् अपि, तव=केतकीपुष्पस्य, परागै=रजोभि, धूलिहस्तयन् = धूलिहस्तम् आत्मान कुर्वन्, अन्यथा धनु स्त्रसनादिति भाव, भीमजापर = दमयन्त्यासक्त, मा = नल, शरसात् = शराऽधीन, करोति = विदधाति, इति= इत्थ, श्लोकत्रयोक्त्या इति भाव। तेन= नलेन, क्रुधा = क्रोधेन, केतक = केतकीपुष्पम्, आक्रुश्यत = आक्रुष्ट, निन्दित-मिति भाव॥ ८१॥

अनुवादः—("हे केतकीपुष्प!) पुष्परूप धनुको लेनेवाला कामदेव पुष्परूप धनुके मकरन्द (रस) से आर्द्रपाणि होकर भी तेरे परागसे हाथको धूलियुक्त करता हुआ दमयन्तीमे आसक्त मुझको बाणका लक्ष्य बनाता है" इस प्रकारसे (तीन श्लोकोकी उक्तिसे) नलने केतकीपुष्पकी निन्दा की॥ ८१॥

टिप्पणी—प्रसूनधन्वा=प्रसून धन्व यस्य स (बहु०)। "धनुश्चापौ धन्व शरासनकोदण्डकार्मुकम्।" इत्यमर। अथवा प्रसूनं धनु. यस्य स (बहु०), "धनुषश्च" इस सूत्रसे विकल्पसे अनङ्। "पुष्पधन्वा रतिपति इत्यमरः। धनुर्मधुस्विन्नकर =धनुष मधु (ष० त०), "मधु मद्ये पुष्परसे क्षौद्रेऽपि" इत्यमरः। स्विन्नः कर. यस्य स (बहु०)। धनुर्मधुना स्विन्नकरः (तृ० त०)। परागै= "परागः सुमनोरज" इत्यमर। धूलिहस्तयन्=धूलियुक्तो हस्त. धूलिहस्तः, "शाकपार्थिवादीनां सिद्धय उत्तरपदलोपस्योपसख्यानम्" इस वार्तिकसे मध्यमपद-

लोपी समास । धूलिहस्तं कुर्वन् धूलिहस्तयन्, "धूलिहस्त" शब्दसे "तत्करोति तदाचष्टे" इससे णिच् होकर लट्के स्थानमे शतृ आदेश । भीमजापर = भीमाज्जाता भीमजा, भीम + जन् + ड + टाप् । भीमजायां पर, तम् (स० त०) । शरसात्=शराःधीनम्, "शर" शब्दसे "तदधीनवचने" इस सूत्रसे साति प्रत्यय । करोति = कृ + लट् + तिप् । क्रुधा="कोपक्रोधाऽमर्षरोषप्रतिघा रुट्क्रुधौ स्त्रियौ" इत्यमर । आक्रुश्यत = आङ्–उपसर्गपूर्वक "क्रुश आह्वाने रोदने च" धातुसे कर्ममे लङ् + त । इस पद्यमे कामका धनु (फूल) के रससे आर्द्र हाथ होनेका, केतकीके रजवाला हाथ होनेका और नलकर्तृक कामनिन्दाका भी सम्बन्ध न होनेपर भी तत्तत्सम्बन्धकी उक्ति होनेसे तीन अतिशयोक्ति अलङ्कारोकी संसृष्टि है ।। ८१ ।।

विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताऽऽप्तये घटानिवाऽपश्यदल तपस्यतः ।
फलानि धूमस्य धयानधोमुखान् स दाडिमे दोहदधूपिनि द्रुमे ॥ ८२ ॥

अन्वयः—स दोहदधूपिनि दाडिमे द्रुमे विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताऽऽप्तये अल तपस्यत धूमस्य धयान् अधोमुखान् घटान् इव फलानि अपश्यत् ॥ ८२ ॥

व्याख्या—स = नल , दोहदधूपिनि = फलवर्द्धकदोहदधूपयुक्ते, दाडिमे= करके, द्रुमे = वृक्षे, विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताप्तये = दमयन्तीपयोधरोन्नतता लाभाय, अलम् = अत्यर्थं, तपस्यत = तपश्चरत अत धूमस्य = दोहदधूमस्य, धयान् = पातॄन्, पानकारिण इत्यर्थं , अधोमुखान् = अवनतवदनान्, घटान् इव = कुम्भान् इव, फलानि = दाडिमफलानि, अपश्यत् = दृष्टवान्, उन्नतिलाभार्थमन्येऽपि अधोमुखत्वेन धूम पीत्वा तपश्चरन्तीति भाव ॥ ८२ ॥

अनुवाद—नलने (फलादिवर्द्धक) दोहदधूपवाले अनारके पेडमें दमयन्तीके पयोधरोकी ऊँचाई पानेके लिए अत्यन्त तपस्या करते हुए और धूमको पीनेवाले अधोमुख घटोके समान फलोको देखा ।। ८२ ।।

टिप्पणी—दोहदधूपिनि = दोहदश्चाऽसौ धूपः (क० धा०) । वृक्ष, गुल्म और लताओमे फूल और फल उत्पन्न होनेके समयसे पूर्व ही फूल और फलोके उत्पादनके लिए जिस द्रव्यका उपयोग किया जाता है उसे "दोहद" कहते हैं । जैसे कि—

"तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम् ।
पुष्पाद्युत्पादक द्रव्य दोहद स्यात्तु तत्क्रिया ।।" (शब्दार्णव) ।

दोहदधूप अस्याऽस्तीति दोहदधूपी, तस्मिन् (दोहदधूप + इनि + ङि) । दाडिमे = "समौ करकदाडिमौ" इत्यमर. । विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताऽऽप्तये = शोभने

भ्रुवौ यस्या. सा सुभ्रू (बहु०), विदर्भेषु सुभ्रू, दमयन्तीत्यर्थः (स० त०), विदर्भसुभ्रुव स्तनौ (ष० त०)। तुङ्गस्य भाव तुङ्गता, तुङ्ग+तल्+टाप। विदर्भसुभ्रूस्तनयो तुङ्गता (ष० त०), तस्या आप्ति, तस्यै (ष० त०), "तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या" इस वार्तिकसे चतुर्थी। तपस्यत=तपश्चरतीति तपस्यन्, तस्य, "तपस्" शब्दसे "कर्मणो रोमन्थतपोभ्या वर्तिचरो', इस सूत्रसे क्यङ् प्रत्यय और "तपस. परस्मैपद च" इससे परस्मैपद होकर लट् (शतृ)+ङस्। धयान्=धयन्तीति धया., तान् "धेट् पाने" धातुसे "पाघ्राध्माधेड्दृश श" इस सूत्रसे श प्रत्यय। अधोमुखान्=अधो मुख येषा ते, तान् (बहु०)। अपश्यत= दृश् (पश्य)+लङ्+तिप्। इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ८२ ॥

वियोगिनीमैक्षत दाडिमीमसौ प्रियस्मृते. स्पष्टमुदीतकण्टकाम्।
फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाऽऽशुगाम् ॥ ८३ ॥

अन्वयः—असौ वियोगिनी प्रियस्मृते स्पष्टम् उदीतकण्टका फलस्तनस्थान-विदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाऽऽशुगा दाडिमीम् ऐक्षत ॥ ८३ ॥

व्याख्या—असौ=नल, वियोगिनी=पक्षियोगिनी, विरहिणी च। प्रियस्मृतेः= प्रीतिकरदोहदादिस्मरणात्, नायकस्मरणाच्च। स्पष्ट=व्यक्तम्, उदीतकण्टकाम्= उत्पन्नतीक्ष्णाग्राऽवयवाम्, उत्पन्नरोमाञ्चा च, फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छु-काऽऽस्यस्मरकिंशुकाऽऽशुगा=दाडिमीफलस्थलस्फुटितरक्तहृदयप्रविशत्कीरमुखकाम-पलाशबाणा, दाडिमी—दाडिमवृक्ष, काचिन्नायिका च, ऐक्षत=अपश्यत् ॥ ८३ ॥

अनुवादः—जिसपर तोता बैठा था, प्रियके स्मरणसे रोमाञ्चसे युक्त वियो-गिनी स्त्रीके समान कण्टकयुक्त, नायिकाके फलसदृश स्तनोके भीतर अनुरागयुक्त विदीर्ण हृदयमे प्रविष्ट कामदेवके पलाशपुष्परूप बाणके सदृश जिसके विदीर्ण लाल फलमे प्रविष्ट तोतेकी चोच दिखाई पडती थी ऐसी दाडिमी (अनारके पेड) को राजा नलने देखा ॥ ८३ ॥

टिप्पणी—वियोगिनी=वियोग अस्या अस्तीति वियोगिनी, ताम्, वियोग+ इनि+ङीप्। दाडिमी (दाडिम वृक्ष) मे यह व्युत्पत्ति है। विना (पक्षिणा) योगिनी (संयुक्ता) (तृ० त०) विरहिणी स्त्रीमे यह व्युत्पत्ति है। प्रियस्मृते= प्रियस्य (कान्तस्य, प्रीतिकारकदोहदादेर्वा) स्मृति, तस्या (ष० त०)। उदीतकण्टकाम्=उदीयन्ते स्म इति उदीता, उद्—उपसर्गपूर्वक "ईङ् गतौ" इस दिवादि धातुसे कर्ताके अर्थमे क्त प्रत्यय। उदीता कण्टकाः (रोमाञ्चा., तीक्ष्णाऽ-ग्रावयवाः वा) यस्याः सा उदीतकण्टका, ताम् (बहु०)। फलस्तनस्थान-

विदीर्णरागिहृद्विशच्छुकाऽऽस्यस्मरकिंशुकाऽऽशुगा = फलानि एव स्तनौ (रूपक०), तौ एव स्थानम् (रूपक०)। तस्मिन् विदीर्णम् (स० त०)। दाडिमी (अनार) के पक्षमे पकनेसे विदीर्ण, नायिकाके पक्षमे विरहके तापसे विदीर्ण। राग. अस्याऽस्तीति रागि (राग+इनि)। दाडिमी फलके पक्षमे राग (लाल वर्ण) वाला, नायिकाके पक्षमे अनुरागवाला। फलस्तनस्थानविदीर्णरागि च तत् हृत् (क० धा०)। दाडिमी पक्षमे हृत्=मध्य भाग, नायिका पक्षमे—हृदय प्रदेश। शुकस्य आस्यम् (ष० त०)। किंशुकम् एव आशुगः (रूपक०)। स्मरस्य किंशुकाऽऽशुग. (ष० त०)। विशति इति विशत्, विश+लट् (शतृ)। विशच्च तत् शुकास्यम् (क० धा०)। अनारका बीज खानेके लिए घुसता हुआ यह तात्पर्य है। फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृदि विशच्छुकास्यम् (स० त०) स्मरस्य किंशुकाऽऽशुग (ष० त०)। फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यम् एव स्मरकिंशुकाऽऽशुग यस्या सा, ताम् (बहु०)। इस पद्यमे श्लिष्ट एकदेश-विवर्ति रूपक अलङ्कार है ॥ ८३ ॥

स्मराऽर्धचन्द्रेषुनिभे क्रशीयसां स्फुटं पलाशेऽध्वजुषां पलाऽशनात्।
स वृन्तमालोकत खण्डमन्वितं वियोगिहृत्खण्डिनि कालखण्डजम् ॥ ८४ ॥

अन्वयः—स स्मराऽर्द्धचन्द्रेषुनिभे वियोगिहृत्खण्डिनि क्रशीयसाम् अध्वजुषा पलाऽशनात् स्फुटं पलाशे अन्वित वृन्त कालखण्डज खण्डम् आलोकत ॥ ८४ ॥

व्याख्या—नल =नैषध , स्मरार्धचन्द्रेषुनिभे = कामाऽर्धचन्द्राकारबाणसदृशे, वियोगिहृत्खण्डिनि = विरहिहृदयच्छेदिनि, क्रशीयसा=कृशतराणाम्, अध्वजुषा = पान्थानां, पलाशनात् = मासभक्षणात्, स्फुट = प्रकटम् एव, पलाशे = अन्वर्थके पलाशे, किंशुकपुष्पे। अन्वित = सम्बद्धं, वृन्त = प्रसवबन्धन तदेव कालखण्डजं खण्डं = यकृत्खण्डम्, कृष्णवर्णत्वादिति भावः। आलोकत = दृष्टवान् ॥ ८४ ॥

अनुवादः—नलने कामदेवके अर्धचन्द्राकार बाणके सदृश, विरही जनोंके हृदयको खण्डित करनेवाले और प्रियावियोगसे अत्यन्त दुर्बल पथिकोंके पल-(मास) को भक्षण करनेसे अन्वर्थ पलाशकी कलीमे सम्बद्ध प्रसवबन्धनको कलेजेके टुकडेके समान देखा ॥ ८४ ॥

टिप्पणी—स्मराऽर्धचन्द्रेषुनिभे = अर्धं चन्द्रस्य अर्धचन्द्र', "अर्धं नपुंसकम्" इससे समास.। अर्धचन्द्राकार इषुः अर्धचन्द्रेषु , (मध्यमपदलोपी समास)। स्मरस्य अर्धचन्द्रेषुः (ष० त०)। स्मराऽर्धचन्द्रेषुणा सदृश स्मराऽर्धचन्द्रेषुनिभम्

तस्मिन् (तृ० त०) । नित्यसमास होनेसे अस्वपद विग्रह । "स्युरुत्तरपदेत्वमी । निभसङ्काशनीकाशप्रतीकाशोपमादय ।" इत्यमरः । यह "पलाशे" इस पदका विशेषण है । वियोगिहृत्खण्डिनि = वियोग अस्ति येषा ते वियोगिन , वियोग + इनि । वियोगिना हृत् (ष० त०) । तत्खण्डयतीति वियोगिहृत्खण्डि, तस्मिन्, वियोगिहृत् + खडि + णिनि + ङि । यह भी "पलाश" का विशेषण है । क्रशीयसाम्=अतिशयेन कृशा. क्रशीयास , तेषाम्, "कृश" शब्दसे "द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ" इस सूत्रसे ईयसुन् प्रत्यय और "र ऋतो हलादेर्लघो." इस सूत्रसे 'ऋ' के स्थानमे "र" आदेश । अध्वजुषाम् = अध्वान जुषन्ते इति अध्वजुषः, तेषाम्, "अध्वन्" उपपदपूर्वक "जुषी प्रीतिसेवनयो " धातुसे क्विप् (उपपद०) । पलाऽशनात्=पलस्य अशन, तस्मात् (ष० त०) । "पलमुन्मानमांसयोः" इति हैम. । अन्वितम्=अनु + इण् + क्त । वृन्त = "वृन्त प्रसवबन्धनम्" इत्यमर । कालखण्डज=कालखण्डात् जात, तत्, कालखण्ड + जन् + ड । "कालखण्डयकृती तु समे इमे" इत्यमर. । हिन्दीमे कालखण्डको "कलेजा" कहते है । आलोकत = आङ्–उपसर्गपूर्वक "लोकृ दर्शने" धातुसे लङ् + त । इस पद्यमे "स्मरार्धचन्द्रेषुनिभे" यहाँपर उपमा और "कालखण्डज खण्डम्" यहाँपर इव आदि उत्प्रेक्षावाचक शब्दके न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा इस प्रकार दो अलङ्कारोकी ससृष्टि है ॥ ८४ ॥

नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मकरन्दशीकरैः ।
दृशा नृपेण स्मितशोभिकुड्मला दराऽऽदराभ्यां दरकम्पिनी पपे ॥ ८५ ॥

अन्वय—गन्धवहेन चुम्बिता मकरन्दशीकरै करम्बिताऽङ्गी स्मितशोभिकुड्मला दरकम्पिनी नवा लता नृपेण दराऽऽदराभ्या दृशा पपे ॥ ८५ ॥

व्याख्या—गन्धवहेन = वायुना, चन्दनाद्यनुलिप्तेन पुरुषेण च, चुम्बिता = स्पृष्टा, कृतमुखसयोगा च, मकरन्दशीकरै =पुष्परसकणै , करम्बिताऽङ्गी = मिश्रिता-वयवा, कस्यचित्पुरुषस्य स्पर्शेन स्वेदयुक्ताऽङ्गी च । स्मितशोभिकुड्मला= विकासरम्यमुकुला, मधुरहासमनोहरदशनमुकुला च, दरकम्पिनी = वातस्पर्शात् ईषत्कम्पिनी, पुरुषस्पर्शात्सात्त्विककम्पयुक्ता च, नवा = नूतना, लता = वल्ली, लतासदृशी कान्ता च, नृपेण=नलेन, दराऽऽदराभ्या = भयतृष्णाभ्याम्, उपलक्षितेन सता, कामोद्दीपनाद्भयं प्रियासादृश्यात् आदरश्चेति भाव । दृशा = नेत्रेण करणेन, पपे=पीता, लालसया अवलोकितेति भावः ॥ ८५ ॥

अनुवादः—चन्दन आदिसे अनुलिप्त किसी पुरुषसे चुम्बित, पुरुषके स्पर्शसे

स्वेदयुक्त शरीरवाली, मन्द हास्यसे मुकुलके समान दन्तोवाली और पुरुषके स्पर्शसे कुछ कम्पसे युक्त किसी नायिकाकी समान वायुसे स्पृष्ट, पुष्परसोसे मिश्रित अवयवोवाली मन्दहास्योके समान कोपलोसे शोभित होनेवाली और हवासे कुछ हिलनेवाली नयी लताको राजा नलने भय और आदरके साथ नेत्रोसे पान किया (इच्छापूर्वक देख लिया) ॥ ८५ ॥

टिप्पणी—गन्धवहेन = गन्ध वहतीति गन्धवह, तेन गन्ध + वह + अच् (उपपद०) । "पृषदश्वो गन्धवहो गन्धवाहाऽनिलाऽऽशुगा ।" इत्यमर. । समासोक्ति अलङ्कार होनेसे प्रस्तुत गन्धवह आदि शब्दोसे अप्रस्तुत नायक आदि अर्थ भी प्रतीत होते है । चुम्बिता=चुबि + क्त (कर्ममे) + टाप । मकरन्दशीकरैः= मकरन्दस्य शीकरा , तै (प० त०) । "मकरन्द पुष्परस " इति "शीकरोऽम्बुकणा स्मृता." इति चाऽमर. । करम्बिताऽङ्गी=करम्बितानि अङ्गानि यस्या सा (बहु०), "अङ्गगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्" इससे ङीष् । "करम्बित मिश्रिते स्यात् खचिते च" इति त्रिकाण्डशेष । स्मितशोभिकुड्मला = स्मितवत् शोभन्ते इति स्मितशोभिन , स्मित + शुभ् + णिनि (उपपद०) स्मितशोभिन कुड्मला यस्या सा (बहु०), कुड्मल शब्दका अप्रस्तुत अर्थ दन्त है । दरकम्पिनी = दरम् (ईषत्) कम्पते तच्छीला दर + कपि + णिनि + ङीप् । प्रस्तुत लताके पक्षमे हवासे कुछ हिलनेवाली और अप्रस्तुत नायिकापक्षमे नायकके स्पर्शसे सात्त्विक कम्पवाली ऐसा तात्पर्य होता है । दराऽऽदराभ्यां = दर च आदरश्च दराऽऽदरौ, ताभ्याम् (द्वन्द्व.) । "इत्थभूतलक्षणे" इससे तृतीया । "दरोऽस्त्री शङ्खभीगर्तेष्वल्पाऽर्थे त्वव्ययम्" इति वैजयन्ती । उद्दीपक होनेसे डर और प्रिया दमयन्तीके सादृश्यसे आदरसे युक्त राजाने लालसापूर्वक लताको देखा यह तात्पर्य है । पपे = पा + लिट् (कर्मणि) । इस पद्यमे श्लिष्ट विशेषणसाम्यसे, लिङ्गसाम्यसे और कार्यसाम्यसे भी प्रस्तुत लतामे अप्रस्तुत नायिकाके व्यवहारसाम्यसे समासोक्ति अलङ्कार है ॥ ८५ ॥

विचिन्वतीः पान्थपतङ्गहिंसनैरपुण्यकर्माण्यलिकज्जलच्छलात् ।
व्यलोकयच्चम्पककोरकावली. स शम्बराऽरेर्बलिदीपिका इव ॥ ८६ ॥

अन्वयः—सः अलिकज्जलच्छलात् पान्थपतङ्गहिंसनै. अपुण्यकर्माणि विचिन्वतीः शम्बराऽरे· बलिदीपिका इव चम्पककोरकाऽऽवली व्यलोकयत् ॥ ८६ ॥

व्याख्या—स. नल , अलिकज्जलच्छलात्=भ्रमराऽञ्जनकैतवात्, पान्थपतङ्गहिंसनैः = पथिकपक्षिवधै., अपुण्यकर्माणि=पापक्रियाः, विचिन्वतीः = सगृह्णती ,

हिंसापापकारिणीरित्यर्थः । शम्बरारे=कामदेवस्य, बलिदीपिका इव=पूजाप्रदीपान् इव, चम्पककोरकाऽवली=चम्पकपुष्पकलिकाश्रेणी, व्यलोकयत्=अपश्यत् ॥ ८६ ॥

अनुवादः—नलने भ्रमररूप कज्जलके छलसे पान्थरूप पक्षियोके वधसे पाप कर्मोंको इकट्ठा करती हुई, कामदेवकी पूजाके प्रदीपोके समान चम्पक पुष्पोकी कलियोको देखा ॥ ८६ ॥

टिप्पणी— अलिकज्जलच्छलात्=अलय कज्जलानि इव अलिकज्जलानि, "उपमित व्याघ्रादिभि सामान्या-प्रयोगे" इससे समास। अलिकज्जलाना छल, तस्मात् (ष० त०)। पान्थपतङ्गहिंसनै=पन्थान नित्य गच्छन्तीति पान्था, पथिन् शब्दसे "पन्थो ण नित्यम्" इस सूत्रसे ण प्रत्यय, पन्थ आदेश और आदि वृद्धि, "अध्वनीनोऽध्वगोऽध्वन्य पान्थ पथिक इत्यपि।" इत्यमर। पान्था एव पतङ्गा (रूपक०)। "पतङ्गौ पक्षिसूर्यौ च" इत्यमर। पान्थपतङ्गाना हिंसनानि, तै (ष० त०)। अपुण्यकर्माणि=पुण्यानि च तानि कर्माणि (क० धा०)। न पुण्यकर्माणि, तानि (नञ्०)। विचिन्वती=विचिन्वन्तीति विचिन्वन्त्य ता- वि+चिञ्+लट (शतृ)+ङीप्+शस्। शम्बराऽरे=शम्बरस्य अरि, तस्य (ष० त०)। "शम्बराऽरिर्मनसिज। इत्यमर। बलिदीपिका=बले दीपिका, ता (ष० त०)। चम्पककोरकाऽऽवली=कोरकाणाम् आवल्य (ष० त०)। चम्प- काना कोरकावल्य, ता (ष० त०)। व्यलोकयत्=वि+लोक+णिच्+लङ्+ तिप्। इस पद्यमे रूपक कैतवाऽपह्नुति, उत्प्रेक्षा और उपमा इनका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ८६ ॥

अमन्यताऽसौ कुसुमेषुगर्भज परागमन्धङ्करण वियोगिनाम्।
स्मरेण मुक्तेषु पुरा पुराऽरये तदङ्गभस्मेव शरेषु सङ्गतम् ॥ ८७ ॥

अन्वयः— अय कुसुमेषुगर्भज वियोगिनाम् अन्धङ्करण पराग पुरा स्मरेण पुराऽरये मुक्तेषु शरेषु सङ्गत तदङ्गभस्म इव अमन्यत ॥ ८७ ॥

व्याख्या—असौ=नल, कुसुमेषुगर्भज=पुष्परूपबाणाऽभ्यन्तरजात, "कुसुमेषु गर्भगम्" इति पाठान्तरे कुसुमेषु=पुष्पेषु, गर्भगम्=अन्त स्थितमित्यर्थः। वियो- गिना=विरहिणाम, अन्धङ्करण=नेत्रोपघातक, पराग=सुमनोरज, पुरा=पूर्वं, स्मरेण=कामदेवेन, पुराऽरये = शिवाय, मुक्तेषु = निक्षिप्तेषु, शरेषु = बाणेषु, सङ्गत = ससक्त, तदङ्गभस्म इव = पुरार्यवयवभसितम् इव, अमन्यत = उत्प्रे- क्षितवान् ॥ ८७ ॥

अनुवाद —राजाने फूलोके भीतर रहे हुए, विरहियोको अन्धा करानेवाले

परागको पूर्वकालमे कामदेवसे महादेवको लक्ष्य कर छोडे हुए पुष्परूप बाणोमे लगा हुआ महादेवके अङ्गमे ससक्त भस्मके समान जाना ॥ ८७ ॥

टिप्पणी—कुसुमेषुगर्भज=कुसुमानि एव इषव (रूपक०)। गर्भे जात: गर्भज, गर्भ+जन्+ड (उपपद०)। कुसुमेषूणा गर्भज, तम् (ष० त०)। अन्धङ्करणम्=अनन्धान् अन्धान् कुर्वन्ति अनेन इति, अन्ध—उपपदपूर्वक 'कृ' धातुसे "आढ्यसुभगस्थूलपलितनग्नान्धप्रियेषु च्व्यर्थेष्वच्वौ कृञ करणे ख्युन्" इस सूत्रसे ख्युन् प्रत्यय और "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इस सूत्रसे मुम्। पुराऽरये=पुराणाम् अरि, तस्मै (ष० त०)। तदङ्गभस्म=तस्य अङ्ग (ष० त०), तस्मिन् भस्म (स० त०)। इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ८७ ॥

पिकाद्वने शृण्वति भृङ्गहुङ्कृतैर्दशामुदञ्चत्करुणं वियोगिनाम्।
अनास्थया सूनकरप्रसारिणीं ददर्श दून स्थलपद्मिनीं नलः ॥ ८८ ॥

अन्वय—दून नल वने पिकान् भृङ्गहुङ्कृतै वियोगिना दशाम् उदञ्चत्करुणं शृण्वति अनास्थया सूनकरप्रसारिणी स्थलपद्मिनी ददर्श ॥ ८८ ॥

व्याख्या—दून =उपतप्त, दमयन्तीविरहेणेति शेष। नल = नैषध, वने = उपवने श्रोतरि, पिकात्=कोकिलात् वक्तु, सकाशात्, भृङ्गहुङ्कृतै =भ्रमरहुङ्कारै, वियोगिना=विरहिणा, दशाम्=अवस्था, दु खाऽवस्थामित्यर्थ। उदञ्चत्करुणम्= उद्यत्कृपम्, विकसद्वृक्षविशेष च यथा तथा, शृण्वति=आकर्णयति सति, अनास्थया= श्रोतुम् अनिच्छया, सूनकरप्रसारिणी=पुष्परूपहस्तविस्तारिणी, निवारयन्तीम् इव स्थिताम् इति भाव.। स्थलपद्मिनी = स्थलकमलिनी, ददर्श = दृष्टवान्। यथा कस्मिंश्चिज्जने कस्माच्चिज्जनात् विरहिजनाना दु खपूर्णाऽवस्था श्रवणद्योतक-हुङ्कारशब्देन शृण्वति काचित्सहृदया हस्त प्रसार्य निषेधति तथैव उपवने श्रोतरि कोकिलाद्वक्तु भृङ्गहुङ्कारै. वियोगिना दशा साऽनुकम्प शृण्वति सति अनिच्छया पुष्परूपहस्तप्रसारिणी स्थलकमलिनी नलो ददर्शेति भाव ॥ ८८ ॥

अनुवाद.—दमयन्तीके विरहसे सतप्त नलने सुननेवाले उपवनके, वक्ता कोकिलसे भौंरोके हुङ्कारोसे वियोगियोकी दुर्दशाको करुणापूर्वक सुननेपर अनिच्छा से पुष्परूप हाथको फैलाकर (निषेध करनेवालीके समान) स्थलकमलिनीको देखा ॥ ८८ ॥

टिप्पणी—दून ="टुदु उपतापे" धातुसे कर्ताके अर्थमे क्त प्रत्यय और "ल्वादिभ्य." इससे 'त' के स्थानमे 'न'कार और "दुग्वोर्दीर्घश्च" इससे दीर्घत्व। भृङ्गहुङ्कृतै.=भृङ्गाणा हुङ्कृतानि तैः (ष० त०)। उदञ्चत्करुण=उदञ्चन्ती

(उद्यन्ती) करुणा यस्मिन् (कर्मणि) तद् यथा तथा (बहु०)। दूसरे पक्षमे उदञ्चन्त (विकसन्त.) करुणा. (वृक्षविशेषा) यस्मिंस्तद् यथा तथा (बहु०)। जैसे करुणवृक्ष विकसित होते है उस तरह। "करुणस्तु रसे वृक्षे, कृपायां करुणा मता।" इति विश्व.। शृण्वति = श्रु + लट् (शतृ) + ङि। अनास्थया=न आस्था, तया (नञ्०)। सूनकरप्रसारिणी = सूनम् एव कर· (रूपक०)। सूनकर प्रसारयतीति तच्छीला, ताम् सूनकर + प्र + सृ + णिच् + णिनि + ङीप् + अम्। ददर्श=दृश् + लिट् + तिप्। इस पद्यमे स्थलपद्मिनी और वनमे कार्यसे स्त्री और पुरुषके व्यवहारका समारोप होनेसे समासोक्ति अलङ्कार, रूपक और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा इनमे अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है॥ ८८॥

रसालसालः समदृश्यताऽमुना स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः।
समीरलोलैर्मुकुलैर्वियोगिने जनाय दित्सन्निव तर्जनाभियम्॥ ८९॥

अन्वयः—अमुना स्फुरद्द्विरेफाऽऽरवरोषहुङ्कृति समीरलोलै. मुकुलैः वियोगिने जनाय तर्जनाभियं दित्सन् इव रसालसाल समदृश्यत॥ ८९॥

व्याख्या - अमुना=नलेन, स्फुरद्द्विरेफाऽऽरवरोषहुङ्कृति. = सचलद्भ्रमर-झङ्कारकोपहुङ्कार·, समीरलोलै =वायुचञ्चलैः, मुकुलै =कुड्मलै , अङ्गुलिभिरिवेति भाव। वियोगिने = विरहिणे, जनाय = लोकाय, तर्जनाभियं = भर्त्सनाभय, दित्सन् इव = दातुम् इच्छन् इव, रसालसाल· = आम्रवृक्ष , समदृश्यत = सम्यग् दृष्टः॥ ८९॥

अनुवादः—नलने घूमते हुए भौरोके झङ्काररूप क्रोधका हुङ्कारवाला और वायुसे चञ्चल उँगलियोके समान मुकुलोसे वियोगी जनको भर्त्सनके भयको देनेकी इच्छा करते हुएके समान आमके पेडको देखा॥ ८९॥

टिप्पणी—स्फुरद्द्विरेफाऽऽरवरोषहुङ्कृति.=द्वौ रेफौ येषा ते द्विरेफा (बहु०), द्विरेफ शब्द लक्षितलक्षणासे भ्रमरमे दो रेफ होनेसे उसका लक्षक है। "द्विरेफ-पुष्पलिड्भृङ्गषट्पदभ्रमराऽलय।" इत्यमर। स्फुरन्तश्च ते द्विरेफा (क० धा०)। तेषाम् आरव. (ष० त०)। रोषस्य हुङ्कृति (ष० त०)। स्फुरद्द्विरेफारव एव रोषहुङ्कृति यस्य स· (बहु०)। समीरलोलै=समीरेण लोला, तै (तृ० त०)। तर्जनाभियं=तर्जनाया भी., ता (ष० त०), "भीत्रार्थाना भयहेतुः" इससे पञ्चमी होकर "भयभीतभीतिभीभिरिति वाच्यम्" इससे समास। दित्सन्= दातुम् इच्छन्, सन्प्रत्ययाऽन्त 'दा' धातुसे द्वित्व, लट्के स्थानमे शतृ आदेश, "सनि मीमाघुरभलभशकपतपदामच इस्" इससे इस्, "अत्र लोपोऽभ्यासस्य"

इससे अभ्यासका लोप, "स स्यार्धधातुके" इससे सकारके स्थानमे तकार आदेश। रसालसाल: = रसालश्चाऽसौ साल. (क० धा०)। समदृश्यत=स + दृश + लङ् (कर्ममे) + त। इस पद्यमे रूपक और उत्प्रेक्षा, इनका अङ्गाऽङ्गिभावसे सङ्कर है॥ ८९॥

दिने दिने त्व तनुरेधि रेऽधिकं पुन पुनर्मूर्च्छ च मृत्युमृच्छ च।
इतीव पान्थं शपतः पिकान्द्विजान्सखेदमैक्षिष्ट स लोहितेक्षणान्॥ ९०॥

अन्वयः—रे! त्व दिने दिने अधिकं तनु एधि, पुन पुन मूर्च्छ च, मृत्युम् ऋच्छ च" इति पान्थ शपत इव लोहितेक्षणान् पिकान् द्विजान् स सखेदम् ऐक्षिष्ट॥ ९०॥

व्याख्या—रे = हे दीन!, त्व, दिने दिने = प्रतिदिनम्, अधिक = भृश, तनु = कृश, एधि = भव, पुन पुन = भूयो भूय, मूर्च्छ च = मूर्च्छां प्राप्नुहि च, कि बहुना–मृत्यु = मरणम्, ऋच्छ च = गच्छ च, इति = इत्थ, पान्थ = पथिक, शपत इव = आक्रोशत इव, लोहितेक्षणान् = रक्तदृष्टीन्, कोकिलपक्षे स्वभावत, ब्राह्मणपक्षे रोषात् इति बोद्धव्यम्। द्विजान् = पक्षिण, कोकिलान्, पक्षान्तरे ब्राह्मणान्, स = नल, सखेद = विषादपूर्वकम्, ऐक्षिष्ट = दृष्टवान्, स्वस्याऽपि उक्तशङ्कयेति भाव॥ ९०॥

अनुवाद.—"रे पान्थ! तुम प्रतिदिन अधिक कृश बनो, फिर-फिर मूर्च्छित हो जाओ, मृत्युको भी प्राप्त करो" इस प्रकारसे पथिकको शाप देते हुएके समान लाल नेत्रोवाले पक्षियो (कोयलो) को क्रोधसे लाल नेत्रोवाले ब्राह्मणोके समान नलने खेदके साथ देखा॥ ९०॥

टिप्पणी—अधिकम्=यह क्रियाविशेषण है। एधि = "अस भुवि" धातुसे लोट्के 'हि'के स्थानमे "हुझल्भ्यो हेर्धि" इससे "धि" आदेश, "घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च" इससे एत्व और श्नसोरल्लोपः" इससे अकारका लोप। मूर्च्छ= "मूर्छा मोहसमुच्छ्राययो" धातुसे लोट् + सिप्। ऋच्छ=ऋच्छ + लोट + सिप्। पान्थम् = पथिन् (पन्थ) + ण + अम्। यहाँपर ज्ञीप्स्यमानत्व (ज्ञापनमे इष्टत्व) के न होनेसे "श्लाघह्नुङ्स्थाशपा ज्ञीप्स्यमान" इस सूत्रसे सम्प्रदानके न होनेसे द्वितीया। शपत.=शपन्तीति शपन्त, तान् "शप आक्रोशे" धातुसे लट् (शतृ) + शस्। उपालम्भ न होनेसे आत्मनेपद नही हुआ। लोहितेक्षणान् = लोहिते ईक्षणे येषा, तान् (बहु०)। कोकिल स्वभावसे ही और ब्राह्मण कोपसे लाल नेत्रोवाले हैं यह तात्पर्य है। द्विजान् = द्विर्जायन्ते इति द्विजा, तान्। "अन्येष्वपि दृश्यते"

इससे ड प्रत्यय। सखेद=खेदेन सहितं यथा तथा (तुल्ययोग बहु०)। ऐक्षिष्ट = ईक्ष+लुङ्+त। इस पद्यमे "शपत इव" यहाँपर उत्प्रेक्षा अलङ्कार है और "द्विज" पदसे ब्राह्मण अर्थका भी बोध होनेसे उपमा अलङ्कार व्यङ्ग्य होता है अत (उत्प्रेक्षा) अलङ्कारसे अलङ्कार ध्वनि है ॥ ९० ॥

अलिस्रजा कुड्मलमुच्चशेखरं निपीय चाम्पेयमधीरया दृशा।
स धूमकेतुं विपदे वियोगिनामुदीतमातङ्कितवानशङ्कत ॥ ९१ ॥

अन्वयः—अलिस्रजा उच्चशेखर चाम्पेय कुड्मलम् अधीरया दृशा निपीय आतङ्कितवान् स वियोगिना विपदे उदीत धूमकेतुम् अशङ्कत ॥ ९१ ॥

व्याख्या—अलिस्रजा = भ्रमरपङ्क्त्या, उच्चशेखरम् = उन्नतशिरोभूषण, भ्रमरमलिनाऽङ्गमिति भाव। चाम्पेय = चम्पकविकार, कुड्मल = मुकुलम्, अधीरया = धैर्यरहितया दृशा = दृष्ट्या, निपीय = सादर दृष्ट्वा, आतङ्कितवान् = भीत किञ्चिदनिष्टमुत्प्रेक्षितवानिति भाव। स = नल, वियोगिना = विरहिणा, विपदे = विनाशसूचनाय, उदीतम् = उत्थित, धूमकेतुम् = अशुभसूचक तारापुञ्जम्, अशङ्कत = शङ्कितवान् ॥ ९१ ॥

अनुवादः—भ्रमरोकी पङ्क्तियोसे ऊँचे शिरोभूषणवाली चम्पाकी कलीको अधीर दृष्टिसे देखकर अनिष्टकी आशङ्का करनेवाले नलने उसमे वियोगियोके विनाशके लिए उठे हुए धूमकेतु होनेकी शङ्का की ॥ ९१ ॥

टिप्पणी—अलिस्रजा = अलीना स्रक्, तया (ष० त०)। उच्चशेखरम् = उच्च. शेखरो यस्य, तम् (बहु०), चाम्पेय = चम्पाया अपत्य पुमान् चाम्पेयः, तम् "स्त्रीभ्यो ढक्" इससे ढक् (एय) प्रत्यय और "किति च" इससे आदि-वृद्धि। यहाँपर मल्लिनाथजीने "न षट्पदो गन्धफलीमजिघ्रत्" ऐसी उक्ति होनेसे भौंरोमे चम्पाकी कली कैसे उन्नत होगी ऐसी आशङ्का कर भौंरा उसे छूकर मर जाता है, इतनेसे ऐसी प्रसिद्धि हो गयी, अथवा चाम्पेय कहनेसे यहाँपर नाग-केसर लेना चाहिए इस प्रकार उसका परिहार किया है। "अथ चाम्पेयश्चम्पको हेमपुष्पक" इति "एतस्य कलिका गन्धफली स्यात्" इति "चाम्पेय केसरो नाग केसर. काञ्चनाह्वय।" इति चाऽमर। अधीरया = न धीरा, तया (नञ्)। निपीय=नि+पा+क्त्वा (ल्यप्)। आतङ्कितवान्=आङ्+तकि+क्तवतु+सु। विपदे = तादर्थ्यमे चतुर्थी। धूमकेतु = धूमप्रधान केतुः, तम् (मध्यमपदलोपी स०)। "अग्न्युत्पातौ धूमकेतूः" इत्यमरः। अशङ्कत = शकि+लङ्+त। इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ९१ ॥

अनुवाद.—सुगन्धसे युक्त नलके अङ्गको उद्देश्य करके गुण (गन्ध आदि वा मौर्वी) को स्पर्श करनेवाले, पुष्पसे दौड़नेवाले, शब्द करते हुए भ्रमरसमूहोको देखकर कामदेव अपने धनुसे निशानेसे चूके हुए बाणके भ्रमसे लज्जितके तुल्य हुए ॥ ९३ ॥

टिप्पणी—सुगन्धि=शोभन गन्धः यस्य, तत् (बहु०)। "गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्य." इस सूत्रसे समासाऽन्त इ प्रत्यय। तदङ्ग=तस्य अङ्ग, तत् (ष० त०)। उद्दिश्य = उद् + दिश् = क्त्वा (ल्यप्)। गुणस्पृश = गुण (गन्धादिं मौर्वीं च) स्पृशन्तीति, ता, गुण-उपपदपूर्वक स्पृश धातुसे "स्पृशोऽनुदके क्विन्" इस सूत्रसे क्विन् प्रत्यय (उपपद०), यह पद "शिलीमुखाली." इसका विशेषण है। पातुका =पतन्तीति, ता पत्-धातुसे "लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशॄभ्य उकञ्" इस सूत्रसे उकञ + शस्। स्वनन्ती = स्वनन्तीति स्वनन्त्य', ता, स्वन + लट् (शतृ) + ङीप् + शस्। शिलीमुखाली. = शिलीमुखानाम् (अलीना बाणाना वा) आल्य, ता. (ष० त०)। "अलिबाणौ शिलीमुखौ" इत्यमर। अवलोक्य = अव + लोक् + क्त्वा (ल्यप्)। स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात् = स्वस्य चाप (ष० त०)। दुर्निर्गताश्च ते मार्गणा (बाणा), (क० धा०)। स्वचापात् दुर्निर्गतमार्गणा. (ष० त०)। तेषा भ्रम, तस्मात् (ष० त०)। इस पद्यमे श्लेष, भ्रमरोमे बाणके भ्रमसे भ्रान्तिमान्, "लज्जित" यहाँपर उत्प्रेक्षावाचक इव आदि शब्दोके न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा, इस प्रकार इन अलङ्कारोका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ९३ ॥

मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः क्षत समुच्चरच्चन्दनसारसौरभम्।
स वारनारीकुचसञ्चितोपम ददर्श मालूरफलं पचेलिमम् ॥ ९४ ॥

अन्वयः—स मरुल्ललत्पल्लवकण्टकै. क्षत समुच्चरच्चन्दनसारसौरभ वारनारीकुचसञ्चितोपम पचेलिम मालूरफल ददर्श ॥ ९४ ॥

व्याख्या—स.=नल, मरुल्ललत्पल्लवकण्टकै = वायुचलत्किसलयतीक्ष्णाऽग्राऽवयवैः, अन्यत्र विलसद्विटनखैरिति गम्यते। क्षत=विलिखितम्, समुच्चरच्चन्दनसारसौरभ=प्रसर्पच्छ्रीखण्डसारसौगन्ध्यम्, अत एव वारनारीकुचसञ्चितोपमं= वेश्यापयोधरसम्पादितसादृश्य, पचेलिम = स्वत पक्वं, मालूरफल = बिल्वफल, ददर्श = विलोकयामास ॥ ९४ ॥

अनुवादः—नलने वायुसे चलते हुए पल्लवोके कॉटोसे विद्ध, फैलते हुए चन्दनके समान सौरभसे युक्त, वेश्याके पयोधरके सदृश पके हुए बेलफलको देखा ॥ ९४ ॥

टिप्पणी—मरुल्ललत्पल्लवकण्टकै: = ललन्ति च तानि पल्लवानि (क० धा०) । मरुता ललत्पल्लवानि (तृ० त०) । तेषा कण्टका , तै (ष० त०) । यहाँपर दूसरा अर्थ मरुत्‌रूप विलासीके नखोसे क्षत ऐसा व्यङ्ग्य होता है । समुच्चरच्चन्दनसारसौरभ=चन्दनस्य सार: (ष० त०), तस्य सौरभम् (ष० त०) । समुच्चरत् चन्दनसारसौरभ यस्य, तत् (बहु०) । वेश्याका पयोधर भी चन्दन आदिके सौरभसे सम्पन्न होता है । वारनारीकुचसञ्चितोपम = वारस्य (नरसमूहस्य) नारी वारनारी (ष० त०), "वारस्त्री गणिका वेश्या रूपाजीवा" इत्यमर. । तस्या कुच (ष० त०), सञ्चिता उपमा यस्य तत् (बहु०) । वारनारीकुचेन सञ्चितोपम, तत् (तृ० त०) । पचेलिम = स्वयमेव पच्यत इति, पच् धातुसे "केलिमर उपसख्यानम्" इस वार्त्तिकने कर्मकर्तामे केलिमर प्रत्यय । मालूरफलं = मालूरस्य फलम् (ष० त०), तत् । "बिल्वे शाण्डिल्यशैलूषौ मालूरश्रीफलावपि ।" इत्यमर. । ददर्श=दृश् + लिट + तिप् । इस पद्यमे उपमा अलङ्कार है ॥ ९४ ॥

युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरम् ।
स्मरेषुधीकृत्य धिया भियाऽन्धया स पाटलायाः स्तबकं प्रकम्पित ॥ ९५ ॥

अन्वय.—स युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भगह्वर पाटलाया· स्तबकं भिया अन्धया धिया स्मरेषुधीकृत्य प्रकम्पित ॥ ९५ ॥

व्याख्या – स = नल:, युवद्वयीचित्तेत्यादि = तरुणमिथुनमानसमज्जनसमर्थ-पुष्पपूर्णगर्भकुहर पाटलाया = पाटलवृक्षस्य, स्तबक = गुच्छ, भिया = भयेन, अन्धया=मूढया, धिया=बुद्धया, स्मरेषुधीकृत्य="इद कामतूणीरम्" इति विभ्रम्य, प्रकम्पित =चकम्पे ॥ ९५ ॥

अनुवाद:—नल युवती और युवकजनोको आकर्षण करनेमे समर्थ पुष्पोसे पूर्ण भीतरं. भागवाले पाटल पुष्पोके गुच्छेको भयसे मूढ बुद्धिसे "यह कामदेवका तरकश है" ऐसा विचार कर कम्पित हुए ॥ ९५ ॥

टिप्पणी—युवद्वयीचित्तेत्यादि =युवतिश्च युवा च युवानौ, "पुमान् स्त्रिया" इससे एकशेष, यूनोर्द्वयी (ष० त०) । युवद्वय्या. चित्ते (ष० त०) । नि+ मस्ज + णिच् + ल्युट=निमज्जनम् । युवद्वयीचित्तयो. निमज्जन (ष० त०), तस्मिन् उचितानि (स० त०), तानि च तानि प्रसूनानि (क० धा०) । शून्यात् इतरत् (प० त०) अशून्य पूर्णमित्यर्थ । गर्भस्य गह्वरम (ष० त०) । युवद्वयीचित्त-निमज्जनोचितप्रसूनै. शून्येतरत् (तृ० त०), तत् गर्भगह्वर यस्य, तम् (बहु०) ।

स्तबक="स्याद् गुच्छकस्तु स्तबक" इत्यमर.। भिया="भीतिर्भी साध्वस भयम्" इत्यमर·। स्मरेषुधीकृत्य=स्मरस्य इषुधि. (ष० त०)। तूणोपासङ्गतूणीरनिषङ्गा इषुधिर्द्वयो। तूण्याम्" इत्यमर। अस्मरेषुधि स्मरेषुधि यथा सम्पद्यते तथा कृत्वा, स्मरेषुधि+च्वि+कृ+क्त्वा (ल्यप्)। प्रकम्पित=प्र+कपि+क्त: (कर्तमि)। इस पद्यमे पाटलके स्तबकमे नलको कामदेवके तूणीर (तरकश) का भ्रम होनेसे भ्रान्तिमान् अलङ्कार है जैसे कि—

"साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थित।" सा० द० १०–३६॥

मुनिद्रुमः कोरकित. शितिद्युतिर्वनेऽमुनाऽमन्यत सिंहिकासुत·।
तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितं कलाकलाप किल वैधवं वमन्॥ ९६॥

अन्वयः—अमुना वने कोरकित शितिद्युति. मुनिद्रुम तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितं वैधव कलाकलाप वमन् सिंहिकासुत अमन्यत किल॥ ९६॥

व्याख्या—अमुना=नलेन, वने=उपवने, कोरकित=सजातकोरक, शितिद्युति. = कृष्णकान्ति पत्रेषु इति शेष। मुनिद्रुम = अगस्त्यवृक्ष, तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षित = कृष्णपक्षक्षयव्याजगिलित, वैधव = चान्द्रमस, कलाकलाप = कलासमूह, वमन् = उद्गिरन्, सिंहिकासुत = राहु, अमन्यत = ज्ञात, किल = निश्चयेन॥ ९६॥

अनुवाद—नलने वनमे कलियोसे युक्त, काली कान्तिवाले अगस्त्यके वृक्षको कृष्णपक्षके क्षयके बहानेसे खाये गये चन्द्रमाके कलासमूहको वमन करता हुआ राहु समझा॥ ९६॥

टिप्पणी—कोरकित=कोरका सजाता अस्य, 'कोरक' शब्दसे "तदस्य सजात तारकादिभ्य इतच्" इससे इतच्। अगस्त्यवृक्षकी कलियाँ चन्द्रकी कलाओ के समान सफेद होती है। शितिद्युति = शिति द्युति यस्य स (बहु०)। अगस्त्यके पत्ते काले होते है। "शिती धवलमेचकौ" इत्यमर। तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षित=तमिस्रस्य पक्ष (ष० त०), तस्य त्रुटिः (ष० त०) तस्या कूटम् (व्याज) (ष० त०), तेन भक्षित, तम् (तृ० त०)। वैधव=विधो अयं वैधव., तम्, विधु+अण्+अम्। "विधु सुधाऽशु शुभ्राऽशु·" इत्यमर। कलाकलाप=कलाना कलापः, तम् (ष० त०)। वमन्=वमतीति, "टुवम् उद्गिरणे" धातुसे लट्के स्थानमे शतृ आदेश। सिंहिकासुत=सिंहिकाया सुत. (ष० त०) अमन्यत=मन्+लङ्+त (कर्ममे। इस पद्यमे कैतवाऽपह्नुति और उत्प्रेक्षामे अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है॥ ९६॥

पुरो हठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदाऽऽवृतेर्वीरुधि नद्धविभ्रमाः ।
मिलन्निमीलं विदधुर्विलोकिता नभस्वतस्त कुसुमेषु केलय ॥ ९७ ॥

अन्वयः— पुरो हठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदावृते. नभस्वतः वीरुधि नद्धविभ्रमाः कुसुमेषु केलय. विलोकिता (सत्य) त मिलन्निमीलं विदधु ॥ ९७ ॥

व्याख्या—पुर =अग्रे, हठाक्षिप्त तुषारपाण्डरच्छदाऽऽवृते. = बलाकृष्टहिम-शुक्लपत्राऽ वरणस्य, नभस्वत. =वायो, वीरुधि =लताया, नद्धविभ्रमा = अनुबद्धभ्रमणा, कुसुमेषु = पुष्पेषु, केलय =कम्पनादिक्रीडा, कुसुमेषु केलय = कामक्रीडाश्च, विलोकिता =दृष्टा सत्य, त = नल, मिलन्निमील = निमीलित-नेत्र, विदधु =चक्रु । वायोर्लताया कम्पनव्यापारस्य कामोद्दीपकत्वात् अथवा वायोर्लताया कम्पन समागमक्रिया ज्ञात्वा नलो निमीलितनयनो बभूवेति भाव ॥ ९७ ॥

अनुवादः—सामने बलसे बरफसे सफेद पत्ररूप वस्त्रको खीचनेवाले वायुकी लतामे सम्बद्ध भ्रमण वा विलाससे युक्त फूलोमे कम्पन आदि क्रीडा वा काम-क्रीडाओको देखकर नलने आँखोको मूँद लिया ॥ ९७ ॥

टिप्पणी—हठाऽऽक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदावृते =हठेन आक्षिप्ता (तृ० त०) । तुषारेण पाण्डरा (तृ० त०), "हरिण पाण्डुर पाण्डु" इत्यमर । तुषार-पाण्डराश्च ते छदा (क० धा०) । "पत्र पलाश छदन दलं पर्णं छद पुमान् ।" इत्यमर । तुषारपाण्डरच्छदानाम् आवृति (ष० त०) । हठाक्षिप्ता तुषार-पाण्डुरच्छदावृति येन, तस्य (बहु०) । वीरुधि=वीरुत् शब्दका "लता प्रतानिनी वीरुत्" इस उक्तिके अनुसार फैली हुई लता ऐसा अर्थ न कर सामान्य लता ऐसा अर्थ करना चाहिए । नद्धविभ्रमाः=नद्धा विभ्रमा (भ्रमणानि विलासा वा) यासा ता (बहु०) । कुसुमेषु यहाँपर विषयमे सप्तमी । अथवा कुसुमेषु-केलय=कुसुमानि इषवः (बाणा) यस्य स कुसुमेषु. (बहु०), "शम्बराऽरि-र्मनसिज कुसुमेषुरनन्यज ।" इत्यमर. । कुसुमेषो केलय (ष० त०) । मिलन्निमील=मिलन् निमील यस्य, तम् (बहु०) । विदधु = वि+धा+ लिट् + झि (उस्) । इस पद्यमे कार्य और श्लिष्टविशेषणसाम्यसे प्रस्तुत नभस्वान्-मे अप्रस्तुत नायकके व्यवहारका समारोप होनेसे समासोक्ति अलङ्कार है । लतामे वायुके पत्ररूप वस्त्रके हटानेसे समागमरूप व्यवहारकी प्रतीति होनेसे "नेक्षेताऽर्कं न नग्नां स्त्री न च संसृष्टमैथुनाम् (याज्ञवल्क्य० १–१३५) इस वचनके अनुसार नलने आँखोको मूँद लिया यह तात्पर्य है ॥ ९७ ॥

गता यदुत्सङ्गतले विशालतां द्रुमाः शिरोभिः फलगौरवेण ताम् ।
कथं न धात्रीमतिमात्रनामितैः स वन्दमानानभिनन्दति स्म तान् ॥ ९८ ॥

अन्वय.—द्रुमा यदुत्सङ्गतले विशालता गता, ता धात्री फलगौरवेण अतिमात्रनामितैः शिरोभिः वन्दमानान् तान् स कथ न अभिनन्दति स्म ? ॥ ९८ ॥

व्याख्या—द्रुमा = वृक्षा, यदुत्सङ्गतले = यदुपरिदेशे, यदङ्कतले च, विशालतां = विवृद्धि, गता = प्राप्ता, ता = धात्री, भुव च, फलगौरवेण=फलभारेण, धर्माऽतिशयेन च हेतुना, अतिमात्रनामितै = अतिशयप्रह्वीकृतै, शिरोभि = अग्रभागै, उत्तमाङ्गैश्च, वन्दमानान्=स्पृशत, अभिवादयमानाश्च, तान्=द्रुमान्, सः= नलः, कथ = केन प्रकारेण, न अभिनन्दति स्म = न अस्तौषीत्, अभिनन्द एवेति भाव । द्रुमाणा क्षेत्राऽनुरूपफलसम्पत्तिमपत्याना मातृभक्ति च को नाम नाऽभिनन्दतीति भाव ॥ ९८ ॥

अनुवादः—पेड जिन (धरती) के गोदमे विशाल हो गये उन (माता)-को फलोके भारसे अत्यन्त झुके हुए शिरो (अग्र भागो) से अभिवादन करते हुए उन (पेडो) को नल कैसे अभिनन्दन नही करते थे ? ॥ ९८ ॥

टिप्पणी—यदुत्सङ्गतले = उत्सङ्गस्य तलम् (ष० त०), यस्या उत्सङ्गतलं, तस्मिन् (ष० त०) । विशालता=विशालस्य भावो विशालता ताम्, विशाल+तल+टाप्+अम् । धात्री=धयन्ति याम् इति धात्री, ताम्, "धेट पाने" धातुसे ध. कर्मणि ष्ट्रन्" इस सूत्रसे ष्ट्रन् प्रत्यय और स्त्रीत्वविवक्षामे षित् होनेसे "षिद्-गौरादिभ्यश्च" इस सूत्रसे ङीप् । "धात्री जनन्यामलकीवसुमत्युपमातृषु ।" इत्यमर । इसका यहाँपर "उपमाता" ऐसा अर्थ भी ध्वनित होता है । फलगौरवेण= फलाना गौरव, तेन (ष० त०) । अतिमात्रनामितै = अतिमात्र नामितानि, तैः (सुप्सुपा०) । वन्दमानान्=वन्दन्त इति वन्दमाना', तान्, वदि+लट् (शानच्)+शस् । अभिनन्दति=अभि+नदि+लट्+तिप् । इस पद्यमे कार्यसे और विशेषण-साम्यसे भी प्रस्तुत द्रुमोमे अप्रस्तुत पुष्पोके व्यवहारकी प्रतीति होनेसे समासोक्ति अलंकार है ॥ ९८ ॥

नृपाय तस्मै हिमितं वनाऽनिलैः सुधीकृतं पुष्परसैरहर्महः ।
विनिर्मितं केतकरेणुभिः सितं वियोगिनेऽदत्त न कौमुदीमुदः ॥ ९९ ॥

अन्वयः—वनाऽनिलै हिमित, पुष्परसै सुधीकृतं, केतकरेणुभि सित विनिर्मितम् अहर्मह. (एव) कौमुदी वियोगिने तस्मै नृपाय मुद न अदत्त ॥ ९९ ॥

व्याख्या—वनाऽनिलैः = उद्यानवातै, हिमितं = हिमं (शीतलं) कृतम्,

पुष्परसै'=कुसुमरसै', मकरन्दैरित्यर्थः, उपवनवाताऽऽनीतैरिति शेष.। सुधीकृतम्= अमृतीकृत, तथा केतकरेणुभिः = केतकीपुष्परजोभिः, सित=शुक्ल, विनिर्मित = कृतम्, इत्थ च—अहर्मह =दिनतेज. आतप एव, कौमुदी = चन्द्रिका, वियोगिने = विरहिणे, तस्मै = पूर्वोक्ताय, नृपाय = नरेशाय, नलायेति भाव । मुद = हर्षान् न अधत्त = न कृतवती, प्रत्युत उद्दीपनमेव चकारेति भाव. ॥ ९९ ॥

अनुवाद—उद्यानकी हवाओसे ठण्डा किया गया, फूलोके रसोसे अमृतके समान किया गया, केतकी पुष्पोके परागोसे सफेद बनाया गया प्रकाश ही चाँदनीने वियोगी नलको हर्षप्रदान नही किया ॥ ९९ ॥

टिप्पणी—वनाऽनिलै = वनस्य अनिला, तै (ष० त०)। हिमित = हिमं कृतम्, "हिम" शब्दसे "तत्करोति तदाचष्टे" इससे णिच् प्रत्यय होकर कर्ममे क्त प्रत्यय। पुष्परसै. = पुष्पाणा रसा, तै (ष० त०)। सुधीकृतम् = असुधा सुधा यथा सम्पद्यते तथा कृतम्, सुधा + च्वि + कृ + क्त। केतकरेणुभि = केतक्या विकाराः (पुष्पाणि) केतकानि, केतकी शब्दसे "तस्य विकार" इससे अण् प्रत्यय और उसका "पुष्पमूलेषु बहुलम्" इससे लुप्। केतकाना रेणव, तै (ष० त०) विनिर्मित = वि + निर् + मा + क्त। अहर्महः = अह्न' मह (ष० त०), "रोऽसुपि" इस सूत्रसे रेफ आदेश। अधत्त = धा + लङ् + त। इस पद्यमे अहर्महमे कौमुदीका आरोप होनेसे रूपक अलङ्कार है ॥ ९९ ॥

वियोगभाजोऽपि नृपस्य पश्यता तदेव साक्षादमृतांऽशुमाननम्।
पिकेन रोषाऽरुणचक्षुषा मुहु' कुहूरुताऽऽहूयत चन्द्रवैरिणी ॥ १०० ॥

अन्वयः—वियोगभाजः अपि नृपस्य तत् आननम् एव साक्षात् अमृताऽशुं पश्यता (अत एव) रोषाऽरुण-चक्षुषा पिकेन कुहूरुता चन्द्रवैरिणी मुहुः आहूयत ॥ १०० ॥

व्याख्या—वियोगभाज. अपि=वियोगिन. अपि, नृपस्य=राज्ञः, नलस्येत्यर्थ.। तत्, आननम् एव=मुखम् एव, साक्षात् = प्रत्यक्षम्, अमृताऽशुं = चन्द्र, पश्यता= विलोकयता, अत एव रोषाऽरुणचक्षुषा = कोपरक्तनयनेन, वियोगेऽप्यय चन्द्रतां न मुञ्चतीति रोषहेतुर्बोद्धव्य। पिकेन = कोकिलेन, कुहूरुता = कुहूशब्देन, अमावास्यावाचकशब्देन वा, चन्द्रवैरिणी = कुहू, अमावास्या इति भाव.। मुहु' = वारं वारम्, आहूयत = आहूता (किम्) ॥ १०० ॥

अनुवादः—वियोगी होनेपर भी नलके मुखको ही प्रत्यक्ष चन्द्र देखते हुए

और क्रोधसे लाल नेत्रोवाले कोयलने कुहू (स्वाभाविक वा अमावास्यावाचक) शब्दसे चन्द्रकी वैरिणी अमावास्याको वार वार बुलाया ॥ १०० ॥

टिप्पणी—वियोगभाज = वियोग भजतीति वियोगभाक्, तस्य (वियोग + भज् + ण्वि , ङस) । साक्षात्="साक्षात्प्रत्यक्षतुल्ययो " इत्यमर । अमृताऽशुम्= अमृतम् इव अशु यस्य स , तम् (बहु०) । पश्यता = पश्यतीति पश्यन्, तेन, दृश् + (पश्य) + लट् (शतृ) + टा । रोषाऽरुणचक्षुषा = अरुणे चक्षुषी यस्य सः (बहु०) । रोषात् (इव) अरुणचक्षु , तेन (ष० त०), कुहूरुता = कुहूश्चाऽसौ रुत् कुहूरुत् तया (क० धा०) । "कुहू स्यात्कोकिलाऽऽलापनष्टेन्दुकलयोरपि ।" इति विश्व । चन्द्रवैरिणी = चन्द्रस्य वैरिणी (ष० त०) । आहूयत = आङ् + ह्वेञ् + लङ् + त (कर्ममे) । इस पद्यमें रूपक और "आहूयत" यहाँपर उत्प्रेक्षा वाचक इव आदि शब्दोके न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है, अत. दो अलङ्कारोका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ १०० ॥

अशोकमर्थाऽन्वितनामताऽऽशयागताञ्शरण्यं गृहशोचिनोऽध्वगान् ।
अमन्यताऽवन्तमिवैष पल्लवैः प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम् ॥ १०१ ॥

अन्वय.—एष पल्लवै प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम् अशोकम् अर्थाऽन्वित-नामताशया शरण्य गतान् गृहशोचिन· अध्वगान् अवन्तम् इव अमन्यत ॥ १०१ ॥

व्याख्या—एष = नल , पल्लवै = किसलयै , प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालक = गृहीतमदनदीप्यमानायुधक्षारकम्, अशोकम् = अशोकवृक्ष वञ्जुलाऽपरनामधेयम्, अर्थाऽन्वितनामताऽऽशया=अन्वर्थाभिधानताऽभिलाषेण, अयमशोक , अतएव शोक-रहितोऽस्ति अत अस्मानपि शोकरहित करिष्यतीत्याशयेति भाव । शरण्यम् = शरणसाधु, तम् अशोकमित्यर्थं । गतान्=प्राप्तान्, गृहशोचिन. = गृहम् (पत्नीम्) उद्दिश्य शोकं कुर्वत , अध्वगान् = पान्थान्, अवन्तम् इव = रक्षन्तम् इव, शरणा-गताना रक्षणे महाफलमरक्षणे च महादोष भावयित्वेति शेष । अमन्यत = ज्ञातवान् ॥ १०१ ॥

अनुवादः—नलने पल्लवोसे कामदेवके जलते हुए अस्त्रोको नयी कलियोको लेनेवाले अशोक वृक्षको उसके नामकी अन्वर्थता (यह अशोक = शोकरहित है, अत हम लोगोको भी शोकरहित करेगा) ऐसी आशासे रक्षा करनेमे निपुण विचार कर गये हुए, पत्नीका शोक करनेवाले पथिकोकी मानो रक्षा कर रहा है ऐसा समझा ॥ १०१ ॥

टिप्पणी—प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालक = ज्वलन्ति च तानि अस्त्राणि ज्वलदस्त्राणि (क० धा०), तेषा जालकानि (ष० त०), "क्षारको जालक क्लीबे" इत्यमर । कामस्य ज्वलदस्त्रजालकानि (ष० त०) । प्रतीष्टानि कामज्वलदस्त्रजालकानि येन, तम् (बहु०) । अशोकम् = अविद्यमान शोक यस्य स , तम् (नञ्बहु०) । "वञ्जुलोऽशोके" इत्यमर । अर्थाऽन्वितनामताऽऽशया = नाम्नो भावो नामता, नाम + तल् + टाप । अर्थेन अन्विता (तृ० त०) । अर्थाऽन्विता चाऽसौ नामता (क० धा०), तस्या आशा तया (ष० त०) । शरण्यं=शरणे साधु शरण्य , तम्, "तत्र साधु " इससे यत् । "शरण गृहरक्षित्रो " इत्यमर । गृहशोचिन = गृह शोचन्तीति गृहशोचिन , तान्, गृह + शुच् + णिनि (उपपद०) + शस् । "गृह गृहाश्च पुभूम्नि कलत्रेऽपि च सद्मनि ।" इति मेदिनी । अत एव—"न गृह गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते ।" अर्थात् गृहको गृह नही कहते है, पत्नीको "गृह" कहते है ऐसी लोकोक्ति है । अध्वगान् = अध्वान गच्छन्तीति अध्वगा , तान्, अध्वन्-उपपदपूर्वक 'गम्' धातुसे "अन्ताऽत्यन्ताऽध्वदूरपारसर्वाऽनन्तेषु ड " इस सूत्रसे ड प्रत्यय (उपपद०) । "अध्वनीनोऽध्वगोऽध्वन्य. पान्थ पथिक इत्यापि ।" इत्यमर । अवन्तम् = अवतीति अवन्, तम् अव + लट् (शतृ) + अम् । अमन्यत = मन् + लङ् + त । इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ १०१ ॥

विलासवापीतटवीचिवादनात्पिकाऽलिगीते शिखिलास्यलाघवात् ।
वनेऽपि तौर्यत्रिकमारराध तं, क्व भोगमाप्नोति न भाग्यभाग्जनः ॥१०२॥

अन्वयः—विलासवापीतटवीचिवादनात् पिकाऽलिगीते शिखिलास्यलाघवात् वने अपि त तौर्यत्रिकम् आरराध, भाग्यभाक् जन क्व भोगम् न आप्नोति ॥१०२॥

व्याख्या—विलासवापीतटवीचिवादनात् = विहारदीर्घिकातीरतरङ्गनादात्, पिकाऽलिगीतेः = कोकिलभ्रमरगानात्, शिखिलास्यलाघवात्=मयूरनृत्यनैपुण्यात्, वने अपि = उपवने अपि, त = नलम्, तौर्यत्रिक=नृत्यगीतवाद्यत्रयम्, आरराध= आराधयामास, तथा हि—भाग्यभाक् = भाग्यवान्, जन = लोक , क्व = कुत्र, स्थाने गृहे वनेऽपि वा इति शेष , भोग = सुख, न आप्नोति = न प्राप्नोति, सर्वत्रैव सुख प्राप्नोतीति भावः ॥ १०२ ॥

अनुवादः—बिहारकी बावलीके किनारेमे तरङ्गोके शब्दसे (वादनसे), कोयल और भौरोके गानेसे, मयूरोके नृत्यकी निपुणतासे उपवनमे भी महाराज नलकी नृत्य, गीत और वाद्य इन तीनोने सेवा की । भाग्यवान् जन कहाँ सुखको प्राप्त नही करते है ? ॥ १०२ ॥

टिप्पणी—विलासवापीतटवीचिवादनात्=विलासस्य वापी, "वापी तु दीर्घिका" इत्यमर । विलासवाप्या तटम् (ष० त०), वीचीना वादनम् (ष० त०) । विलासवापीतटे वीचिवादन तस्मात् (स० त०), सर्वत्र हेतुमे पञ्चमी । पिकाऽलिगीते = पिकाश्च अलयश्च पिकालय (द्वन्द्व), तेषा गीति , तस्या (ष० त०) । शिखिलास्यलाघवात् = शिखिनां लास्यम् (ष० त०), "ताण्डव नटनं नाट्य लास्यं नृत्य च नर्तने ।" इत्यमर । शिखिलास्यस्य लाघव, तस्मात् (ष० त०) । तौर्यत्रिक = "तौर्यत्रिक नृत्यगीतवाद्य नाटचमिद त्रयम् ।" इत्यमर । आरराध = आङ् + राध + लिट् + तिप् । भाग्यभाक् = भाग्य भजतीति भाग्यभाक्, भाग्य + भज् + ण्वि (उप०) । भोग=भुज्यते इति भोग , तम्, भुज् + घञ् (कर्ममे) + अम् । आप्नोति = आप् + लट् + श्नु + तिप् । इस पद्यमे सामान्यसे विशेषका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ १०२ ॥

तदर्थमध्याप्य जनेन तद्वने शुका विमुक्ता. पटवस्तमस्तुवन् ।
स्वराऽमृतेनोपजगुश्च शारिकास्तथैव तत्पौरुषगायनीकृताः ॥ १०३ ॥

अन्वयः—जनेन तदर्थम् अध्याप्य तद्वने विमुक्ता पटव शुका तम् अस्तुवन्; तथैव (तदर्थम् अध्याप्य तद्वने विमुक्ता) तत्पौरुपगायनीकृता शारिकाः स्वराऽमृतेन उपजगुश्च ॥ १०३ ॥

व्याख्या—जनेन=सेवकजनेन, तदर्थं = नलप्रीत्यर्थम्, अध्याप्य=स्तुति पाठयित्वा, तद्वने=तस्मिन् उपवने, विमुक्ता = विसृष्टा , पटव —व्यक्तगिर , शुका = कीरा , त = नलम्, अस्तुवन् = स्तुतवन्त , तथैव = तेन प्रकारेणैव, शुकवत् एव (तदर्थम् अध्याप्य तद्वने विमुक्ता.) तत्पौरुषगायनीकृताः = नलपराक्रमगायकीकृता , शारिका = शुकवध्वः, स्वराऽमृतेन = मधुरस्वरेणेति भाव । उपजगुश्च= उपगीतवत्यश्च, तुष्टुवुश्चेति भाव ॥ १०३ ॥

अनुवाद.—सेवकजनसे नलकी प्रीतिके लिए उस वनमे छोडे गये स्पष्ट शब्दवाले तोतोने नलकी स्तुति की, उसी तरह नलके पराक्रमकी गायिका बनायी गयी शारिकाओ (मैनाओ) ने मीठी आवाजसे गान किया ॥ १०३ ॥

टिप्पणी—तदर्थं = तस्मै इदम् (च० त०, क्रियाविशेषण) । अध्याप्य = अधि + आङ् + इङ् + णिच् + क्त्वा (ल्यप्) । तद्वने = तच्च तद्वन, तस्मिन् (क० धा०) । विमुक्ता = वि + मुच् + क्त + (कर्ममे) टाप् + जस् । अस्तुवन् = "ष्टुञ् स्तुतौ" धातुसे लङ् + झि । तत्पौरुषगायनीकृता, पुरुषस्य भावः

पौरुषम्, पुरुष + अण् । गायन्तीति गायनय , "गै शब्दे" धातुसे "ण्युट् च" इससे ण्युट् प्रत्यय और स्त्रीत्वविवक्षामे टित्वात् "टिड्ढाणञ्०" इत्यादि सूत्रसे ङीप् । अगायनयः गायनय· यथा सपद्यन्ते तथा कृता , गायनी + च्वि + कृ + क्त + टाप् । तत्पौरुषस्य गायनीकृता. (ष० त०) । शारिका = "सारिका." ऐसा भी रूप होता है । स्वराऽमृतेन=स्वरः अमृतम् इव स्वराऽमृत, तेन "उपमित व्याघ्रादिभि. सामान्याऽप्रयोगे" इस सूत्रसे समास । उपजगु =उप + गै + लिट् + झि (उस्) । इस पद्यमे "स्वराऽमृतेन" यहाँपर उपमा अलकार है ॥ १०३ ॥

इतीष्टगन्धाऽऽढ्यमटन्नसौ वन पिकोपगीतोऽपि शुकस्तुतोऽपि च ।
अविन्दताऽऽमोदभरं बहिः पर विदर्भसुभ्रूविरहेण नाऽऽन्तरम् ॥ १०४ ॥

अन्वयः—इति इष्ट गन्धाऽऽढ्य वनम् अटन् असौ पिकोपगीत अपि शुकस्तुतः अपि च पर वहि. आमोदभरम् अविन्दत, विदर्भसुभ्रूविरहेण आन्तरम् आमोदभरं न अविन्दत ॥ १०४ ॥

व्याख्या— इति = इत्थम्, इष्टगन्धाढ्यम् = अभीष्टसौरभसम्पन्न, वनम् = उपवनम्, अटन् = गच्छन्, असौ=नल , पिकोपगीत अपि=कोकिलगीतिविषयीकृत अपि, शुकस्तुत' अपि च=कीरस्तुतिविषयीकृत. अपि च, पर=केवल, बहि = बाह्यम्, आमोदभर = सौरभ्याऽतिरेकम्, अविन्दत=अलभत, विदर्भसुभ्रूविरहेण= दमयन्तीवियोगेन, आन्तरम् = अन्तश्चरं, मानसमिति भाव , आमोदभरम् = आनन्दाऽतिरेकमिति भाव , न अविन्दत = न अलभत, प्रत्युत दु खमेवाऽनुभूतवानिति भावः ॥ १०४ ॥

अनुवादः—इस प्रकारसे अभीष्ट सौरभसे सम्पन्न उपवनमे भ्रमण करते हुए नलने कोयलके गानेसे और तोतेकी स्तुतिसे भी केवल बाहरी हर्षविशेपका अनुभव किया, परन्तु दमयन्तीके वियोगसे भीतरी हर्षविशेषका अनुभव नही किया ॥१०४॥

टिप्पणी— इष्टगन्धाऽऽढ्यम् = इष्टश्चाऽसौ गन्ध. (क० धा०), तेन आढ्य, तत् (तृ० त०) वनम् = अकर्मक "अट" धातुके योगमे "अकर्मक धातुभिर्योगे देश. कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसंज्ञक इति वाच्यम्" इससे कर्मसंज्ञक होकर द्वितीया । अटन् = अटतीति, अट + लट् (शतृ) + सु । पिकोपगीत = पिकैः उपगीत (तृ० त०) । शुकस्तुत = शुकै. स्तुतः (तृ० त०) । आमोदभरम्=आमोदस्य भरः, तम् (ष० त०) । "आमोदो गन्धहर्षयो " इति विश्वः । अविन्दत = "विद्लृ लाभे" धातुसे लङ् + त । विदर्भसुभ्रूविरहेण = शोभने भ्रुवौ

यस्या सा सुभ्रू (बहु०) विदर्भाणा सुभ्रू (ष० त०), तस्या विरह., तेन (ष० त०)। "हेतौ" इस सूत्रसे तृतीया। आन्तरम्=अन्तरे भव. आन्तर, तम्, अन्तर + अण्। इस पद्यमे आनन्द हेतु सुरभि वन आदिके होनेपर भी उसका फलरूप आनन्दके न होनेसे और "विदर्भसुभ्रूविरहेण" इस पदसे निमित्तकी उक्ति होनेसे उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति अलङ्कार है। उसका लक्षण है—

"सति हेतौ फलाभावो विशेषोक्तिस्तथा द्विधा।" सा०द० १०—६७ ॥१०४॥

करेण मीनं निजकेतनं दधद् द्रुमाऽऽलवालाऽम्बुनिवेशशङ्कया।

व्यतर्कि सर्वर्तुघने वने मधुं स मित्रमत्राऽनुसरन्निव स्मरः ॥ १०५ ॥

अन्वयः—स निजकेतनं मीनं द्रुमाऽऽलवालाम्बुनिवेशशङ्कया करेण दधत् सर्वर्तुघने अत्र वने मित्रं मधुम् अनुसरन् स्मर इव व्यतर्कि ॥ १०५ ॥

व्याख्या—स = नल, निजकेतन = स्वलाञ्छन, मीन = मत्स्यं, द्रुमाऽऽलवालाऽम्बुनिवेशशङ्कया = वृक्षाऽऽवापजलप्रवेशभीत्या, करेण = हस्तेन, दधत्= धारयन्, मत्स्यरेखाच्छलेन दधान इति भाव। सर्वर्तुघने=सकलर्तुसङ्कुले, अत्र= अस्मिन्, वने=उपवने, मित्र = सखाय, मधु = वसन्तम्, अनुसरन् = अन्विष्यन्, स्मर इव=कामदेव इव, व्यतर्कि=वितर्कित, लोकैरितिशेष, ॥ १०५ ॥

अनुवादः—नलको अपने चिह्न मत्स्यको वृक्षोके आलवालके जलमे घुसनेके भयसे हाथसे धारण करते हुए, सब ऋतुओसे परिपूर्ण इस उपवनमे अपने मित्र वसन्त ऋतुको ढूंढनेवाले कामदेवके समान लोगोने तर्कना की ॥ १०५ ॥

टिप्पणी—निजकेतन=निज च तत् केतन, तत् (क० धा०)। द्रुमाऽऽलवालाऽम्बुनिवेशशङ्कया = द्रुमाणाम् आलवालानि (ष० त०)। "स्यादालवालमावालमावाप" इत्यमर। द्रुमालवालानाम् अम्बु (ष० त०), तस्मिन् निवेश (स० त०)। तस्य शङ्का (ष० त०), तया। दधत् = दधातीति, 'डुधाञ् धारणपोषणयो' धातुसे लट्के स्थानमे शतृ आदेश, "उभे अभ्यस्तम्" इससे अभ्यस्त सज्ञा होकर "नाऽभ्यस्ताच्छतु" इससे नुमका निषेध हुआ है। सर्वर्तुघने=सर्वे च ते ऋतव (क० धा०), तै घनं, तस्मिन् (तृ० त०)। अनुसरन्, अनुसरतीति, अनु + सृ + लट् (शतृ०)। व्यतर्कि=वि + तर्क + लुङ् + त (कर्ममे)। इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ १०५ ॥

लताऽवलालास्यकलागुरुस्तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः।

असेवताऽमु मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनो वनाऽनिलः ॥ १०६ ॥

अन्वयः—लताऽबलालास्यकलागुरु तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहर मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवन वनाऽनिल अमुम् असेवत ॥ १०६ ॥

व्याख्या—लताऽबलालास्यकलागुरु = वल्लीवधूनृत्यविद्याशिक्षक , एतेन मान्द्योक्ति प्रतीयते । तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहर = वृक्षपुष्पसौरभसमूहचोर , एतेन सौरभ्यं प्रतीयते । एव च मधुगन्धवारिणि=मकरन्दगन्धोदके, प्रणीतलीलाप्लवन =कृतविलासाऽवगाहन , अनेन शैत्यं व्यज्यते । तादृश वनाऽनिल. = उपवनवात , अमु=नलम्, असेवत=सेवितवान् ॥ १०६ ॥

अनुवादः—लतारूप स्त्रियोको नृत्यविद्या सिखानेवाला, वृक्षोके फूलोके सौरभको चुरानेवाला तथा मकरन्दके सोरभसे पूर्ण जलमे विलासके साथ तैरनेवाले वनके वायुने नलकी सेवा की ॥ १०६ ॥

टिप्पणी—लताऽबलालास्यकलागुरु = लता एव अबला (रूपक०) । लास्यस्य कला (ष० त०) । लताऽबलाना लास्यकला (ष० त०), तासु गुरु (स० त०) । "लतारूप स्त्रियोकी लास्य कलाओमे गुरु" इस विशेषणसे वायुके मन्दतागुणकी प्रतीति होती है । तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहर =तरूणा प्रसूनानि (ष० त०), तेषा गन्धा (ष० त०), तेषाम् उत्करा (ष० त०) । पश्यत हर पश्यतोहर , "षष्ठी चाऽनादरे" इस सूत्रसे षष्ठी ओर "वाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेषु" इस वार्तिकसे अलुक समास । "पश्यतो यो हरत्यर्थं स चौर पश्यतोहर ।" इति हलायुध । तरुप्रसूनगन्धोत्कराणा पश्यतोहर (ष० त०) । "वृक्षोके फूलोके सौरभोको चुरानेवाला" इस विशेषणसे वायुके सौरभकी प्रतीति होती ह । मधुगन्धवारिणि=गन्धपूर्णं वारि गन्धवारि (मध्यमपदलोपी स०) । मधु एव गन्धवारि, तस्मिन् (रूपक०) । प्रणीतलीलाप्लवन.=लीलया प्लवनं (तृ० त०), प्रणीत लीलाप्लवन येन स (बहु०) । "मकरन्दके गन्धसे पूर्ण जलमे विलाससे अवगाहन करनेवाला" इस विशेषणसे वायुकी शीतलताकी प्रतीति होती है । वनाऽनिल. = वने अनिल (स० त०) । असेवत = सेव + लङ् + त । इस पद्यमे कार्यसे और श्लिष्ट विशेषणसाम्यसे भी प्रस्तुत वनाऽनिलमे अप्रस्तुत सेवकके व्यवहारका समारोप होनेसे समासोक्ति अलङ्कार हे और रूपक अलङ्कार भी है, इस प्रकार दो अलङ्कारोका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ १०६ ॥

अथ स्वमावाय भयेन मन्थनाच्चिरत्नरत्नाऽधिकमुच्चित चिरात् ।
निलीय तस्मिन्निवसन्नपांनिधिर्वने तडागो ददृशेऽवनीभुजा ॥ १०७ ॥

अन्वयः—अथ मन्थनात् भयेन चिरात् उच्चितं चिरत्नरत्नाऽधिक स्वम् आदाय तस्विन् वने निलीय निवसन् अपां निधि इव तडाग अवनीभुजा ददृशे ॥ १०७ ॥

व्याख्या—अथ = वनाऽवलोकनाऽनन्तर, मन्थनात्=मथनात्, भयेन=भीत्या, धनाऽर्थं पुनर्मथिष्यतीति भिया इति भावः। चिरात् = बहुकालात्, उच्चित = सञ्चित, चिरत्नरत्नाऽधिक = चिरन्तनश्रेष्ठवस्तुप्रचुर, स्व = धनम्, आदाय = गृहीत्व, तस्मिन् = पूर्वोक्ते, वने = उपवने, निलीय = तिरोहितीभूय, निवसन् = वर्तमान., अपानिधि. = समुद्र (इव), तडाग = पद्माकर, सरोविशेष इति भाव, अवनीभुजा = राज्ञा, नलेनेत्यर्थ । ददृशे = दृष्ट ॥ १०७ ॥

अनुवादः—तब फिर मन्थन होनेके डरसे बहुत समयसे सञ्चित, प्राचीन श्रेष्ठ वस्तुओसे प्रचुर धन लेकर उस उपवनमे छिपकर रहते हुए समुद्रके समान तालाबको राजा नलने देखा ॥ १०७ ॥

टिप्पणी—मन्थनात्=मन्थ+ल्युट+ङसि। "भीत्राऽर्थाना भयहेतु" इससे अपादान सञ्ज्ञा होकर पञ्चमी। उच्चितम् = उद्+चिञ्+क्त+अम्। चिरत्नरत्नाऽधिक = चिरात् भवानि चिरत्नानि, 'चिर' शब्दसे "चिरपरुत्परारिभ्यस्त्नो वक्तव्य" इस वार्तिकसे त्न प्रत्यय। चिरत्नानि च तानि रत्नानि (क० धा०), "रत्न स्वजातिश्रेष्ठेऽपि" इत्यमर। चिरत्नरत्नै (ऐरावतादिभि) अधिक, तम् (तृ० त०)। आदाय = आङ्+दा+क्त्वा (ल्यप)। निलीय = नि+ली+क्त्वा (ल्यप्)। निवसत् = नि+वस+लट (शतृ)+सु । तडाग. = "पद्माकरस्तडागोऽस्त्री कासार सरसी सरः।" इत्यमर । अवनीभुजा = अवनी भुनक्तीति अवनीभुक्, तेन, अवनी+भुज्+क्विप् (उपपद०)+टा। ददृशे = दृश्+लिट् (कर्ममे)+त। इस पद्यमे प्रस्तुत अपानिधिमे अप्रस्तुत धनी पुरुषके व्यवहारका समारोप करनेसे समासोक्ति और "अपानिधि" यहाँपर 'इव' आदि शब्दके न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है, इस प्रकार दो अलङ्कारोकी संसृष्टि है ॥ १०७ ॥

पयोनिलीनाऽभ्रमुकामुकावलीरदाननन्तोरगपुच्छसच्छवीन्।
जलाऽर्धरुद्धस्य तटाऽन्तभूमिदो मृणालजालस्य निभाद् बभार यः ॥१०८॥

अन्वयः—यः जलाऽर्धरुद्धस्य तटाऽन्तभूमिद. मृणालजालस्य निभात् अनन्तोरगपुच्छसच्छवीन् पयोनिलीनाऽभ्रमुकामुकावलीरदान् बभार ॥ १०८ ॥

व्याख्या—अथ श्लोकनवकेन तडागस्य पयोधिधर्मत्व प्रतिपादयति—पयोनिलीनेत्यादिभि.। य.=तडाग., जलार्धरुद्धस्य = सलिलाऽर्धच्छन्नस्य, तटाऽन्तभूमिद =

तीरा-न्तभूमिनिर्गतस्य, मृणालजालस्य = बिसवृन्दस्य, निभात्=व्याजात्, अनन्तोरगपुच्छसच्छवीन्=शेषाऽहिलाङ्गूलतुल्यवर्णान्, शुक्लवर्णानिति भाव । पयोनिलीनाऽभ्रमुकामुकाऽऽवलीरदान् = जलमग्नैरावतश्रेणीदन्तान्, बभार = धारयामास, समुद्रे त्वेक एवैरावत , अत्र त्वसख्या एवेरावता इति भाव ॥ १०८ ॥

अनुवाद.—जो तालाब जलसे अर्ध आच्छादित तीरके समीपकी जमीनसे निकले हुए मृणालसमूहके बहानेसे शेपनागके पुच्छके समान कान्तिवाले, जलमे छिपे हुए ऐरावतोके दाँतोको धारण करता था ॥ १०८ ॥

टिप्पणी—जलार्धरुद्धस्य = अर्धं (यथा तथा) रुद्धम् (सुप्सुपा०) जलेन अर्धरुद्धं, तस्य (तृ० त०)। तटाऽन्तभूमिद = तटस्य अन्त (ष० त०), तस्मिन् भू (स० त०), ता भिनत्तीति, तस्य, तटाऽन्त + भू + भिद् + क्विप् (उपपद०)। मृणालजालस्य = मृणालाना जाल, तस्य (ष० त०)। निभात्= "निभो व्याजसदृशयो " इति विश्व । अनन्तोरगपुच्छसच्छवीन् = अनन्तश्चाऽसौ उरग (क० धा०), शेषोऽनन्त" इत्यमरः। अनन्तोरगस्य पुच्छम् (ष० त०), समाना छवि. येपा ते सच्छवय (बहु०) "समानस्यच्छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु" इससे "समानस्य" इसका योगविभाग होनेसे "समान" के स्थानमे "स" आदेश। अनन्तोरगपुच्छेन सच्छवय , तान् (तृ० त०)। पयोनिलीनाऽभ्रमुकामुकावलीरदान् = पयसि निलीना (स० त०)। अभ्रमो कामुका (ष० त०), "कर्मेरनिषेध " इस वार्तिकसे "नलोका-व्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" इससे विधीयमान षष्ठीका निषेध नही हुआ। तेपाम् आवल्य (ष० त०)। पयोनिलीनाश्च ता अभ्रमुकामुकावल्य (क० धा०), तासा रदा , तान् (ष० त०)। "ऐरावतोऽभ्रमातङ्गैरावणाऽभ्रमुवल्लभा ।" इति।

"करिण्योऽभ्रमुकपिलापिङ्गला-नुपमा क्रमात् ।
ताम्रकर्णी शुभ्रदन्ती चाऽङ्गना चाऽञ्जनावती ॥" इति चाऽमर ।

बभार = भृञ् + लिट् + तिप् । इस पद्यमे उपमा और कैतवापह्नुति इन दोनोका अङ्गाऽङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ १०८ ॥

तटाऽन्तविश्रान्ततुरंगमच्छटास्फुटाऽनुबिम्बोदयचुम्बनेन य. ।
बभौ चलद्वीचिकशाऽन्तशातनैः सहस्रमुच्चैःश्रवसामिव श्रयन् ॥१०९॥

अन्वय.—य तटाऽन्तविश्रान्ततुरगमच्छटास्फुटाऽनुबिम्बोदयचुम्बनेन वीचिकशाऽन्तशातनै चलन् उच्चैःश्रवसा सहस्र श्रयन् इव बभौ ॥ १०९ ॥

व्याख्या—यः = तडाग, तटाऽन्तविश्रान्ततुरगमच्छटास्फुटाऽनुबिम्बबोदय-

चुम्बनेन=तीरप्रान्तस्थितनलाऽश्वश्रेणीप्रकटप्रतिबिम्बोत्पत्तिसम्बन्धेन, वीचिकशाऽन्तशातनैः = तरङ्गाऽश्वताडनीप्रान्तताडनै, चलत्=स्फुरन्, उच्चैःश्रवसाम् = उच्चैःश्रवो नामकमहेन्द्राऽश्वाना, सहस्रं = दशशती, बाहुल्यमिति भाव । श्रयन् इव = प्राप्नुवन् इव, बभौ = शुशुभे ॥ १०९ ॥

अनुवादः—जो तालाब तीरके प्रान्तमे विश्राम करते हुए घोडोके प्रतिबिम्बोके सम्बन्धसे तरङ्गरूप चाबुकोके प्रहारोसे चलते हुए हजारो उच्चैःश्रवाओको धारण करते हुएके समान शोभित होता था ॥ १०९ ॥

टिप्पणी—तटाऽन्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटास्फुटाऽनुबिम्बोदयचुम्बनेन = तटस्य अन्त (ष० त०) तस्मिन् विश्रान्ता (स० त०) । तुरङ्गमाणा छटा (ष० त०) । तटान्तविश्रान्ताश्च ता तुरङ्गमच्छटा (क० धा०), अनुबिम्बस्य उदयः (ष० त०) । तस्य चुम्बनम् (ष० त०) । स्फुटम् (यथा तथा) अनुबिम्बोदय, चुम्बनम् (सुप्सुपा०) । तटाऽन्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटाया स्फुटाऽनुबिम्बोदयचुम्बन, तेन (ष० त०) । वीचिकशाऽन्तशातनै. वीचय एव कशा (रूपक०) । "अश्वादेस्ताडनी कशा" इत्यमर । वीचिकशानाम् अन्ता (ष० त०), ते शातनानि, तै (तृ० त०) । चलत् = चल + लट् (शतृ) । श्रयन्=श्रयतीति, "श्रिञ् सेवायाम्" धातुसे लट्के स्थानमे शतृ आदेश । बभौ = "भा दीप्तौ" धातुसे लिट् + त । इस पद्यमे "वीचिकशा" इस अंशमे रूपक और उत्प्रेक्षा अलङ्कार है, उत्प्रेक्षासे नलके घोडोकी इन्द्रके अश्व उच्चैःश्रवासे समता व्यङ्ग्य होती है इस प्रकारसे अलङ्कारसे वस्तुध्वनि है ॥ १०९ ॥

सिताऽम्बुजानां निवहस्य यश्छलाद्बभावलिश्यामलितोदरश्रियाम् ।
तमःसमच्छायकलङ्कसङ्कुलं कुलं सुधांऽशोर्बहुलं वहन्बहु ॥ ११० ॥

अन्वयः—य अलिश्यामलितोदरश्रिया सिताऽम्बुजाना निवहस्य छलात् तमःसमच्छायकलङ्कसङ्कुल बहुल सुधाऽशो कुल वहन् बहु बभौ ॥ ११० ॥

व्याख्या—य =तडाग , अलिश्यामलितोदरश्रिया = भ्रमरश्यामीकृतमध्यशोभानां, सिताऽम्बुजाना=श्वेतकमलाना, पुण्डरीकाणामित्यर्थ , निवहस्य = समूहस्य, छलात् = कैतवात्, तम समच्छायकलङ्कसङ्कुलं = तिमिरवर्णलाञ्छनव्याप्त, बहुल = प्रचुर, सुधाशो. = चन्द्रमस , कुल=समूह, वहन् = धारयन् सन्, बहु = अधिक, बभौ = शुशुभे ॥ ११० ॥

अनुवादः—जो तालाब मध्यमे भौरोसे श्यामवर्णवाली शोभासे सम्पन्न श्वेत-

कमलोके छलसे श्यामवर्णवाले कलङ्कोसे व्याप्त बहुतसे चन्द्रोको धारण करता हुआ अधिक शोभित था ॥ ११० ॥

टिप्पणी—अलिश्यामलितोदरश्रियाम्=श्यामला कृता श्यामलिता, अलिभि श्यामलिता (तृ० त०)। उदरस्य श्री (ष० त०)। अलिश्यामलिता उदरश्री येषां तानि अलिश्यामलितोदरश्रीणि, तेषाम् (बहु०), "तृतीयादिषु भाषितपुस्क पुवद् गालवस्य" इससे पुवद्भाव। सिताऽम्बुजाना=सितानि च तानि अम्बुजानि, तेषाम् (क० धा०)। तम समच्छायकलङ्कसङ्कुल = तमसा समा (तृ० त०), सा छाया (कान्ति) येषा ते तम समच्छाया (बहु०), ते च ते कलङ्का (क० धा०), तै. सङ्कुल, तत् (तृ० त०)। सुधाऽशो = सुधा (युक्ता) अशव यस्य स सुधाऽशु, तस्य (बहु०)। वहन् = वह + लट् (शतृ) + सु। बहु = क्रियाविशेषण है बभौ=भा + लिट् + तिप् (णल्)। इस पद्यमे उपमा और कैतवाऽपह्नुति इन दोनोमें अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥११०॥

रथाऽङ्गभाजा कमलाऽनुषङ्गिणा शिलीमुखस्तोमसखेन शार्ङ्गिणा ।
सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवान्मृणालशेषाऽहिभुवाऽन्वयायि यः ॥ १११ ॥

अन्वय—रथाऽङ्गभाजा कमलाऽनुषङ्गिणा शिलीमुखस्तोमसखेन मृणालशेषाऽहिभुवा शार्ङ्गिणा सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवात् य (अपानिधि) यथा अन्वयायि (तथैव) रथाङ्गभाजा कमला-नुषङ्गिणा शिलीमुखस्तोमसखेन मृणालशेषाऽहिभुवा सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवान् य. अन्वयायि ॥ १११ ॥

व्याख्या—रथाङ्गभाजा = सुदर्शनचक्रधारिणा, कमलाऽनुषङ्गिणा=कमला-ससर्गवता, शिलीमुखस्तोमसखेन = भ्रमरसमूहसदृशेन, कृष्णवर्णेनेत्यर्थ.। मृणाल-शेषाऽहिभुवा = बिससदृशशेषनागाऽऽधारेण, सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवान् = कम-लिनीगुल्मसमूहच्छलात् कमलिनीगुल्मसमूहोऽपि शेषनागसदृशो भवतीति भाव:। शार्ङ्गिणा = विष्णुना, य: = अपानिधि = समुद्र, (यथा=येन प्रकारेण) अन्व-यायि=अनुगत:। (तथैव) रथाऽङ्गभाजा = चक्रवाकयुक्तेन, कमलाऽनुषङ्गिणा= कमलससर्गयुक्तेन, शिलीमुखस्तोमसखेन=अलिकुलसहचरेण, सरोजिनीस्तम्बकदम्ब-कैतवात्=कमलिनीगुच्छसमूहच्छलात्, मृणालशेषाऽहिभुवा = शेषसदृशबिसाधारेण, सरोजिनीस्तम्बकदम्बेन=कमलिनीगुच्छसमूहेन, सरोजिनीस्तम्बकदम्बे एव मृणा-लानि भवन्तीति भाव। य:=अपानिधि, तडाग, अन्वयायि=अनुगत: ॥१११॥

अनुवाद—चक्र (सुदर्शन चक्र) को धारण करनेवाले, कमला (लक्ष्मी) के ससर्गसे युक्त, भ्रमरसमूहके सदृश (कृष्णवर्णवाले), मृणालसदृश (श्वेतवर्ण)

शेषनागके ऊपर शयन करनेवाले विष्णुसे जैसे समुद्र अधिष्ठित होता है, उसी तरह जो तालाब रथाङ्गो (चक्रवाको) से युक्त, कमलोके संसर्गसे युक्त, भ्रमरोके भ्रमणका स्थान, शेषनागके सदृश (सफेद) मृणालोका आधारभूत कमलिनी-गुच्छोसे अनुगत था ॥ १११ ॥

टिप्पणी—रथाऽङ्गभाजा = रथस्य अङ्ग (ष० त०), चक्रमित्यर्थ. । रथाऽङ्ग भजतीति रथाऽङ्गभाक्, तेन, रथाऽङ्ग + भज् + ण्विः (उपपद०) । सुदर्शन चक्रको लेनेवाले यह तात्पर्य है, "शार्ङ्गिणा" इसका विशेषण । दूसरा अर्थ—रथाऽङ्ग पदका चक्ररूप अर्थ भी होता है "चक्रवाक" (चकवा) शब्दका एकदेश चक्र है "नामैकदेशे नामग्रहणम्" अर्थात् नामके एक देश (अवयव) मे भी नामका ग्रहण होता है इस न्यायसे 'चक्र' का अर्थ चक्रवाक और उसका पर्याय "रथाङ्ग" भी चक्रवाक (चकवा) का वाचक हुआ है । "कोकश्चक्रश्चक्रवाको रथाङ्गाह्वयनामक ।" इत्यमर. । रथङ्गान् भजतीति रथाङ्गभाक्, तेन, चक्रवाक से युक्त यह अर्थ हुआ । यह "सरोजिनीस्तम्बकदम्बेन" इसका विशेषण है । कमलाऽनुषङ्गिणा=अनुषङ्गः अस्य अस्तीति अनुषङ्गी, अनुषङ्ग + इनि. । कमलया अनुषङ्गी, तेन (तृ० त०) लक्ष्मीसे युक्त, यह पद "शार्ङ्गिणा" इसका विशेषण है । शिलीमुखस्तोमसखेन=शिलीमुखाना स्तोम. (स० त०) तस्य सखा (सदृशः) तेन (ष० त०), इस प्रकार यह "शार्ङ्गिणा" इसका विशेषण है । दूसरे पक्षमे—कमलै अनुषङ्गी, तेन, "सरोजिनीस्तम्बकदम्बेन" इसका विशेषण है । मृणालशेषाऽहिभुवा = शेषश्चाऽसौ अहि. (क० धा०) । मृणालम् इव शेषाऽहिः "उपमानानि सामान्यवचनै." इससे समास । "मृणालशेषाऽहि भू. (शयनाधारः) यस्य स" तेन (बहु०) । मृणालके समान सफेद शेषनागमे सोनेवाले, इस अर्थमे "शार्ङ्गिणा" का विशेषण है । दूसरे पक्षमे—मृणालशेषाऽहिभुवा = मृणालं शेषाऽहि इव "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याऽप्रयोगे" इससे समास । मृणालऽशेषाऽहे. भू (आधार.), (ष० त०) तेन । इस पक्षमे यह "सरोजिनी-स्तम्बकदम्बेन" इसका विशेषण है । सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवात्=सरोजिनीना स्तम्बा. (ष० त०) "अप्रकाण्डे स्तम्बगुल्मौ" इत्यमर । सरोजिनीस्तम्बाना कदम्बं (ष० त०), तस्य कैतवं, तस्मात् (ष० त०) । तडागपक्षमे इसका सम्बन्ध करनेके लिए "सरोजिनीस्तम्बकदम्बेन" ऐसा विभक्तिविपरिणाम और **पदहान** करना चाहिए, तब दो पदोका समष्टि अर्थ शेष सर्पके समान शुक्लवर्ण मृणालोके आधारभूत कमलोके गुन्छोसे जो तालाब अनुगत था ऐसा होता है ।

अन्वयायि=अनु-उपसर्गपूर्वक "या" धातुसे लुङ् (कर्ममे) + त। इस पद्यमे कैतवाऽपह्नुति, उपमा और श्लेष इन अलङ्कारोकी निरपेक्षतया स्थिति होनेसे ससृष्टि है ॥ १११ ॥

तरङ्गिणीरङ्कजुष स्ववल्लभास्तरङ्गरेखा बिभराम्बभूव यः ।
दरोद्गतैः कोकनदौघकोरकैर्धृतप्रवालाऽङ्कुरसञ्चयश्च यः ॥ ११२ ॥

अन्वयः—य. अङ्कजुषः तरङ्गरेखा (एव) स्ववल्लभा. तरङ्गिणी बिभराम्बभूव। (किञ्च) य दरोद्गतै कोकनदौघकोरकै धृतप्रवालाऽङ्कुरसञ्चयश्च (अस्ति) ॥ ११२ ॥

व्याख्या—य तडाग, अपानिधिरिव इति शेष.। अङ्कजुष =निकटवर्तिनो, उत्सङ्गसङ्गिनीश्च, तरङ्गरेखा =भङ्गराजी (एव), स्ववल्लभा =निजप्रिया', तरङ्गिणी =नदी, बिभराम्बभूव=धारयामास। (किञ्च) य =तडागः, दरोद्गतै = ईषदुद्बुद्धै, कोकनदौघकोरकै.=रक्तोत्पलसमूहकलिकाभि, धृतप्रवालाऽङ्कुरसञ्चयश्च=गृहीतविद्रुमाङ्कुरनिकरश्च, अस्तीति शेषः ॥ ११२ ॥

अनुवाद—जैसे समुद्र गोदमे रहनेवाली अपनी प्रियाओ नदियोको धारण करता है वैसे ही जो तालाब अपने पासमे रहनेवाली तरङ्गरेखारूप अपनी प्रियाओको धारण कर रहा था। जैसे समुद्र विद्रुमो (मूगो) के समूहको धारण करता है वैसे ही जो तालाब कुछ खिली हुई लाल कमलोकी कलियोको धारण कर रहा था ॥ ११२ ॥

टिप्पणी—अङ्कजुष =अङ्क जुषन्त इति, ता, अङ्क+जुष्+क्विप् (उपपद०)। तरङ्गरेखा. = तरङ्गाणा रेखा, ता (ष० त०), एव)। स्ववल्लभाः= स्वस्य वल्लभा, ता. (ष० त०)। तरङ्गिणी =नदी, "तरङ्गिणी शैवलिनी तटिनी ह्रादिनी धुनी।" इत्यमरः। बिभराम्बभूव="डुभृञ् धारणपोषणयो" धातुसे लिट्मे "भीह्रीभृहुवा श्लुवच्च" इस सूत्रसे भृ धातुसे विकल्पसे आम् प्रत्यय, पक्षान्तरमे "बभार" ऐसा रूप भी बनता है। दरोद्गतै.=दरम् (यथा तथा) उद्गता, तै. (सुप्सुपा०), "कन्दरे तु दरीमाहुरीषदर्थे दरोऽव्ययम्।" इति विश्वः। कोकनदौघकोरकै =कोकनदानाम् ओघाः (ष० त०), "रक्तोत्पल कोकनदम्" इत्यमर'। कोकनदौघाना कोरका' तै (ष० त०)। धृतप्रवालाऽङ्कुरसञ्चयः=प्रवालानाम् अङ्कुराः (ष० त०), तेषां सञ्चय (ष० त०) धृतः प्रवालाऽङ्कुरसञ्चय येन स. (बहु०)। इस पद्यमे तरङ्गरेखाओमे तरङ्गिणीत्वके आरोपसे रूपक अलङ्कार है ॥ ११२ ॥

महीयशः पङ्कजमण्डलस्य यश्छलेन गौरस्य च मेचकस्य च ।
नलेन मेने सलिले निलीनयोस्त्विष विमुञ्चन्विधुकालकूटयोः ॥ ११३ ॥

अन्वयः—य महीयस गौरस्य मेचकस्य च पङ्कजमण्डलस्य छलेन सलिले निलीनयो विधुकालकूटयो त्विष विमुञ्चन् (इव) नलेन मेने ॥ ११३ ॥

व्याख्या—य = तडाग , महीयस = महत्तरस्य, गौरस्य=श्वेतस्य, मेचकस्य च = नीलस्य च, पकजमण्डलस्य=कमलसमूहस्य, शुक्लनीलकमलयोरिति भाव । छलेन = कैतवेन, सलिले = जले, निलीनयो = निमग्नयो , विधुकालकूटयोः = चन्द्रकालकूटविषयो सिताऽसितयो., त्विषं = कान्ति, विमुञ्चन्=विसृजन्, (इव) नलेन = नैषधेन, मेने = सभावित ॥ ११३ ॥

अनुवादः—जिस तालाबको बडेसे सफेद और नीले कमलसमूहके बहानेसे जलमे डूबे हुए चन्द्रमा और कालकूट विषकी कान्तिको छोडते हुएके समान नलने सम्भावना की ॥ ११३ ॥

टिप्पणी—महीयस.=अतिशयेन महत् महीय , तस्य, महत् + ईयसुन् + ङस् । पकजमण्डलस्य=पकजाना मण्डल, तस्य (ष० त०), निलीनयो =नि + ली + क्त + ओस् । विधुकालकूटयो. = विधुश्च कालकूट च, तयो (द्वन्द्वः) । विमुञ्चन् = विमुञ्चतीति, वि + मुच् + लट् (शतृ) + सु । "शेमुचादीनाम्" इससे नुम् आगम । मेने=मन् + लिट् (कर्ममे) + त । इस पद्यमे कैतवाऽपह्नुति और उत्प्रेक्षा इन दोनो अलकारोका अगाङ्गिभाव होनेसे सकर अलकार है ॥ ११३ ॥

चलीकृता यत्र तरङ्गरिङ्गणैरबालशैवाललतापरम्पराः ।
ध्रुवं दधुर्वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमताम् ॥ ११४ ॥

अन्वयः—यत्र तरङ्गरिङ्गणै चलीकृता अबालशैवाललतापरम्परा. वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमतां दधु ध्रुवम् ॥ ११४ ॥

व्याख्या—यत्र = यस्मिन्, तडाग इति भावः । तरगरिङ्गणैः = भंगकम्पनै, चलीकृताः = चञ्चलीकृता., अबालशैवाललतापरम्परा. = कठोरजलनीलीवल्लीपङ्क्तय., वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमतां = वडवाऽनलाऽवस्थानबहिःप्रादुर्भवत्तमबाहुल्यधूमतां, दधुः = धारयामासु , ध्रुवम् = इव, बहिरुत्थितधूमपटलवद्बभु ॥ ११४ ॥

अनुवाद—जिस तालाबमें तरंगोके कम्पनसे चञ्चल बनायी गयी कठोर

सेवारकी लताएँ नीचे वडवाग्निकी स्थितिसे प्रादुर्भूत होनेवाले धूमकी बहुलताको मानो धारण कर रही थी ॥ ११४ ॥

टिप्पणी—तरगरिङ्गणैः = तरगाणा रिङ्गणानि, तैः (ष० त०)। चलीकृता. = अचला. चला: सपद्यन्ते तथा कृता, चल + च्वि + कृ + क्त + टाप् + जस्। अबालशैवाललतापरम्परा. = न बाला अबाला. (नञ् तत्पु०)। शैवालानां लता (ष० त०)। "जलनीली तु शैवाल शेवल." इत्यमरः" । अबालाश्च ता शैवाललता (क० धा०), तासा परम्परा, (ष० त०)। वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमतां = हव्य वहतीति हव्यवाड् (अग्नि), हव्य-उपपदपूर्वक 'वह' धातुसे "वहश्च" इस सूत्रसे ण्वि प्रत्यय (उपपद०)। वाडवश्चाऽसौ हव्यवाट् (क० धा०), तस्य अवस्थिति (ष० त०)। अतिशयेन प्ररोहन् प्ररोहत्तम., प्ररोहत् + तमप्। बहो भाव भूमा, 'बहु' शब्दसे "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इससे इमनिच् प्रत्यय और "बहोर्लोपो भू च बहो." इससे 'बहु'के स्थानमे भू आदेश। प्ररोहत्तमो भूमा येषा ते प्ररोहत्तमभूमानः (बहु०), ते च ते धूमाः (क० धा०)। वाडवहव्यवाडवस्थित्या प्ररोहत्तमभूमधूमा (तृ० त०), तेषा भावस्तत्ता, ताम् वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूम + तल् + टाप् + अम्। दधु = धा + लिट् + झि (उस्)। इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ११४ ॥

प्रकाममादित्यमवाप्य कण्टकैः करम्बिताऽऽमोदभर विवृण्वती।
धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा दिवा सरोजिनी यत्प्रभवाऽप्सरायिता ॥ ११५ ॥

अन्वय.—आदित्यम् अवाप्य कण्टकै. प्रकामं करम्बिता, आमोदभर विवृण्वती, दिवा धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा यत्प्रभवा सरोजिनी अप्सरायिता ॥ ११५ ॥

व्याख्या—आदित्य = सूर्यम्, अप्सर पक्षे—इन्द्रम्, अवाप्य=प्राप्य, कण्टकै = नालगततीक्ष्णाऽवयवै, अप्सर पक्षे—रोमाञ्चै., प्रकामम् = अत्यर्थ, करम्बिता = दन्तुरिता, अप्सर पक्षे—युक्ता। आमोदभर = परिमलसम्पदम्, अप्सर पक्षे—आनन्दसम्पद, विवृण्वती = प्रकटयन्ती, दिवा = दिवसे, धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा = गृहीतव्यक्तकमलस्वरूपा, अप्सर.पक्षे—दिवा = स्वर्गेण, धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा = गृहीतशोभास्थानशरीरा, स्वर्गलोकवासिनीति भाव, एतादृशी यत्प्रभवा = यत् तडागोत्पन्ना, सरोजिनी=कमलिनी, अप्सरायिता=अप्सरोवत् आचरिता ॥ ११५ ॥

अनुवादः—जैसे स्वर्गलोकमे रहनेवाली अप्सरा इन्द्रको पाकर अत्यन्त रोमाञ्चोंसे युक्त होती है, अतिशय आनन्दको प्रकट करती है वैसे ही जिस तालाबसे

उत्पन्न कमलिनी सूर्यको पाकर नालमे स्थित कण्टकोसे अत्यन्त युक्त होकर अतिशय सुगन्धको प्रकट कर तथा स्पष्ट रूपसे कमलरूप शरीरको धारण करती हुई अप्सराके समान आचरण करती है ॥ ११५ ॥

टिप्पणी—आदित्यम्=अदितेरपत्य पुमान् आदित्य. तम् 'अदिति' शब्दसे "दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्य" इससे ण्य प्रत्यय। अवाप्य=अव+आप्+क्त्वा (ल्यप्)। आमोदभरम्=आमोदस्य भर, तम् (ष० त०)। "आमोदः सोऽतिनिर्हारी" इति "मुत्प्रीति प्रमदो हर्षप्रमोदामोदसम्मदा.।" इति चाऽमर.। विवृण्वती=विवृणोतीति, वि=वृञ्+लट् (शतृ)+ङीप्+सु। दिवा="दिवाऽह्नीति" इति "सुरलोको द्योदिवौ द्वे स्त्रिया, क्लीबे त्रिविष्टपम्" इति चाऽमर। धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा=श्रिय गृहाणि (ष० त०)। स्फुटानि च तानि श्रीगृहाणि (क० धा०)। धृतानि स्फुटश्रीगृहाणि (पद्मानि) यस्य स. (बहु०), धृतस्फुटश्रीगृह. विग्रह (स्वरूपम्) यस्या सा (बहु०)। अप्सराके पक्षमें—दिवा=स्वर्गेण, धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा=श्रिय. (शोभाया.) गृहम् (ष० त०)। धृत स्फुट श्रीगृह विग्रह (शरीरम्) यस्या. सा (बहु०) उज्ज्वलशोभायुक्त शरीरवाली यह तात्पर्य है। यत्प्रभवा=प्रभवति अस्मात् इति प्रभव, प्र—उपसर्ग-पूर्वक 'भू' धातुसे "ऋदोरप्" इस सूत्रसे अप प्रत्यय। य. (तडाग) प्रभवः (कारणम्) यस्या सा (बहु०)। अप्सरायिता=अप्सरोवत् आचरिता, अप्सरस् शब्दसे "कर्तु क्यङ् सलोपश्च" इस सूत्रसे "ओजसोऽप्सरसो नित्यमितरेषा विभाषया" इस वार्तिकके सहकारसे क्यच् प्रत्यय, सकारका लोप और टाप् प्रत्यय। इस पद्यमे श्लेष और उपमा अलङ्कार है ॥ ११५ ॥

यदम्बुपूरप्रतिबिम्बताऽऽयतिर्मरुत्तरङ्गैस्तरलस्तटद्रुमः ।
निमज्ज्य मैनाकमहीभृत. सतस्ततान पक्षान्धुवतः सपक्षताम् ॥ ११६ ॥

अन्वयः—यदम्बुपूरप्रतिबिम्बताऽऽयति. मरुत्तरङ्गै. तरल. तटद्रुम निमज्ज्य सतः पक्षान् धुवत मैनाकमहीभृत सपक्षता ततान ॥ ११६ ॥

व्याख्या—यदम्बुपूरप्रतिबिम्बताऽऽयतिः=यज्जलप्रवाहप्रतिफलिताऽऽयामः, मरुत्तरगै=वायुचालितोर्मिभि, तरल=चञ्चल, तटद्रुम=तीरवृक्षः, निमज्ज्य=निमग्नीभूय, सत=विद्यमानस्य, पक्षान्=पतत्त्राणि, धुवत=कम्पयतः, मैनाकमहीभृत.=मैनाकपर्वतस्य, सपक्षतां=तुल्यता, पक्षयुक्तता च, ततान=विस्तारयामास ॥ ११६ ॥

अनुवादः—जिस तालाबके जलप्रवाहमें प्रतिबिम्बित विस्तारवाला, वायुसे

कम्पित तरङ्गोसे चञ्चल किनारेका पेड डूबकर रहते हुए और पखोको हिलाते हुए मैनाक पर्वतके समानताका वा पक्षयुक्त-भावका विस्तार कर रहा था ॥ ११६ ॥

टिप्पणी—यदम्बुपूरप्रतिबिम्बितायति =अम्बुन पूरः (ष० त०)। यस्य (तडागस्य) अम्बुपूर (ष० त०)। प्रतिबिम्बिता आयति यस्य स (बहु०)। यदम्बुपूरे प्रतिबिम्बिताऽऽयति (स० त०)। मरुत्तरङ्गै =मरुत तरङ्गा, तैः (ष० त०)। तटद्रुम =तटे द्रुम (स० त०)। निमज्ज्य = नि + मस्ज + क्त्वा (ल्यप्)। सत =अस्तीति सत्, तस्य, अस् + लट् (शतृ) + ङस्। धुवत =धुवतीति धुवन्, तस्य, "धू विधूनने" इस तुदादिस्थ धातुसे लट् शतृ+ङस् मैनाकमहीभृत =मैनाकश्चाऽसौ महीभृत्, तस्य (क० धा०), सपक्षता = समान. पक्ष. यस्य स. सपक्षः (बहु०), "समानस्यच्छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु" इस सूत्रमे "समानस्य" इसका योगविभाग होनेसे समानके स्थानमे "स" आदेश हुआ है। सपक्षस्य भावः सपक्षता, ताम्, सपक्ष + तल + टाप् + अम्। मैनाकपक्षमे—पक्षैः सह सपक्ष· (तुल्ययोग बहु०), "वोपसर्जनस्य" इस सूत्रसे 'सह'के स्थानमे स' भाव। ततान=तनु + लिट् + तिप् (णल्)। इन्द्रने जब पर्वतोके पक्षोको काटा तब मैनाक पर्वत डरकर समुद्रमे छिपा ऐसी पौराणिकी आख्यायिका है। इस पद्यमे उपमा अलङ्कार है ॥ ११६ ॥

युग्मम्—

पयोधिलक्ष्मीमुषि केलिपल्वले रिरंसुहंसीकलनादसादरम्।
स तत्र चित्रं विचरन्तमन्तिके हिरण्मय हसमबोधि नैषध. ॥ ११७ ॥
प्रियासु बालासु रतिक्षमासु च द्विपत्रितं पल्लवित च बिभ्रतम्।
स्मराऽर्जितं रागमहीरुहाऽङ्कुर मिषेण चञ्च्वोश्चरणद्वयस्य च ॥ ११८ ॥

अन्वयः—स नैषधः पयोधिलक्ष्मीमुषि तत्र केलिपल्वले रिरसुहसीकलनाद-सादर बालासु रतिक्षमासु च प्रियासु चञ्च्वो चरणद्वयस्य च मिषेण द्विपत्रितं पल्लवितं च स्मराऽर्जित रागमहीरुहाऽङ्कुर बिभ्रतम् अन्तिके विचरन्त चित्रं हिरण्मयं हसम् अबोधि ॥ ११७–११८ ॥

व्याख्या—सः=पूर्वोक्तः, नैषधः = नलः पयोधिलक्ष्मीमुषि = समुद्रशोभाहरे, समुद्रसदृश इति भावः। तत्र=तस्मिन्, केलिपल्वले = क्रीडासरसि, रिरसुहसी-कलनादसाऽऽदर = रमणेच्छुवरटामधुरशब्दसस्पृह, बालासु = आसन्नयौवनासु, अरतिक्षमास्विति भावः। रतिक्षमासु च = रमणसमर्थासु, युवतीष्विति भावः। इत्थं द्विविधासु, प्रियासु=वल्लभासु, क्रमात्, चञ्च्वोः = त्रोटयोः चरणद्वयस्य

च = पादद्वितयस्य च, मिषेण = छलेन, द्विपत्रित = सञ्जातद्विपत्रं, चञ्च्वोः द्विखण्डत्वेन साम्यादियमुक्तिः, पल्लवितं च = सञ्जातपल्लवत्व च, चरणयोः विसृमराऽङ्गुलित्वेन पल्लवसाम्यादियमुक्तिः । स्मरार्जित=कामोपार्जितं, स्मरेणैव वृक्षरोपणेनोत्पादितमिति भाव. । रागमहीरुहाऽङ्कुर = अनुरागवृक्षनूतनोद्भिदं, बिभ्रतं = धारयन्त, चञ्चुपुटमिषेण द्विपत्रित बालागोचरराग, चरणमिषेण पल्लवित युवतिविषये राग च धारयन्तमिति भाव । अन्तिके = हसोनिकटे, विचरन्त = गच्छन्त, चित्रम् = अद्भुत, हिरण्मयं = सुवर्णमय, हस = चक्राङ्गम्, अबोधि = ज्ञातवान्, अद्राक्षीदिति भाव. ।। ११७=११८ ।।

अनुवादः—महाराज नलने समुद्रकी शोभाका हरण करनेवाले, विहार-सरोवरमे रमणकी इच्छा करनेवाली हसियोके अव्यक्त मधुर शब्दोमे अभिलाष करनेवाले, बाला और प्रौढ अपनी प्रियाओमे दो चोचो और दो चरणोके बहानेसे दो पत्तोसे तथा पल्लवसे युक्त कामदेवसे उपार्जित अनुरागरूप वृक्षके अङ्कुरको धारण करते हुए और हसियोके पास जाते हुए अनूठे सुनहरे हसको देखा ।। ११७–११८ ।।

टिप्पणी—नैषध = निषध + अण् । पयोधिलक्ष्मीमुषि = पयोधे लक्ष्मीः (ष० त०) । ता मुष्णातीति पयोधिलक्ष्मीमुट्, तस्मिन्, पयोधिलक्ष्मी + मुष् + क्विप् + ङि (उपपद०) । केलिपल्वले = केले पल्वल, तस्मिन् (ष० त०) । "वेशन्तः पल्वल चाऽल्पसर" इत्यमर. । रिरसुहंसीकलनादसादर = रन्तुम् इच्छवः रिरसवः, रम् + सन् + उः । ताश्च ता हस्य (क० धा०) । कलश्चाऽसौ नाद (क० धा०), आदरेण सहित सादर. (तुल्ययोगबहु०) । रिरंसुहसीना कलनाद. (ष० त०), तस्मिन् सादर, तम् (स० त०) । रतिक्षमासु = रतौ क्षमा, तासु (स० त०), चञ्च्वो.=" चञ्चुस्त्रोटिरुभे स्त्रियाम्" इत्यमर । चरणद्वयस्य = चरणयो द्वय, तस्य (ष० त०) । द्विपत्रित = द्विसख्यके पत्रे द्विपत्रे (मध्यमपदलोपी स०) । द्विपत्रे सजाते अस्य द्विपत्रित, तम् "तदस्य सजात तारकादिभ्य इतच्" इससे इतच् प्रत्यय । पल्लवित = पल्लव सजातम् अस्य, तम्, पहलेके समान इतच् । स्मरार्जित = स्मरेण अर्जित., तम् (तृ० त०) । रागमहीरुहाऽङ्कुर = राग एव महीरुह (रूपक०) तस्य अङ्कुर, तम् (ष० त०) । बिभ्रत = भृ + लट् (शतृ) + अम् । विचरन्त = वि + चर + लट् (शतृ) + अम्, हिरण्मय=हिरण्यस्य विकारः, तम् "दाण्डिनायनहास्तिनायनाथर्वणिकजैह्माशिनेयवाशिनायनिभ्रौणहत्य धैवत्यसारवैक्ष्वाकमैत्रेयहिरण्मयानि"

इस सूत्रसे यकारलोपका निपातन । हसम् = यहाँपर "हस" शब्दसे राजहसको लेना चाहिए । "राजहसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितै सिता ।" इत्यमर. । अबोधि= "बुध अवगमने" "धातुसे लुङ्, (कर्तामे) "दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्यो-ऽन्यतरस्याम्" इससे च्लिके स्थानमे चिण् । पूर्वपद्यमे पयोधिलक्ष्मीको केलि-पल्लव कैसे हरण करता है इस प्रकार वस्तुसम्बन्ध असभव होकर पयोधि-लक्ष्मीके सदृश लक्ष्मीका बोधन करनेसे निदर्शना अलङ्कार है । दूसरे पद्यमे यथासख्य, रूपक और कैतवाऽपह्नुतिका सङ्कर है । उसके साथ दो रोगोके भेदमे अभेदलक्षणा अतिशयोक्तिसे उत्थापित चोचो और चरणोके व्याजसे भीतरके समान बाहर भी अङ्कुरितत्वकी उत्प्रेक्षा व्यङ्ग्य होती है इस प्रकार अलङ्कारसे अलङ्कारध्वनि है ॥ ११७–११८ ॥

महीमहेन्द्रस्तमवेक्ष्य स क्षणं शकुन्तमेकान्तमनोविनोदिनम् ।
प्रियावियोगाद्विधुरोऽपि निर्भरं कुतूहलाक्रान्तमना मनागभूत् ॥ ११९ ॥

अन्वयः—महीमहेन्द्र. स एकान्तमनोविनोदिनं त शकुन्त क्षणम् अवेक्ष्य प्रियावियोगात् निर्भरं विधुरः अपि मनाक् कुतूहलाक्रान्तमनाः अभूत् ॥ ११९ ॥

व्याख्या—महीमहेन्द्र. = पृथिवीन्द्र., स = नल', एकान्तमनोविनोदिन = नितान्तचित्ताह्लादक, त = पूर्वोक्त, शकुन्त = पक्षिण हसमित्यर्थ । क्षण = कञ्चित्कालम्, अवेक्ष्य = दृष्ट्वा, प्रियावियोगात्=दयिताविरहात्, दमयन्तीवियोगा-दित्यर्थ. । निर्भरम् = अतिमात्र, विधुरः अपि = विह्वल अपि, मनाक् = ईषत्, कुतूहलाक्रान्तमना. = कुतूहलाऽन्वितचित्त अभूत् = अभवत्, ग्रहीतुकामोऽभू-दिति भाव ॥ ११९ ॥

अनुवादः—राजा नल चित्तको अत्यन्त आनन्दित करनेवाले उस पक्षी-(हंस) को कुछ समयतक देखकर दमयन्तीके विरहसे अत्यन्त विह्वल होकर भी कुछ कुतूहलसे युक्त हो गये ॥ ११९ ॥

टिप्पणी—महीमहेन्द्र. = महांश्चाऽसौ इन्द्रः (क० धा०), मह्या महेन्द्रः (स० त०) । एकान्तमनोविनोदिन = मनो विनोदयतीति मनोविनोदी, मनस्+वि+नुद+णिच्+णिनि (उपपद०) । एकान्त (यथा तथा) मनोविनोदी, तम् (सुप्सुपा०) । "तीव्रैकान्तनितान्तानि गाढबाढदृढानि च ।" इत्यमरः । क्षण = "कालाऽध्वनोरत्यन्तसयोगे" इस सूत्रसे द्वितीया । "निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयो क्षणः ।" इत्यमर. । अवेक्ष्य = अव+ईक्ष+क्त्वा (ल्यप्) । प्रियावियोगात् = प्रियाया वियोगः, तस्मात् (ष त०) । कुतूहलाक्रान्तमनाः =

आक्रान्तं मनो यस्य स (बहु०), कुतूहलेन आक्रान्तमनाः (तृ० त०)। अभूत् = भू + लुङ् + तिप् ॥ ११९ ॥

अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा ।
तृणेन वात्येव तयाऽनुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशाऽवशात्मना ॥ १२० ॥

अन्वयः—अवश्यभव्येषु अनवग्रहग्रहा वेधसः स्पृहा यया दिशा धावति तया भृशाऽवशात्मना जनस्य चित्तेन तृणेन वात्या इव अनुगम्यते ॥ १२० ॥

व्याख्या—धीरोदात्तो नल कथ हमग्रहणात्मके चापल्ये प्रावर्तिष्टेत्याशङ्क्य समाधत्ते अवश्येति। अवश्यभव्येषु = नियमभवितव्येषु विषयेषु, अनवग्रहग्रहा = अप्रतिबन्धनिर्बन्धा, निरङ्कुशाऽभिनिवेशेति भाव। वेधसः = ब्रह्मणः, स्पृहा = इच्छा, यया दिशा = येन मार्गेण, धावति = गच्छति, तया = दिशा, भृशा वशात्मना = अत्यर्थपरतन्त्रस्वभावेन, जनस्य = लोकस्य, चित्तेन = मानसेन, तृणेन= अर्जुनेन, वात्या इव = वातसमूह इव, अनुगम्यते = अनुस्रियते, वेधस स्पृहा कर्म ॥ १२० ॥

अनुवाद—नियमसे भवितव्य विषयोमे प्रतिबन्धसे रहित आग्रहवाली ब्रह्माकी इच्छा जिस दिशासे जाती है उसी दिशाको अत्यन्त परतन्त्र स्वभाववाले मनुष्यका चित्त अनुगमन करता है, जैसे कि तृण वायुसमूहका अनुगमन करता है ॥१२०॥

टिप्पणी—अवश्यभव्येषु = भवन्तीति भव्या, "भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा" इस सूत्रसे निपात हुआ है। अवश्य भव्याः तेषु (सुप्सुपा०)। "अवश्यम्" के मकारका "लुम्पेदवश्यम कृत्ये" इससे लोप हुआ है। अनवग्रहग्रहा = अविद्यमान अवग्रह. यस्मिन् स (नञ्बहु०), स ग्रहः यस्यां सा (बहु०) "ग्रहोऽनुग्रहनिर्बन्धग्रहणेषु रणोद्यमे।" इति विश्व। भृशाऽवशात्मना = अवश (अधीन) आत्मा (स्वभाव.) यस्य स. (बहु०)। भृशम् (यथा तथा) अवशात्मा, तेन (सुप्सुपा०)। वात्या = वाताना समूह, 'वात' शब्दसे "पाशादिभ्यो य." इस सूत्रसे य प्रत्यय और टाप्। अनुगम्यते=अनुगम्+ लट् (कर्ममे) + त। इस पद्यमे उपमा अलङ्कार है ॥ १२० ॥

अथाऽवलम्ब्य क्षणमेकपादिकां तदा निदद्रावुपपल्वल खगः।
स तिर्यगावर्जितकन्धर. शिरः पिधाय पक्षेण रतिक्लमाऽलसः ॥ १२१ ॥

अन्वयः—अथ रतिक्लमाऽलस. स खग. तदा एकपादिकाम् अवलम्ब्य तिर्यगावर्जितकन्धरः (सन्) पक्षेण शिर पिधाय उपपल्वल क्षणं निदद्रौ १२१ ॥

व्याख्या—अथ = नलोत्कण्ठोत्पत्यनन्तर, रतिक्लमाऽलस. = सुरतखेदालस्य-

युक्त', स. = पूर्वोक्तः, खगः = पक्षी, हस इत्यर्थ. । तदा = तस्मिन् समये, एकपादिकाम् = एकपादाऽवस्थानक्रियाम्, अवलम्ब्य=आश्रित्य, तिर्यगावर्जितकन्धर.= तिर्यगावर्तितग्रीवः (सन्), पक्षेण = पतत्रेण, शिर = मूर्धानं, पिधाय = आच्छाद्य, उपपल्वल = क्रीडासरोवरनिकटे, क्षण = कञ्चित्काल, निदद्रौ = सुष्वाप ।। १२१ ।।

अनुवादः—नलको उत्कण्ठा होनेके अनन्तर रमणकी ग्लानिसे आलस्ययुक्त होकर वह पक्षी (हस) उस समय एक पैरसे भूतलका अवलम्बन कर गरदनको टेढा कर पखेसे शिर ढककर तालाबके पास कुछ समयतक सो गया ।। १२१ ।।

टिप्पणी—रतिक्लमाऽलस. = रतेः क्लमः (ष० त०), तेन अलस. (तृ० (त०) । खग. = खे गच्छतीति, ख + गम् + ड. । एकपादिकाम् = एक पाद. यस्याम् (क्रियायाम्) एकपादिका, ताम्, "तद्धिताऽर्थोत्तरपदसमाहारे च" इस सूत्रसे तद्धितार्थविषयमे समास होकर "अत इनिठनौ" इस सूत्रसे ठन् प्रत्यय होकर "ठस्येक" इससे उसके स्थानमे इक होकर स्त्रीत्वविवक्षामे टाप् । अनित्य होनेसे समासाऽन्त विधिका अभाव हुआ, अतएव पद् आदेशका प्रसग नही । तिर्यगावर्जितकन्धर = तिर्यक् आवर्जिता कन्धरा येन स. (बहु०) । पिधाय = अपि + धा + क्त्वा (ल्यप्), "वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयो." इसके अनुसार 'अपि' के अकारका लोप । "अपिधानतिरोधानपिधानाच्छादनानि च ।" इत्यमर । उपपल्वल = पल्वलस्य समीपे, समीप अर्थमे अव्ययीभाव । निद्रदौ = नि + द्रा + लिट् + णल् (औ) । इस पद्यमे स्वभावोक्ति अलङ्कार है, उसका लक्षण है—

"स्वभावोक्तिर्दुरूहाऽर्थस्वक्रियारूपवर्णनम् ।" सा० द० १०-१२१ ।।१२१।।

सनालमात्माऽऽननिर्जितप्रभ ह्रिया नतं काञ्चनमम्बुजन्म किम् ? ।
अबुद्ध त विद्रुमदण्डमण्डितं स पीतमम्भःप्रभुचामरं च किम् ? ।।१२२।।

अन्वय—स तम् आत्माऽऽननिर्जितप्रभ ह्रिया नत सनाल काञ्चनम् अम्बुजन्म किम् ? (तथा) विद्रुमदण्डमण्डितं पीतम् अम्भ प्रभुचामर च किम् (इति) अबुद्ध ।। १२२ ।।

व्याख्या—स = नल , तं = हसम्, आत्माऽऽननिर्जितप्रभं=स्वमुखपराजित-कान्ति, अतएव ह्रिया = लज्जया, नत=नम्र, सनाल = नालसहितम्, एकचरणाऽवस्थानादिति शेष । काञ्चन = सौवर्ण, हसस्य हिरण्मयत्वादिति शेषः । अम्बुजन्म = जलज, कमलमित्यर्थ , किं = किमु, (तथा) विद्रुमदण्डमण्डितं =

प्रवालदण्डभूषित, चरणस्य रक्तत्वादिति शेषः। पीत=पीतवर्णं, हिरण्मयत्वादिति शेष. । अम्भःप्रभुचामर च=वरुणप्रकीर्णक च, किं=किमु, इति अबुद्ध = बुद्धवान्, उत्प्रेक्षितवानिति भाव ॥ १२२ ॥

अनुवाद.—नलने हंसको अपने मुखसे पराजित कान्तिवाला अतएव लज्जासे झुका हुआ, नालसे युक्त सुनहला कमल है क्या ? अथवा मूँगेके दण्डसे अलकृत पीला वरुणदेवका चामर है क्या ? ऐसा विचार किया ॥ १२२ ॥

टिप्पणी—आत्माननिर्जितप्रभम् = निर्जिता प्रभा यस्य तत् (बहु०) । आत्मनः आननम् (ष० त०), तेन निर्जितप्रभम् (तृ० त०) । नत=नम्+क्त. । सनाल=नालेन सहितम् (तुल्ययोग बहु०) । काञ्चन=काञ्चनस्य विकारः, "अनुदात्तादेश्च" इस सूत्रसे अञ् प्रत्यय । अम्बुजन्म = अम्बुनः जन्म यस्य तत् (व्यधिकरण बहु०) । विद्रुमदण्डमण्डित=विद्रुमस्य दण्ड (ष० त०), तेन मण्डितम् (तृ० त०) । अम्भःप्रभुचामरम्=अम्भसः प्रभु (ष० त०), "प्रचेता वरुण पाशी यादसा पतिरप्पति ।" इत्यमर । अम्भ प्रभो चामरम् (ष० त०)। अबुद्ध ="बुध अवगमने" धातुसे लुङ् + त, "झषस्तथोर्धोऽधः" इस सूत्रसे तकार-के स्थानमे धकार । इस पद्यमे ह्री (लज्जा) के प्रति "निर्जितप्रभ" पदका अर्थ हेतु है अतः पदाऽर्थहेतुक काव्यलिङ्ग, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धमे दो उत्प्रेक्षाएँ और "अबुद्ध" इस एक क्रियाके साथ "अम्बुज" और "चामर" की कर्मतासे सम्बन्ध होनेसे तुल्ययोगिता अलङ्कार है, इस प्रकार इनका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ १२२ ॥

कृताऽवरोहस्य हयादुपानहौ तत पदे रेजतुरस्य बिभ्रती ।
तयो प्रवालैर्वनयोस्तथाऽम्बुजैर्नियोद्धुकामे किमु बद्धवर्मणी ? ॥ १२३ ॥

अन्वयः— तत हयात् कृताऽवरोहस्य अस्य उपानहौ बिभ्रती पदे तयो वनयोः प्रवालै तथा अम्बुजैः नियोद्धुकामे (अतः) बद्धवर्मणी रेजतु किमु ? ॥१२३॥

व्याख्या— ततः=हंसदर्शनानन्तर, हयात्=अश्वात्, कृताऽवरोहस्य=विहिताऽवतरणस्य, अस्य=नलस्य, उपानहौ = पादत्राणे, वर्मरूपे इति भाव । बिभ्रती = धारयती, पदे=चरणे, तयो =पूर्वोक्तयो , वनयो =विपिनसलिलयो, प्रवालैः= पल्लवै., तथा=तेन प्रकारेण, अम्बुजै =कमलै , नियोद्धुकामे = युद्धकामे, अतः बद्धवर्मणी=सन्नद्धकवचे, रेजतुः=शुशुभाते, किमु ॥ १२३ ॥

अनुवाद.— तब घोडेसे उतरनेवाले नलके जूतोको पहननेवाले पाँव, उपवन

और जलके पल्लवो और कमलोसे युद्ध करनेकी इच्छासे कवच पहने हुए है क्या ? इस प्रकार शोभित हुए ॥ १२३ ॥

टिप्पणी—हयात्=अपादानमे पञ्चमी । कृताऽवरोहस्य=कृत अवरोहः येन, तस्य (बहु०) । उपानहौ=उपनह्येते इति उपानहौ, ते, उप–उपसर्गपूर्वक "णह बन्धने" धातुसे "सम्पदादिभ्य क्विप्" इस वार्तिकसे क्विप् प्रत्यय और "नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ" इस सूत्रसे पूर्वपदका दीर्घ । बिभ्रती = भृ+लट् (शतृ) +औ । पदे=पद व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माऽङ्घ्रिवस्तुषु ।" इत्यमर । वनयो =वन च वनं च वने, तयो "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ" इससे एकशेष "वने सलिलकानने" इत्यमर । प्रवालै ="प्रवालोऽस्त्री किसलये वीणादण्डे च विद्रुमे ।" इति मेदिनी । नियोद्धुकामे=नियोद्धुं काम ययोस्ते (बहु०) । "तु काममनसोरपि" इससे तुमुन्के मकारका लोप । बद्धवर्मणी = बद्ध वर्म याभ्या ते (बहु०) । रेजतु = "राजृ दीप्तौ" धातुसे लिट्+तस् (अतुस्) । "फणा च सप्तानाम्" इस सूत्रसे एत्व और अभ्यासलोप । इस पद्यमे श्लेष यथासख्य और उत्प्रेक्षाका अङ्गाङ्गिभावरूप सङ्कर अलङ्कार है ॥ १२३ ॥

विधाय मूर्ति कपटेन वामनीं स्वयं बलिध्वंसिविडम्बिनीमयम् ।
उपेतपार्श्वश्चरणेन मौनिना नृपः पतङ्गं समधत्त पाणिना ॥ १२४ ॥

अन्वयः—अय नृप. स्वय कपटेन वामनी बलिध्वसिविडम्बिनी मूर्ति विधाय मौनिना चरणेन उपेतपार्श्वं पाणिना पतगं समधत्त ॥ १२४ ॥

व्याख्या—अयम्=एष , नृप =राजा, नल इत्यर्थ । स्वयम्=आत्मना, नत्वनुचरेण, कपटेन=छलेन, वामनी = ह्रस्वा, बलिध्वसिविडम्बिनी = भगवद्वामनाऽनुकारिणी, मूर्तिं=शरीर, विधाय = कृत्वा, शरीर सङ्कुच्येति भाव । मौनिना = मौनयुक्तेन, नि शब्देनेत्यर्थ । चरणेन = पादेन, उपेतपार्श्व = आसादितहससामीप्य· सन्, पाणिना = करेण, पतग = पक्षिण, हसमिति भाव । समधत्त = जग्राहेत्यर्थ ॥ १२४ ॥

अनुवादः—राजा नलने स्वयम् कपटसे बलिको छलनेवाले विष्णु (वामन) की नकल करनेवाला छोटा शरीर बनाकर शब्दसे रहित चरणसे (दबे पाँव) हंसके पास पहुँचकर हाथसे हसको पकड लिया ॥ १२४ ॥

टिप्पणी—वामनी=वामनस्य इय वामनी, ताम्, वामन+अण्+ङीप्+अम् । "टिड्ढाणञ्०" इस सूत्रसे ङीप् वा "षिद्गौरादिभ्यश्च" इससे ङीप् ।

बलिध्वंसिविडम्बिनी=बलिं ध्वसयतीति बलिध्वसी (वामन), बलि+ध्वंस+णिच्+णिनि. (उपपद०)। बलिध्वसिनं विडम्बयतीति बलिध्वसिविडम्बिनी, ताम्, बलिध्वसि+वि+डबि+णिनि+ङीप्+अम्। मूर्ति="मूर्ति काठिन्य-काययो" इत्यमरः। विधाय = वि+धा+क्त्वा (ल्यप्)। मौनिना=मुनेर्भावः मौनम्, 'मुनि' शब्दसे "इगन्ताच्च लघुपूर्वात्" इससे अण्। मौनम् अस्याऽस्तीति मौनी, तेन, मौन+इनि+टा। उपेतपार्श्वम् = उपेत पार्श्वं येन स, तम् (बहु०)। पाणिना = "साधकतम करणम्, इससे करणसज्ञा होकर तृतीया। समधत्त = सं+धा+लुङ्+त। इस पद्यमे स्वभावोक्ति और उपमाका ससृष्टि अलङ्कार है। पूर्वकालमे भगवान् नारायणने अदितिकी प्रार्थनासे वामन अवतार लेकर त्रिपादपरिमित भूमिकी प्रार्थना कर छलपूर्वक बलिको स्वर्गसे हटा दिया था, यहाँ पर उसी बातका सकेत है ॥ १२४ ॥

तदात्तमात्मानमवेत्य संभ्रमात्पुन. पुनः प्रायसदुत्प्लवाय सः।
गतो विरुत्योड्डयने निराशतां करौ निरोद्धुर्दशति स्म केवलम् ॥ १२५ ॥

अन्वयः—स आत्मान तदात्तम् अवेत्य सभ्रमात् उत्प्लवाय पुन पुन. प्रायसत्; उड्डयने निराशता गत (सन्) विरुत्य निरोद्धु करौ केवलं दशति स्म ॥१२५॥

व्याख्या—स = हस, आत्मान = स्व, तदात्त = नलगृहीतम्, अवेत्य = ज्ञात्वा, संभ्रमात् = त्वराया, उत्प्लवाय = उत्पतनाय, पुन पुन = भूयो भूय, प्रायसत् = प्रयासम् अकार्षीत्, उड्डयने = उत्पतने, निराशता = नैराश्य, गतः= प्राप्तः सन्, विरुत्य=विक्रुश्य, निरोद्धु =ग्रहीतु, नलस्येति भाव.। करौ=हस्तौ, केवलम् = एव, दशति स्म = दष्टवान् ॥ १२५ ॥

अनुवादः—उस हसने अपनेको नलसे पकडा गया जानकर घबडाहटसे उडनेके लिए वारवार प्रयत्न किया, आखिर उडनेमे निराश होकर चिल्लाकर नलके दोनो हाथोको काटने लगा ॥ १२५ ॥

टिप्पणी—तदात्त=तेन आत्त, तम् (तृ० त०)। अवेत्य =अव+इण्+क्त्वा (ल्यप्)। संभ्रमात् = हेतुमे पञ्चमी। उत्प्लवाय = "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिन." इस सूत्रसे चतुर्थी। प्रायसत् = प्र-उपसर्गपूर्वक "यसु प्रयत्ने" धातुसे लुङ्मे "पुषादिद्युताद्यॢदित परस्मैपदेषु" इस सूत्रसे च्लिके स्थानमे अङ् आदेश। निराशता = निर्गता आशा यस्मात् स. (बहु०)। निराशस्य भावो निराशता, ताम्, निराश+तल्+टाप्। विरुत्य = वि-उपसर्गपूर्वक "रु शब्दे"

धातुसे क्त्वा (ल्यप्)। निरोद्धु = निरुणद्धीति निरोद्धा, तस्य नि+रुध्+तृण+ङस्। इस पद्यमे भी स्वभावोक्ति अलङ्कार है ॥ १२५ ॥

ससंभ्रमोत्पातिपतत्कुलाऽऽकुलं सरः प्रपद्योत्कतयाऽनुकम्पिताम्।
तमूर्मिलोलैः पतगग्रहान्नृपं न्यवारयद्वारिरुहैः करैरिव ॥ १२६ ॥

अन्वय.—ससभ्रमोत्पातिपतत्कुलाऽऽकुल सर' उत्कतया अनुकम्पितां प्रपद्य त नृपम् ऊर्मिलोलै वारिरुहै करै इव पतगग्रहात् न्यवारयत् ॥ १२६ ॥

व्याख्या—ससभ्रमोत्पातिपतत्कुलाऽऽकुल=सत्वरोत्पतनशीलपक्षिसमूहव्याकुलं, सर = तडाग, उत्कतया = उत्कण्ठितत्वेन, अनुकम्पिता = दयालुता, प्रपद्य = प्राप्य, त = पूर्वोक्त, नृप = राजान, नलमिति भाव। ऊर्मिलोलै =तरङ्गचञ्चलै, वारिरुहै = कमलै, करै. इव = हस्तै इव, पतगग्रहात्=पक्षिग्रहणात्, न्यवारयत् इव = निवारितवान् इव ॥ १२६ ॥

अनुवादः—घबडाहटके साथ उडनेवाले पक्षियोसे आकुल तालाब, उत्कण्ठित होनेसे दयालु होकर राजा नलको तरगोसे चञ्चल कमलसदृश हाथोसे पक्षीको ग्रहण करनेमे मानो रोक रहा है ऐसा मालूम होता था ॥ १२६ ॥

टिप्पणी—ससभ्रमोत्पातिपतत्कुलाऽऽकुलं = पतन्तीति पतन्त', पत्+लट् (शतृ)। "पतत्रिपत्रिपतगपतत्पत्त्ररथाण्डजा ।" इत्यमर। पतता कुलम् (ष० त०)। सभ्रमेण सहित, (तुल्ययोगबहु०)। उत्पततीति उत्पाति, उद्+पत्+णिनि। ससभ्रम यथा तथा उत्पाति (सुप्सुपा०)। ससभ्रमोत्पाति च तत् पतत्कुलम् (क० धा०), तेन आकुलम् (तृ० त०)। उत्कतया = "उत्क उन्मना" इस सूत्रसे "उत्क" शब्दका निपात हुआ है। उत्कस्य भाव उत्कता, तया, उत्क+तल्+टाप्+टा। अथवा उद्गत क (जलम्) यस्मात् उत्क (बहु०), तस्य भाव तत्ता तया। पक्षियोके उडनेसे जलके हिलनेसे यह तात्पर्य है। अनुकम्पिताम्=अनुकम्पते तच्छील अनुकम्पी, अनु+कपि+णिनि। अनुकम्पिन भाव अनुकम्पिता, ताम्, अनुकम्पिन्+तल्+टाप्+अम्। प्रपद्य= प्र+पद्+क्त्वा (ल्यप्)। ऊर्मिलोलै =ऊर्मिभि लोलानि, तै (तृ० त०)। वारिरुहै =वारिणि रोहन्तीति वारिरुहाणि, तै, "इगुपधज्ञाप्रीकिर' क" इस सूत्र-से क प्रत्यय, वारि+रुह+क। पतगग्रहात्=पतगस्य ग्रह., तस्मात् (ष० त०)। न्यवारयत्=नि+वृ+णिच्+लङ्+तिप्। इस पद्यमे उपमा और "न्यवारयत्" यहाँपर उत्प्रेक्षावाचक इव आदि शब्दके न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा इस प्रकार दो अलङ्कारोंका अंगाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ १२६ ॥

पतत्त्रिणा तद्रुचिरेण वञ्चितं श्रियः प्रयान्त्याः प्रविहाय पल्वलम् ।
चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा चुकूज कूले कलहंसमण्डली ॥१२७॥

अन्वयः—रुचिरेण पतत्त्रिणा वञ्चित तत् पल्वल प्रविहाय प्रयान्त्या· श्रियः चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा कलहसमण्डली कूले चुकूज ॥ १२७ ॥

व्याख्या—रुचिरेण = सुन्दरेण, पतत्त्रिणा = पक्षिणा, हसेनेति भाव·, वञ्चितं = विरहितं, तत् = पूर्वोक्त, पल्वलं=तडाग, प्रविहाय = सत्यज्य, प्रयान्त्या = गच्छन्त्या , श्रिय = लक्ष्म्या , चलत्पदाऽम्भोरुहनूपुरोपमा=गच्छच्चरण-कमलपादाऽङ्गदसाम्ययुक्ता, कलहसमण्डली = राजहंससंहतिः, कूले = तडागतटे, चुकूज = अव्यक्तशब्द चकार ॥ १२७ ॥

अनुवादः—सुन्दर पक्षी (राजहंस) से रहित उस तालाबको छोडकर जाती हुई लक्ष्मीके चलते हुए चरणकमलोके नूपुरके सदृश राजहसमूह किनारेमे शोर मचाने लगा ॥ १२७ ॥

टिप्पणी—प्रविहाय = प्र + वि + हा + क्त्वा (ल्यप्) । प्रयान्त्या. = प्रयातीति प्रयान्ती, तस्या , प्र + या + लट् + शतृ + ङीप् + ङस् । चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा=अम्भसि रोहत इति अम्भोरुहे, अम्भस् + रुह + क । पदे अम्भोरुहे इव (उपमित०) । चलती च ते पदाम्भोरुहे (क० धा०), तयोः नूपुरौ (ष० त०), "पादाङ्गद तुलाकोटिर्मञ्जीरो नूपुरोऽस्त्रियाम् ।" इत्यमर. । चलत्पदाम्भोरुहनूपुराभ्याम् उपमा (सादृश्यम्) यस्या· सा (व्यधिकरणबहु०) । कलहसमण्डली=कलवाचो हंसा कलहसा. (मध्यमपदलोपी स०) । "कलहंसस्तु कादम्बे राजहंसे नृपोत्तमे ।" इति विश्व. । कलहंसाना मण्डली (ष० त०) । चुकूज = "कूज अव्यक्ते शब्दे" इस धातुसे लिट् + तिप् (णल्) । इस पद्यमे शोभा और लक्ष्मीके भेद होनेपर भी श्री शब्दके श्लेषसे अभेद अध्यवसाय होनेसे अतिशयोक्ति और उपमा इन दोनोका अंगाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ १२७ ॥

न वासयोग्या वसुधेयमीदृशस्त्वमङ्ग ! यस्याः पतिरुज्झितस्थितिः ।
इति प्रहाय क्षितिमाश्रिता नभः खगास्तमाचुक्रुशुरारवैः खलु ॥१२८॥

अन्वयः—इयं वसुधा वासयोग्या न, अंग ! यस्या उज्झितस्थितिः ईदृशः त्वं पति इति खगा. क्षितिं प्रहाय नभ आश्रिता· (सन्त.) तम् आरवै. आचुक्रुशुः खलु ॥ १२८ ॥

व्याख्या—इयम् = एषा, वसुधा = पृथिवी, वासयोग्या न = निवासाऽर्हा न, अग = भो राजन्, यस्या = वसुधाया', उज्झितस्थिति = त्यक्तमर्यादः, ईदृशः = एतादृश , निरपराधपक्षिग्रहीतेति भाव । त्व, पतिः = पालक', असीति शेष । इति = एवं, कथयित्वा इवेति शेषः । खगा. = पक्षिण', क्षितिं = वसुधां, प्रहाय = परित्यज्य, नभ = अन्तरिक्षम्, आश्रिता = प्राप्ता' सन्तः, तं = नलम्, आरवै = उच्चध्वनिभि , आचुक्रुशु. = निनिन्दु. (इव), खलु = निश्चयेन ॥ १२८ ॥

अनुवादः—"यह धरती रहने लायक नही है, हे राजन् ! मर्यादा छोडनेवाले आप जैसे जिसके पालक है ।" इस प्रकार पक्षिगण धरतीको छोडकर अन्तरिक्षका आश्रय लेते हुए नलकी उच्च ध्वनियोसे निन्दा कर रहे है ऐसा मालूम होता था ॥ १२८ ॥

टिप्पणी—वासयोग्या=वासे योग्या (स० त०) । अङ्ग="स्यु प्याट् पाडङ्ग है हे भो." इत्यमर । ये सब अव्यय है । उज्झितस्थिति = उज्झिता स्थितिर्येन स. (बहु०) । "संस्था तु मर्यादा धारणा स्थिति " इत्यमर' । प्रहाय = प्र + हा + क्त्वा (ल्यप्) । आचुक्रुशु = आङ् + क्रुश + लिट् + झि (उस्) । इस पद्यमे "आचुक्रुशु "इस क्रियापदमे उत्प्रेक्षाद्योतक इव आदि पदके अभावसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ १२८ ॥

"न जातरूपच्छदजातरूपता द्विजस्य दृष्टे" यमिति स्तुवन्मुहुः ।
अवादि तेनाऽथ स मानसौकसा जनाधिनाथः करपञ्जरस्पृशा ॥ १२९ ॥

अन्वयः—"इय जातरूपच्छदजातरूपता द्विजस्य न दृष्टा" इति मुहु स्तुवन् स जनाऽधिनाथ. अथ करपञ्जरस्पृशा तेन मानसौकसा अवादि ॥ १२९ ॥

व्याख्या—इयम्=ईदृक्, जातरूपच्छदजातरूपता = सुपर्णपक्षोत्पन्नसौन्दर्यता, द्विजस्य=पक्षिण., न दृष्टा = न अवलोकिता, इति = इत्थ, मुहु = वारवार, स्तुवन् = प्रशंसन्, स.=पूर्वोक्त , जनाऽधिनाथ.=नराऽधिपति , नल इति भावः । अथ = अनन्तर, करपञ्जरस्पृशा = हस्तपिञ्जरस्पर्शकारिणा । तेन = पूर्वोक्तेन, मानसौकसा = मानससरोवरवासिना, हंसेनेत्यर्थ' । अवादि = उक्त' ॥ १२९ ॥

अनुवादः—"किसी भी पक्षीमे सुनहले पङ्खोका ऐसा सौन्दर्य मैंने नहीं देखा था" इस प्रकार बारबार तारीफ करनेवाले राजा नल को पिंजडे सदृश उनके हाथमे विद्यामान उस हसने कहा ॥ १२९ ॥

टिप्पणी—जातरूपच्छदजातरूपता=जातं रूपं (सौन्दर्यम्) यस्य स· जातरूपः (बहु०), तस्य भावो जातरूपता, जातरूप+तल्+टाप्। जातरूपस्य छदा· (ष० त०), "चामीकरं जातरूप महारजतकाञ्चने।" इत्यमर.। जातरूपच्छदे जातरूपता (तृ० त०)। स्तुवन्=स्तौतीति, ष्टु+लट् (शतृ)+सु । जनाऽधिनाथ.=जनानाम् अधिनाथ. (ष० त०)। करपञ्जरस्पृशा = करः पञ्जरम् इव (उपमित०)। 'पिंजडेके समान हाथ' कहनेसे उसकी शिथिलतासे पीडाके अभावकी सूचना होती है। करपञ्जरं स्पृशतीति करपञ्जरस्पृक्, तेन, करपञ्जर-उपपदपूर्वक "स्पृश" धातुसे "स्पृशोऽनुदके क्विन्" इस सूत्रसे क्विन् प्रत्यय। मानसौकसा=मानसम् ओक (स्थानम्) यस्य स मानसौका., तेन (बहु०)। "हंसास्तु श्वेतगरुतश्चक्राऽङ्गा मानसौकस।" इत्यमर·। अवादि= वद+लुङ् (कर्ममे) + त। इस पद्यमे "करपञ्जरस्पृशा" इसमे उपमा अलङ्कार है और "जातरूप......" "......जातरूप" यहाँपर यमक अलङ्कार है, उसका लक्षण है—

"सत्यर्थे पृथगर्थाया स्वरव्यञ्जनसंहते ।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमक विनिगद्यते ॥" सा० द० १०-१० ॥१२९॥

धिगस्तु तृष्णातरल भवन्मनः समीक्ष्य पक्षान्मम हेमजन्मनः ।
तवाऽर्णवस्येव तुषारशीकरैर्भवेदमीभिः कमलोदयः कियान् ? ॥ १३० ॥

अन्वयः—हेमजन्मन मम पक्षान् समीक्ष्य तृष्णातरल भवन्मन धिक् अस्तु; तुषारशीकरै अर्णवस्य इव तव अमीभि कियान् कमलोदयः भवेत् ? ॥ १३० ॥

व्याख्या—अथ हंस पद्यचतुष्टयेन राजानमुपालभते—धिगिति। हेमजन्मन·= सौवर्णान्, मम=हसस्य, पक्षान्=पतत्त्राणि समीक्ष्य=दृष्ट्वा, तृष्णातरलं=लालसाचञ्चल, भवन्मनः धिक्=त्वच्चित्तं, धिक् = भवन्मनसो निन्देत्यर्थः। अस्तु = भवतु, तुषारशीकरै. = हिमकणै·, अर्णवस्य इव = समुद्रस्य इव, तव = भवतः, अमीभिः=एभि, हेमजन्मभि. पक्षैरिति भाव, कियान्=किंपरिमाण, कमलोदयः= भवतः—कमलाया=लक्ष्म्या·, समुद्रस्य—कमलस्य = जलस्य, उदयः = वृद्धिः, भवेत्=स्यात्, अतिस्वल्पः स्यादिति भावः। अगाधजल: समुद्रो यथा जलवृद्ध्यर्थं तुषारशीकर नाद्रियते तथैव आढ्यतमेन भवताऽपि मत्पक्षसुवर्णं नादरणीयमिति भावः ॥ १३० ॥

अनुवादः—सुनहरे मेरे पखोको देखकर तृष्णासे चञ्चल आपके मनको

धिक्कार हो। हिमकणोंसे समुद्रको जैसे कितनी जलवृद्धि होगी? वैसे ही मेरे इन सुनहले पंखोंसे आपको कितनी सम्पत्तिकी वृद्धि होगी? ॥ १३० ॥

टिप्पणी—हेमजन्मनः=हेम्नः जन्म येषां ते हेमजन्मानः, तान् (व्यधिकरण-बहु०)। समीक्ष्य=सम्+ईक्ष+क्त्वा (ल्यप्)। तृष्णातरलं=तृष्णया तरलं, तत् (तृ० त०)। भवन्मनः=भवतः मनः, तत्, "धिक्" के योगमें "धिगु-पर्यादिषु त्रिषु" इससे द्वितीया। धिक्="धिङ् निर्भर्त्सननिन्दयोः" इत्यमरः। अस्तु=अस्+लोट्+तिप्। तुषारशीकरैः=तुषाराणां शीकराः, तैः (ष० त०)। कियान्=किं परिमाणम् अस्य, 'किम्' शब्दसे "किमिदम्भ्यां वो घः" इससे वतुप् (वत्) और 'व'के स्थानमें घ (इय) आदेश, "इद-किमोरीश् की" इससे 'किम्' के स्थानमें 'की' और "यस्येति च" इससे ईकारका लोप। कमलोदयः—राज-पक्षमें—कमलायाः (लक्ष्म्याः), समुद्रपक्षमें—कमलस्य उदयः (ष० त०)। "कमला श्रीर्हरिप्रिया" इति "सलिलं कमलं जलम्" इति चाऽमरः। इस पद्यमें उपमा और श्लेष अलङ्कार की संसृष्टि है ॥ १३० ॥

न केवलं प्राणिवधो वधो मम त्वदीक्षणाद्विश्वसिताऽन्तरात्मनः।
विगर्हितं धर्मधनैर्निबर्हणं विशिष्य विश्वासजुषां द्विषामपि ॥ १३१ ॥

अन्वयः—(हे नृप!) त्वदीक्षणात् विश्वसिताऽन्तरात्मनः मम वधः केवलं प्राणिवधः न। विश्वासजुषां द्विषाम् अपि निबर्हणं धर्मधनैः विशिष्य विगर्हितम् ॥ १३१ ॥

व्याख्या—(हे नृप!) त्वदीक्षणात् = भवन्मूर्तिदर्शनात्, विश्वसिताऽन्त-रात्मनः=विस्रब्धचित्तस्य, मम=हंसस्य, वधः=व्यापादनं, केवलं प्राणिवधः= जन्तुव्यापादनमात्रं, न=न अस्ति। किन्तु विश्वासजुषां = विस्रम्भभाजां, द्विषाम् अपि=शत्रूणाम् अपि, निबर्हणं=वधः, धर्मधनैः=धर्मपरैः, मन्वादिभिरिति शेषः। विशिष्य=अतिरिच्य, विगर्हितम्=अत्यन्तनिन्दितम्। कस्याऽपि प्राणिनो वधो गर्हितः, तत्राऽपि निरपराधस्य, तत्राऽपि "भवान् धार्मिको राजा" इति मनसि-कृत्य विश्वस्तस्य मम वधो धार्मिकैरत्यन्तविगर्हितो भवेदिति भावः ॥ १३१ ॥

अनुवादः—आपको देखनेसे विश्वस्त चित्तवाले मेरी हिंसा खाली प्राणिहिंसा नहीं है। विश्वास करनेवाले शत्रुओंकी हत्याकी भी धर्मज्ञोंने अत्यन्त निन्दा की है ॥ १३१ ॥

टिप्पणी—त्वदीक्षणात्=तव ईक्षणं, तस्मात् (ष० त०)। विश्वसिताऽन्त-रात्मनः=विश्वसितः अन्तरात्मा यस्य सः विश्वसिताऽन्तरात्मा, तस्य (बहु०)।

प्राणिवधः=प्राणिनः वधः (ष० त०)। विश्वासजुषां = विश्वासं जुषन्त इति विश्वासजुषः, तेषाम्, विश्वास + जुष् + क्विप् + आम्। द्विषा=द्विषन्ति ते द्विषः; तेषाम्, द्विष् + क्विप् + आम्। निबर्हणं=प्रमापणं निबर्हणं निकारणं विशारणम्।" इत्यमरः। विशिष्य=वि + शिष् + क्त्वा (ल्यप्)। इस पद्यमे अर्थान्तरन्यास और अर्थापत्तिका सङ्कर है ॥ १३१ ॥

पदे पदे सन्ति भटा रणोद्भटा न तेषु हिंसारस एष पूर्यते ?।
धिगीदृशं ते नृपते. कुविक्रमं कृपाश्रये यः कृपणे पतत्त्रिणि ॥ १३२ ॥

अन्वयः—रणोद्भटाः भटाः पदे पदे सन्ति, एष हिंसारसः तेषु न पूर्यते ? नृपतेः ते ईदृशं कुविक्रमं धिक्, यः कृपाऽऽश्रये कृपणे पतत्त्रिणि (क्रियते) ॥१३२॥

व्याख्या—रणोद्भटाः =युद्धप्रचण्डाः, भटाः =योधाः, पदे पदे=प्रतिपदं, सन्ति= वर्तन्ते। एषः =अयं, हिंसारसः=वधरागः, तेषु = भटेषु, न पूर्यते = परिपूर्णो न भवति ? इति काकुः। नृपतेः=राज्ञः, ते=तव, ईदृशम्=एतादृशम्, अवध्यवधरूपमिति भावः। कुविक्रमं=कुत्सितपराक्रमं, धिक्, कुविक्रमस्य निन्देत्यर्थः। यः= कुविक्रमः, कृपाऽऽश्रये=करुणाविषये, कृपणे = दीने, पतत्त्रिणि=पक्षिणि, क्रियत इति शेषः ॥ १३२ ॥

अनुवादः—(हे राजन् !) युद्धमे प्रचण्ड योद्धा पग-पगमे मौजूद हैं, यह हिंसाराग क्या उनमे पूर्ण नही होता है ? प्रजापालक आपके इस कुत्सित पराक्रमको धिक्कार है, जो कि करुणाके विषय दीन पक्षीमे किया जा रहा है ॥१३२॥

टिप्पणी—रणोद्भटाः =रणेषु उद्भटाः (स० त०)। भटाः="भटा योधाश्च योद्धारः" इत्यमरः। पदे पदे=वीप्सामे द्विरुक्ति। सन्ति = अस् + लट् + झि। हिंसारसः=हिंसाया रसः (ष० त०), "शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः।" इत्यमरः। पूर्यते=पूरी + लट् + श्यन् + त। नृपतेः=नृणां पतिः, तस्य (ष० त०)। कुविक्रमं=कुत्सितः विक्रमः, तम्, "कुगतिप्रादयः" इससे समास। "धिक्" के योगमे "धिगुपर्यादिषु त्रिषु" इससे द्वितीया। कृपाऽऽश्रये = कृपाया आश्रयः, तस्मिन् (ष० त०), पतत्त्रिणि=पतत्त्र + इनि + ङि ॥ १३२ ॥

फलेन मूलेन च वारिभूरुहां मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः।
त्वयाऽद्य तस्मिन्नपि दण्डधारिणा कथं न पत्या धरणी हृणीयते ? ॥ १३३ ॥

अन्वयः— यस्य मम मुनेः इव वारिभूरुहां फलेन मूलेन च इत्थं वृत्तयः, तस्मिन् अपि दण्डधारिणा पत्या त्वया अद्य धरणी कथं न हृणीयते ? ॥ १३३ ॥

व्याख्या—यस्य, मम=हंसस्य, मुनेः इव = ऋषेः इव, वारिभूरुहां = जल-

भूम्युत्पन्नाना, पद्मवृक्षादीनामित्यर्थः, फलेन=सस्येन, मूलेन च = कन्दादिना च, इत्थम्=अनेन प्रकारेण, वृत्तय =जीविका , सन्तीति शेष. । तस्मिन् अपि=मुनि-सदृशे अपि, निर्दोषेऽपीति शेष , दण्डधारिणा = निग्रहकारिणा, अदण्डयदण्डके-नेत्यर्थ । पत्या=पालकेन, त्वया=भवता, राज्ञेत्यर्थ. । अद्य=अस्मिन्दिने, धरणी= धरित्री, कथ=केन प्रकारेण, न ह्रणीयते=न लज्जते, दुर्वृत्ते भर्तरि वधूर्लज्जत इति भाव: ॥ १३३ ॥

अनुवादः—जल और वृक्षोसे उत्पन्न कन्द और फलसे मुनिके समान मेरी वृत्ति है वैसे मेरे पति दण्ड धारण करनेवाले पालक आपसे पृथ्वी क्यो नहीं लज्जा करती है ? ॥ १३३ ॥

टिप्पणी—वारिभूरुहा=वारि च भूश्च वारिभुवौ (द्वन्द्व), वारिभुवो रोहन्तीति वारिभूरुह , तेषाम्, वारिभू+रुह+क्विप् (उपपद०) + आम् । वृत्तयः= "वृत्तिर्वर्तनजीवने" इत्यमर । दण्डधारिणा=दण्ड धारयतीति तच्छील दण्ड-धारी, तेन दण्ड+धृञ्+णिच्+णिनि+टा (उप०), ह्रणीयते = "ह्रणीङ् रोषणे लज्जायां च" इस कण्ड्वादि धातुसे ङित् होनेसे आत्मनेपद होकर लट्+त । इस पद्यमे उपमा अलङ्कार है ॥ १३३ ॥

इतीदृशैस्त विरचय्य वाङ्मयैः सचित्रवैलक्ष्यकृपं नृप खगः ।
दयासमुद्रे स तदाशयेऽतिथीचकार कारुण्यरसापगा गिरः ॥ १३४ ॥

अन्वयः—स खग इति तं नृपम् ईदृशै वाङ्मयै सचित्रवैलक्ष्यकृप विरचय्य दयासमुद्रे तदाशये कारुण्यरसाऽऽपगा गिर अतिथीचकार ॥ १३४ ॥

व्याख्या—स =पूर्वोक्त , खग =पक्षी, हस इत्यर्थ, इति=इत्थ, त=पूर्वोक्तं, नृपं=राजान, नलमित्यर्थ । ईदृशै =एतादृशै , पूर्वोक्तैरिति भाव. । वाङ्मयैः= वाग्विकारै दोषोद्घाटकैरिति भाव । सचित्रवैलक्ष्यकृपम् = आश्चर्यलज्जातिशय-करुणासहितं, विरचय्य=विधाय, दयासमुद्रे=करुणासागरे, तदाशये = नलचित्ते, कारुण्यरसापगा =करुणारसनदीस्वरूपा , गिर =वाणी:, अतिथीचकार=प्रवेशया-मासेत्यर्थ । समुद्रे नदीप्रवेशोयुक्त इति भावः ॥ १३४ ॥

अनुवादः—उस पक्षी (हस) ने इस प्रकार राजा नलको ऐसे वचनोसे आश्चर्य, लज्जा और करुणासे युक्त बनाकर दयाके समुद्रके समान उनके चित्तमे करुणरसकी नदियोके समान वाणियोका प्रवेश कराया ॥ १३४ ॥

टिप्पणी—वाङ्मयै =वाचां विकारा वाङ्मयानि, तै , "एकाऽचो नित्यम्" इस वार्तिकसे मयट् प्रत्यय । सचित्रवैलक्ष्यकृप = विलक्षस्य भावो वैलक्ष्यम्,

विलक्ष+ष्यञ्। चित्र च वैलक्ष्य च कृपा च चित्रवैलक्ष्यकृपाः (द्वन्द्व०), ताभिः सह सचित्रवैलक्ष्यकृप., तम् (तुल्ययोग०) । "आलेख्याऽऽश्चर्ययोश्चित्रम्" इत्यमर.। विरचय्य=वि+रच्+णिच्+क्त्वा (ल्यप्) णिच्के स्थानमें "ल्यपि लघुपूर्वात्"इससे अय् आदेश। राजा को मनुष्यके समान भाषणसे चित्र (आश्चर्य), उनके दोषके उद्घाटनसे अतिलज्जा और अपनी दीनताके प्रदर्शनसे दया, इन भावोसे युक्त बनाकर यह तात्पर्य है। दयासमुद्रे=दयाया. समुद्रः, तस्मिन् (ष० त०)। तदाशये=तस्य आशय, तस्मिन् (ष० त०) । कारुण्यरसाऽऽपगा =करुणा एव कारुण्य, करुणा+ष्यञ् (स्वार्थमे)। कारुण्यम् एव रस. (रूपक०), तस्य आपगा, ता (ष० त०)। "कारुण्य करुणा घृणा" इत्यमर', अतिथीचकार = अनतिथय अतिथयः यथा सम्पद्यन्ते तथा चकार, अतिथि+च्वि+कृ+लिट्। इस पद्यमे हंसकी वाणियोमे नदीत्वका आरोप करने के लिए नलके हृदयमे समुद्रत्वका आरोप निमित्त है और "रस" पद श्लिष्ट है इस कारणसे श्लिष्टपरम्परित रूपक अलङ्कार है। परम्परित रूपकका लक्षण है—

"यत्र कस्यचिदारोपः पराऽऽरोपणकारणम्।
तत्परम्परितं, श्लिष्टाऽश्लिष्टशब्दनिबन्धनम् ॥" सा० द० १०-४३।

यहाँपर "रस" शब्द का प्रयोग होने पर भो उसका जलरूप अर्थ होनेसे रसदोष नही है॥ १३४॥

"मदेकपुत्रा जननी जराऽऽतुरा, नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो! विधे! त्वां करुणा रुणद्धि नो ? ॥ १३५ ॥

अन्वयः—जननी मदेकपुत्रा जराऽऽतुरा, वरटा नवप्रसूति. तपस्विनी, एष जनः तयोः गति, तम् अर्दयन् हे विधे! त्वा करुणा नो रुणद्धि ? अहो! ॥ १३५ ॥

व्याख्या—साम्प्रत हंस कारुण्यरसपूरिता गिरो विस्तारयति मदेकपुत्रेति। तत्र प्राग्विधिमुपालभते—जननी = जनयित्री, मदीया मातेत्यर्थः। मदेकपुत्रा = मदेकतनया, मम नाशे न कोऽपि तस्या रक्षक इति भाव.। तर्हि अन्योऽपि तनयो भविष्यतीति संभावनायाम्—जरातुरा = वार्धक्याकुला, प्रसवेऽसमर्थेति भाव.। वरटा = मम भार्या, नवप्रसूति = अचिरप्रसवा, अत, तपस्विनी = शोचनीया, एषः = अयं, जनः=पुरुष., तयो = जननीजाययो, गतिः = शरणं, तं = तादृशं शरणभूतं जन, मामिति भावः। अर्दयन् = मारयन्। हे विधे = हे विधात.।

त्वां=भवन्त, करणा = दया, नो रुणद्धि = न निवारयति ? इति काकुः । अहो = आश्चर्यम्, विधिर्नृशसतर इति भाव.॥ १३५ ॥

अनुवादः—मेरी माता, उसका मै ही एक पुत्र हूँ, उसपर भी वह बुढापासे आकुल है। मेरी भार्या (हँसी) नये प्रसववाली है,अत. शोचनीया है। उन दोनोका मै ही एकमात्र रक्षक हूँ, उसकी हिंसा करते हुए हे ब्रह्मदेव ! क्या तुम्हे करणा नही रोकती है ? आश्चर्य है ! ॥ १३५ ॥

टिप्पणी—मदेकपुत्रा=अहम् एव एक पुत्र. यस्या सा (बहु०), जराऽऽतुरा=जरया आतुरा (तृ० त०) । वरटा = "हसस्य योषिद्वरटा" इत्यमर । नवप्रसूतिः = नवा (नूतना) प्रसूति. (प्रसव) यस्या सा (बहु०) । तपस्विनी="तपस्वी तापसे चाऽनुकम्प्ये" इति मेदिनी । अर्दयन् = "अर्द हिंसायाम्" इस चुरादि धातुसे अर्द + णिच् + लट् (शतृ) + सु । रुणद्धि = रुध् + लट् + तिप् । इस पद्य मे विशेषणोके अभिप्रायगर्भित होनेसे परिकर अलङ्कार है, उसका लक्षण है—

"उक्तैर्विशेषणै साऽभिप्रायै परिकरो मत· ।" सा० द० १०–७५ ।

करुण रस, प्रसाद गुण और वैदर्भी रीति है ॥ १३५ ॥

मुहूर्तमात्रं भवनिन्दया दयासखाः सखायः स्रवदश्रवो मम ।
निवृत्तिमेष्यन्ति परं दुरुत्तरस्त्वयैव मातः ! सुतशोकसागरः ॥ १३६ ॥

अन्वय.—हे मात ! मम सखाय दयासखाय: भवनिन्दया मुहूर्तमात्र स्रवदश्रवः (सन्त.) निवृत्तिम् एष्यन्ति, पर त्वया एव सुतशोकसागर दुरुत्तरः ॥ १३६ ॥

व्याख्या—अथ मातरमुद्दिश्य शोचति—मुहूर्तेति । हे मात =हे जननि ! मम, सखाय.=सुहृद , दयासखा = करुणासहचरा , भवनिन्दया= ससारगर्हणेन मुहूर्तमात्र, क्षणमात्र, स्रवदश्रव. = गलितनयनजला· सन्त , "विनश्वरसम्बन्धभाजं ससार धिक्" इत्यादिवचनजातेनेति शेष , निवृत्ति=शोकोपरतिम्, एष्यन्ति= यास्यन्ति, पर = किन्तु, त्वया एव = भवत्या एव, सुतशोकसागर. = तनयशुक्समुद्रः दुरुत्तरः = दुस्तर. ॥ १३६ ॥

अनुवाद—हे मात. ! मेरे मित्र सदय होकर ससारकी निन्दासे कुछ क्षण तक आँसुओको गिराते हुए शोकनिवृत्तिको प्राप्त होगे, परन्तु आपसे ही पुत्रका शोकसमुद्र दुस्तर होगा ॥ १३६ ॥

टिप्पणी—दयासखाय:=दयया सखाय· (तृ० त०), "राजाऽहःसखिभ्यष्टच्" इस सूत्रसे समासान्त टच् प्रत्यय । भवनिन्दया=भवस्य निंदा, तया (तृ० त०) ।

मुहूर्तमात्रं=मुहूर्त एव, मुहूर्तमात्र, तत् (रूपक०), "कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इससे द्वितीया। स्रवदश्रव:=स्रवन्ति अश्रूणि येषां ते (बहु०)। एष्यन्ति=इण्+लृट्+झि। सुतशोकसागर =सुतस्य शोक (ष० त०), स एव सागर. (रूपक०)। दुरुत्तर=दु खेन उत्तरीतु शक्य:, दुर्+उद्–उपसर्गपूर्वक "तॄ प्लवनसंतरणयो" इस धातुसे "ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राऽकृच्छ्राऽर्थेषु खल्" इस सूत्रसे खल् प्रत्यय। इस पद्यमे रूपक अलङ्कार है॥ १३६॥

"मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः प्रिय. कियद्दूर" इति त्वयोदिते।

विलोकयन्त्या रुदतोऽथ पक्षिण: प्रिये! स कीदृग्भविता तव क्षण:?॥१२५॥

अन्वयः—हे प्रिये! "मदर्थसन्देशमृणालमन्थर: प्रिय. कियद्दूरे" इति त्वया उदिते, अथ रुदत. पक्षिण: विलोकयन्त्या. तव स क्षण कीदृक् भविता?॥१३७॥

व्याख्या—साम्प्रत प्रियामनूद्य शोचति—मदर्थेति।

हे प्रिये = हे दयिते!, "मदर्थसन्देशमृणालमन्थर = मदर्थवाचिकबिसाऽलस:, प्रिय:=वल्लभ, कियद्दूरे=किंपरिमाणविप्रकृष्टप्रदेशे, वर्तत इति शेष.। इति = एव, त्वया=भवत्या, उदिते=उक्ते, पृष्टे सतीति भाव:। अथ = प्रश्नाऽनन्तर, रुदत. = अश्रूणि विमुञ्चत, अनिष्टोच्चारणाऽसामर्थ्येनेति शेषः। पक्षिण = विहङ्गान्, इतो गतानिति शेष। विलोकयन्त्या. = पश्यन्त्या, तव = भवत्या., स = तादृश., क्षण = काल, कीदृक् = कीदृश, भविता = भविष्यति, वज्रपातसदृश: असहनीय इति भाव:॥ १३७॥

अनुवादः—हे प्रिये! "मेरे लिए सन्देश और मृणाल भेजनेमे विलम्ब करनेवाले मेरे प्यारे कितने दूर है" ऐसा तुम्हारे पूछनेपर रोते हुए पक्षियोको देखती हुई तुम्हारा वह क्षण कैसा होगा?॥ ४३७॥

टिप्पणी—मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः = मह्यम् इमे मदर्थे, "चतुर्थी तदर्थाऽर्थबलिहितसुखरक्षितै." इस सूत्रसे "अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्" इस वार्तिकके सहकारसे चतुर्थी तत्पुरुष। सन्देशश्च मृणाल च सन्देशमृणाले (द्वन्द्वः)। मदर्थे च ते सन्देशमृणाले (क० धा०), तयो: मन्थर (स० त०)। कियद्दूरे=कियच्च तत् दूर, तस्मिन् (क० धा०)। उदिते = वद्+क्तः+ङि। रुदत =रुदन्तीति रुदन्त, तान् रुद्+लट् (शतृ) + शस्। विलोकयन्त्याः = वि+लोक+णिच्+लट् (शतृ)+ङीप्+ङस्। भविता=भू+लुट्+तिप्। यहाँपर अद्यतन भविष्यदर्थमे लृट्का प्रयोग इष्ट था परन्तु अनद्यतनभविष्यत्–लुट्का प्रयोग होनेसे च्युतसंस्कृति दोषकी आशङ्का नही करनी चाहिए, शोकाऽऽ-

कुल हंसकी ऐसी उक्ति करुणरसके अनुकूल होनेसे गुणस्थानीय है। इस पद्यमे शोकका उदय होनेसे भावोदय अलङ्कार है ॥ १३७ ॥

कथं विधातर्मयि पाणिपङ्कजात्तव प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः ।
"वियोक्ष्यसे वल्लभये"ति निर्गता लिपिर्ललाटन्तपनिष्ठुराऽक्षरा ? ॥१३८॥

अन्वयः—हे विधातः ! प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिन , तव पाणिपङ्कजात् मयि "वल्लभया वियोक्ष्यसे" इति ललाटन्तपनिष्ठुराऽक्षरा लिपि कथ निर्गता? ॥१३८॥

व्याख्या—हे विधात =हे विधे !, प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिन =वल्लभाशीतलत्व-कोमलत्वनिर्मातु , तव=भवत , पाणिपङ्कजात्=करकमलात्, मयि=विषये, वल्ल-भया=प्रियया सह, वियोक्ष्यसे=वियुक्तो भविष्यसि, इति=एव, ललाटन्तपनिष्ठु-राऽक्षरा=भालतापिकठिनवर्णा, लिपि =लिवि , अक्षरविन्यास इत्यर्थ , कथ=केन प्रकारेण, निर्गता = नि सृता । मत्प्रियाशैत्यकोमलत्वनिर्मातुस्तव हस्तान्मद्भाले प्रियावियोजनसूचककठिनलिपिनिर्मितिः आश्चर्यद्योतिकेति भाव ॥ १३८ ॥

अनुवाद—हे ब्रह्मदेव ! मेरी प्रियाकी शीतलता और कोमलताका निर्माण करनेवाले तुम्हारे हाथसे मेरे विषयमे "तुम प्रियासे बिछुड जाओगे" इस तरह ललाटको ताप करनेवाली निष्ठुर अक्षरोसे युक्त लिपि कैसे निकली ? ॥ १३८ ॥

टिप्पणी—विधात =विदधातीति विधाता, तत्सम्बुद्धौ, वि+धा+तृच्+सु । प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिन.=शीतस्य भाव. शैत्यम् । शीत+ष्यञ् । मृदोर्भावः मृदुत्वम्, मुदु+त्व । शैत्यं च मृदुत्व च (द्वन्द्व) । शिल्पम् अस्याऽस्तीति शिल्पि, शिल्प+इनिः । प्रियाया. शैत्यमृदुत्वे (ष० त०), तयो. शिल्पि, तस्मात् (ष० त०) । पाणिपङ्कजात्=पाणि पङ्कजम् इव, तस्मात् (उपमित०) । वियोक्ष्यसे= वि+युज्+लृट् (कर्ममे)+थास् (से) । ललाटन्तपनिष्ठुराऽक्षरा = ललाटं तपन्तीति ललाटन्तपानि, "असूर्यललाटयोर्दृशितपो" इस सूत्रसे खश् प्रत्यय और "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इससे मुम् आगम । ललाटन्तपानि निष्ठुराणि अक्षराणि यस्या. सा (बहु०) । निर्गता = निर्+गम्+क्त+टाप् । इस पद्यमे कारणसे विरुद्ध कार्यकी उत्पत्तिके कथनसे विषम अलंकार है। भेदप्रदर्शनपूर्वक उसका लक्षण है—

"गुणौ क्रिये वा यत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः ।
यदारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः ॥
विरूपयो सङ्घटना या च तद्विषयं मतम् ।" सा०द० १०-९१॥१३८॥

अपि स्वयूथ्यैरशनिक्षतोपमं ममाऽद्य वृत्तान्तमिमं बतोदिता ।
मुखानि लोलाऽक्षि ! दिशामसंशयं दशाऽपि शून्यानि विलोकयिष्यसि ॥ १३९ ॥

अन्वयः—अपि (च) अद्य स्वयूथ्यैः अशनिक्षतोपमं मम इम वृत्तान्तम् उदिता (सती) हे लोलाक्षि ! दश अपि दिशा मुखानि शून्यानि विलोकयिष्यसि असंशय बत ! ॥ १३९ ॥

व्याख्या—अपि च = अन्यच्च, अद्य = अस्मिन् दिने, स्वयूथ्यैः = आत्मसङ्घ-भवै, हंसैरित्यर्थः । अशनिक्षतोपम=वज्रप्रहारसदृश, मम = प्रियस्य, इमम् = एतं, वृत्तान्तम्=उदन्तं, नरहस्तपतनरूपमिति शेष । उदिता = उक्ता सती, हे लोलाक्षि = हे चपलनयने !, दश=दशसख्यकानि, दिशा = काष्ठाना, प्राच्यादीना-मित्यर्थः । मुखानि=सम्मुखस्थानानि, शून्यानि=रिक्तानि, विलोकयिष्यसि=द्रक्ष्यसि, मद्वियोगादिति भावः । असशयम् = अत्र सन्देहो न, वत = इति खेदे ॥ १३९ ॥

अनुवादः—और भी। आज अपने वर्गके हसोके वज्रप्रहारके सदृश इस वृत्तान्तको कहनेपर हे चञ्चलनयने ! तुम दिशाओके दशो समुखवर्ती स्थानोको शून्य देखोगी, इसमे सन्देह नही है, हाय ! ॥ १३९ ॥

टिप्पणी—अद्य=अस्मिन् दिने, "सद्य परुत्०" इत्यादि सूत्रसे निपात। स्वयूथ्यैः=यूथे भवा यूथ्या, यूथ+यत्। स्वस्य यूथ्या, तैः (ष० त०)। अशनिक्षतोपमम् = अशनिना क्षतम् (तृ० त०), तत् उपमा (सादृश्यम्) यस्य, तम् (बहु०) । वृत्तान्तम् = वद धातुके द्विकर्मक होनेसे मुख्य कर्ममें द्वितीया । उदिता=वद+क्त (कर्ममे) + टाप् । लोलाक्षि = लोले अक्षिणी यस्याः सा लोलाक्षी, तत्सम्बुद्धौ (बहु०) । "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्" इससे समासाऽन्त षच् । षित् होनेसे स्त्रीत्वविवक्षामे "षिद्गौरादिभ्यश्च" इससे ङीष् । विलोकयिष्यसि = वि + लोक + णिच् + लृट् + सिप् । असंशय = संशयस्य अभाव, "अव्ययं विभक्ति०" इत्यादिसे अर्थाऽभावमे अव्ययीभाव समास । इस पद्यमे उपमा अलङ्कार है ॥ १३९ ॥

ममैव शोकेन विदीर्णवक्षसा त्वयाऽपि चित्राङ्गि ! विपद्यते यदि ।
तदस्मि दैवेन हतोऽपि हा ! हत. स्फुट यतस्ते शिशवः पराऽसवः ॥ १४० ॥

अन्वयः—हे चित्राऽङ्गि ! मम शोकेन एव विदीर्णवक्षसा त्वया अपि विपद्यते यदि, तद् दैवेन हतः, स्फुट हतः अस्मि, हा ! यत ते शिशव पराऽसव. ॥१४०॥

व्याख्या—हे चित्राङ्गि = हे विचित्रगात्रे !, लोहितचञ्चुचरणत्वादिति भावः । मम=प्रियस्य, शोकेन = मन्युना, एव, विदीर्णवक्षसा = विदलितहृदया ,

त्वया अपि = भवत्या अपि, प्रियया अपीति भावः। विपद्यते यदि = म्रियते चेत्, तत् = तर्हि, दैवेन = भाग्येन, हतः = नाशितः, स्फुटं = व्यक्तं, पुनः हतः = नाशितः, अस्मि = भवामि, हा=दैवपुनर्हतस्य मे शोच्यत इति भावः। यत = यस्मात्कारणात्, ते=तव, शिशव =शावका', पराऽसव = मृता, भवेयुरिति शेषः। मच्छोकेन त्वमपि प्राणांस्त्यक्ष्यसि चेच्छरणयोर्मातापित्रोरभावेनाऽस्मच्छावका अपि मरिष्यन्तीति दैवहतोऽह पुनर्हतो भविष्यामीति भाव' ॥ १४० ॥

अनुवादः—हे विचित्र अङ्गोवाली प्रिये! मेरे शोकसे ही विदीर्णहृदय होकर तुम भी मर जाओगी तो भाग्यसे मारा जाकर व्यक्त रूपसे फिर भी मारा जाऊँगा, क्योंकि, तब तो तुम्हारे बच्चे भी (हम लोगोंके अभावसे) मर जायेंगे ॥१४०॥

टिप्पणी—चित्राऽङ्गि=चित्राणि अङ्गानि यस्या सा चित्राङ्गी, तत् सम्बुद्धौ (बहु०), "अङ्गगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्" इस वार्तिकसे ङीप्। विदीर्णवक्षसा = विदीर्णं वक्षो यस्याः सा विदीर्णवक्षा', तया (बहु०), विपद्यते = वि+पद्+लट् (भावमे)+त। हत = हन्+क्त., हा = "हा विस्मयविषादयोः" इति विश्वः। शिशव = "पोत' पाकोऽर्भको डिम्भ पृथुकः शावक शिशुः।" इत्यमरः। पराऽसव =परागता असवः (प्राणा) येषा, ते (बहु०)। बच्चोंके मरनेकी भावनासे द्विगुण मरणका दु ख मैं पाऊँगा यह भावार्थ है। इस पद्यमे शोकके स्थायिभाव होनेसे करुण रस है॥ १४०॥

तवाऽपि हा! हा विरहात्क्षुधाकुलाः कुलायकूलेषु विलुठ्य तेषु ते।
चिरेण लब्धा बहुभिर्मनोरथैर्गताः क्षणेनाऽस्फुटितेक्षणा मम॥ १४१॥

अन्वयः—(हे प्रिये!) बहुभि. मनोरथैः चिरेण लब्धाः अस्फुटितेक्षणाः मम ते तव अपि विरहात् क्षुधा आकुला. तेषु कुलायकूलेषु विलुठ्य क्षणेन गताः, हा! हा!! ॥ १४१॥

व्याख्या—मन्मरणे कथ सुताना मरणमिति प्रतिपादयति। (हे प्रिये!) बहुभिः=अधिकैः, मनोरथैः = अभिलाषैः, चिरेण= बहुकालेन, लब्धा. = प्राप्ता, "अस्माकं सन्ततयो भवन्तु" इति बहुभिरभिलाषैः कष्टेन प्राप्ता इति भावः। एवं च अस्फुटितेक्षणा. = अनुन्मीलितनयनाः, अद्याऽपीति शेषः। मम = हंसस्य, ते= पूर्वोक्ता', शिशव इति भावः। तव अपि = न केवल मम, तव अपि इति भावः। विरहात् = वियोगात्, क्षुधा = बुभुक्षया, आकुलाः = पीडिता' सन्तः, तेषु= स्वसम्पादितेषु इति भाव', कुलायकूलेषु = नीडसमीपभागेषु, विलुठ्य = परिक्रम्य, क्षणेन = अल्पकालेनैव, गताः = याताः, मृता भविष्यन्ति, बहुभिर्मनोरथैर्बहुकालेन

प्राप्ताः अस्माच्छिशवः आवयोरभावेन अल्पकालेन मृता भविष्यन्तीति भावः । हा ! हा ! = त्वां मां च इति शेषः, वज्रपातोपमविपत्तिरेव मम च शोच्यत इति भावः ॥ १४१ ॥

अनुवादः—(हे प्रिये !) बहुल मनोरथोसे बहुत समयमें पाये गये अस्फुटित नेत्रोवाले मेरे और तुम्हारे वे बच्चे हमारे वियोगसे भूखसे पीडित होकर घोसलेके समीप लौटकर थोडे ही समयमे मर जायगे हाय ! हाय ! ॥ १४१ ॥

टिप्पणी—लब्धा. = लम् + क्त + जस् । अस्फुटितेक्षणाः = न स्फुटिते (नञ्०), अस्फुटिते ईक्षणे येषा ते (बहु०) । विरहात् = हेतुमे पञ्चमी । कूलायकूलेषु = कुलायस्य कूलानि, तेषु (ष० त०) । कूलका अर्थ यहाँपर समीप स्थान है । "कुलायो नीडमस्त्रियाम्" इत्यमरः । विलुठ्य = वि + लुठ + क्त्वा (ल्यप्) । क्षणेन = "अपवर्गे तृतीया" इससे तृतीया । इस पद्यमे करुण रस है ॥ १४१ ॥

सुताः ! कमाहूय चिराय चूङ्कृतैर्विधाय कम्प्राणि मुखानि कं प्रति ? ।
कथासु शिष्यध्वमिति प्रमील्य स स्रुतस्य सेकाद् बुबुधे नृपाऽश्रुणः ॥ १४२ ॥

अन्वय—"हे सुता ! चूङ्कृतै चिराय कम् आहूय क प्रति मुखानि कम्प्राणि विधाय कथासु शिष्यध्वम्" इति प्रमील्य स. स्रुतस्य नृपाऽश्रुणः सेकात् स बुबुधे ॥ १४२ ॥

व्याख्या—हस शिशूननूद्य भूय. परिदेवयते—सुता इति ।

हे सुता. = हे पुत्राः !, चूङ्कृतै. = चूङ्कारै., "चूम्" इति पक्षिशावकरुतैरित्यर्थः । चिराय = बहुकालपर्यन्तम्, क = कतर जनम्, आहूय = आकार्य, कं प्रति = कतर प्रति, उभयत्र जननीजनकयोरिति शेष । मुखानि = आननानि, कम्प्राणि = कम्पनशीलानि, चञ्चलानीति भाव. । विधाय = कृत्वा, कथासु=शब्दमात्रेषु, शिष्यध्वम् = अवशिष्टा भवत, इति = एवम्, उक्त्वेति शेष । प्रमील्य = मूर्च्छां प्राप्य, स. = हस स्रुतस्य = गलितस्य, नृपाऽश्रुण = नलनयनजलस्य, सेकात् = सेचनात्, बुबुधे = सञ्ज्ञां प्राप ॥ १४२ ॥

अनुवादः—"हे बच्चो ! चूं चूं करके बहुत समयतक किसे बुलाकर और किसे लक्ष्य करके मुँहको चञ्चल बनाकर शब्दमात्रसे अवशिष्ट हो जाओगे" ऐसा कहकर मूर्च्छित होकर वह हस राजा के गिरे हुए आँसूके सेवनसे होशमे आ गया ॥ १४२ ॥

टिप्पणी—चिराय = "चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिराऽर्थकाः ।"

इत्यमर । आहृय = आङ् + ह्वेञ् + क्त्वा (ल्यप्), दोनों शब्द अव्यय है। कम्प्राणि = कम्पनशीलानि, "कपि चलने" धातुसे "नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो र" इस सूत्रसे रप्रत्यय। शिष्यध्वम्="शिष असर्वोपयोगे" धातुसे "प्रैषाऽतिसर्ग-प्राप्तकालेषु कृत्याश्च" इससे प्राप्तकालमे लोट् + ध्वम्। प्रमील्य = प्र + मील + क्त्वा (ल्यप्)। नृपाऽश्रुण = नृपस्य अश्रु, तस्य (ष० त०)। सेकात्=सिच् + घञ् + ङसि.। बुबुधे=बुध + लिट् + त (एश)। यहाँपर "म्रियध्वम्" कहने-पर अमङ्गलव्यञ्जक अश्लीलदोष होता था अत "कथासु शिष्यध्वम्" ऐसा प्राप्त-कालमे लोट्का प्रयोग किया गया है। स्वभावोक्ति अलङ्कार है॥ १४२॥

इत्थममुं विलपन्तममुञ्चद्दीनदयालुतयाऽवनिपालः।
रूपमदर्शि धृतोऽसि यदर्थं गच्छ यथेच्छमथेत्यभिधाय॥ १४३॥

अन्वयः—इत्थ विलपन्तम् अमुम् अवनिपालः दीनदयालुतया "रूपम् अदर्शि, यदर्थं धृत असि, अथ यथेच्छ गच्छ" इति अभिधाय अमुञ्चत्॥ १४३॥

व्याख्या—इत्थम्=अनेन प्रकारेण, "धिगस्तु तृष्णातरलम्" इत्यादि रूपेणेति भाव। विलपन्त=परिदेवमानम्, अमु = हंसम्, अवनिपाल = भूपाल, नल इति भाव, दीनदयालुतया = आर्तकृपालुतया, रूपम्=आकृति, अर्दाशि=अवलोकितम्, अपूर्वत्वादिति शेष। यदर्थं = रूपदर्शनार्थं, धृत = गृहीत, असि=वर्तसे, एत-त्कथनेन "धिगस्तु तृष्णातरलम्"इत्यादिश्लोकै. क्रियमाणा लुब्धत्वादिरूपा आक्षेपा परिहृता। अथ=अनन्तर, मत्कर्तृकत्वद्रूपदर्शनाऽनन्तरमिति भाव। यथेच्छ= यथेष्ट, गच्छ=व्रज, इति=एवम, अभिधाय=उक्त्वा, अमुञ्चत्=मुक्तवान्॥१४३॥

अनुवादः—इस प्रकार विलाप करते हुए उस हसको दीनोमे दयालु होनेसे राजा नलने "रूप देख लिया जिसके लिए मैने तुम्हे पकडा था, अब इच्छाके अनुसार जाओ" ऐसा कहकर छोड दिया॥ १४३॥

टिप्पणी—विलपन्त = विलपतीति विलपन्, तम्, वि + लप + लट् (शतृ) + अम्। "विलाप परिदेवनम्" इत्यमर। अवनिपालः = अवनि पालयतीति, अवनि + पाल + अच्। दीनदयालुतया=दयत इति दयालु, दय धातुसे "स्पृहि-गृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच्" इस सूत्रसे आलुच् प्रत्यय। दयालोर्भाव., दयालु + तल् + टाप्। दीनेषु दयालुता, तया (स० त०)। हेतुमे तृतीया। अर्दाशि = दृश् + लुङ् (कर्ममें) + त। यदर्थं=यस्मै इदम् (च० त०) यथा तथा, (क्रि० वि०) धृतः = धृञ् + क्त (कर्ममें)। यथेच्छम्=इच्छाम् अनति-क्रम्य (अव्ययीभाव०)। गच्छ = गम + लोट् + सिप्। अभिधाय = अभि +

धा+क्त्वा (ल्यप्) । अमुञ्चत्=मुच्+लङ्+तिप् । महाकाव्यमे सर्गके अन्तमें छन्द बदलना चाहिए जैसे कि कहा है—

"एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ।" सा० द० ६–८ ।

यह दोधक छन्द है। उसका लक्षण है–"दोधकवृत्तमिद भभभा गो" ॥१४३॥

आनन्दजाऽश्रुभिरनुस्रियमाण मार्गान्प्राक्शोकनिर्गमितनेत्रपयः प्रवाहान् ।
चक्रे स चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन नीराजनां जनयतां निजबान्धवानाम् ॥१४४॥

अन्वयः—स चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन नीराजना जनयता निजबान्धवानां प्राक्शोकनिर्गमितनेत्रपय.प्रवाहान् आनन्दजाऽश्रुभिः अनुस्रियमाणमार्गान् चक्रे ॥ १४४ ॥

व्याख्या—सः = हस , चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन = मण्डलाकारभ्रमणमिषेण, नीराजनाम्=आरार्तिका, जनयता=कुर्वंता, निजबान्धवाना = स्वबन्धूनां, प्राक्शोकनिर्गमितनेत्रपय प्रवाहान् = पुराशुड्नि.सरितबाष्पपूरान्, आनन्दजाऽश्रुभिः=हर्षजनयनसलिलै , अनुस्रियमाणमार्गान्=अनुगम्यमानाऽध्वन , चक्रे=कृतवान् ॥१४४॥

अनुवादः—उस हसने मण्डलाकार भ्रमणके बहानेसे नीराजना करनेवाले अपने बान्धवोके पहले शोकसे निकले हुए आँसुओको आनन्दसे उत्पन्न आँसुओंसे अनुसरण किया जाने वाला बनाया ॥ १४४ ॥

टिप्पणी—चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन=कुटिल क्रमण चङ्क्रमण, क्रम धातुसे "नित्य कौटिल्ये गतौ" इस सूत्रसे कुटिल गतिमे यञ् प्रत्यय और "यङोऽचि च" इससे लुक् और द्वित्व होकर भावमे ल्युट् । चक्रेण सदृश चक्रनिभम् (तृ० त०), अस्वपदविग्रह होनेसे नित्य समास । चक्रनिभ च तच्चङ्क्रमण (क० धा०) । तस्य छल, तेन (ष० त०) । जनयता=जनयन्तीति तेषाम्, जन्+णिच्+लट् (शतृ)+आम् । निजबान्धवाना = निजाश्च ते बान्धवा., तेषाम् (क० धा०), प्राक्शोकनिर्गमितनेत्रपय प्रवाहान्=पयसा प्रवाहा. (ष० त०), नेत्रयो पय - प्रवाहा. (ष० त०) । प्राग्भवः शोक. प्राक्शोक (मध्यमपद०) । प्राक्शोकेन निर्गमिता. (तृ० त०), ते च ते नेत्रपय. प्रवाहा, तान् (क० धा०) । आनन्दजाऽश्रुभिः=आनन्दात् जातानि, आनन्द+जन्+ड । आनन्दजानि च तानि अश्रूणि, तै. (क० धा०) । अनुस्रियमाणमार्गान् = अनुस्रियन्ते इति अनुस्रियमाणा., अनु+सृ+लट् (कर्ममे) (शानच्) । ते मार्गा येषा ते, तान् (बहु०) । चक्रे = कृ+लिट् (कर्ताके अर्थमे)+य (एश्) । इस पद्यमे बन्धनसे छूटे हुए अपने यूथके पक्षीके चारो ओर पक्षिगण मण्डलाकार रूपसे

घूमते है इस बातको मनुष्योके समान नीराजनाके रूपमे प्रदर्शित किया है। नलसे हंसके पकडे जानेपर उसके यूथके पक्षिगण रोये, पीछे छोडे जानेपर हर्षाश्रु गिराने लगे यह इसका तात्पर्य है। इस महाकाव्यमे सर्गके अन्तिम प्रत्येक पद्यमे "आनन्द" पदका प्रयोग किया है, अत यह "आनन्दाऽङ्क" महाकाव्य है। इस पद्यमे कैतवाऽपह्नुति अलङ्कार है। वसन्ततिलका छन्द है, उसका लक्षण है—

"उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।" ॥ १४४ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः सुत
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गतः ॥ १४५ ॥

अन्वयः—कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीर श्रीहीर मामल्लदेवी च जितेन्द्रियचय य श्रीहर्षं सुत सुषुवे। तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या चारुणि नैषधीयचरिते महाकाव्ये अयम् आदि सर्गः गत ॥ १४५ ॥

व्याख्या—अथ महाकविः सर्गान्ते काव्यवर्णन सर्गसमाप्ति च पद्यबन्धेन प्रदर्शयति—श्रीहर्षमिति। कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीर =पण्डितश्रेष्ठश्रेणीकिरीटभूषणवज्रमणि श्रीहीर. = श्रीहीरनामक, मामल्लदेवो च = मामल्लदेवीनाम्नी च जितेन्द्रियचय = वशीकृतहृषीकसमूहम्। य श्रीहर्षं=श्रीहर्षनामक, सुत=पुत्र, सुषुवे=जनयामास, तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले = तच्चिन्तामणिनामकमनूपासनाफलरूपे, शृङ्गारभङ्ग्या=आदिरसविच्छित्या, चारुणि=मनोहरे, नैषधीयचरिते = नैषधीयचरितनामके, महाकाव्ये = बृहत्काव्ये, काव्यविशेष इति भाव.। अय=निकटस्थः, आदि. = प्रथम., सर्ग =अध्याय, गत.=समाप्त इत्यर्थः ॥१४५॥

अनुवादः—श्रेष्ठ पण्डितो की श्रेणीके मुकुटके अलङ्कार हीरेके समान श्रीहीर और मामल्लदेवीने जिस श्रीहर्ष नामके पुत्रको उत्पन्न किया, उन (श्रीहर्ष)के चिन्तामणि नामक मन्त्रकी उपासनाके फलस्वरूप शृङ्गार की विचित्रतासे मनोहर नैषधीयचरितनामक महाकाव्यमे यह पहला सर्ग समाप्त हुआ ॥ १४५ ॥

टिप्पणी—कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः = कवीनां राजानः कविराजाः (ष० त०), समासाऽन्त टच् प्रत्यय। "सङ्ख्यावान् पण्डितः कविः" इत्यमरः। कविराजाना राजिः (ष० त०), तस्या मुकुटानि (ष० त०), "अथ मुकुट किरीटं पुंनपुंसकम्" इत्यमरः। तेषाम् अलङ्कारः (ष० त०) च चाऽसौ हीरः (क०

धा०)। श्रीहीरः=श्रीसम्पन्नो हीर. (मध्यमपद०)। मामल्लदेवी = किसीने यहाँपर माम्+अल्लदेवी ऐसा पदच्छेद कर "अल्लदेवी च मां सुत श्रीहर्षम् सुषुवे" ऐसा अन्वय किया है, उस पक्षमे श्रीहर्षकी माता का नाम "मामल्लदेवी" न होकर "अल्लदेवी" ऐसा प्रतीत होता है । जितेन्द्रियचयम् = इन्द्रियाणा चय. (ष० त०), जित इन्द्रियजयो येन, तम् (बहु०)। सुषुवे = "षूङ् प्राणिप्रसवे" इस धातुसे लिट्+त (एश्)। तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले="चिन्तामणि" पदके दो अर्थ है, एक मन्त्रविशेष और दूसरा मणिविशेष। दोनो ही चिन्तित पदार्थोंको देने वाले हैं। प्रकृतमे चिन्तामणिपदका अर्थ मन्त्रविशेष है जिसकी चर्चा इसी महाकाव्यमे—अवामावामार्द्धे० १४–८८ इत्यादि श्लोकमे की जायगी। चिन्तापूरको मणि. चिन्तामणि· (मध्यमपद०)। मन्त्रके अर्थमे "चिन्तामणि" पद लाक्षणिक है। चिन्तामणिश्चाऽसौ मन्त्रः (क० धा०)। तस्य चिन्तन (ष० त०), तस्य फलं तस्मिन् (ष० त०)। शृङ्गारभङ्ग्या = शृङ्गारस्य भङ्गिः, तया (ष० त०)। नैषधीयचरिते=निषधानाम् अय नैषध , निषध+अण्। नैषधस्य इद नैषधीयम् नैषध+छ (ईय.)। नैषधीय च तत् चरितम्, तस्मिन् (क० धा०), महाकाव्ये = कवेर्भाव· कर्म वा काव्यम्, कवि+ष्यञ्। महच्च तत् काव्य, तस्मिन् (क० धा०)। "सर्गबन्धो महाकाव्यम्" इत्यादि लक्षणोसे युक्त बृहत् काव्यको "महाकाव्य" कहते है। इसमे आठसे अधिक सर्ग होना चाहिए इत्यादि नियम है। गत· = गम्+क्त । इस पद्यमे रूपक अलङ्कार है और शार्दूलविक्रीडित छन्द है। उसका लक्षण है—"सूर्याऽश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्" ॥ १४५ ॥

इति श्रीनैषधीयमहाकाव्यव्याख्यायां चन्द्रकलाऽभिख्याया प्रथमः सर्गः समाप्तः ।



काव्य और महाकाव्य के लक्षण

अब छात्रो की व्युत्पत्तिके लिए काव्यका लक्षण और उसके कुछ भेदकी चर्चा की जाती है। कौतीति कवि, "कु शब्दे" धातुसे "अच इ" इससे 'इ' प्रत्यय होकर "कवि" शब्द की निष्पत्ति होती है। शब्द करनेवालेको "कवि" कहते है। 'कवि' शब्दके तीन अर्थ है—ईश्वर, विद्वान् और काव्यकी रचना करनेवाला। कवेर्भाव. कर्म वा काव्यम्। कविके भाव वा कर्मको "काव्य कहते है। 'कवि' शब्दसे "गुणवचनब्राह्मणादिभ्य कर्मं च" इस सूत्रसे ष्यञ् प्रत्यय होकर "काव्य" पद निष्पन्न होता है।

मम्मटभट्टके काव्यप्रकाशके अनुसार काव्य का लक्षण है—

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुन क्वाऽपि।"

अर्थात् दोषरहित, गुण सहित, अलङ्कारसे अलङ्कृत शब्द और अर्थको "काव्य" कहते है, कहीपर अलङ्कारके न होनेपर भी "काव्य" पदका व्यवहार हो सकता है। सामान्यत काव्यके दो भेद है दृश्य और श्रव्य। अभिनयसे दिखाये जानेवालेको "दृश्य" कहते है। इसे रूपक भी कहते है। इसके नाटक आदि अनेक भेद होते है। सुने जानेवाले काव्यको श्रव्य कहते है। इसके दो भेद होते है गद्य और पद्य। कथा और आख्यायिका गद्यके भेद है। काव्यके दो भेद होते है महाकाव्य और खण्डकाव्य। साहित्यदर्पणके अनुसार महाकाव्य का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

"सर्गबन्धो महाकाव्य तत्रैको नायक. सुर.।
सद्वश. क्षत्रियो वाऽपि धीरोदात्तगुणाऽन्वित.॥" ६–४० इत्यादि।

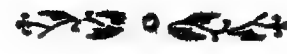
अर्थात् सर्गबन्धसे युक्त देवता अथवा उत्तमकुलप्रसूत क्षत्रिय धीरोदात्तगुणसे सम्पन्न नायकसे अलङ्कृत और आठ सर्गोसे अधिक सर्गयुक्त पञ्च सन्धिसे समन्वित ऋतुवर्णन आदि वर्णनसे सम्पन्न काव्यको महाकाव्य कहते है। प्रस्तुत नैषधीय-चरित 'महाकाव्य' है, इसमे २२ सर्ग है।

नैषधीयचरितके प्रथमसर्गमे अकारादिक्रमसे पद्यानुक्रमणिका

॥ श्री॰ ॥

नैषधीयचरितं महाकाव्यम्

चन्द्रकलाऽऽख्यया व्याख्यया हिन्द्यनुवादेन च विभूषितम्



द्वितीयः सर्गः

भक्ताऽभिलाषपरिपूरणसक्षणा या, रक्षापरार्ऽर्तिहरणाय धृतव्रता या।
विश्वेश्वरस्य रमणी करुणापरा सा दाक्षायणी मम कृतिं सफला विधत्ताम् ॥

अधिगत्य जगत्यधीश्वरादथ मुक्तिं पुरुषोत्तमात्तत.।
वचसामपि गोचरो न यः स तमानन्दमविन्दत द्विजः ॥ १ ॥

अन्वय—अथ स द्विज जगत्यधीश्वरात् पुरुषोत्तमात् तत मुक्तिम् अधिगत्य यो वचसाम् अपि गोचरो न, तम् आनन्दम् अविन्दत ॥ १ ॥

व्याख्या—हसमुखेन भैमीवर्णनाऽर्थं द्वितीयं सर्गमारभते—अथ = मोचनाऽनन्तरं, स. = पूर्वोक्त., द्विज = पक्षी विप्रश्च, जगत्यधीश्वरात् = भूपते, भुवनपतेश्च। पुरुषोत्तमात् = पुरुषश्रेष्ठात्, विष्णोश्च। ततः = नलाद् प्रसिद्धाच्च। मुक्तिं = मोचन निर्वाण च, अधिगत्य = प्राप्य, य॰ = आनन्दः, वचसाम् अपि = वाक्यानाम् अपि, गोचर = ग्राह्य, न, वक्तुमशक्य इति भाव। त=तादृशम्, आनन्द = सुख, परमानन्द च मोक्षजन्यमिति भावः। अविन्दत=अलभत। यथा विप्रो भुवनपतेर्विष्णोर्मोक्षं प्राप्य अनिर्वचनीयमानन्दं प्राप्नोति तथैव स हसोऽपि भूपते. मोचन प्राप्य वाचामविषय सुख प्राप्तवानिति भाव.।

अनुवादः—तब वह हस जैसे ब्राह्मण लोकपति भगवान् विष्णुसे मोक्ष पाकर अनिर्वचनीय आनन्द पाता है उसी तरह भूपति, पुरुषश्रेष्ठ नलसे छुटकारा पाकर अवर्णनीय आनन्दको प्राप्त हुआ ॥ १ ॥

टिप्पणी—द्विज = द्विर्जायते इति, द्वि+जन्+ड । 'दन्तविप्राण्डजा द्विजा" इत्यमर. । जगत्यधीश्वरात् = जगत्या अधीश्वर, तस्मात् (ष० त०) "अथ जगती लोको विष्टप भुवनं जगत् ।" इत्यमर । पुरुषोत्तमात् = पुरुषेषु उत्तम तस्मात्, (स० त०), यद्यपि निर्द्धारणमे "यतश्च निर्द्धारणाम्" इस सूत्रसे षष्ठी और सप्तमी दोनो विभक्तियाँ होती है तथाऽपि "न निर्द्धारणे" इस सूत्रसे निर्द्धारणमे षष्ठीका समास नही होता है । मुक्ति = मुच+क्तिन् । आत्यन्तिक दु खनिवृत्तिको मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण या अपवर्ग कहते है । वेदान्तके अनुसार स्व (ब्रह्म) स्वरूपके ज्ञानसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है, "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नाऽन्य. पन्था विद्यतेऽयनाय" "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तैत्ति० २।४) "आनन्द ब्रह्मणो रूपम्" इत्यादि प्रमाण है । अधिगत्य=अधि+गम्+क्त्वा (ल्यप्) । अविन्दत = "विद्लृ लाभे" धातुसे क्रियाफल कर्तृगामि होनेसे आत्मनेपदमे लङ्, "शे मुचादीनाम्" इससे नुम् आगम । इस पद्यमे द्वितीय अर्थके प्रस्तुत न होनेसे श्लेष नही है, "द्विजो ब्राह्मण इव" द्विज ब्राह्मणके समान कहनेसे उपमा व्यङ्ग्य है इस प्रकार शब्दार्थशक्तिमूल अलङ्कार ध्वनि है । इस सर्गमे सौ श्लोकोतक वियोगिनी नामक अर्द्धसमवृत्त है उसका लक्षण है—

"विषमे ससजा गुरु समे, सभरा लोऽथ गुरुर्वियोगिनी ॥ १ ॥

अधुनीत खग स नैकधा तनुमुत्फुल्लतनूरुहीकृताम् ।
करयन्त्रणदन्तुराऽन्तरे व्यलिखच्चञ्चुपुटेन पक्षती ॥ २ ॥

अन्वय.—स खग उत्फुल्लतनूरुहीकृता तनु नैकधा अधुनीत, करयन्त्रणदन्तुराऽन्तरे पक्षती चञ्चुपुटेन व्यलिखत् ॥ २ ॥

व्याख्या—स =पूर्वोक्त, खग =पक्षी, हस इत्यर्थं । उत्फुल्लतनूरुहीकृता = सफुल्लपतत्त्रीकृता, नलकरपीडनादिति भाव. । तनुं=शरीर, नैकधा = अनेकधा, अनेकप्रकारणेत्यर्थ, अधुनीत=कम्पितवान्, करयन्त्रणदन्तुराऽन्तरे=नलहस्तपीडन-निम्नोन्नतमध्यप्रदेशे, पक्षती = पक्षमूले, चञ्चुपुटेन=त्रोटिपुटेन, व्यलिखत्=विलेखनेन ऋजूचकारेत्यर्थं ॥ २ ॥

अनुवाद:—उस पक्षी (हस) ने राजाके हाथसे पकडे जानेसे रोमाञ्चसे युक्त शरीरको अनेक प्रकारसे कम्पित किया और हाथसे पकडनेसे ऊँच नीच मध्यप्रदेशवाले पक्षमूलोको चोचकी नोकसे सम बनाया ॥ २ ॥

टिप्पणी—उत्फुल्लतनूरुहीकृताम्=उत्फुल्लन्तीति उत्फुल्लानि, उद्–उपसर्ग-पूर्वक "फुल्ल विकसने" धातुसे "उत्फुल्लसंफुल्लयोरुपसख्यानम्" इस वार्तिकसे अच्प्रत्ययान्त निपातन। "प्रफुल्लोत्फुल्लसंफुल्लव्याकोशविकचस्फुटा ।" इत्यमर.। तन्वा रोहन्तीति तनूरुहाणि, तनू+रुह्+कः (उपपद०)। उत्फुल्लानि तनूरुहाणि यस्यां सा (बहु०)। अनुत्फुल्लतनूरुहा उत्फुल्लतनूरुहा यथा संपद्यते तथाकृता, ताम्, उत्फुल्लतनूरुहा+च्वि+कृ+क्त (टाप्)+अम्। नैकधा = न एकधा नैकधा, "सुप्सुपा" समास। यहाँ नञ्समास नही हुआ, नञ् समास होता तो "न लोपो नञ" इससे 'न' का लोप होकर "अनेकधा" ऐसा रूप बनता। अधुनीत = 'धूञ् कम्पने" इस क्र्यादिगणस्थ धातु-से लङ्+त, "प्वादीनां ह्रस्व" इससे ह्रस्व। करयन्त्रणदन्तुराऽन्तरे = करेण यन्त्रणम् (तृ० त०)। दन्तुरम् अन्तर ययोस्ते (बहु०)। "दन्तुर तून्नतानतम्" इत्यमरः। करयन्त्रणेन दन्तुराऽन्तरे (तृ० त०), ते। पक्षती = पक्षयोर्मूले, ते पक्ष शब्दसे "पक्षात्तिः" इस सूत्रसे ति प्रत्यय। "स्त्री पक्षतिः पक्षमूलम्" इत्यमर.। चञ्चुपुटेन=चञ्च्वो पुट, तेन (ष० त०)। व्यलिखत् = वि+लिख+लङ्+तिप्। इस पद्यमे स्वभावोक्ति अलङ्कार है ॥ २ ॥

अयमेकतमेन पक्षतेरधिमध्योर्ध्वगजङ्घमङ्घ्रिणा ।
स्खलनक्षण एव शिश्रिये द्रुतकण्डूयितमौलिरालयम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—अय स्खलनक्षण एव एकतमेन अङ्घ्रिणा पक्षते अधिमध्योर्ध्व-गजङ्घं द्रुतकण्डूयितमौलि (सन्) आलय शिश्रिये ॥ ३ ॥

व्याख्या—अयं = हस, स्खलनक्षण एव = मोचनसमय एव, एकतमेन = एकेन, अङ्घ्रिणा=चरणेन, पक्षते =पक्षमूलस्य, अधिमध्योर्ध्वगजङ्घम्=मध्योर्ध्व-गामिप्रसृत (यथा तथा), द्रुतकण्डूयितमौलि =शीघ्रघर्षितमस्तक. सन्, आलय= निजावास, नीडमित्यर्थ. शिश्रिये=श्रितवान् ॥ ३ ॥

अनुवाद—वह (हस) छूटते ही एक पैरसे पक्षमूलके मध्यमे जाँघको ऊपर कर शीघ्र माथेको खुजलाता हुआ अपने घोसलेमे पहुँचा ॥ ३ ॥

टिप्पणी—स्खलनक्षणे = स्खलनस्य क्षण, तस्मिन् (ष० त०)। अधि-मध्योर्ध्वगजङ्घम् = मध्ये इति अधिमध्यम्, विभक्तिके अर्थमे अव्ययीभाव। ऊर्ध्वं गच्छतीति ऊर्ध्वगा, ऊर्ध्व+गम्+ड+टाप्। सा जङ्घा यस्मिन् (कर्मणि) तद्यथा तथा (बहु०)। अधिमध्यम् ऊर्ध्वगजङ्घम् (सुप्सुपा०) द्रुतकण्डूयितमौलिः = कण्डूयितो मौलिर्येन स. (बहु०)। द्रुत (यथा तथा)

कण्डूयितमौलि (सुप्सुपा०)। शिश्रिये = "श्रिञ् सेवायाम्" धातु से लिट्, "लिटस्तझयोरेशिरेच्" इस सूत्र से 'त' के स्थान मे एश्। स्वभावोक्ति अलङ्कार ॥ ३ ॥

स गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहान् कटु कीटान् दशत. सतः क्वचित्।
नुनुदे तनुकण्डु पण्डितः पटुचञ्चूपुटकोटिकुट्टनैः ॥ ४ ॥

अन्वयः—पण्डित स गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहान् कटु दशत क्वचित् सत. कीटान् पटुचञ्चूपुटकोटिकुट्टनै तनुकण्डु नुनुदे ॥ ४ ॥

व्याख्या—पण्डित. = निपुण, कीटाद्यपनयनप्रवीण इति भाव । **स:** = हंसः, गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहान् = पक्षसमूहदुर्गमस्थानदुर्ग्राह्यान्, कटु = तीक्ष्ण, दशत = तुदतः, दन्तैरिति शेष । क्वचित् = कुत्रचित्, सत = वर्तमानान्, कीटान् = क्षुद्रजन्तून्, पटुचञ्चूपुटकोटिकुट्टनै. = समर्थत्रोटयग्रघट्टनै, तनुकण्डु = अल्पखर्जु यथा तथा, नुनुदे = निवारितवान् ॥ ४ ॥

अनुवाद—कीडोको हटानेमे निपुण उस हसने पक्षसमूहरूप किलेमे नही पकडे जानेवाले तीक्ष्ण रूपसे काटनेवाले ऐसे कहीपर रहे हुए कीडोको मजबूत चोचकी नोकके आघातोसे खुजलीको कम कर हटाया ॥ ४ ॥

टिप्पणी—पण्डित. = सत् और असत्का विवेक करनेवाली बुद्धिको 'पण्डा" कहते है। पण्डा सजाता अस्य पण्डित, 'पण्डा' शब्दसे "तदस्य सजात तारकादिभ्य इतच्" इससे इतच् प्रत्यय। गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहान् = गरुता वनम् (ष० त०) तदेव दुर्गम् (रूपक०)। दु खेन ग्रहीतु शक्या दुर्ग्रहा, दुर् + ग्रह + खल् (उपपद०)। गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहा., तान् (स० त०)। कटु = यह क्रियाविशेषण है। दशत. = दशन्तीति दशन्त, तान् (दश + लट् + शतृ) + शस्। सत. = सन्तीति सन्त, तान् (अस् + लट् + शतृ + शस्। पटचञ्चूपुटकोटिकुट्टनै = चञ्च्वो = पुटम् (ष० त०) । पटु च तत् चञ्चूपुटम् (क० धा०), तस्य कोटि (अग्रभाग), (ष० त०), तया कुट्टनानि, तै. (तृ० त०)। तनुकण्डु = तनु कण्डू यस्मिन् (कर्मणि) (बहु०), तद्यथा तथा। "कण्डू खर्जूश्च कण्डूया" इत्यमर । नुनुदे = "णुद प्रेरणे" इति धातोर्लिट्। रूपक और स्वभावोक्तिकी ससृष्टि है ॥ ४ ॥

अयमेत्य तडागनीडजैर्लघु पर्यव्रियताऽथ शङ्कितैः ।
उदडीयत वैकृतात्करग्रहजादस्य विकस्वरस्वरैः ॥ ५ ॥

अन्वयः—अयं तडागनीडजैः लघु एत्य पर्यव्रियत। अथ अस्य करग्रहजात् वैकृतात् शङ्कितैः विकस्वरस्वरैः उदडीयत ॥ ५ ॥

व्याख्या—अय = हस., तडागनीडजैः = पद्माकरकुलायोत्पन्नैः पक्षिभिः, लघु = शीघ्रम्, एत्य = आगत्य, पर्यव्रियत = परिवृतः। अथ = परिवेष्टनाऽनन्तरम्, अस्य = हसस्य, करग्रहजात् = हस्तपीडनजनितात्, वैकृतात् = विकारात्, दन्तुरपक्षत्वरूपादिति भाव। शङ्कितैः = भोतैः, विकस्वरस्वरैः उच्चैर्घोषैः पक्षिभि, उदडीयत = उड्डीनम् ॥ ५ ॥

अनुवादः—उस हंसको तालाबके निकट स्थित घोसलोमे उत्पन्न पक्षियोंने शीघ्र आकर घेर लिया। तब उस हसके हाथसे ग्रहण करनेसे उत्पन्न दन्तुरत्व रूप विकारसे शङ्कित होकर ऊँचो आवाज करते हुए सब पक्षी उड गये ॥ ५ ॥

टिप्पणी—तडागनीडजैः = तडागे नोडा (स० त०), समीप अर्थमें सप्तमी। तडागनीडे जातास्तडागनीडजा, तैः, तडागनीड + जन् + ड + भिस् (उपपद०)। लघु="लघु क्षिप्रमर द्रुतम्।" इत्यमर। एत्य=आङ् + इण् + क्त्वा (ल्यप्) पर्यव्रियत = परि + वृञ् + लङ् (कर्ममे) + त। करग्रहजात् = ग्रहण ग्रह। "ग्रहँ उपादाने" धातुसे "ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च" इस सूत्रसे अप् प्रत्यय, करेण ग्रह (तृ० त०), तस्माज्जात करग्रहज, तस्मात्, करग्रह + जन् + ड (उपपद०) + ङसि.। वैकृतात् = विकृतम् एव वैकृत, तस्मात्, विकृत + अण् (स्वार्थमे)। विकस्वरस्वरैः = विकसन्तीति विकस्वरा, वि + उपसर्गपूर्वक कस धातुसे "स्थेशभासपिसकसो वरच्" इस सूत्रसे वरच् प्रत्यय। "विकासी तु विकस्वर" इत्यमर। विकस्वर स्वरो येषां ते, तैः (बहु०)। उदडीयत = उद् + डीङ् + लङ् + त (भावमे)। इस पद्यमें स्वभावोक्ति अलङ्कार है ॥ ५ ॥

दधतो बहु शैवलक्ष्मतां धृतरुद्राक्षमधुव्रतं खगः।
स नलस्य ययौ करं पुन सरसः कोकनदभ्रमादिव ॥ ६ ॥

अन्वय.—स खगः बहुशैवलक्ष्मता दधत सरस बहुशैवलक्ष्मता दधतो नलस्य धृतरुद्राक्षमधुव्रतं कर कोकनदभ्रमात् इव पुन ययौ ॥ ६ ॥

व्याख्या—स = पूर्वोक्त, खग = पक्षी, हंस इत्यर्थ। बहुशैवलक्ष्मता= भूरिशैवलभूमिता, दधत. = धारयत, सरस = पल्वलात्। बहुशैवलक्ष्मतां = अधिकशिवभक्तचिह्नतां, दधतः = धारयतः, नलस्य = नैषधस्य, धृतरुद्राक्षम-

धुव्रतं = भ्रमरसदृशरुद्राक्षधारक, करं = हस्त, कोकनदभ्रमात् इव = रक्तकमल-भ्रान्ते इव, पुन = भूय, ययौ = जगाम, रक्तवर्णे नलहस्ते रक्तकमलभ्रान्तेरिव हंस- पुनर्जगामेति भाव ॥ ६ ॥

अनुवाद —वह हस बहुत शैवलो (सेवारो) वाली भूमिको धारण करने-वाले तालाबसे बहुतसे शिवभक्तके चिह्नोको धारण करनेवाले नलके भौरोके समान रुद्राक्षोको धारण करनेवाले हाथको मानो रक्त कमलकी भ्रान्तिसे फिर प्राप्त हुआ ॥ ६ ॥

टिप्पणी—बहुशैवलक्ष्मता = बहूनि शैवलानि यस्यां सा बहुशैवला (बहु०)। "जलनीली तु शैवाल शैवल " इत्यमर । बहुशैवला क्ष्मा (भूमि) यस्मिस्तत् बहुशैवलक्ष्मम् (बहु०) तस्य भाव तत्ता ताम्, बहुशैवलक्ष्म + तल् + टाप् + अम् । दधत = दधातीति दधत् तस्य, धा + लट (शतृ) + ङस् । सरस = "कासार सरसी सर-" इत्यमर । नलके पक्षमे—बहुशैव-लक्ष्मता = शिवे भक्तिर्यस्य स शैव , "शिव" शब्दसे "भक्ति" इस सूत्रसे अण, "तद्धितेष्वचामादे" इससे आदि अच्की वृद्धि । शैवस्य लक्ष्माणि (ष० त०) "चिह्न लक्ष्म च लक्षणम्" इत्यमर । बहूनि शैवलक्ष्माणि यस्य स बहुशैवलक्ष्मा (बहु०), तस्य भाव तत्ता ताम्, बहुशैवलक्ष्मन् + तल् + टाप् + अम् । भस्म, रुद्राक्ष आदि शैव (शिवजीके उपासकके) चिह्न है । प्रकृतमे शैव नलका चिह्न रुद्राक्ष अभिमत है । धृतरुद्राक्षमधुव्रत = रुद्राक्षा मधुव्रता इव रुद्राक्षमधुव्रता , "उपमित व्याघ्रादिभि सामान्याऽप्रयोगे" इससे उपमित० समास । धृता रुद्राक्षमधुव्रता येन, तम् (बहु०) । कोकनदभ्रमात् = कोकनदस्य भ्रम , तस्मात् (प० त०) । "रक्तोत्पल कोकनदम्" इत्यमर. । ययौ=या+लिट्+तिप् (णल्) । इस पद्यमे शब्दश्लेष, उपमा और उत्प्रेक्षा इन अलङ्कारोका अङ्गाङ्गिभावमे सङ्कर है ॥ ६ ॥

पतगश्चिरकाललालनादतिविस्रम्भमवापितो नु सः ।
अतुलं विदधे कुतूहलं भुजमेतस्य भजन्महीभुजः ॥ ७ ॥

अन्वयः—स पतग: चिरकाललालनात् अतिविस्रम्भम् अवापितो नु (किम्) एतस्य महीभुज भुज भजन् अतुलं कुतूहल विदधे ॥ ७ ॥

व्याख्या—अथाऽस्य स्वयमागमनादुत्प्रेक्षते पतग इति । स = पूर्वोक्त:, पतग: = हंस , चिरकाललालनात् = बहुसमयोपलालनात्, अतिविस्रम्भम् = अविश्वासम्, अवापितो नु = प्रापित किम्, नोचेत्कथ पुन स्वयमागच्छेदिति

भाव' । एतस्य = अस्य, महीभुज. = राज्ञ:, नलस्येत्यर्थ । भुज = कर, भजन् = सेवमान, स्वयमाप्नुवन्निति भाव । अतुलम् = अनुपम, कुतूहल = कौतुक, विदधे = चकार ॥ ७ ॥

अनुवाद—वह पक्षी (हस) बहुत समयतक हाथमे लेनेसे मानो अत्यन्त विश्वस्त कराया गया। राजाके हाथमे स्वयम् प्राप्त होनेसे उसने अनुपम कौतुकको उत्पन्न किया ॥ ७ ॥

टिप्पणी—पतग = पतै (पक्षै) गच्छतीति, पत-उपपदपूर्वक गम् धातुसे "पुसि सज्ञाया घ प्रायेग" इस सूत्रसे घ प्रत्यय। "पतत्त्रिपत्त्रिपतगपतत्पत्त्र-रथाण्डजा ।" इत्यमर । चिरकाललालनात् = चिरकाल लालन, तस्मात् (सुप्सुपा०) । अतिविस्रम्भम् = अत्यन्त विस्रम्भ, तम्, "कुगतिप्रादय." इति समास । "समौ विस्रम्भविश्वासौ" इत्यमर । अवापित = अव+आप्+णिच्+क्त । महीभुज = मही भुनक्तीति महीभुक्, तस्य, मही+भुज्+क्विप् (उपपद०)+ङस् । भजन् = भजतीति, भज+लट् (शतृ)+सु । अतुलम् = अविद्यमाना तुला (उपमा) यस्य, तत् (नञ् बहु०) । विदधे = वि+धा+लिट्+त (एश्) । इस पद्यमे उत्प्रेक्षा और कुतूहलविधानके प्रति भुज-भजनकी हेतुता होनेसे पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग है । इस प्रकार दोनोकी ससृष्टि है ॥ ७ ॥

नृपमानसमिष्टमानसः स निमज्जन्कुतुकाऽमृतोर्मिषु ।
अवलम्बितकर्णशष्कुलीकलसीकं रचयन्नवोचत ॥ ८ ॥

अन्वय — इष्टमानस स कुतुकाऽमृतोर्मिषु निमज्जन् नृपमानसम् अवलम्बित-कर्णशष्कुलीकलसीक रचयन् अवोचत ॥ ८ ॥

व्याख्या—इष्टमानस =प्रियमानस, स =हस, कुतुकाऽमृतोर्मिषु = कौतुक-सुधातरङ्गेषु, निमज्जत् = ब्रुडत्, नृपमानस = नलमन, अवलम्बितकर्णशष्कुली-कलसीकम् = आलम्बितश्रोत्रशष्कुलीघटद्वय, रचयन् = कुर्वन्, अवोचत=उक्तवान् जले निमज्जन्त पुरुष यथा कश्चित्तारणाय कलसप्रदानेन तमुद्धरति तथैव कौतुकतरङ्गेषु ब्रुडत् राजमानसमपि हस तत्कौतुकप्रशमनाय वक्ष्यमाणवाक्यं जगादेति भाव ॥ ८ ॥

अनुवाद—मानस सरोवरको पसन्द करनेवाला वह हस कौतुकरूप अमृतकी तरङ्गोमे डूबते हुए राजाके मनमे कर्णशष्कुलीरूप कलसोका अवलम्बन कराता हुआ बोला ॥ ८ ॥

टिप्पणी—इष्टमानस' = इष्ट मानसं यस्य स (बहु०) । कैलास पर्वतमे

ब्रह्माजीके मनसे उत्पन्न सरोवरको मानस सरोवर कहते है। जैसा कि वाल्मीकि-रामायणमे है—

"कैलासपर्वते राम! मनसा निर्मित परम्।
ब्रह्मणा नरशार्दूल! तेनेदं मानस सर॥"
आ० का० २४ सर्ग।

"मानसं सरसि स्वान्ते" इति विश्व। कुतुकाऽमृतोर्मिषु = कुतुकम् एव अमृतम् (रूपक०)। "कौतूहल कौतुक च कुतुक च कुतूहलम्।" इत्यमर। कुतुकाऽमृतस्य ऊर्मय, तेषु (ष० त०)। निमज्जत्=निमज्जतीति, नि+मस्ज+लट् (शतृ)+अम्। नृपमानस = मन एव मानसम्, "प्रज्ञादिभ्यश्च" इससे स्वार्थमे, मनस्+अण्। नृपस्य मानसं, तत् (ष० त०)। अवलम्बितकर्ण-शष्कुलीकलसीकम्=कर्णौ शष्कुल्यौ इव (उपमित०)। अवलम्बिते कर्णशष्कुल्यौ एव कलस्यौ येन, तत् (बहु०)। "नद्यृतश्च" इस सूत्रसे समासान्त कप प्रत्यय। एक प्रकारकी मिठाई (जलेबी) को शष्कुली कहते है। जलमे डूबते हुए व्यक्तिको जैसे घडेका सहारा होता है वैसे ही कौतुकरूप अमृतमे डूबते हुए नलको कर्णरूप शष्कुलीका सहारा देता हुआ हस कहने लगा यह तात्पर्य है। रचयन् = रचयतीति, रच+णिच्+लट् (शतृ)। अवोचत = वच+लुङ्+त। इस पद्यमे उपमा और रूपककी संसृष्टि है। यमक नामक शब्दालङ्कार भी है॥ ८॥

मृगया न विगीयते नृपैरपि धर्माऽऽगममर्मपारगैः।
स्मरसुन्दर! मां यदत्यजस्तव धर्म स दयोदयोज्ज्वल॥ ९॥

अन्वयः—धर्माऽऽगममर्मपारगै अपि नृपैः मृगया न विगीयते (तथाऽपि) हे स्मरसुन्दर! मा यत् अत्यज, स तव दयोदयोज्ज्वल धर्म॥ ९॥

व्याख्या—धर्माऽऽगममर्मपारगै. अपि = धर्मशास्त्रतत्त्वपारगामिभि अपि, नृपै = राजभि, मृगया=आखेट, न विगीयते = न गर्ह्यते, तथाऽपि, हे स्मर-सुन्दर = हे काममनोरम!, मा = पक्षिणं, मृगयालक्ष्यभूतमिति भाव। यत् अत्यज =त्यक्तवान्, स = त्याग, तव=भवत, दयोदयोज्ज्वल = करुणाऽवतार-निर्मल., धर्म =सुकृतम्, त्व न केवलमाकारत उज्ज्वल प्रत्युत दयारूपधर्मेणाऽपीति भाव॥ ९॥

अनुवादः—धर्मशास्त्रोंके तत्त्वोके पारदर्शी राजाओसे भी मृगया (शिकार)

को निन्दा नही की जाती है तो भी हे कामदेवके समान सुन्दर ! जो आपने मुझे छोड दिया है वह आपका दयाके उदयसे उज्ज्वल धर्म है।

टिप्पणी—धर्मस्य आगमा (ष० त०), तेषां मर्माणि (ष० त०), पार गच्छन्तीति पार—उपपदपूर्वक गम् धातुसे "अन्ताऽत्यन्ताऽध्वदूरपारसर्वाऽनन्तेषु ड" इस सूत्रसे ड प्रत्यय। धर्माऽऽगममर्मणा पारगा, तै (ष० त०), विगीयते=वि+गै+लट् (कर्ममे) + त। स्मरसुन्दर = स्मर इव सुन्दरः, तत्सम्बुद्धौ। "उपमानानि सामान्यवचनै" इस सूत्रसे उपमानपूर्वपद (क० धा०)। अत्यज = त्यज + लङ् + सिप्। यहाँ अद्यतन क्रिया विवक्षित होनेपर अनद्यतन अर्थमे लङ्का प्रयोग अनुचित है, अत च्युतसस्कृति दोष हो गया है। दयोदयोज्ज्वल =दयाया उदय (ष० त०), तेन उज्ज्वल (तृ० त०)। इस पद्यमे त्यागके प्रति धर्मकी कारणता होनेसे पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

अबलस्वकुलाऽशिनो झषान्निजनीडद्रुमपीडिन खगान्।
अनवद्यतृणार्दिनो मृगान्मृगयाऽघाय न भूभृता घ्नताम्॥ १०॥

अन्वयः—अबलस्वकुलाऽशिनो झषान् (घ्नताम्), निजनीडद्रुमपीडिन खगान् (घ्नताम्), अनवद्यतृणार्दिनो मृगान् घ्नता भूभृता मृगया अघाय न॥ १०॥

व्याख्या—राज्ञा कृते मृगयाया विगानाऽभाव प्रतिपादयति अबलेति। अबलस्वकुलाऽशिन =निर्बलनिजवशभक्षकान्, झषान्=मत्स्यान्, घ्नताम्, एव परत्राऽपि। निजनीडद्रुमपीडिन =स्वकुलायवृक्षपीडकान्, विष्ठात्यागफलभक्षणादिनेति भाव.। खगान्=पक्षिण, तथा अनवद्यतृणाऽर्दिन = निरपराधाऽर्जुनहिंसकान्, मृगान् = पशून्, घ्नता=हिंसता, भूभृता=राज्ञा, मृगया=आखेट, अघाय = पापाय, न = न भवति। तेषा झषखगपशूना वधस्य दण्डरूपत्वाद्दण्डनाऽभाव एव दोष इति भाव ॥ १०॥

अनुवाद.—निर्बल अपने वशको मारनेवाली मछलियोको, अपने घोसलेके पेडोको पीडित करनेवाले पक्षियोको तथा निरपराध तृणोकी हिंसा करनेवाले मृगोको मारनेवाले राजाओको मृगया (शिकार) पापके लिए नही होती है ॥१०॥

टिप्पणी—अबलस्वकुलाऽशिन = अविद्यमान बलं यस्य तत् अबल, (नञ्बहु०), स्वस्य कुलम् (ष० त०)। अबल च तत् स्वकुलम् (क० धा०) अबलस्वकुलम् अश्नन्तीति तच्छीला, तान्, अबलस्वकुल + अश + णिनि (उपपद) + शस्। झषान्="पृथुरोमा झषा मत्स्यो मीनो वैसारिणोऽण्डज.।"

इत्यमर. । प्रबल मत्स्य निर्बल मत्स्योको खा जाते है, इसीसे "मात्स्यन्याय" की प्रसिद्धि है । निजनीडद्रुमपीडिन=नीडाना द्रुमा. (ष० त०), निजाश्च ते नीडद्रुमा (क० धा०), तान् पीडयन्तीति तच्छीला, तान्, निजनीडद्रुम+पीड+णिनि + (उपपद० शस्। पक्षी अपने घोसलेवाले पेडोको विष्ठात्याग और फलादिभक्षणसे पीडित करते है। अनवद्यतृणार्दिन=न उद्यन्त इति अवद्यानि, नञ्–उपपदपूर्वक वद धातुसे "अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्याऽनिरोधेषु" इस सूत्रसे गर्ह्य अर्थमे यत्प्रत्ययान्त निपातन । न अवद्यानि अनवद्यानि (नञ्०)। अनवद्यानि च तानि तृणानि (क० धा०), तानि अर्दन्तीति तच्छीला तान् अनवद्यतृण + अर्द + णिनि (उपपद०), शस्। निरपराध तृणोको मृग खा डालते है। तृणोमे भी प्राण है। "अन्त सज्ञा भवन्त्येते सुखदु खसमन्विता. । १–४९" मनुने ऐसा कहा है। घ्नता = घ्नन्तीति घ्नन्त, तेषाम् हन्+लट् (शतृ)+आम्। भूभृता = भुव बिभ्रतीति भूभृत, तेषाम्, भू+भृ+क्विप् (उपपद०)+आम्। अघाय=तादर्थ्यमे चतुर्थी। अपराधी मत्स्योको, पक्षियोको और मृगोको मारनेवाले राजाके लिए मृगया दण्डरूप होनेसे पाप उत्पन्न करनेवाली नही होती है यह तात्पर्य है। इस पद्यमे अप्रस्तुत सामान्य भूभृत्के कथनसे प्रस्तुत विशेष भूभृत् नलकी प्रतीति होनेसे अप्रस्तुतप्रशसा ओर पापके अभावके प्रति पहलेके तीन पादोके पदार्थोकी हेतुतासे पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है, इस प्रकार दोनोका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर है ॥ १० ॥

यदवादिषमप्रिय तव प्रियमाधाय नुनुत्सुरस्मि तत् ।
कृतमातपसज्वर तरोरभिवृष्याऽमृतमंशुमानिव ॥ ११ ॥

अन्वय:—(हे राजन्!) तव यत् अप्रियम् अवादिष, प्रियम् आधाय तत् तरो कृतम् आतपसज्वरम् अमृतम् अभिवृष्य अशुमान् इव नुनुत्सु अस्मि ॥११॥

व्याख्या—हस पुन स्वागमनकारणं प्रतिपादयति—यदिति । (हे राजन्!) तव = भवत., यत्, अप्रियम् = अप्रीतिजनकं वाक्य, "धिगस्तु तृष्णातरलम्" इत्यादिरूपमिति भाव । अवादिषम् = अवोचम्, प्रिय = प्रीतिजनक वाक्यम्, आधाय = निधाय, कथयित्वेति भाव. । तत् = अप्रियं, तरो = वृक्षस्य, कृत = स्वय विहितम्, आतपसज्वर = द्योतकृत सतापम्, अमृत = जलम्, अभिवृष्य = वर्षित्वा, अंशुमान् इव = सूर्य इव, नुनुत्सु. = निवारयितुम् इच्छु, अस्मि = भवामि ॥ ११ ॥

अनुवादः—(हे राजन् !) जैसे सूर्य अपनेसे की गयी पेडमे धूपकी पीड़ाको जलकी वृष्टिसे हटाते है उसी तरह मैने जो आपको अप्रिय कहा है, प्रिय वचन कहकर उसे हटाता हूँ ।। ११ ।।

टिप्पणी—अप्रियं = न प्रियं, तत् (नञ्०) । अवादिष = वद+लुङ्+मिप् । आधाय = आङ्+धा+क्त्वा (ल्यप्) । आतपसंज्वरम् = आतपेन सज्वर᳚, तम् (तृ० त०) अमृत = पद कीलालममृतम्" इत्यमर. । अभिवृष्य= अभि+वृष+क्त्वा (ल्यप्) । अशुमान् = प्रशस्ता अशवः सन्ति यस्य स᳚ अंशु+मतुप् । नुनुत्सु = नोदितुम् इच्छु, नुद्+सन्+उः । अस्मि = अस्+लट्+मिप् । इस पद्यमे उपमा अलङ्कार है ।। ११ ।।

उपनम्रमयाचितं हितं परिहर्तुं न तवाऽपि साम्प्रतम् ।
करकल्पजनान्तराद्विधेः शुचित. प्रापि स हि प्रतिग्रह. ।। १२ ।।

अन्वयः—अयाचितम् उपनम्र हित तव अपि परिहर्तुं न साम्प्रतम् । हि सः प्रतिग्रह करकल्पजनान्तरात् शुचित विधे प्रापि ।। १२ ।।

व्याख्या—त्वदीयोपकृतिर्न मया ग्राह्येति चेत्तत्राह—उपनम्रमिति । अयाचितम्=अप्रार्थितम्, उपनम्रम्=उपनत, हित=हितसम्पादक, मदीय प्रियवचनमिति भाव᳚, तव अपि = भवत अपि, परिहर्तुं = परित्यक्तु, न साम्प्रत = नो युक्तम्, "अयाचिताऽऽहृत ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्मण । (या० स्मृ० १-२१५) इति स्मरणादिति भाव. । तदपि मादृश्यास्तिर्यग्जाते कथ ग्राह्यमिति चेत्तत्राह—करकल्पेति । हि=यस्मात्कारणात् । स = पूर्वोक्त, मयाऽभिहित इति भाव । प्रतिग्रह. = दत्तपदार्थ, करकल्पजनान्तरात् = हस्तस्थानीयाऽन्यलोकात्, शुचित᳚ = शुद्धात्, विधे = भाग्यात्, प्रापि = प्राप्त, न तु मत्त इति भाव. । अह तु निमित्तमात्र, दातृस्थानीय तु भाग्यमेवेति अतो न ग्रहणलाघवमिति तात्पर्यम् ।। १२ ।।

अनुवाद. याचनाके विना ही प्राप्त मेरे हित वचनको आपको छोड़ना नही चाहिए, क्योकि वह हितवचनरूप प्रतिग्रह हाथके सदृश मेरे ऐसे व्यक्तिरूप शुद्ध भाग्यसे प्राप्त हुआ है ।। १२ ।।

टिप्पणी—अयाचित = न याचितम् (नञ्०) । उपनम्रम् = उपनमनशीलम्, उप-उपसर्गपूर्वक "णम प्रह्वत्वे शब्दे" इस धातुसे "नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो र." इस सूत्रसे र प्रत्यय । परिहर्तुं = परि+हृञ्+तुमुन् । साम्प्रत = "युक्ते द्वे साम्प्रत स्थाने" इत्यमर. । दुष्कर्म करनेवालेसे भी बिना

याचनाके प्राप्त पदार्थको लेना चाहिए ऐसा महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है। अयाचित वृत्तिको भगवान् मनुने भी "अमृतं स्यादयाचितम्" ४–५, अमृत कहा है। "प्रत्याख्येय न वारि च" ऐसा भी शास्त्रका वचन है, अर्थात् याचना-के विना मिले हुए जलका भी प्रत्याख्यान नही करना चाहिए। करकल्प-जनान्तरात् = ईषत् असमाप्त कर करकल्प हस्तसदृशमित्यर्थ.। 'कर' शब्द-से "ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयर" इस सूत्रसे कल्पप् प्रत्यय। 'करकल्प' शब्दका करसदृश ऐसा अर्थ होता है। अन्यो जनो जनान्तरम् (मयूरव्यसकादि-समास)। करकल्पं च तत् जनान्तर तस्मात् (क० धा०)। शुचित. = शुचे. इति शुचित, "शुचि" शब्दसे "अपादाने चाऽहीयरुहो" इस सूत्रसे तसि प्रत्यय। यह "विधे" इस पदका विशेषण है। प्रापि = प्र-उपसर्गपूर्वक "आप्लृ व्याप्तौ" धातुसे कर्ममे लुङ्। इस पद्यमे हितपरिहारकी अयुक्तताके प्रति उत्तरार्धस्थित वाक्यकी हेतुतासे वाक्याऽर्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ॥ १२ ॥

पतगेन मया जगत्पतेरुपकृत्यै तव किं प्रभूयते ?
इति वेद्मि न तु त्यजन्ति मां तदपि प्रत्युपकर्तुमर्तयः ॥ १३ ॥

अन्वयः—पतगेन मया जगत्पतेः तव उपकृत्यै किं प्रभूयते ? इति वेद्मि, तदपि अर्तयस्तु मां प्रत्युपकर्तुं न त्यजन्ति ॥ १३ ॥

व्याख्या—हस स्वगर्वं परिहरति—पतगेनेति। पतगेन = पक्षिणा, मया= हसेन, तुच्छजन्तुना इति भाव। जगत्पते = सार्वभौमस्य, तव = भवतः, उपकृत्यै = उपकाराय, किं प्रभूयते = किं क्षम्यते ? समर्थेन न भूयत इति भाव। इति = एव, वेद्मि = जानामि, तदपि = तथाऽपि, अर्तयस्तु = प्रत्युपकाराऽर्थ-मुत्कण्ठारूपा: पीडास्तु, मा = पतग, प्रत्युपकर्तुं = प्रत्युपकार कर्तुं, न त्यजन्ति = न मुञ्चन्ति, प्रत्युपकाराय प्रेरयन्तीत्यर्थः। पतगोऽप्यहं दयालोस्ते महोपकारं करवाणीति भाव ॥ १३ ॥

अनुवादः—" अदना पक्षी मैं' जगत्पति आपके उपकारके लिए क्या समर्थ हूँगा" यह जानता हूँ। तो भी प्रत्युपकारके लिए उत्कण्ठारूप पीडाएँ तो मुझे आपके उपकारका बदला देनेके लिए नही छोडती है ॥ १३ ॥

टिप्पणी—जगत्पते. = जगत पतिः, तस्य (ष० त०), उपकृत्यै = उप-करणम् उपकृति, तस्यै, उप-उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातुसे "स्त्रियां क्तिन्" इस सूत्रसे क्तिन्, तादर्थ्यमे चतुर्थी। प्रभूयते = प्र + भू + लट् (भावमे) + त। वेद्मि =

विद्+लट्+मिप्। अर्तय ="अर्ति पीडाधनुष्कोटचो" इत्यमर। प्रत्युपकर्तुं = प्रति+उप+कृ+तुमुन्। त्यजन्ति = त्यज+लट्+झि। इस पद्यमे छेकाऽनुप्रास है ॥ १३ ॥

अचिराद्‌उपकर्तुराचरेदथवात्मौपयिकीमुपक्रियाम् ।
पृथुरित्थमथाऽणुरस्तु सा न विशेषे विदुषामिह ग्रह. ॥ १४ ॥

अन्वयः—अथवा उपकर्तु अचिरात् औपयिकीम् उपक्रियाम् आचरेत्, इत्थं सा पृथु अथ अणु अस्तु। विदुषाम् इह ग्रहो न ॥ १४ ॥

व्याख्या—स्वशक्त्यनुसारेण उपकारस्य प्रत्युपकारः शीघ्रम् कर्तव्य इति प्रतिपादयति अचिरादिति। अथवा = पक्षान्तरे, उपकर्तु. = उपकारकस्य, अचिरात् = अविलम्बात्, औपयिकी = स्वोपायसाध्याम्, उपक्रियाम् = उपकारम् आचरेत् = कुर्यात्, जीवनस्य अनित्यात्वाच्छीघ्र प्रत्युपकार विदधीतेति भाव.। इत्थम् = एव सति, सा = उपक्रिया, पृथु = अधिका, अथ = अथवा, अणु = अल्पा, अस्तु = भवतु, विदुषा = बुधाना, विवेकिनामिति भाव। इह = अस्मिन् विषये, ग्रहो न = आग्रहो न, गुणग्राहिणो विवेकिन कृतज्ञतामेवाऽस्य पश्यन्ति नैयून्यादिजनित दोष नाऽन्विष्यन्तीति भाव. ॥ १४ ॥

अनुवादः—अथवा उपकार करनेवालेका शीघ्र ही अपने उपायसे साध्य उपकार करे, इस प्रकार वह उपकार अधिक वा अल्प हो, विद्वानोको इस विषयमे आग्रह नही है ॥ १४ ॥

टिप्पणी—उपकर्तु = उपकरोतीति उपकर्ता, तस्य, उप+कृ+तृच्+ङस्। औपयिकीम् = उपाय एव औपयिक, उपाय शब्दसे "विनयादिभ्यष्ठक्" इस सूत्रसे "उपायो ह्रस्वत्व च" इस वार्तिकके सहकारसे स्वार्थमे ठक्, 'ठ' के स्थानमे "ठस्येक" इससे इक, ह्रस्वत्व "किति च" इस सूत्रसे आदिवृद्धि औपयिकात् आगता औपयिकी, ताम्, "तत आगत." इससे अण्। "टिड्ढाणञ्०" से ङीप्। "युक्तमौपयिक लभ्य भजमानाऽभिनीतवत्। न्याय्यश्च त्रिषु षट्" इत्यमर। उपक्रियाम् = उप + कृ + श + टाप् + अम्। आचरेत् = आङ्+चर+विधिलिङ्+तिप्। विदुषा = विदन्तीति विद्वास., तेषाम्, विद्+लट्+शतृ (वसु)+आम् ॥ १४ ॥

भविता न विचारचारु चेत्तदपि श्रव्यमिदं मदीरितम् ।
खगवागियमित्यतोऽपि किं न मुद दास्यति कीरगीरिव ? ॥ १५ ॥

अन्वयः—(हे नृप !) इद मदीरित विचारचारु न भविता चेत् तदपि श्रव्यम् । इय खगवाक् इत्यत अपि कीरगी इव मुद किं न दास्यति ?

व्याख्या—स्ववचःश्रवणे हेतुमुपपादयति—भवितेति । (हे नृप !) इद = वक्ष्यमाण, मदीरित = मत्कथित, वच इति भाव, विचारचारु = विमर्श-मनोहर, न भविता चेत् = नो भविष्यति यदि, तदपि = तथाऽपि मदीरिते विचारचारुत्वाऽभावेऽपीति भाव । श्रव्य = श्रोतव्यम्, इयम् = एषा, खगवाक् = पक्षिवाणी, इत्यत अपि = अस्मात्कारणात् अपि, कीरगीः इव = शुकवाणी इव, मुद = हर्षं, किं न दास्यति = किं न वितरिष्यति ? दास्यत्येवेति भाव । विचारचारुत्वाऽभावेऽपि कौतुकादपि मदीरित वच श्रोतव्यमिति भाव ॥ १९ ॥

अनुवादः—(हे राजन् !) यह मेरा वचन विचार करनेपर मनोहर न हो तो भी सुनना चाहिए । यह पक्षीकी आवाज है इस कारणसे भी तोतेकी आवाज क्या हर्ष उत्पन्न नही करेगी ? ॥ १५ ॥

टिप्पणी—मदीरित = मया ईरितम् (तृ० त०), "वच" इस पदका अध्याहार करना चाहिए । विचारचारु = विचारे चारु (स० त०) । भविता= भू+लुट्+तिप् । श्रव्यम् = श्रोतुम् अर्हम्, श्रु धातुसे "अचो यत्" इस सूत्रसे यत् प्रत्यय, "सार्वधातुकार्धधातुकयो " इससे गुण "धातोस्तन्निमित्तस्यैव" इस सूत्रसे अव् आदेश । खगवाक = खगस्य वाक् (ष० त०) । कीरगी = कीरस्य गी (ष० त०) । दास्यति = दा+लृट्+तिप् । इस पद्यमे उपमा अलङ्कार है ॥ १५ ॥

स जयत्यरिसाथसार्थकीकृतनामा किल भीमभूपतिः ।
यमवाप्य विदर्भभूः प्रभु हसति द्यामपि शक्रभर्तृकाम् ॥ १६ ॥

अन्वय.—अरिसार्थसार्थकीकृतनामा स भीमभूपतिः जयति किल । य प्रभुम् अवाप्य विदर्भभूः शक्रभर्तृका द्याम् अपि हसति ॥ १६ ॥

व्याख्या—साम्प्रतं स्ववचो वक्तुमुपक्रमते स जयतीति । अरिसार्थसार्थकी-कृतनामा = शत्रुसमूहाऽन्वर्थीकृताऽभिधानः, स =प्रसिद्ध , भीमभूपतिः=भीमाऽऽख्य-नृप., जयति किल = सर्वोत्कर्षेण वर्तते खलु । य = भीमभूपतिं, प्रभु = भर्तारम्, अवाप्य = प्राप्य, विदर्भभू = विदर्भभूमिः, शक्रभर्तृकाम् = इन्द्र-स्वामिका, द्याम् अपि = दिवम् अपि, लक्ष्यीकृत्येति शेष । हसति = उपहसति, किमुत अन्यभर्तृकदेशमिति शेष । स्त्रियो हि भर्तुरुत्कर्षादन्याः स्त्रीरुपहसन्तीति भावः ॥ १६ ॥

अनुवादः—शत्रुसमूहसे अन्वर्थ नामवाले राजा भीम उत्कर्षपूर्वक बढ़ रहे हैं। जिनको पतिके रूपमे पाकर विदर्भ देशकी भूमि इन्द्ररूप स्वामीवाली स्वर्गभूमिका भी उपहास कर रही है ॥ १६ ॥

टिप्पणी—अरिसार्थसार्थकीकृतनामा = अर्थेन सहितं साऽर्थकम्, "तेन सहेति तुल्ययोगे" इस सूत्रसे तुल्ययोग बहु०। "वोपसर्जनस्य" इससे विकल्पसे "सह" के स्थानमे "स" आदेश। "शेषाद्विभाषा" इससे समासाऽन्त कप् प्रत्यय। असार्थकं साऽर्थक यथा सपद्यते तथा कृतम्, सार्थक + च्वि + कृ + क्त। सार्थकीकृतं नाम यस्य स (बहु०)। अरीणा सार्थं (ष० त०), तस्मिन् सार्थकीकृतनामा (स० त०)। "सङ्घसार्थौ तु जन्तुभि" इत्यमर.। भीम-भूपति =भुव पति (ष० त०)। भीमश्चाऽसौ भूपतिः (क० धा०)। बिभेति अस्मात् इति भीम, "ञिभी भये" धातुसे "भीमादयोऽपादाने" इस सूत्रसे मक् प्रत्यय। जिससे शत्रु डरता है वह 'भीम' ऐसी व्युत्पत्तिसे साऽर्थक (अन्वर्थ) नामवाले राजा भीम है यह तात्पर्य है। जयति = जि + लट् + तिप्, यहाँपर "जि" धातु अकर्मक है। प्रभु =प्रभु परिवृढोऽधिप. इत्यमर। अवाप्य = अव + आप् + क्त्वा (ल्यप्)। विदर्भभू = विदर्भाणा भू (ष० त०)। शक्र-भर्तृका = शक्र भर्ता यस्या सा शक्रभर्तृका, ताम् (बहु०)। "नद्यृतश्च" इस सूत्रसे कप् और टाप् द्याम् = 'द्यो' शब्दसे द्वितीयाका एकवचन, "औतोऽम्शसो" इस सूत्रसे ओकारके स्थानमे आकार आदेश। "सुरलोको द्योदिवौ द्वे" इत्यमर। हसति = "हसे हसने" धातुसे लट् + तिप्। यह अकर्मक है अत "द्यामपि" यहाँपर "लक्ष्यीकृत्य" इस पदका अध्याहार करना चाहिए। "भीमभूपति." इस अंशमे "निरुक्त" नामका लक्षण है। जैसे कि चन्द्रालोकमे है—

"निरुक्त स्यान्निर्वचन नाम्न. सत्य तथाऽनृतम्।
ईदृशैश्चरितै राजन्सत्यं दोषाकरो भवान् ॥"

इस पद्यमे विदर्भभूमिका स्वर्गभूमिके हाससे सम्बन्ध न रहनेपर भी सम्बन्धकी उक्तिसे अतिशयोक्ति और "द्याम् अपि" यहाँपर स्वर्गको भी हँसती है, और को क्या कहना इस प्रकार अर्थापत्ति है, इस प्रकार दो अलङ्कारो-की संसृष्टि है ॥ १६ ॥

दमनादमनाक्प्रसेदुषस्तनयां तथ्यगिरस्तपोधनात्।
वरमाप स दिष्टविष्टपत्रितयाऽनन्यसदृग्गुणोदयाम् ॥ १७ ॥

अन्वयः—स. अमनाक् प्रसेदुष. तथ्यगिर. दमनात् तपोधनात् दिष्टविष्टपत्रितयाऽनन्यसदृग्गुणोदया तनयां वरम् आप ।

व्याख्या—इस साम्प्रत दमयन्त्या उत्पत्तिं वर्णयति—दमनादिति । स· = भीमभूपति·, अमनाक्=अत्यर्थं, प्रसेदुष =प्रसन्नात्, निजोपासनयेति शेष । तथ्यगिर =सत्यवचस , अमोघवचनादिति भाव. । तादृशात् दमनात्=दमननामकात्, तपोधनात्=तपस्विन , ऋषेरित्यर्थ. । दिष्टविष्टपत्रितयाऽनन्यसदृग्गुणोदया = काललोकत्रयाऽनितरसदृशसौन्दर्यादिगुणाविर्भावा, तनया = पुत्री, वरम् = अभीप्सितम्, आप=प्राप, वरत्वेन पुत्री लब्धवानिति भाव ॥ १७ ॥

अनुवादः—महाराज भीमने अत्यन्त प्रसन्न, सत्य वाणीवाले दमन नामके तपस्वीसे तीन कालो और तीन लोकोमे असाधारण सौन्दर्य आदि गुणोवाली पुत्रीरूप वरको प्राप्त किया ॥ १७ ॥

टिप्पणी—अमनाक् न मनाक् (नञ्०) । "किञ्चिदीषन्मनागल्पे" इत्यमर । प्रसेदुष =प्रससादेति प्रसेदिवान्, तस्य, प्र–उपसर्गपूर्वक सद् धातुसे "भाषायां सदवसश्रुव" इस सूत्रसे भूतसामान्यमे लिट्के स्थानमे क्वसु आदेश, सम्प्रसारण । तथ्यगिर =तथा (तत्प्रकारे) साधु तथ्या, तथा शब्दसे 'तत्र साधु" इस सूत्रसे यत् और स्त्रीत्वविवक्षामे टाप् प्रत्यय । "सत्य तथ्यमृतं सम्यक्" इत्यमर । तथ्या गीर्यस्य स तथ्यगी , तस्मात् (बहु०) । दमनात् = दमयतीति दमन·, तस्मात्, दम धातुसे "सहितपिदम सञ्ज्ञायाम्" (ग० सू० २३) इससे ल्यु (अन) प्रत्यय । तपोधनात् = तप एव धन यस्य, तस्मात् (बहु०) । दिष्टविष्टपत्रितयाऽनन्यसदृग्गुणोदयाम् = त्रय: अवयवा ययोस्ते त्रितये, त्रि शब्दसे "सङ्ख्याया अवयवे तयप्" इस सूत्रसे तयप् । अन्यस्यां सदृक् अन्यदृक् (स० त०) । "सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भाव" इससे "अन्या" शब्दका पुंवद्भाव । न अन्यसदृक (नञ्०) । गुणानाम् उदयः (ष० त०) । अनन्यसदृक् गुणोदयो यस्या सा (बहु०) । दिष्टाश्च विष्टपानि दिष्टविष्टपानि, "कालो दिष्टोऽप्यनेहाऽपि समयोऽपि" इति, "अथ जगती लोको विष्टपं भुवनं जगत् ।" इति चाऽमरः, दिष्टविष्टपाना त्रितये (ष० त०), तयोः अनन्यसदृग्गुणोदया, ताम् (स० त०) । वरम् = "देवाद् वृते वर. श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबे मनाक्प्रिये ।" इत्यमरः । आप = आप् + लिट् + त । महाराज भीमने दमन ऋषिसे तीन कालो और तीन लोकोमे असाधारणगुणोसे सम्पन्न

कन्यारूप वर पाया यह तात्पर्य है। इस पद्यमे 'दमनादमनाक्" यहाँपर यमक अलङ्कार है ॥ १७ ॥

भुवनत्रयसुभ्रुवामसौ दमयन्ती कमनीयतामदम् ।
उदियाय यतस्तनुश्रिया दमयन्तीति ततोभिधां दधौ ॥ १८ ॥

अन्वयः—असौ यत तनुश्रिया भुवनत्रयसुभ्रुवा कमनीयतामदं दमयन्ती उदियाय, तत दमयन्तीति अभिधां दधौ ॥ १८ ॥

व्याख्या—अथाऽस्या नामधेय तद्व्युपत्तिं च प्रदर्शयति—भुवनेति। असौ = तनया, यत = यस्मात्कारणात्, तनुश्रिया = निजशरीरसौन्दर्येण, भुवनत्रय-सुभ्रुवा = लोकत्रितयसुन्दरीणा, कमनीयतामद = सौन्दर्यगर्वं, दमयन्ती = अस्त गमयन्ती सती, उदियाय = उदिता, उत्पन्नेति भावः। तत = तस्मात्कारणात्, दमयन्ती इति = दमयन्तीत्यानुपूर्विकाम्, अभिधा = नाम, दधौ = बभार।

अनुवादः—वह (भीमकी पुत्रीने) जिस कारणसे अपने शरीरके सौन्दर्यसे तीन लोकोकी सुन्दरियोके सौन्दर्यगर्वका दमन करती हुई उत्पन्न हुई उस कारणसे उन्होने "दमयन्ती" ऐसे नामको धारण किया।

टिप्पणी—यत = यद् + तसिल्। तनु श्रिया = तनो श्री, तया (ष० त०)। भुवनत्रयसुभ्रुवां = त्रय अवयवाः यस्य तत् त्रयम्, त्रि शब्दसे "सख्याया अवयवे तयप्" इस सूत्रसे तयप् प्रत्यय और "द्वित्रिभ्या तय-स्याऽयज्वा" इस सूत्रसे उसके स्थानमे विकल्पसे अयच् आदेश। शोभने भ्रुवौ यासा ता. सुभ्रुव. (बहु०)। भुवनाना त्रयम् (ष० त०), तस्मिन् सुभ्रुवः (स० त०), तासाम्। कमनीयतामद = कमनीयस्य भाव. (कमनीय + तल् + टाप्), कमनीयताया मदः, तम् (ष० त०)। दमयन्ती = दमयतीति, णिजन्त दम धातुसे लट् (शतृ) + ङीप, यहाँपर "न पादम्याङ्‌०" इत्यादि सूत्रसे परस्मैपदका निषेध होनेपर भी क्रियाफल कर्तृगामि न होनेसे "शेषात्परस्मैपदम्" इससे परस्मैपद हुआ है। उदियाय = उद् + इण् + लिट् + तिप् (णल्)। दधौ = धा + लिट् + तिप्। इस पद्यमे भुवनत्रयकी सुन्दरियो-की अपेक्षा दमयन्तीके सौन्दर्यकी अधिकताका वर्णन होनेसे व्यतिरेक अलङ्कार है ॥ १८ ॥

श्रियमेव परं धराऽधिपाद् गुणसिन्धोरुदितामवेहि ताम् ।
व्यवधावपि वा विधोः कलां मृडचूडानिलयां न वेद कः ? ॥ १९ ॥

अन्वयः—(हे राजन् !) तां गुणसिन्धो धराऽधिपात् उदिता श्रियम् एव परम् अवेहि, वा व्यवधौ अपि मृडचूडानिलया विधो कला को न वेद ?

व्याख्या—अथ पद्यानामेकविंशत्या चिकुरादारभ्य दमयन्ती वर्णयति-श्रियमिति। (हे राजन् !) ता = दमयन्ती, गुणसिन्धो = दयादाक्षिण्यादि-गुणसमुद्रात्, धराऽधिपात् = भीमनरेन्द्रात्, उदिताम् = उत्पन्ना, श्रियम् एव = लक्ष्मीम् एव, पर = ध्रुवम्। अवेहि = जानीहि। देशव्यवधानान्न श्रीरेवेति वाच्यमित्याह—व्यवधावपीति। वा = अथवा, व्यवधौ अपि = व्यवधाने सत्यपि, मृडचूडानिलया = शिवशिखाऽऽश्रया, विधो = चन्द्रमस, कला = षोडश भाग, को न वेद = को न जानाति ? सर्वोऽपि वेदेत्यर्थं। यथा शिवशिर स्थिताऽपि कला चन्द्रकलैव तथैव गुणसिन्धोर्भीमभूपालादुत्पन्नाऽपि एषा दमयन्ती श्रीरेवेति भाव·।

अनुवाद·—हे राजन् ! दमयन्तीको गुणके समुद्र राजा भीमसे उत्पन्न लक्ष्मी ही जानिए, अथवा व्यवधानके रहनेपर भी शिवजीके शिरमे आश्रय लेनेवाली चन्द्रकलाको कौन नही जानता है ?

टिप्पणी—गुणसिन्धो = गुणाना (दया दाक्षिण्यादीनाम्) सिन्धु तस्मात् (ष० त०), धराऽधिपात्=धराया अधिप·, तस्मात् (ष० त०)। उदिताम्= उद् + इण् + क्त + टाप्। अवेहि=अव-आङ्-उपसर्गपूर्वक इण् धातुसे लोट्के सिप्के स्थानमे 'हि' आदेश, गुण होकर अव+एहि यहाँपर "एत्येधत्यूठ्सु" इससे प्राप्त वृद्धिको बाधित करके "ओमाङोश्च" इससे पररूप। व्यवधौ = व्यवधान व्यवधि, तस्मिन् वि-अ-व उपसर्गपूर्वक 'धा' धातुसे "उपसर्गे घो॰ कि." इस सूत्रसे कि प्रत्यय। व्यवधि शब्द पुलिङ्गमे है, इसको नारायण पण्डितने स्त्रीलिङ्गी लिखा है, वह भ्रान्तिमूलक है। मृडचूडानिलयां = मृडस्य चूडा (ष० त०), "गिरीशो गिरिशो मृड" इत्यमर। मृडचूडा निलयो यस्या. सा, ताम् (बहु०)। वेद=विद धातुसे "विदो लटो वा" इस सूत्रसे लटके तिप्के स्थानमे विकल्पसे णल् आदेश, एक पक्षमे 'वेति' ऐसा रूप होता है। इस पद्यमे राजा भीममे सिन्धुत्वका आरोप दमयन्तीमे श्रीत्वके आरोपमे निमित्त है इस कारण परम्परित रूपक और दृष्टान्त अलङ्कार है, दोनोकी संसृष्टि है ॥ १९ ॥

चिकुरप्रकरा जयन्ति ते विदुषी मूर्धनि सा बिभर्ति यान्।
पशुनाऽप्यपुरस्कृतेन तत्तुलनामिच्छतु चामरेण कः ॥ २० ॥

अन्वयः—ते चिकुरप्रकरा जयन्ति, विदुषी सा यान् मूर्धनि बिभर्ति। पशुना अपि अपुरस्कृतेन चामरेण तत्तुलना क इच्छतु? ॥ २० ॥

व्याख्या—साम्प्रत दमयन्त्याः केशादारभ्य वर्णनमुपक्रमते चिकुरेति। ते=प्रसिद्धा, चिकुरप्रकरा =केशकलापा, जयन्ति=सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते। विदुषी = पण्डिता, सा = दमयन्ती, यान् = चिकुरप्रकरान्, मूर्धनि = शिरसि, बिभर्ति = धारयति। पशुना अपि = चतुष्पदेन अपि, मूर्खेण चमरीमृगेणाऽपीति भावः। अपुरस्कृतेन = अनादृतेन पृष्ठभागस्थापितेन वा, चामरेण = चमरीपुच्छेन सह, तत्तुलना = चिकुरप्रकरसमीकरण, क = जन., इच्छतु = वाञ्छतु, न कोऽपीति भाव ॥ २० ॥

अनुवादः—वे केशकलाप उत्कर्षपूर्वक बढते रहते हैं, पण्डिता दमयन्ती जिन्हे शिरमे धारण करती है। पशु चमरी मृगसे भी अनादृत पूँछमे रक्खे गये चामरसे उनकी तुलना करनेकी कौन इच्छा करे? ॥ २० ॥

टिप्पणी—चिकुरप्रकरा = चिकुराणा प्रकरा (ष० त०), विदुषी = वेत्तीति, विद् धातुसे लट्के शतृके स्थानमे "विदे. शतुर्वसु" इससे वसु आदेश, "उगितश्च" इससे स्त्रीत्वविवक्षामे ङीप, "वसो सम्प्रसारणम्" इससे सप्रसारण। मूर्धनि=मूर्धन् शब्दसे सप्तमीकी ङिविभक्तिमे "विभाषा ङिश्योः" इससे अल्लोपके अभावपक्षमे रूप। उक्त सूत्रसे अल्लोप होनेपर "मूर्ध्नि" ऐसा रूप भी बनता है। बिभर्ति=भृ + लट् + तिप्। अपुरस्कृतेन = न पुरस्कृत, तेन (नञ्०)। तत्तुलना = तोलन तुलना, "तुल उन्माने" इस धातुसे "अतुलोपमाभ्याम्" ऐसे निपातनसे गुणका अभाव होकर णिजन्त तुल धातुसे "ण्यासश्रन्थो युच्" इससे युच् (अन) होकर टाप्। तेषां तुलना, ताम् (ष० त०)। इच्छतु = इष + लोट् + तिप्। "इषुगमियमा छ." इससे छत्व। इस पद्यमे उपमान चामरसे उपमेय दमयन्तीके चिकुरके उत्कर्षका वर्णन होनेसे व्यतिरेक अलङ्कार है ॥ २० ॥

स्वदृशोर्जनयन्ति सान्त्वनां खुरकण्डूयनकैतवान्मृगा.।
जितयोरुदयत्प्रमीलयोस्तदखर्वेक्षणशोभया भयात् ॥ २१ ॥

अन्वय.—मृगा. तदखर्वेक्षणशोभया जितयो भयात् उदयत्प्रमीलयो स्वदृशोः खुरकण्डूयनकैतवात् सान्त्वनां जनयन्ति ॥ २१ ॥

व्याख्या—मृगा = हरिणा, तदखर्वेक्षणशोभया = दमयन्तीविशालनेत्र-कान्त्या, जितयो. = पराभूतयोः, अत एव भयात् = भीतेः, उदयत्प्रमीलयो =

उत्पद्यमाननिमीलनयो , स्वदृशो = निजनेत्रयो , खुरकण्डूयनकैतवात् = शफघर्षणच्छलात्, सान्त्वनाम् = आश्वासन, जनयन्ति = कुर्वन्ति, यथा लोके परपराजितान् भयान्निमीलितनयनान् जनान् स्वजना हस्तपरामर्शादिना सान्त्वयन्ति तथैव मृगा अपि दमयन्तीनेत्रपराजिते स्वनेत्रे खुरकण्डूयनच्छलादाश्वासयन्तीति भाव. ॥ २१ ॥

अनुवाद.—मृग दमयन्तीके विशाल नेत्रोकी शोभासे जीते गये अत एव भयसे मूंदे गये अपने नेत्रोको खुरसे खुजलानेके बहानेसे आश्वासन देते है ।

टिप्पणी—तदखर्वेक्षणशोभया = न खर्वे (नञ्०) । अखर्वे च ते ईक्षणे (क० धा०), तस्या अखर्वेक्षणे (ष० त०) तयो शोभा, तया (ष० त०), भयात् = हेतुमे पञ्चमी । उदयत्प्रमीलयो = उदयन्ती प्रमीला ययोस्ते, तयो. (बहु०) । स्वदृशो = स्वस्य दृशौ, तयो. (ष० त०) । खुरकण्डूयनकैतवात् = खुरै कण्डूयनम् (तृ० त०), "शफ क्लीबे खुर पुमान्" इत्यमर । खुरकण्डूयनस्य कैतव, तस्मात् (ष० त०) । जनयन्ति = जन + णिच् + लट् + झि । इस पद्यमे कैतवाऽपह्नुति और प्रतीयमानोत्प्रेक्षाकी ससृष्टि है ॥ २१ ॥

अपि लोकयुग दृशावपि श्रुतदृष्टा रमणीगुणा अपि ।
श्रुतिगामितया दमस्वसुर्व्यतिभाते सुतरा धरापते ! ॥ २२ ॥

अन्वय—हे धरापते ! दमस्वसु लोकयुग श्रुतिगामितया सुतरा व्यतिभाते, दृशौ अपि श्रुतिगामितया सुतरा व्यतिभाते, श्रुतदृष्टा रमणीगुणा अपि श्रुतिगामितया सुतरा व्यतिभाते ॥ २२ ॥

व्याख्या—हे धरापते = हे भूपते ! दमस्वसु = दमयन्त्या , लोकयुग = मातापितृकुलयुग्म, श्रुतिगामितया = लोकश्रवणविषयत्वेन, जगत्प्रसिद्धत्वेनेति भाव , सुतराम् = अत्यर्थं, व्यतिभाते = परस्परोत्कर्षेण विनिमयेन वा भाति (शोभते), दृशो अपि = नेत्रे अपि, दमस्वसुरिति अध्याहार्यम् श्रुतिगामितया = कर्णान्तविश्रान्ततया, सुतराम् = अत्यर्थं, व्यतिभाते = परस्परोत्कर्षेण विनिमयेन वा भात (शोभेते), श्रुतदृष्टा = आकर्णिताऽवलोकिता , लोकत. श्रता. स्वय ज्ञाताश्चेति भाव , रमणीगुणा अपि = सौन्दर्यौदार्यादय स्त्रीगुणा अपि, श्रुतिगामितया = लोकतः श्रवणविषयतया, सुतराम् = अत्यन्त, व्यतिभाते = विनिमयेन भान्ति (शोभन्ते) । दमयन्त्या मातपितृकुलयुग्म नेत्रयुगल स्त्रीगुणा अपि प्रसिद्धिपथागतत्वेन सुतरा शोभन्त इति भाव ॥ २२ ॥

अनुवादः—हे राजन् ! दमयन्ती के मातृकुल और पितृकुल दोनो ही कुल

लोकका श्रवण विषय होकर परस्परके उत्कर्षसे शोभित होते हैं, इसी तरह उनकी दोनो आँखे कान तक फैलनेसे परस्परके उत्कर्षसे शोभित होती है तथा सुने गये और देखे गये दमयन्तीके सौन्दर्य औदार्य आदि स्त्रीगुण भी लोकसे श्रवणके विषय होनेसे परस्परमे अत्यन्त शोभित होते है ॥ २२ ॥

टिप्पणी—धरापते = धराया पति., तत्सम्बुद्धौ (ष० त०)। दमस्वसु.= दमस्य स्वसा दमस्वसा, तस्याः (ष० त०)। दमन ऋषिके वरसे महाराज भीमके दम नामके पुत्र और दमयन्ती पुत्री उत्पन्न हुई थी, महाकविने वर्णनीय होनेसे दमयन्तीकी उत्पत्तिका वर्णन लिखा दमका नही। "न षट्स्वस्रादिभ्य." इससे "ऋन्नेभ्यो ङीप्" इससे प्राप्त ङीप्का निषेध हुआ है। लोकयुग = लोकयोर्युगम् (ष० त०), 'लोक' शब्द यहाँपर लक्षणासे कुलवाचक हुआ है। श्रुतिगामितया = श्रुत्योर्गच्छतीति श्रुतिगामि, श्रुति + गम् + णिनि। श्रुतिगामिनो भाव., तया, श्रुतिगामि + तल् + टाप् + टा। सुतरा = तरप्प्रत्ययान्त "सु" उपसर्गसे "किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे" इससे आमु प्रत्यय। व्यतिभाते=वि + अति–उपसर्गपूर्वक अदादिस्थ "भा दीप्तौ" इस धातुसे "कर्तरि कर्मव्यतिहारे" इससे आत्मनेपद हुआ है। कर्मव्यतिहारका अर्थ है कर्मका विनिमय और कैयटके मतमे परस्पर करणको भी कर्मव्यतिहार माना गया है। व्यतिभाते = वि + अति + भा + लट् + त। यहाँपर यह एक वचन है। दृशौ "दृग्दृष्टी" इत्यमर.। श्रुतिगामितया = श्रुत्योर्गच्छतस्तच्छीले इति श्रुतिगामिन्यौ, श्रुति + गम् + णिनि + ङीप् (उपपद०)। श्रुतिगामिन्योर्भाव. श्रुतिगामिता, तया, श्रुति + गामिनी + तल् + टाप् + टा। यहाँपर "त्वतलोर्गुणवचनस्य" इस सूत्रसे पुवद्भाव हुआ। व्यतिभाते = पहलेके सूत्रसे आत्मनेपद, वि+अति + भा + आताम्, यण और सवर्णदीर्घ करके 'व्यतिभाताम्' ऐसा रूप होनेपर "टित आत्मनेपदाना टेरे" इससे टिका एत्व होकर ऐसा रूप बनता है। श्रुतदृष्टाः = प्राक् श्रुताः पश्चाद् दृष्टाः, "पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः "समानाऽधिकरणेन" इससे पूर्वकालसमास रमणीगुणा. = रमण्या गुणा. (ष० त०)। श्रुतिगामितया = श्रुत्योर्गच्छन्तीति श्रुतिगामिन , श्रुति + गम् + णिनिः (उप०)। श्रुति. श्रोत्रे, तथाऽऽम्नाये, बार्तायां, श्रोत्रकर्मणी" ति विश्वः। श्रुतिगामिना भाव. तया, श्रुतिगामिन् + तल् + टाप् + टा। व्यतिभाते। वि + अति + भा + झ.। पहलेके सूत्र-

अधरं खलु बिम्बनामकं फलमस्मादिति भव्यमन्वयम् ।
लभतेऽधरबिम्बमित्यदः पदमस्या रदनच्छदं वदत् ॥ २४ ॥

अन्वयः—अधरबिम्बम् इति अद पदम् अस्या रदनच्छदं वदत् बिम्बनामकं फलम् अस्मात् अधर खलु इति भव्यम् अन्वय लभते ॥ २४ ॥

व्याख्या—अधरबिम्बम् = अधरबिम्बम् इत्यानुपूर्वीकम् इति = एवम्, अद = एतत्, पद = शब्द, अस्या. = दमयन्त्या, रदनच्छदम् = ओष्ठं, वदत् = अभिदधत् प्रतिपादयदिति भाव. । बिम्बनामक = बिम्बाऽभिधेयं, फल = सस्यम्, अस्मात् = दमयन्तीरदनच्छदात्, अधरम् = अपकृष्टं, खलु = निश्चयेन, इति = अस्मात्कारणात्, भव्यम् = अबाधितम्, अन्वय = पदार्थसंसर्गं, लभते = प्राप्नोति ॥ २४ ॥

अनुवादः—"अधरबिम्ब" यह पद दमयन्तीके ओष्ठका प्रतिपादन करता हुआ बिम्ब नामका फल दमयन्तीके ओष्ठसे अधर (निकृष्ट) है इस प्रकार अबाधित अन्वय (पदार्थससर्ग) को प्राप्त करता है ॥ २४ ॥

टिप्पणी—रदनच्छद = रदनाना छद, तम् (ष० त०), "रदना दशना दन्ता रदा" इति "ओष्ठाऽधरौ तु रदनच्छदौ दशनवाससी ।" इति चाऽमरः । वदत् = वदतीति, वद + लट् (शतृ) + सु । बिम्बनामक = बिम्बं नाम यस्य तत् (बहु०)। लभते=लभ + लट् + त । "अधरबिम्ब" यह पद दमयन्तीके ओष्ठका प्रतिपादन करनेके लिए अधर बिम्बं (बिम्बफलम्) यस्मात्तत् इस प्रकार बहुव्रीहि समाससे अबाधित अन्वर्थ हो जाता है । अन्य स्त्रीके ओष्ठको कहनेके लिए अधरो बिम्बम् इव इस प्रकार उपमितकर्मधारय समास करना चाहिए । आकारसे, रक्त वर्णसे और आस्वादसे उत्कृष्ट होनेसे दमयन्तीका ओष्ठ बिम्ब फलसे उत्कृष्ट है यह तात्पर्य है। इस पद्यमे उपमानभूत बिम्ब फलसे उपमेयभूत दमयन्तीके ओष्ठके आधिक्यका वर्णन होनेसे व्यतिरेक अलङ्कार है ॥ २४ ॥

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा ।
कृतमध्यबिल विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम ॥ २५ ॥

अन्वय.—इन्दुमण्डल दमयन्तीवदनाय वेधसा हृतसारम् इव कृतमध्यबिल धृतगम्भीरखनीखनीलिम विलोक्यते ॥ २५ ॥

व्याख्या—इन्दुमण्डलं = चन्द्रबिम्ब, दमयन्तीवदनाय = दमयन्तीवदनं निर्मातुं, वेधसा = ब्रह्मणा, हृतसारम् इव = गृहीतश्रेष्ठभागम् इव, कृतमध्य-

बिल = विहिताऽन्तरच्छिद्र, सत्, धृतगम्भीरखनीखनीलिम = भृतगभीरनिम्न-गर्ताकाशनैल्य, विलोक्यते = दृश्यते। ब्रह्मणा दमयन्त्या मुख निर्मातुं चन्द्र-बिम्बात्सुन्दरभागो गृहीत, अतो गृहीतसुन्दरभागे चन्द्रबिम्बे छिद्र सजात तत्राऽऽकाशस्य नीलिमा पतित स एव चन्द्रस्य कलङ्क इति भाव। चन्द्र सक-लङ्क.। दमयन्त्या मुख निष्कलङ्क, तस्माद्धेतोश्चन्द्रापेक्षया दमयन्तीवदन मनोहर-तरमिति भाव.॥ २५॥

अनुवादः—ब्रह्माजीने दमयन्तीके मुखकी रचनाके लिए चन्द्रमण्डलसे श्रेष्ठ भागको हरण कर लिया अत उसमे (बीचमे) छेद पड गया उसपर जो आकाशको नीलिमा है वही कलङ्कके रूप मे दिखाई दे रही है॥ २५॥

टिप्पणी—इन्दुमण्डलम् = इन्दो मण्डलम् (ष० त०), दमयन्तीवदनाय = दमयन्त्या वदनं, तस्मै (ष० त०), "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिन." इससे चतुर्थी। हृतसार = हृत सारो यस्मात् तत् (बहु०)। कृतमध्यबिल = मध्ये बिलम् (स० त०), कृत मध्यबिल यस्य तत् (बहु०)। धृतगम्भीर-खनीखनीलिम = गम्भीरा चाऽसौ खनी (क० धा०), "खनि स्त्रियामाकर स्यात्" इत्यमर। "कृदिकारादक्तिन." इस सूत्रसे ङीष् प्रत्यय होकर ईका-रान्त भी खनी शब्द हो जाता है। यहाँपर खनीका प्रसिद्ध अर्थ खान न होकर गर्त अर्थ होता है। नीलस्य भावो नीलिमा, नील + इमनिच्, खस्य नीलिमा (ष० त०)। गम्भीरखन्या खनीलिमा (स० त०)। धृतो गम्भीर-खनीखनीलिमा येन तत् (बहु०)। ब्रह्माजीने चन्द्रबिम्बस्थित उत्कृष्ट भाग तो दमयन्ती का मुख बनानेके लिए निकाल डाला तब उसके निम्न गर्तमे आकाशकी जो नीलिमा पड गई वही कलङ्कके रूपमे प्रसिद्ध है। चन्द्रमामे कलङ्क है दमयन्तीका मुख निष्कलङ्क होनेसे उससे उत्कृष्ट है यह तात्पर्य है। विलोक्यते = वि + लोक + लट् (कर्ममे) + त। इस पद्यमे कलङ्कका अपह्नव करके आकाशकी नीलिमाका आरोप करनेसे अपह्नुति 'कृतमध्यबिल' यहाँपर पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग, 'हृतसारमृइव' यहाँपर उत्प्रेक्षा, इस तरह अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर। आकाश रूपरहित द्रव्य है अतः उसमे महाकविने लोकप्रसिद्धिके अनुसारसे नीलिमाका वर्णन किया॥ २५॥

धृतलाञ्छनगोमयाऽञ्चनं विधुमालेपनपाण्डरं विधि.।
भ्रमयत्युचितं विदर्भजाऽऽननीराजनवर्द्धमानकम्॥ २६॥

अन्वयः—विधि धृतलाञ्छनगोमयाञ्चनम् आलेपनपाण्डर विधुं विदर्भजाऽऽननीराजनवर्द्धमानक भ्रमयति, उचितम् ॥ २६ ॥

व्याख्या—विधि =ब्रह्मा, धृतलाञ्छनगोमयाऽञ्चन = गृहीतमृगचिह्नगोमयसंश्लेषणम्, आलेपनपाण्डर = पिष्टोदकशुक्लवर्णं, तत्सदृशनिजकान्तिसुधाधवलित, विधु = चन्द्रमस विदर्भजाऽऽननीराजनवर्द्धमानक=दमयन्ती मुखारार्तिकशराव, किरणदीपकलिकायुक्तमिति भाव । भ्रमयति = भ्रमण कारयति, उचितं= योग्यम्, लोकोत्तरत्वादिति भाव । एव नीराजयन्तीति देशाऽऽचार. ॥ २६ ॥

अनुवादः—ब्रह्माजी गोमयके सदृश कलङ्कसे युक्त, पिष्टजलके समान सफेद चन्द्रमाको दमयन्तीके मुखकी आरती उतारनेके लिए मृत्तिकापात्रके समान जो घुमाते है, वह उचित है ॥ २६ ॥

टिप्पणी—धृतलाञ्छनगोमयाऽञ्चनं = गो पुरीषं गोमय, 'गो' शब्दसे "गोश्च पुरीषे" इस सूत्रसे मयट् प्रत्यय। गोमयेन अञ्चनम् (तृ० त०)। धृत लाञ्छनम् एव गोमयाऽञ्चन येन, तम् (बहु०)। आलेपनपाण्डरम् = आलेपनेन पाण्डर', तम् (तृ० त०)। विधु = "विधुः सुधाऽशु शुभ्राऽशु." इत्यमर । विदर्भजाननीराजनवर्द्धमानक = विदर्भजाया आननम् (ष० त०), तस्य नीराजन (ष० त०), तस्य वर्द्धमानक, तत् (ष० त०)। "शरावो वर्द्धमानक" इत्यमर । भ्रमयति = भ्रम + णिच् + लट् + तिप् । "मिता ह्रस्व' इससे ह्रस्व हुआ है । जैसे लोकमे नीराजना करनेके लिए और दृष्टिदोषको हटानेके लिए गोबर और पिष्टजलसे लेप करके वर्द्धमान (मिट्टीके पात्र)-को घुमाते है उसी तरह ब्रह्माजी दमयन्तीके मुखमे नीराजन करनेके लिए गोबरके समान कलङ्कसे युक्त और पिष्टजलके समान अपनी किरणसे सफेद चन्द्ररूप वर्धमान (मृतिकापात्र) को घुमाते है, चन्द्रमासे दमयन्तीका मुख सुन्दर है यह तात्पर्य है। इस पद्यमे साङ्गरूपक और चन्द्रमाके भ्रमणका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धका वर्णन करनेसे अतिशयोक्ति है इस प्रकार दो अलङ्कारोका अङ्गाङ्गिभावरूप सङ्कर अलङ्कार है ॥ २६ ॥

सुषमाविषये परीक्षणे निखिलं पद्ममभाजि तन्मुखात् ।
अधुनाऽपि न भङ्गलक्षण सलिलोन्मज्जनमुज्झति स्फुटम् ॥ २७ ॥

अन्वयः—सुषमाविषये परीक्षणे निखिल पद्म तन्मुखात् अभाजि, (अत एव) अधुना अपि भङ्गलक्षण सलिलोन्मज्जन न उज्झति स्फुटम् ॥ २७ ॥

व्याख्या—सुषमाविषये = परमशोभाविषये, परीक्षणे = परीक्षायां, जल-

कामयोः = बाणप्रहारार्थिनो , रतिपञ्चबाणयोः = रतिकामदेवयो·, नलिके न= शराऽऽधारनलौ न ? अपि तु नलिके एवेति भाव । दमयन्त्या भ्रूनासिक दृष्ट्वा सर्वोऽपि कामवशो भवतीति तात्पर्यम् ॥ २८ ॥

अनुवादः—दमयन्तीकी भौहे जगत्को जीतनेके लिए उत्पन्न रति और कामदेवके धनुष् है क्या ? उनकी ऊँची नासिकाके दो छिद्र आपमे बाण छोडनेकी इच्छा करने वाले रति और कामदेवकी नलियाँ नही है क्या ? ॥ २८ ॥

टिप्पणी—तद्भ्रुवौ = तस्या भ्रुवौ (ष० त०) । विश्वजयाय = विश्वस्य जयः, तस्मै (ष० त०), "तुमर्थाच्च भाववचनात्" इससे चतुर्थी । उदिते = उद् + इण् + क्तः + ङि । रतिपञ्चबाणयो = पञ्च बाणा यस्य स. (बहु०) । पाँच बाण होनेके कारण कामदेवको "पञ्चबाण" वा "पञ्चशर" कहते हैं, पाँच बाण जैसे—

"अरविन्दमशोक च चूतच नवमल्लिका ।
नीलोत्पल च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायका: ।"

अर्थात् कमल, अशोक पुष्प, आमका फूल, नवमल्लिका और नीलकमल ये पाँच फूल कामदेव के बाण है । रतिश्च पञ्चबाणश्च रतिपञ्चबाणौ, तयोः (द्वन्द्व०) । तदुच्चनासिके = उच्चे च ते नासिके (क० धा०) । नासिकाके छिद्रोके द्वित्वसे नासिकामे द्विवचन किया गया है । तस्या उच्चनासिके (ष० त०) । त्वयि = विषयमे सप्तमी । नालीकविमुक्तिकामयो = विमुक्ति कामयेते इति विमुक्तिकामौ, विमुक्ति–उपपदपूर्वक "कमु कान्तौ" धातुसे "शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो ण" इस सूत्रसे ण प्रत्यय (उपपद०) । नालीकानां विमुक्तिकामौ, तयो. (ष० त०) । "नालीक पद्मखण्डे स्त्री, नालीकः शरशल्ययो. ।" इति विश्वः । यहाँपर भ्रूयुग्ममे धनुर्युग्मका आरोप होनेसे पूर्वार्द्धमे रूपक और उत्तरार्द्धमे नालिकामे नासिकात्वकी सभावना करनेसे उत्प्रेक्षा, इस प्रकार दो अलङ्कारोकी ससृष्टि है ॥ २८ ॥

सदृशी तव शूर ! सा परं जलदुर्गस्थमृणालजिद्भुजा ।
अपि मित्रजुषा सरोरुहां गृहयालु करलीलया श्रियः ॥ २९ ॥

अन्वयः—हे शूर ! जलदुर्गस्थमृणालजिद्भुजा मित्रजुषाम् अपि सरोरुहां श्रिय. करलीलया गृहयालु. स तव पर सदृशी ॥ २९ ॥

व्याख्या—हे शूर=हे वीर !, जलदुर्गस्थमृणालजिद्भुजा=सलिलदुर्गस्थबिसजयिबाहु:, सा = दमयन्ती, मित्रजुषाम् अपि= अर्कसेविना, सुहृत्सहाय-

-सम्पन्नानाम् अपि, सरोरुहां = कमलानां, श्रिय = शोभा सम्पदश्च, करलीलया = हस्तविलासेन, वलिग्रहणेन च, गृहयालुः = ग्रहणशीला, सा = दमयन्ती तव=भवतः, परम्=अत्यर्थं, सदृशी=तुल्या, दमयन्त्या भुजौ मृणालादपि कोमलौ, दमयन्त्या पाणि कमलादपि मनोहर इति भाव ॥ २९ ॥

अनुवादः—हे वीर ! जलरूप किलेमे रहनेवाले कमलको जीतनेवाली बाँहोंवाली वह (दमयन्ती) सूर्यकी सेवा करनेवाले वा मित्रसहायसे सम्पन्न कमलोकी शोभा वा सम्पत्तियोको हाथके विलाससे वा करग्रहणके तौरपर लेनेवाली, आपके लिए अत्यन्त योग्य है ॥ २९ ॥

टिप्पणी—शूर = "शूरो वीरश्च विक्रान्त" इत्यमर । जलदुर्गस्थमृणालजिद्भुजा = जलम् एव दुर्गं (रूपक०), तस्मिन् तिष्ठन्तीति जलदुर्गस्थानि, जलदुर्ग+स्था+क (उपपद०) तानि च तानि मृणालानि (क० धा०), तानि जयत इति जलदुर्गस्थमृणालजितौ, जलदुर्गस्थमृणाल + जि + क्विप् । तादृशौ भुजौ यस्या सा (बहु०) । मित्रजुषां = मित्र जुषन्त इति मित्रजूषि तेषाम्, मित्र + जुष् + क्विप् । मित्र पदका अर्थं यहाँपर सूर्य और सुहृत् है । "मित्र सुहृदि, मित्रोऽर्के" इति विश्व. । सरोरुहां = सरसि रोहन्तीति सरोरू हि, तेषा, सरस् + रुह + क्विप् (उपपद०) + आम् । श्रिय =श्रीर्लक्ष्मीवेशसम्पत्सु भारतीशोभयोरपि" । इति त्रिकाण्डशेष "गृहयालु" इस कृदन्तपदके योगमे "कर्तृकर्मणो कृति" इससे प्राप्त षष्ठीका "न लोकाऽव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" इससे निषेध होनेसे कर्ममे द्वितीया । करलीलया = करयो अथवा कराणा लीला, तया (ष० त०), "बलिहस्ताऽशव करा" इति "लीला विलासक्रिययोः" इति चाऽमर । गृहयालु = गृह्यते इति, "गृह ग्रहणे" इस चौरादिक धातुसे "स्पृहिगृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच्" इस सूत्रसे आलुच प्रत्यय । "गृहयालुर्ग्रहीतरि" इत्यमरः । जो जलरूप किलेमे रहनेवाले मृणालोको भी अपने बाहुसे जीतती है और जो सूर्यका अथवा मित्रका आश्रय लेनेवाले कमलोकी शोभा वा सम्पत्तिको भी अपने हाथोके विलाससे अथवा करके रूपमेसे ग्रहण करती हैं ऐसी वीर नारी आप ऐसे वीरके लिए बहुत ही योग्य है यह तात्पर्य है । इस पद्यमे दमयन्ती और नलरूप योग्य व्यक्तियोंकी अनुरूपतासे श्लाघा होनेसे "सम" अलङ्कार है, जैसे कि "समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा या योग्यवस्तुनो ।" सा० टि० १०–९२ । मित्र, कर, लीला और श्री का सूर्य, वलि, क्रिया और सम्पत्तिसे भेद होनेपर भी श्लेषसे अभेदका

अध्यवसाय होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है अत एव इनका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ २९ ॥

वयसी शिशुतातदुत्तरे सुदृशि स्वाऽभिविधिं विधित्सुनी ।
विधिनाऽपि न रोमरेखया कृतसीम्नी प्रविभज्य रज्यत. ॥ ३० ॥

अन्वय.—सुदृशि स्वाऽभिविधिं विधित्सुनी शिशुतातदुत्तरे वयसी विधिना रोमरेखया प्रविभज्य कृतसीम्नी अपि न रज्यत. ॥ ३० ॥

व्याख्या—सुदृशि = सुलोचनाया, सुन्दर्यां दमयन्त्यामिति भाव । स्वाऽभिविधिं = निजव्याप्तिं, विधित्सुनी = विधातुम् इच्छती, शिशुतातदुत्तरे = बाल्य-यौवने, वयसी = अवस्थे, विधिना = ब्रह्मणा, सीमाऽभिज्ञेनेति भाव. । रोम-रेखया = लोमपङ्क्त्या, सीमाचिह्नेनेति भाव. । प्रविभज्य = प्रविभाग कृत्वा, रोमोत्पत्ते. पूर्वमत्र शैशवेन स्थातव्य, तत पर यौवनेनेति कालतो विभाग कृत्वेति भाव । कृतसीम्नी अपि = विहितमर्यादे अपि, न रज्यत न सन्तुष्यत , रम्यवस्तु दुस्त्यजमिति भाव । एतेन वय सन्धिरुक्त ॥ ३० ॥

अनुवाद.—सुन्दरी दमयन्तीमे अपनी प्रभुताको रखनेकी इच्छा करनेवाली, बचपन और जवानी अवस्थाएँ ब्रह्माजीके रोमकी रेखासे विभाग करके मर्यादा करनेपर भी सन्तुष्ट नही होती है ॥ ३० ॥

टिप्पणी—सुदृशि = शोभने दृशौ यस्या सा सुदृक, तस्याम् (बहु०) । स्वाऽभिविधिं = स्वस्य अभिविधि , तम् (ष० त०) । विधित्सुनी = विधातु-मिच्छुनी, वि + धा + सन् + उ + औ । शिशुतातदुत्तरे = शिशोर्भाव. शिशुता, शिशु + तल् + टाप् । तस्या उत्तरम् (ष० त०) । शिशुता च तदुत्तर (यौवनम्) च (द्वन्द्व), वयसी = "खगबाल्यादिनोर्वय." इत्यमर । रोमरेखया रोम्णा रेखा, = तया (ष० त०) । प्रविभज्य = प्र + वि + भज् + क्त्वा (ल्यप्) । कृतसीम्नी = कृता सीमा ययोस्ते (बहु०) । रज्यत = "रञ्ज रागे" धातुसे लट् + तस् । "अनिदिता हल उपधाया. क्ङिति" इससे नकारका लोप । इस पद्यमे प्रस्तुत वयोविशेषके साम्यसे अप्रस्तुत विवादकी प्रतीति होनेसे समासोक्ति अलङ्कार है ॥ ३० ॥

अपि तद्वपुषि प्रसर्पतोर्गमिते कान्तिझरैरगाधताम् ।
स्मरयौवनयोः खलु द्वयोः प्लवकुम्भौ भवतः कुचावुभौ ॥ ३१ ॥

अन्वयः—कान्तिझरै अगाधतां गमिते तद्वपुषि प्रसर्पतोः स्मरयौवनयो. द्वयोः अपि उभौ कुचौ प्लवकुम्भौ भवतः खलु ॥ ३१ ॥

व्याख्या—श्लोकत्रयेण पयोधरौ वर्णयति—अपीति । कान्तिझरैः = लावण्यप्रवाहैः, अगाधताम् = अतलस्पर्शताम्, दुरवगाहतामिति, भाव । गमिते = प्रापिते, तद्वपुषि = दमयन्तीशरीरे, प्रसर्पतोः = प्रसर्पणं कुर्वतो, प्लवमानयोरिति भावः । स्मरयौवनयो = कामतारुण्ययो., द्वयोरपि = उभयोरपि, उभौ = द्वौ, कुचौ = पयोधरौ, प्लवकुम्भौ = तरणकलशौ, भवत = विद्येते, खलु = निश्चयेन, लोकेऽपि तरद्भिरनिमज्जनाय कुम्भादिकमाश्रीयते इति प्रसिद्धम् ॥ ३१ ॥

अनुवादः—लावण्यके प्रवाहोसे अतलस्पर्शी दमयन्तीके शरीरमे, तैरते हुए कामदेव और तारुण्य दोनोको दमयन्तीके दोनों कुच तैरनेके लिए घडे हो रहे है ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—कान्तिझरै = कान्तीनां झरा, तै. (ष० त०) "वारिप्रवाहो निर्झरो झर" इत्यमर । गमिते = गम् + णिच् + क्त + ङि । तद्वपुषि = तस्या वपु, तस्मिन् (ष० त०) । प्रसर्पतो = प्रसर्पत इति प्रसर्पती, तयो, प्र + सृप् + लट् (शतृ) + ओस् । स्मरयौवनयो = स्मरश्च यौवन च स्मरयौवने, तयो (द्वन्द्व) । प्लवकुम्भौ = प्लवस्य कुम्भौ (ष० त०) । इस पद्यसे दमयन्तीके शरीरमे कान्तिकी प्रचुरता, कामदेव और यौवनका प्रादुर्भाव और दमयन्तीके कुचोका विस्तार ऐसे अर्थ सूचित होते है । दमयन्तीके कुचोमे कामदेव और यौवनके प्लवनकुमत्वकी उत्प्रेक्षासे कुचोकी अतिशय वृद्धि व्यङ्ग्य होती है । इस प्रकार अलङ्कार से वस्तुध्वनि है ॥ ३१ ॥

कलसे निजहेतुदण्डजः किमु चक्रभ्रमकारितागुणः ? ।
स तदुच्चकुचौ भवन् प्रभाझरचक्रभ्रममातनोति यत् ॥ ३२ ॥

अन्वयः—निजहेतुदण्डज चक्रभ्रमकारितागुण कलसे किमु ? यत् स तदुच्चकुचौ भवन् प्रभाझरचक्रभ्रमम् आतनोति ॥ ३२ ॥

व्याख्या—निजहेतुदण्डज = स्वकारणदण्डजन्य, चक्रभ्रमकारितागुण. = कुलालभाण्डभ्रमणजनकत्वधर्मं, कलसे किमु = दण्डकार्यरूपे घटे किम्, सक्रान्त इति शेष । यत् = यस्मात् कारणात्, स. = कलस, तदुच्चकुचौ = दमयन्त्युन्नतपयोधरौ, भवन् = सन्, दमयन्तीकुचस्वरूपेण परिणत सन्निति भाव । प्रभाझरचक्रभ्रम = प्रभाझरे (लावण्यप्रवाहे) चक्रभ्रमम् (चक्रवाकभ्रान्ति, कुलालदण्डभ्रमणं च), आतनोति = प्रकरोति ॥ ३२ ॥

अनुवाद—अपने कारण दण्डसे उत्पन्न चक्र भ्रमणकारकत्वस्वरूप गुण कलस-रूप कार्यमे सक्रान्त हुआ है क्या ? जिस कारणसे कि वह (कलस) दमयन्तीके उच्च कुचोके स्वरूपमे परिणत होता हुआ लावण्यके प्रवाहमे चक्रवाककी भ्रान्ति वा कुम्भकारके दण्डभ्रमणको कर रहा है ॥ ३२ ॥

टिप्पणी—निजहेतुदण्डज = निजश्चासौ हेतु (क० धा०), स चाऽसौ दण्ड. (क० धा०), तस्माज्जात , निजहेतुदण्ड + जन् + ड । चक्रभ्रमकारिता-गुण = भ्रमण भ्रम , "भ्रमु अनवस्थाने" धातुसे "भावे" इस सूत्रसे भावमे घञ् और "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्याऽनाचमे" इस सूत्रसे वृद्धिका निषेध। "भ्रमोऽम्बुनिर्गमे भ्रान्तौ कुविन्दभ्रमयोरपि।" इति मेदिनी। चक्रस्य भ्रमः (ष० त०), चक्रो गणे चक्रवाके चक्रं सैन्यरथाऽङ्गयो । ग्रामजाले कुलालस्य भाण्डे राष्ट्राऽस्त्रयोरपि।' इति विश्व । चक्रभ्रम करोतीति तच्छील' चक्रभ्रम-कारी, चक्रभ्रम + कृ + णिनि + सु (उपपद०) चक्रभ्रमकारिणो भाव चक्रभ्रम-कारिता, चक्रममकारिन् + तल् + टाप् । सा एव गुण (रूपक०) "गुण प्रधाने रूपादौ" इत्यमर.। तदुच्चकुचौ = उच्चौ च तौ कुचौ (क० धा०)। तस्या उच्चकुचौ (ष० त०)। भवन् = भवतीति, भू लट् शतृ + सु । प्रभाझरचक्र-भ्रम = प्रभाणा झर (ष० त०), चक्रस्य भ्रम (ष० त०) प्रभाझरे चक्रभ्रम., तम् (स० त०) चक्रवाकभ्रान्ति कुलालदण्डभ्रमण च। आतनोति = आङ् + तनु + लट् + तिप्।

महाकविने इस पद्यमे न्यायशास्त्रमे अपनी अभिज्ञता दरसाई है। न्यायशास्त्रके अनुसार कारणके तीन भेद होते है—समवायि कारण, असम-वायिकारण और निमित्तकारण। जिसमे समवाय सम्बन्धसे विद्यमान होकर कार्य उत्पन्न होता है उसे "समवायिकरण" कहते है, जैसे घटका कपाल समवायिकरण है, वेदान्ती इसे ही "उपादान कारण" कहते है। समवायिकारण द्रव्य ही होता है। घटका कपालद्वयसयोग "असमवायिकरण" है। असमवायि कारण गुण वा कर्म होता है द्रव्य नही। समवायिकरण और असमवायिकारणसे भिन्न कारणको निमित्त कारण कहते है, जैसे घटका कुलाल, दण्ड आदि निमित्त कारण है। "कारणगुणा कार्यगुणानारभन्ते" अर्थात् कारणके गुण कार्यके गुणोको बनाते है। जैसे कि पटका तन्तु समवायिकारण है, शुक्ल तन्तु शुक्ल पटका और कृष्णतन्तु कृष्ण पटका निर्माण करते है, यह नियम सम-वायिकारणमे मात्र चरितार्थं होता है असमवायिकारण और निमित्त कारणमे

नही। परन्तु कलश (घट) दमयन्तीके कुचस्वरूपमे परिणत होकर लावण्य प्रवाहमे जो कुलालचक्रका भ्रम उत्पन्न कर रहा है सो उस कलशमे उसके हे(निमित्तकारण) दण्डसे उत्पन्न हुआ है ऐसा प्रतीत होता है। दमयन्तीके कुच कलशमे चक्रवाककी भ्रान्ति होती है यह दूसरा अर्थ भी होता है। इस प्रका दमयन्तीके कुचकलशका निमित्तकारण कुलालचक्रका भ्रम कार्यभूत दमयन्तीवे कुचकलशमे भी देखा जाता है यह तात्पर्य है।

इस पद्यमे "तदुच्चकुचौ भवन्" इस अशमे रूपक, पूर्वार्द्धमे उत्प्रेक्षा औ उत्तरार्द्धमे उत्प्रेक्षाके वाचक इव आदि शब्दोके न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा और चक्रका कुलालभाण्ड और चक्रवाक, भ्रमका भ्रमण और भ्रान्ति इनमे भेद होनेपर भी श्लेषकी महिमासे अभेद अध्यवसाय होनेसे दो अतिशयोक्तियाँ है इस प्रकारसे सङ्कर है॥ ३२॥

भजते खलु षण्मुखं शिखी चिकुरैर्निर्मितबर्हगर्हणः ।
अपि जम्भरिपुं दमस्वसुर्जितकुम्भः कुचशोभयेभराट् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—दमस्वसु. चिकुरै. निर्मितबर्हगर्हण शिखी षण्मुख भजते खलु। दमस्वसु कुचशोभया जितकुम्भ. इभराट् अपि जम्भरिपु भजते खलु॥ ३३॥

व्याख्या—दमस्वसुः=दमभगिन्या, दमयन्त्या इत्यर्थं। चिकुरै=केशकलापै', निर्मितबर्हगर्हण = कृतपिच्छनिन्द, शिखी = मयूर, षण्मुखं = षडाननं, कार्तिकेयमित्यर्थ', भजते = आश्रयते, खलु = निश्चयेन। तथैव दमस्वसुः = दमयन्त्याः, कुचशोभया = पयोधरकान्त्या, जितकुम्भः = पराजितमस्तकपिण्डः, इभराट् अपि = ऐरावतः अपि, जम्भरिपु = जम्भभेदिनम्, इन्द्रमित्यर्थः, भजते = आश्रयते, खलु = निश्चयेन, उभयत्रापि भीत्या उत्कर्षप्राप्तीच्छया वेति बोद्धव्यम्॥ ३३॥

अनुवादः—दमयन्तीके केशकलापोसे पिच्छोंका तिरस्कार किये जानेसे मयूरने कार्तिकेयका आश्रय लिया है। उसी प्रकार दमयन्तीके कुचोकी कान्तिसे मस्तकपिण्डोके परास्त होनेसे ऐरावत हाथीने भी इन्द्रका आश्रय लिया है॥ ३३॥

टिप्पणी—दमस्वसुः = दमस्य स्वसा, तस्या' (ष० त०)। निर्मितबर्हगर्हणः=बर्हाणा गर्हणा (ष० त०), "पिच्छबर्हे नपुसके" इत्यमरः। निर्मिता बर्हगर्हणा यस्य स. (बहु०)। शिखी=शिखा (चूडा) अस्यास्तीति, शिखाशब्दसे "व्रीह्यादिभ्यश्च" इस सूत्रसे इनि। "शिखावलः शिखी केकी" इत्यमरः।

षण्मुखं = षट मुखानि यस्य सः, तम् (बहु०) "यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा" इससे अनुनासिक ण आदेश, एक पक्षमे "षड्मुखम्"। "कार्त्तिकेयो महासेनः शरजन्मा षडानन.।" इत्यमरः। भजते = भज सेवायाम्" धातुसे लट्+त। कुचशोभया = कुचयो: शोभा, तया (ष० त०)। जितकुम्भ. = जितौ कुम्भौ यस्य सः (बहु०)। इभराट् = राजति इति राट्, "राजृ दीप्तौ" धातुसे "सत्सूद्विष०" इत्यादि सूत्रसे क्विप् प्रत्यय। इमाना राट् (ष० त०)। जम्भरिपुं = जम्भस्य रिपु, तम् (ष० त०), "जम्भभेदी हरिहयः स्वाराण् नमुचिसूदन.।" इत्यमर। इस पद्यमे "भजते" इस एक क्रियामे अप्रस्तुत शिखी और इभराट् इनका कर्तृत्वसे सम्बन्ध होनेसे तुल्ययोगिता, षण्मुख और जम्भरिपुके भजनके प्रति निर्मितबर्हगर्हणत्व और जितकुम्भत्वकी हेतुतासे पदार्थ-हेतुक दो काव्यलिङ्ग तथा वैसे हेतुसे भजनद्वयका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धका प्रतिपादन करनेसे दो अतिशयोक्तियाँ है, इस प्रकार इन अलङ्कारोका सङ्कर है॥ ३३॥

उदर नतमध्यपृष्ठतास्फुरदङ्गुष्ठपदेन मुष्टिना।
चतुरङ्गुलमध्यनिर्गतत्रिवलिभ्राजि कृतं दमस्वसुः॥ ३४॥

अन्वयः—दमस्वसु. उदर नतमध्यपृष्ठतास्फुरदङ्गुष्ठपदेन मुष्टिना चतुरङ्गुलमध्यनिर्गतत्रिवलिभ्राजि कृतम्॥ ३४॥

व्याख्या—दमस्वसु = दमयन्त्या, उदर = जठर, नतमध्यपृष्ठतास्फुरदङ्गुष्ठपदेन = निम्नमध्यप्रदेशपश्चाद्भागतास्फुटीभवद्वृद्धाङ्गुलिन्यासस्थानेन, मुष्टिना = सम्पिण्डिताङ्गुलिपाणिना, चतुरङ्गुलमध्यनिर्गतत्रिवलिभ्राजि = अङ्गुलिचतुष्टयाऽन्तरालनिसृतवलित्रयशोभि, कृतं = विहित, कौतुकिना विधिनेति शेषः। मुष्टिग्राह्यमध्येयं दमयन्तीति भाव॥ ३४॥

अनुवादः—दमयन्तीका पेट, ब्रह्माजीने पीठका मध्यभाग नत होनेसे अगूठेका स्थान व्यक्त होनेवाली मुट्ठीसे चार उँगलियोके बीचसे निकली हुई तीन उदर-रेखाओसे शोभित बनाया है॥ ३४॥

टिप्पणी—दमस्वसु = दमस्य स्वसा, तस्या (ष० त०)। उदरं = "पिचण्डकुक्षी जठरोदर तुन्दम्" इत्यमर। नतमध्यपृष्ठतास्फुरदङ्गुष्ठपदेन = नत. मध्य. यस्य तत् (बहु०), 'मध्यमं चाऽवलग्न च मध्योऽस्त्री" त्यमर.। नतमध्य पृष्ठ यस्य (उदरस्य) तत् (बहु०), तस्य भाव. तत्ता, (नतमध्य-पृष्ठ+तल्+टाप्)। स्फुरत् अङ्गुष्ठपदं यस्य सः (बहु०)। नतमध्य-

पृष्ठतया स्फुरदङ्गुष्ठपदः, तेन (तृ० त०)। चतुरङ्गुलमध्यनिर्गतत्रिवलि-भ्राजि = चतसृणाम् अङ्गुलीना समाहारः चतुरङ्गुलम्, "तद्धितार्थोत्तरपद-समाहारे च" इससे समास "संख्यापूर्वो द्विगुः" इससे उसकी द्विगुसञ्ज्ञा, "स नपुंसकम्" इससे नपुंसकलिङ्गता और "तत्पुरुषस्याऽङ्गुले. सख्याऽव्ययादे." इस सूत्रसे समासाऽन्त अच् प्रत्यय। चतुरङ्गुलस्य मध्या (ष० त०)। चतुरङ्गु-लमध्येभ्यो निर्गतम् (प० त०)। तिसृणा वलीनां समाहार त्रिवलि, पहलेके समान द्विगुसमासआदि कार्य। चतुरङ्गुलमध्यनिर्गत च तत् त्रिवलि (क० धा०), तेन भ्राजते तच्छील, चतुरङ्गुलमध्यनिर्गतत्रिवलि + भ्राज् + णिनि + सु (उपपद०)। कृत = कृ + क्त (कर्ममे)। दमयन्तीकी कमर मुट्ठी-से ग्रहणकी योग्य (पतली) है। मुट्ठीसे ग्रहण करनेसे अगूठेसे प्रेरणा करनेसे पीठके बीचमे नम्रता और पेटमे चार उगलियोसे प्रेरणा करनेसे तीन उदररेखाओके आविर्भावकी उत्प्रेक्षा होती है। उत्प्रेक्षावाचक शब्द इव आदिके न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ३४ ॥

उदरं परिमाति मुष्टिना कुतुकी कोऽपि दमस्वसुः किमु ?
धृततच्चतुरङ्गुलीव यद्वलिभिर्भाति सहेमकाञ्चिभिः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—क अपि कुतुकी दमस्वसु उदर मुष्टिना परिमाति किमु ? यत् सहेमकाञ्चिभि. वलिभि. धृततच्चतुरङ्गुलि इव भाति ॥ ३५ ॥

व्याख्या—प्रकारान्तरेण उदरमेव वर्णयति—उदरमिति। क. अपि = अज्ञातनामधेयो जन, कुतुकी=कूतूहली सन्, दमस्वसु = दमयन्त्या। उदरं = जठर, मुष्टिना = सम्पिण्डिताऽङ्गुलिपाणिना, परिमाति किमु = परिच्छिनत्ति किम् ?, यत् = यस्मात्कारणात्, सहेमकाञ्चिभि. = सुवर्णमेखलासहिताभिः, वलिभि. = तिसृभि उदररेखाभि, धृततच्चतुरङ्गुलि इव = धृतपरिमात्रङ्गुली-चतुष्टयम् इव, भाति = शोभते ॥ ३५ ॥

अनुवादः—कोई पुरुष कुतूहलसे युक्त होकर दमयन्ती के पेटको मुट्ठीसे मापता है क्या ? जो कि सुवर्णमेखलाके साथ तीन उदररेखाओसे दमयन्तीका पेट, मापनेवालेकी चार उङ्गलियोंके निशानसे युक्तके समान मालूम पड़ता है ॥ ३५ ॥

टिप्पणी—कुतुकी = कुतुकम् अस्याऽस्तीति, कुतुक + इनि.। "कौतूहल कौतुक च कुतुक च कुतूहलम्। इत्यमरः। परिमाति = परि—उपसर्गपूर्वक "माङ् माने" धातुसे लट्। किमु = यह उत्प्रेक्षावाचक शब्द है। सहेमका-

ञ्चिभि: = हेम्नः काञ्चि (ष० त०)। तया सहिताः सहेमकाञ्च्यः, ताभिः (तुल्ययोगबहु०)। धृततच्चतुरङ्गुलि = चतु सख्यका अङ्गुल्य. चतुरङ्गुल्यः (मध्यमपदलोपी स०), तस्य (परिमातु) चतुरङ्गुल्यः (ष० त०)। धृताः तच्चतुरङ्गुल्यो येन तत् (बहु०)। तीन उदररेखाएँ और चौथी हेमकाञ्ची (सुवर्णमेखला) इस प्रकार मापनेवालेकी मुट्ठीकी चार उङ्गलियोंकी समान प्रतीत होती हैं, यह तात्पर्य है। पहलेके पद्यमे तीन उदररेखाओको चार उङ्गलियोके मध्यसे निकलनेकी उत्प्रेक्षा की गई है, इसमे काञ्चीसे युक्त उन्ही उदररेखाओकी अङ्गुलिचतुष्टयरूपमे उत्प्रेक्षा की गई है, यह भेद है। इस पद्यमे दो उत्प्रेक्षाओका सङ्कर है॥ ३५॥

पृथुवर्तुलतन्नितम्बकृन्मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया।
विधिरेककचक्रचारिणं किमु निर्मित्सति मान्मथं रथम्?॥ ३६॥

अन्वय—पृथुवर्तुलतन्नितम्बकृत् विधि मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया एककचक्रचारिण मान्मथं रथ निर्मित्सति किमु?॥ ३६॥

व्याख्या—पृथुवर्तुलतन्नितम्बकृत् = विशालवृत्तदमयन्तीकटिपश्चाद्भागनिर्माता, विधि. = ब्रह्मा, मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया = रविरथनिर्माणाऽभ्यासपाटवेन, एककचक्रचारिणम् = एकाकिरथाऽङ्गचरणशील, मान्मथं = मन्मथसम्बन्धिन, रथ = स्यन्दन, निर्मित्सति किमु = निर्मातुम् इच्छति किम्?, ब्रह्मा सूर्यस्येव मन्मथस्यापि एकचक्र रथ निर्मातुमिच्छति किम्? इति भावः॥ ३६॥

अनुवादः—विशाल और गोल दमयन्तीके नितम्बको बनानेवाले ब्रह्माजी सूर्यके रथके निर्माणकी अभ्यासपटुतासे एक ही चक्रसे चलनेवाले कामदेवके रथको बनाना चाहते हैं क्या?॥ ३६॥

टिप्पणी—पृथुवर्तुलतन्नितम्बकृत् = "पृथुश्चाऽसौ वर्तुल" (क० धा०), "विशङ्कट पृथु बृहद्विशालम्" इति "वर्तुलं निस्तलं वृत्तम्" इत्यप्यमर। तस्या नितम्ब (ष० त०), "पश्चान्नितम्बः स्त्रीकटया" इत्यमर.। पृथुवर्तुलश्चाऽसौ तन्नितम्ब (क० धा०), त करोतीति, पृथुवर्तुलतन्नितम्ब+कृ+क्विप्+सु (उपपद०)। मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया = मिहिरस्य स्यन्दनः (ष० त०), तस्य शिल्प (ष० त०), तस्य शिक्षा, तया (ष० त०)। एककचक्रचारिणम् = एकम् एव एककम् 'एक' शब्दसे 'एकादाकिनिच्चाऽसहाये' इस सूत्रसे कन् प्रत्यय, 'एकाकी त्वेक एकक' इत्यमर.। एकक च तत् चक्रं (क० धा०), तेन चरतीति तच्छील, तम्, एककचक्र+चर+णिनि+

अम् (उपपद०)। मान्मथं = मन्मथस्य अय मान्मथ , तम्, मन्मथ शब्दसे 'तस्येदम्' इस सूत्रसे अण् और 'तद्धितेष्वचामादे' इस सूत्रसे आदिवृद्धि। निर्मित्सति=निर्-उपसर्गपूर्वक-माङ् धातुसे सन्+लट्+तिप्। 'सनि मीमाघुर-भलभशकपतपदामच इस्' इससे इस् आदेश 'स स्यार्धधातुके इससे सकारके स्थानमे तकार आदेश और 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इस सूत्रसे अभ्यासका लोप होता है। इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ३६ ॥

तरुमूरुयुगेण सुन्दरी किमु रम्भां परिणाहिना परम्।
तरुणीमपि जिष्णुरेव तां धनदाऽपत्यतपःफलस्तनीम् ॥ ३७ ॥

अन्वयः—सुन्दरी परिणाहिना ऊरुयुगेण रम्भां तरु परं जिष्णु किमु ? धनदाऽपत्यतप फलस्तनी ता तरुणीम् अपि जिष्णुः एव ॥ ३७ ॥

व्याख्या—सुन्दरी=रुचिराऽङ्गी, दमयन्तीत्यर्थं । परिणाहिना = विपुलेन, ऊरुयुगेण = सक्थियुग्मेन, रम्भा = रम्भां नाम, तरु = वृक्षं, पर = केवल, जिष्णुः = जयशीला इति, किमु=किं वक्तव्यम्, अपि तु धनदाऽपत्यतप.फलस्तनी= कुबेरपुत्रतप.फलभूतकुचा, ता = प्रसिद्धा रम्भा, तरुणीम् अपि = युवतीम् अपि, जिष्णु. एव = जयशीला एव । दमयन्ती ऊरुसौन्दर्येण न रम्भा नाम तरुमेव रम्भा नामाऽप्सरोविशेषमपि जितवतीति भाव ॥ ३७॥

अनुवादः—सुन्दरी दमयन्तीने विशाल दोनो ऊरुओसे रम्भा (केला) नामके पेडको ही जीत लिया यह क्या कहना है ? कुबेरके पुत्र नलकूबरकी तपस्याके फलभूत स्तनोवाली रम्भा नामकी तरुणीको भी जीत ही लिया है।

टिप्पणी—सुन्दरी = सुन्दर शब्द से स्त्रीत्वविवक्षामे 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इस सूत्रसे ङीष्। परिणाहिना = परिणाह अस्याऽस्तीति परिणाहि, तेन, परिणाह+इनि+टा। 'परिणाहो विशालता' इत्यमर । ऊरुयुगेण=ऊर्वोर्युगं, तेन (ष० त०), 'कुमति च' इससे नकारके स्थानमे णत्व। 'सक्थि क्लीबे पुमानूरु.' इत्यमर । रम्भा='रम्भा कदल्यप्सरसो ' इति विश्व । 'रम्भा' शब्दसे 'जिष्णु. पदके योगमे 'कर्तृकर्मणो कृति' इस सूत्रसे कर्ममे षष्ठीकी प्राप्ति थी, 'न लोकाऽ-व्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इससे उसका निषेध होनेसे कर्ममे द्वितीया। जिष्णु = जयशीला, 'जि' धातुसे 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नु.' इस सूत्रसे ग्स्नु प्रत्यय। धनदाऽपत्यतप फलस्तनी = धन ददातीति धनद , धन+दा+क (उपपद०)। मनुष्यधर्मा धनदो राजराजो धनाऽधिप.।' इत्यमर धनदस्य अपत्य (ष० त०)। तस्य तपः (ष० त०)। फले इव स्तनौ यस्या. सा फलस्तनी, (बहु०)।

धनदाऽपत्यतपस. फलस्तनी, ताम् (ष० त०)। रम्भे इव अथवा रम्भाया इव ऊरू यस्याः साः, बहुव्रीहि अथवा व्यधिकरणबहुव्रीहि दोनों समासोंसे दमयन्ती "रम्भोरू" है अर्थात् दमयन्तीके ऊरु कदलीस्तम्भोके वा रम्भा अप्सराके समान हैं अत वह 'रम्भोरू' पदसे वाच्य है यह तात्पर्य है। इस पद्यमे पूर्वार्द्धमे अर्थापत्ति और उत्तरार्द्धमे दमयन्तीके ऊरूओसे रम्भा (कदली) और रम्भा अप्सराके जयका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धकी उक्तिसे अतिशयोक्ति है इस प्रकार दो अलङ्कारोका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ३७ ॥

जलजे रविसेवयेव ये पदमेतत्पदतामवापतुः ।
ध्रुवमेत्य रुतः सहंसकीकुरुतस्ते विधिपत्रदम्पती ॥ ३८ ॥

अन्वयः—ये जलजे रविसेवया इव एतत्पदतां पदम् अवापतु , ते विधिपत्रदम्पती एत्य रुतः सहंसकीकुरुत ध्रुवम् ॥ ३८ ॥

व्याख्या—पद्यद्वयेन दमयन्तीचरणौ वर्णयति जलजे इति । ये, जलजे = द्वे पद्मे, रविसेवया इव = सूर्योपासनया इव, एतत्पदतां = दमयन्तीचरणताम् एव, पदं = स्थानम् प्रतिष्ठामिति भाव । अवापतु. = प्रापतु । ते = द्वे पद्मे, विधिपत्रदम्पती = ब्रह्मवाहनजम्पती, ब्रह्मवाहनभूतौ हंसीहसाविति भाव. । एत्य = आगत्य, रुत = रवात्' कूजनादित्यर्थ । अथवा रुत = कूजत । सहसकीकुरुत. = पादकटकयुक्ते हंसयुक्ते च कुरुत , ध्रुवम् = इव । द्वे कमले सूर्यसेवया इव दमयन्तीचरणरूपा प्रतिष्ठा प्रापतु । दमयन्त्यास्चरणो कमलसदृशाविति भाव । यत्र कमल तत्र हस आगच्छति इति उभयो सहस्थित्या कमलसदृशौ दमयन्तीचरणौ "सहसकीकुरुत." इति शब्देन पादकटकयुक्तौ अथवा हसयुक्तौ च कुरुत इव ॥ ३८ ॥

अनुवादः—दो कमलोने मानो सूर्यकी उपासनासे दमयन्तीके चरणरूप प्रतिष्ठाको प्राप्त कर लिया । उन दो कमलोको ब्रह्माके वाहन हसी और हस आकर शब्दसे मानो सहसक = पादकटकोसे वा हसोसे युक्त बनाते है ॥ ३८ ॥

टिप्पणी—जलजे = जले जाते, जल + जन् + ड + औ (उपपद०), रविसेवया = रवे. सेवा, तया (ष० त०)। एतत्पदताम् = पदयोर्भाव पदता, पद + तल् + टाप् । 'पद व्यवसितित्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु ।' इत्यमरः, एतस्या पदता, ताम् (ष० त०) । अवापतु = अव + आप् + लिट् + तस् (अतुस्) । ते = यह "जलजे" का सर्वनाम कर्म है। विधिपत्रदम्पती =

विधेः पत्त्र (ष० त०), 'सर्वं स्याद्वाहनं यानं युग्मं पत्त्रं च धारणम् ।" इत्यमरः । जाया च पतिश्च दम्पती (द्वन्द्व.), 'राजदन्तादिषु परम्' इस सूत्र-से 'जाया' शब्दका 'दम्' भावका निपातन, "दम्पती जम्पती जायापती भार्या-पती च तौ ।" इत्यमर. । विधिपत्त्रे च ते दम्पती (क० धा०) । एत्य = आङ् + इण् + क्त्वा (ल्यप्) । रुत· = रवण रुत्, तस्याः "रु शब्दे" धातुसे 'सम्पदादिभ्य क्विप्' इस वार्तिकसे क्विप प्रत्यय और "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" इस सूत्रसे तुक् आगम । सहसकीकुरुत =हंसौ इव हसके, 'हस' शब्द-से "इवे प्रतिकृतौ" इस सूत्रसे कन् प्रत्यय । हसकाभ्या (पादकटका-भ्याम्) सहिते सहसके (तुल्ययोगबहु०), "हंसक पादकटकः" इत्यमरः । असहसके सहसके यथा सम्पद्येते तथा कुरुत , सहसक + च्वि + कृ + लट् + तस् । ब्रह्माके वाहन हसी और हंस आकर दो कमलो (दमयन्तीके चरणो)-को शब्द करके मानो पादकटको (नूपुरो) से युक्त बनाते हैं यह तात्पर्य है । रुत. = शब्द करते है, इस पक्षमे 'रु शब्दे' धातु से लट् + तस् । सहसकी कुरुत. = हसाभ्यां सहिते सहसके (तुल्ययोगबहु०), 'शेषाद्विभाषा' इस सूत्र-से समासाऽन्त कप् प्रत्यय । च्विप्रत्यय पहलेके समान । ब्रह्माके वाहन हसी और हस आकर शब्द करते है और दमयन्तीके चरणकमलोको हसयुक्त बनाते है । ध्रुवम् = यह उत्प्रेक्षावाचक शब्द है । दमयन्तीके चरण कमल-सरीखे है और वे नूपुरयुक्त होकर शब्द करते है यह अभिप्राय है । इस पद्यमे पूर्वार्द्धमे कमल और हंसकी सहस्थिति होनेसे दिव्य कमलोकी दमयन्तीके चरणत्वमे गुणोत्प्रेक्षा और उत्तरार्द्धमे दिव्यहसोके सहसकत्व करनेसे क्रियोत्प्रेक्षा और हंस और हसक (पादकटक) मे भेद होनेपर भी श्लेषसे अभेदका अध्यवसाय होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है, इस प्रकार इनकी निरपेक्षतासे स्थिति होनेसे ससृष्टि अलकार है ॥ ३८ ॥

श्रितपुण्यसर सरित् कथं न समाधिक्षपिताऽखिलक्षपम् ।
जलज गतिमेतु मञ्जुलां दमयन्तीपदनाम्नि जन्मनि ॥ ३९ ॥

अन्वयः—श्रितपुण्यसर.सरित् समाधिक्षपिताऽखिलक्षपं जलज दमयन्ती-पदनाम्नि जन्मनि मञ्जुलां गतिं कथ न एतु ? ॥ ३९ ॥

व्याख्या—श्रितपुण्यसर सरित् = सेवितपवित्रकासारनदीक, समाधिक्षपिताऽ-खिलक्षपं = ध्यानयापितसमस्तरजनीक, जलज = कमलं, दमयन्तीपदनाम्नि = दमयन्तीचरणनामधेये, जन्मनि = जनने, जन्मान्तर इति भावः । मञ्जुलां =

रमणीयाम्, उत्तमामिति भाव.। गतिम् = अवस्थां, कथं = केन प्रकारेण, न एतु = न प्राप्नोतु, एत्वेवेति भाव. ॥ ३९ ॥

अनुवाद:—पवित्र मानस आदि सरोवर और गङ्गा आदि नदियोकी सेवा करनेवाला और समाधि (ध्यान वा मुद्रण) से समूची रातको बितानेवाला (इस प्रकार तीर्थसेवा और साधन करनेवाला) कमल, दमयन्तीके चरण ऐसे नामवाले जन्मान्तरमे उत्तम गतिको कैसे नही प्राप्त करेगा? (करेगा ही) ॥ ३९ ॥

टिप्पणी—श्रितपुण्यसर.सरित् = सरासि च सरितश्च सर.सरित: (द्वन्द्व:)। "कासार सरसी सर." इति "अथ नदी सरित्" इत्युभयत्राऽप्यमर.। श्रिता: पुण्या सर.सरितो येन तत् (बहु०)। समाधिक्षपिताऽखिलक्षप = समाधिना (ध्यानेन मुकुलीभावेन वा) क्षपिता: (तृ० त०)। "क्षै क्षये" धातुसे णिच् और पुक् आगम होकर क्त प्रत्यय होनेसे 'क्षपित' पद बनता है, मित् होनेसे "मिता ह्रस्व " इससे ह्रस्व। अखिलाश्च ता: क्षपा (क० धा०)। समाधिक्षपिता अखिला क्षपा: येन तत् (बहु०)। जलज = जले जातम्, जल + जन् + ड (उपपद०)। दमयन्तीपदनाम्नि = दमयन्त्या. पद (ष० त०), तत् नाम यस्य तत्, तस्मिन् (बहु०), गतिं = "गतिर्मार्गे दशाया च" इति विश्व.। एतु = इण् धातुसे सभावनामे लोट् + तिप्। मानस आदि सरोवर और गङ्गा आदि नदियोकी सेवा करनेवाला और समाधिसे समूची रातको बितानेवाला पुरुष जैसे दूसरे जन्ममे उत्तम गतिको प्राप्त करता है उसी प्रकार सरोवर और नदियोकी सेवा करने वाला और सूर्यके अदर्शनसे रातभर मुकुलितत्व रूप समाधि करनेवाला कमल जन्मान्तरमे दमयन्तीके चरणत्वकी प्राप्ति कैसे नही करेगा ? यह भाव है। इस पद्यमे श्लिष्ट विशेषणोके साम्यसे कमलमे सरोवर और नदियोकी सेवा करनेवाले तथा समाधि करनेवाले तपस्वीके व्यवहारका समारोपसे समासोक्ति अलङ्कार है तथा "कथं न एतु" यहाँ पर अर्थापत्ति है इस प्रकार अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ३९ ॥

सरसीः परिशीलितुं मया गमिकर्मीकृतनैकनीवृता।
अतिथित्वमनायि सा दृशोः सदसत्संशयगोचरोदरी ॥ ४० ॥

अन्वय:—सरसी परिशीलितुं गमिकर्मीकृतनैकनीवृता मया सदसत्संशयगोचरोदरी सा दृशो अतिथित्वम् अनायि ॥ ४० ॥

व्याख्या—तादृशी दमयन्ती त्वया कथं दृष्टेत्यत आह सरसीरिति। सरसीः = सरांसि, उपलक्षणमेतत् सरितश्चेति। परिशीलितु = परिचेतु, विहर्तुमिति भाव.। गमिकर्मीकृतनैकनीवृता = गमनफलाश्रयीकृताऽनेकजनपदेन, मया = हसेन, सदसत्सशयगोचरोदरी = भावाऽभावसन्देहास्पदोदरी, कृशोदरीति भाव, तादृशी सा = दमयन्ती, दृशो = नेत्रयो', अतिथित्व = प्राघुणिकत्वं, गाह्यत्वम्। अनायि प्रापिता, अवलोकितेति भावः॥ ४०॥

अनुवादः—जलाशयोमे विहार करनेके लिए अनेक देशोको गमनका कर्म बनानेवाले (भ्रमण करनेवाले) मैने है कि नही है ऐसे सशयके विषयभूत उदरवाली दमयन्तीको देखा॥ ४०॥

टिप्पणी—सरसीः = "षिद्गौरादिभ्यश्च" इससे गौरादिगणमे पाठसे ङीष्। परिशीलितु = परि + शील + तुमुन्। गमिकर्मीकृतनैकनीवृता = गम् धातुसे धातुका निर्देश करनेके लिए "इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे" इस वार्तिकसे इक् प्रत्यय होकर "गमि" पद बनता है, उसका अर्थ हुआ गम् धातु। गमे (गम् धातोः) कर्म गमिकर्म (ष० त०)। अगमिकर्म गमिकर्म यथा संपद्यते तथा कृता गमिकर्मीकृताः गमिकर्म + च्वि + कृ + क्त। न एके नैके, "सहसुपा" इससे समास। नितरां वर्तन्ते जना येषु ते नीवृत., नि—उपसर्गपूर्वक "वृतु वर्तने" धातुसे "अन्येभ्योऽपि दृश्यते" इस सूत्रसे क्विप् प्रत्यय और "नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ" इसके पूर्वपदका दीर्घ। "नीवृज्जनपद" इत्यमरः। गमिकर्मीकृता नैके नीवृतो येन स., तेन (बहु०), सदसत्सशयगोचरोदरी = सच्च असच्च सदसत् (क० धा०), सदसति सशय (स० त०), तस्य गोचरः (ष० त०)। सदसत्सशयगोचर उदर यस्या सा (बहु०), "नासिकादरोष्ठजङ्घादन्तकर्णश्रृङ्गाच्च" इस सूत्रसे स्त्रीत्वविवक्षामे ङीष्। दमयन्ती कृशोदरी है यह तात्पर्य है। सा = मुख्य कर्म, "अनायि" इससे उक्त होनेसे प्रथमा। अतिथित्वम् = अतिथेर्भावः, तत्त्वम् अतिथि + त्व, गौणकर्म होनेसे द्वितीया। अनायि = "णीञ् प्रापणे" धातुसे कर्ममे लुङ् + त। इस पद्यमे दमयन्तीके उदरमे भाव और अभावके सशयका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धकी उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है॥ ४०॥

अवधृत्य दिवोऽपि यौवतैर्न सहाऽधीतवतीमिमामहम्।
कतमस्तु विधातुराशये पतिरस्या वसतीत्यचिन्तयम्॥ ४१॥

अन्वयः—अहम् इमा दिव. यौवतै. अपि सह न अधीतवतीम् अवधृत्य विधातु आशये अस्याः पति कतमः तु वसति इति अचिन्तयम् ॥ ४१ ॥

व्याख्या—अह = हंसः, इमाम् = एतां, दमयन्तीमित्यर्थं. । दिव =स्वर्गस्थ सम्बन्धिभि', यौवतै अपि = युवतीसमूहैः अपि, सह = सम, न अधीतवती = न अध्ययनकर्त्रीं, स्वर्गस्थयुवतीसमूहादपि अधिकसुन्दरीमिति भाव , अवधृत्य = निश्चित्य, विधातु = ब्रह्मण , आशये = हृदि, अस्या = दमयन्त्या , पति' = भर्ता, कतम. = कः, तु = नु, वसति = तिष्ठति, इति = एवम्, अचिन्तयं = चिन्तितवान् । अहं देवाङ्गनाऽभ्योऽपि सुन्दर्या अस्या. पतिर्ब्रह्मणा को निश्चित इति विमृष्टवानिति भावः ॥ ४१ ॥

अनुवादः—मैने दमयन्तीको स्वर्गके युवतीसमूहके साथ भी अध्ययन न करनेवाली, अर्थात् उनसे भी अधिक सुन्दरी निश्चय करके ब्रह्माजीने किसको इनका पति बनानेका निश्चय किया है ? ऐसा विचार किया ॥ ४१ ॥

टिप्पणी—दिव = "सुरलोको द्योदिवौ द्वे स्त्रियाम्" इत्यमर' । यौवतै. = युवतीना समूहा यौवतानि' तैः, शतृ प्रत्ययान्त होकर ङीप्प्रत्ययान्त युवती-शब्दसे "अनुदात्तादेरञ्" इस सूत्रसे अञ् प्रत्यय" । "भिक्षादिभ्योऽण्" इस सूत्रमे भिक्षाऽऽदिगणमे 'युवति' शब्दके पाठका भाष्य और कैयटने प्रत्याख्यान किया है, इसलिए, उक्त सूत्रसे अण् प्रत्ययका और 'भस्याढे तद्धिते' इससे पुवद्भावकी कल्पनाका अवलम्बन करना मल्लिनाथजी और नारायण पण्डितका अनुचित है । अधीतवतीम् = अधि–उपसर्गपूर्वक 'इङ् अध्ययने' धातुमे क्तवतु और स्त्रीत्वविवक्षामे 'उगितश्च' इससे ङीप् । अवधृत्य = अव + धृञ् + क्त्वा (ल्यप्) । कतम = 'कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने' ऐसे वचनके सामर्थ्यसे स्वार्थमे भी डतमच् प्रत्यय । अचिन्तयम् = चिन्त + णिच् + लङ + मिप् । इस पद्यमें उपमानभूत स्वर्गके युवतीसमूहसे भी उपमेयभूत दमयन्तीके आधिक्यका वर्णन करनेसे व्यतिरेक अलङ्कार है ॥ ४१ ॥

अनुरूपमिमं निरूपयन्नथ सर्वेष्वपि पूर्वपक्षताम् ।
युवसु व्यपनेतुमक्षमस्त्वयि सिद्धान्तधियं न्यवेशयम् ॥ ४२ ॥

अन्वयः—अथ अनुरूपम् इम निरूपयन् सर्वेषु अपि युवसु पूर्वपक्षतां व्यपनेतुम् अक्षमः (सन्) त्वयि सिद्धान्तधियं न्यवेशयम् ॥ ४२ ॥

व्याख्या—अथ=चिन्ताऽनन्तरम्, अनुरूप = योग्य, दमयन्त्या इति शेषः, इमं=पतिं, निरूपयन् = आलोचयन्, सर्वेषु अपि = सकलेषु अपि, युवसु =

तरुणेषु, पूर्वपक्षतां = दूष्यकोटितां, व्यपनेतु=निवारयितुम्, अक्षमः = असमर्थः सन्, त्वयि = भवति विषये, सिद्धान्तधिय = सिद्धान्तबुद्धि, न्यवेशय = निवेशितवान्, अन्यान् यूनो दमयन्त्या अयोग्यान्विचार्य भवानेव तस्या अनुरूपपतिरिति निरचैषमिति भावः ॥ ४२ ॥

अनुवादः—चिन्ताके अनन्तर दमयन्तीके अनुरूप पतिकी आलोचना कर मैंने अन्य सभी युवकोमे पूर्वपक्षता (दूष्यकोटिता) हटानेमे असमर्थ होकर आपमे सिद्धान्त-बुद्धि (दमयन्तीके योग्य पति है ऐसी बुद्धि) का स्थापन किया ॥ ४२ ॥

टिप्पणी—अनुरूपं = रूपस्य योग्य, योग्यता वा सादृश्यके अर्थमे अव्ययीभाव । निरूपयन् = नि + रूप + णिच् + लट् (शतृ) + सु. । युवसु = 'वयःस्थस्तरुणो युवा' इत्यमरः । पूर्वपक्षतां = पूर्वश्चाऽसौ पक्ष. (क० धा०), तस्य भावस्तत्ता, ताम्, पूर्वपक्ष + तल् + टाप् + अम् । व्यपनेतु=वि + अप + नी + तुमुन् । अक्षमः = न क्षमः (नञ०) । त्वयि = विषयमे सप्तमी । सिद्धान्तधिय = सिद्धान्तस्य धीः ताम् (ष० त०) न्यवेशयम् = नि-उपसर्गपूर्वक 'विश' धातुसे लङ् + मिप् । शास्त्राऽर्थमे पूर्वपक्ष जैसे दूष्य और उत्तरपक्ष अर्थात् सिद्धान्तपक्ष स्थापनीय होता है, उसी तरह दमयन्तीके योग्य पतिकी आलोचनामे और सब युवक पूर्वपक्षस्थानीय और नल सिद्धान्तपक्षस्थानीय है ऐसा मैंने निश्चय किया है यही ब्रह्माका आशय है यह तात्पर्य है । इस पद्यमे सम अलङ्कार है—

'सम स्यादानुरूप्येण श्लाघा या योग्यवस्तुनो. ।' सा० १०–९२ ॥ ४२ ॥

अनया तव रूपसीमया कृतसस्कारविबोधनस्य मे ।
चिरमप्यवलोकिताऽद्य सा स्मृतिमारूढवती शुचिस्मिता ॥ ४३ ॥

अन्वयः—चिरम् अवलोकिता अपि सा शुचिस्मिता अद्य अनया तव रूपसीमया कृतसस्कारविबोधनस्य मे स्मृतिम् आरूढवती ॥ ४३ ॥

व्याख्या—चिर = बहुपूर्वकाम्, अवलोकिता अपि = दृष्टा अपि, सा = पूर्वोक्ता, शुचिस्मिता = शुक्लहास्या, सुन्दरी दमयन्तीति भाव. । अद्य = अस्मिन् दिने, अनया = संनिकृष्टस्थया, तव = भवत., रूपसीमया = सौन्दर्यकाष्ठया, कृतसंस्कारविबोधनस्य = उद्बुद्धभावनाऽऽख्यसंस्कारस्य, मे = मम, हंसस्य, स्मृति = सस्कारमात्रजन्य ज्ञान, स्मरणमित्यर्थ. । आरूढवती = आरूढा, एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारक भवतीति भावः ॥ ४३ ॥

अनुवादः—बहुत पहले देखी गयी वह सुन्दरी (दमयन्ती) आज आपके सौन्दर्यकी सीमासे उद्बुद्धसंस्कारवाले मेरे स्मरणमार्गमे आरूढ हो गयी ॥ ४३ ॥

टिप्पणी—अवलोकिता = अव + लोक + क्त (कर्ममे) + टाप् । शुचिस्मिता = शुचि स्मित यस्याः सा (बहु०) । रूपसीमया = रूपस्य सीमा, तया (ष० त०) । सीमन् शब्दसे 'डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्' इस सूत्रसे विकल्पसे डाप् और टा विभक्ति । डाप्के अभावमे रूपसीम्ना । कृतसस्कार-विबोधनस्य = सस्कारस्य विबोधनम् (ष० त०) । सस्कारके तीन भेद होते है—वेग, भावना और स्थितिस्थापक । यहाँपर 'भावना' नामक सस्कार उद्दिष्ट है । भावनाका लक्षण है—"अनुभवजन्यः स्मृतिहेतुर्गुणविशेष." अनुभव-से उत्पन्न स्मरणके कारणभूत गुणविशेषको 'भावना' कहते है । यह आत्माका विशेष गुण है । कृत सस्कारविबोधन यस्य सः, तस्य (बहु०) । स्मृतिम् = स्मरण स्मृति, ताम्, स्मृ + क्तिन् । बुद्धिके दो भेद होते है—अनुभव और स्मृति । स्मृतिका लक्षण है—'सस्कारमात्रजन्य ज्ञानं स्मृति.' अर्थात् भावना-नामक सस्कारमात्रसे उत्पन्न ज्ञानको 'स्मृति' कहते है । आरूढवती = आङ् + रुह + क्तवतु + ङीप् । सदृशवस्तुका दर्शन दूसरी वस्तुका स्मारक होता है, अतिशय सुन्दर आपको देखने से अत्यन्त सुन्दरी दमयन्तीका मुझे स्मरण हुआ, यह तात्पर्य है । इस पद्यमे स्मरण अलङ्कार है—

"सदृशाऽनुभवाद्वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते ।" सा० द० १०–४०

विना सादृश्यके भी वस्तुके स्मरणसे राघवानन्दके मतके अनुसार यह अलङ्कार है ॥ ४३ ॥

त्वयि वीर ! विराजते परं दमयन्तीकिलकिञ्चितं किल ।
तरुणीस्तन एव दीप्यते मणिहारावलिरामणीयकम् ॥ ४४ ॥

अन्वयः—हे वीर ! दमयन्तीकिलकिञ्चित त्वयि पर विराजते किल । मणिहारावलिरामणीयक तरुणीस्तन एव दीप्यते ॥ ४४ ॥

व्याख्या—हे वीर = हे शूर !, दमयन्तीकिलकिञ्चितं = दमयन्ती-शृङ्गारचेष्टाविशेष', त्वयि = भवति, परम् = एव, विराजते = शोभते, किल = खलु । उक्तमर्थं दृष्टान्तेन समर्थयते—तरुणीति । मणिहारावलिरामणीयकं = मुक्ताहारपङ्क्तिसौन्दर्यं, तरुणीस्तन एव = युवतिपयोधर एव, दीप्यते = शोभते ॥ ४४ ॥

अनुवाद:—हे वीर ! दमयन्तीकी शृङ्गारचेष्टाएँ आपमे ही शोभित होती है। मोतीकी मालाओका सौन्दर्य तरुणीके स्तनमे ही शोभित होता है ॥ ४४ ॥

टिप्पणी—वीर = वीरयतीति वीर, तत्सम्बुद्धौ, 'वीर विक्रान्तौ' धातुसे अच् प्रत्यय। 'शूरो वीरश्च विक्रान्त' इत्यमर। दमयन्तीकिलकिञ्चित=दमयन्त्याः किलकिञ्चितम् (ष० त०)। किलकिञ्चितका लक्षण है—

"स्मितशुष्करुदितहसितत्रासक्रोधश्रमादीनाम् ।
साङ्कर्यं किलकिञ्चितमभीष्टतमसंगमादिजाद्धर्षात् ॥"
सा० द० ३–११०।

अर्थात् प्रियतमके सगम आदिसे उत्पन्न हर्षसे स्त्रियोके मन्दहास्य, शुष्क-रोदन, हास्य, क्रोध और श्रम आदिके समिश्रणको 'किलकिञ्चित' कहते हैं। मणिहारावलिरामणीयक = हाराणाम् आवलि (ष० त०), मणिखचिता हारा-वलि (मध्यमपदलोपी०)। रमणीयस्य भाव, 'रमणीय' शब्दसे 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्' इस सूत्रसे वुञ्, "युवोरनाकौ" इससे वुञ्के स्थानमे 'अक' आदेश और आदिवृद्धि। तरुणीस्तने = तरुण्या स्तन तस्मिन् (ष० त०), जातिमे एकवचन। दीप्यते = 'दीपी दीप्तौ' धातुसे लट् + त (कर्तामे)। इस पद्यमे उपमान और उपमेय हार और किलकिञ्चितका दो वाक्योमे बिम्ब और प्रतिबिम्बके भावसे स्तन और नृपमे तुल्यधर्मतासे उक्ति होनेसे दृष्टान्त अलङ्कार है। उसका लक्षण है—

"दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुन प्रतिबिम्बनम् ।" १०–६९ ॥ ४४ ॥

तव रूपमिदं तया विना विफलं पुष्पमिवाऽवकेशिनः ।
इयमृद्धधना वृथाऽवनी स्ववनी संप्रवदत्पिकाऽपि का ? ॥ ४५ ॥

अन्वयः—(हे वीर !) तव इद रूपं तया विना अवकेशिन' पुष्पम् इव विफलम्। ऋद्धधना इयम् अवनी वृथा, सम्प्रवदत्पिका स्ववनी अपि का ? ॥४५॥

व्याख्या—(हे वीर !) तव = भवत., इदं = दृश्यमान, रूप = सौन्दर्यम्, अनुपममिति शेष। तया विना = दमयन्त्या विना, अवकेशिन = वन्ध्यवृक्षस्य, पुष्पम् इव = कुसुमम् इव, विफल = निष्फलं, निरर्थकमिति भाव। एवं च ऋद्धधना = वृद्धवित्ता, इय = दृश्यमाना, अवनी = भूमिः, वृथा = व्यर्थप्राया, तया (दमयन्त्या) विनेति शेष.। तथैव सम्प्रवदत्पिका = कूजत्कोकिला, स्ववनी अपि = निजोद्यानम् अपि, का = तुच्छा, निरर्थिकेत्यर्थः,

दमयन्त्या विनेति शेष । दमयन्तीयोगे तु भवद्रूपं भूमि उद्यानं च सर्वं सफल-मिति भाव ॥ ४५ ॥

अनुवादः—(हे वीर !) आपका यह सौन्दर्य, दमयन्तीके न होनेपर वन्ध्य (निष्फल वृक्षके फूलके समान निरर्थक है। धनसे पूर्ण यह पृथिवी व्यर्थ-प्राय है, उसी प्रकार कोकिलके आलापसे सम्पन्न अपना उद्यान भी निरर्थक है ॥ ४५ ॥

टिप्पणी—तया = "विना" पदके योगमे "पृथग्विनानाभिस्तृतीयाऽन्य-तरस्याम्" इस सूत्रसे तृतीया, एक पक्षमे पञ्चमी और द्वितीया विभक्ति भी होती है। अवकेशिन = वन्ध्योऽफलोऽवकेशी च" इत्यमर । विफल = विगत फल यस्मात् तत् (बहु०) । ऋद्धधना = ऋद्ध धन यस्या सा (बहु०) । अवनी = "कृदिकारादक्तिन." इससे 'अवनि' शब्दसे ङीष् । वृथा = यह अव्यय है। सम्प्रवदत्पिका = सम्प्रवदन्त पिका यस्यां सा (बहु०) । स्ववनी = अल्प वनं वनी, 'वन' शब्दसे अवयवके अपचयकी विवक्षामे 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इस सूत्रसे गौर आदि गणमे पढे जानेसे ङीष् । स्वस्य वनी (ष० त०) । का = "किं वितर्के परिप्रश्ने क्षेपे निन्दाऽपराधयो ।" इति विश्व. । इस पद्यमे पूर्वार्द्धमे पूर्णोपमा अलङ्कार है, तृतीय और चतुर्थ चरणमे दमयन्तीके विना अवनी और स्ववनीकी असुन्दरताका प्रतिपादन होनेसे दो विनोक्तियाँ, इस प्रकार इन अलङ्कारोकी निरपेक्षतासे ससृष्टि है। विनोक्तिका लक्षण है—

"विनोक्तिर्यद्विनाऽन्येन नाऽसाध्वन्यदसाधु वा ।" १०–७३ ॥ ४५ ॥

अनयाऽमरकाम्यमानया सह योग. सुलभस्तु न त्वया ।
घनसवृतयाऽम्बुदागमे कुमुदेनेव निशाकरत्विषा ॥ ४६ ॥

अन्वयः—अमरकाम्यमानया अनया सह योगः अम्बुदागमे घनसवृतया-निशाकरत्विषा सह योग कुमुदेन इव त्वया न सुलभ. ।

अथ स्वाऽपेक्षा दर्शयितुं दमयन्त्या दौर्लभ्यं द्योतयति—अनयेति ।

व्याख्या—अमरकाम्यमानया = देवाऽभिलष्यमाणया, अनया सह = दम-यन्त्या सम, योग. = सम्बन्ध , अम्बुदागमे = मेघागमे, वर्षाकाल इति भावः । घनसवृतया = मेघच्छन्नया, निशाकरत्विषा सह = चन्द्रकान्त्या सम, योगः = सम्बन्ध., कुमुदेन इव = कैरवेण इव, त्वया = भवता, न सुलभ. = न सुप्रापः, दुर्लभ इति भावः, अतोऽहं भैमीसकाश गत्वा वाक्कौशलेनाऽनुरागमुत्पाद्य तया सह भवतो योग जनयिष्यामीति तात्पर्यम् ॥ ४६ ॥

अनुवादः—इन्द्र आदि देवताओसे चाही जानेवाली दमयन्तीके साथ आपका संबन्ध वर्षाकालमे मेघसे आवृत चन्द्रकान्तिके साथ कुमुदसम्बन्धके समान सुलभ नही है ॥ ४६ ॥

टिप्पणी—अमरकाम्यमानया = अमरै काम्यमाना, तया (तृ० त०), अनया = "सह" के योगमे तृतीया। अम्बुदागमे = अम्बुदस्य आगम , तस्मिन् (ष० त०)। घनसवृतया = घनै सवृता, तया (तृ० त०), "घनजीमूतमुदिरजलमुग्धूमयोनय ।" इत्यमर । निशाकरत्विषा = निशा करोतीति निशाकर., निशा–उपपदपूर्वक "कृ" धातुसे "दिवाविभानिशा०" इत्यादि सूत्रसे ट प्रत्यय (उपपद०)। निशाकरस्य त्विट्, तया (ष० त०)। सुलभ = सुखेन लब्धुं शक्य, सु+लभ्+खल् (उपपद०)। इस पद्यमे दमयन्तीके सयोगकी दुर्लभतामे अमरकाव्यमान पदार्थकी हेतुतासे पदार्थहेतृक काव्यलिङ्ग और उपमा अलङ्कार है, इस प्रकार दो अलङ्कारोका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ४६ ॥

तदहं विदधे तथा तथा दमयन्त्याः सविधे तव स्तवम् ।
हृदये निहितस्तया भवानपि नेन्द्रेण यथाऽपनीयते ॥ ४७ ॥

अन्वयः—तत् अह दमयन्त्या सविधे तथा तथा तव स्तवं विदधे, यथा तया हृदये निहितो भवान् इन्द्रेण अपि न अपनीयते ॥ ४७ ॥

व्याख्या—अथ दमयन्तीप्राप्त्युपाय प्रकाशयति—तदिति । तत् = तस्मात्कारणात्, दमयन्तीयोगस्य दौर्लभ्यादिति भाव । अह = हस , दमयन्त्या. = भैम्या, सविधे = समीपे, तथा तथा = तेन तेन प्रकारेण, तव = भवत, स्तवं = स्तोत्र, प्रशसामिति भाव । विदधे = विधास्ये, करिष्यामि। यथा = येन प्रकारेण, तया = दमयन्त्या, हृदये = मनसि, निहित = स्थापित., पतित्वेनेति शेष । भवान्, इन्द्रेण अपि = मघोना अपि, न अपनीयते = नो दूरीक्रियते, मनुष्येणेति तु का वार्तेति भाव । इन्द्रादिभि प्रलोभिताऽपि भैमी यथा भवत्येव गाढाऽनुरागा स्यात्तथा प्रयतिष्य इति तात्पर्यम् ॥ ४७ ॥

अनुवादः—इस कारणसे मै दमयन्तीके समीप उस उस प्रकारसे आपकी तारीफ करूँगा, जैसे कि दमयन्तीके हृदयमे रक्खे गये आपको इन्द्र भी नही हटा सकेंगे ॥ ४७ ॥

टिप्पणी—तत् = यह अव्यय है। सविधे = 'सदेशाऽभ्याससविधसमर्यादसवेशवत्' इत्यमरः। तथा = तेन प्रकारेण, तद्+थाल्, अव्यय है। विदधे =

वि—उपसर्गपूर्वक 'धा' धातुसे "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" इस सूत्रसे वर्तमानके समीप भविष्यत्कालमे लट्। अथवा 'आशसाया भूतवच्च' इससे आशसामे भविष्यत्कालमे लट्। निहित = नि + धा + क्त. "दधातेर्हि." इससे 'धा' के स्थानमे हि आदेश। अपनीयते = अप + नी + लट् (कर्ममे) + त। इस पद्यमे 'इन्द्रेण अपि न अपनीयते' यहाँपर किमुत अन्येन ऐसे अन्य अर्थके आ पड़नेसे अर्थापत्ति अलङ्कार है ॥ ४७ ॥

तव सम्मतिमत्र केवलामधिगन्तु धिगिद निवेदितम्।
ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम् ॥ ४८ ॥

अन्वयः—अत्र केवलां तव सम्मतिम् अधिगन्तुम् इद निवेदित धिक्। हि साधवो निजोपयोगिता फलेन ब्रुवते कण्ठेन, न ब्रुवते ॥ ४८ ॥

तर्हि तथैव क्रियता, किं निवेदनेनेत्यत आह—तवेति।

व्याख्या—अत्र = अस्मिन् कार्ये, केवलाम् = एकां, तव = भवत. सम्मतिम्= अङ्गीकारम्, अधिगन्तु = ज्ञातुम्, इद = पुर प्रतिपाद्यमान, निवेदित=निवेदन, धिक् = निवेदितस्य निन्देत्यर्थ। उक्तमर्थमर्थान्तरेण समर्थयते—ब्रुवत इति। हि = यस्मात् कारणात्, साधव = सज्जना, निजोपयोगिता = स्वोपकारित्व, फलेन = कार्येण, ब्रुवते = बोधयन्ति, किन्तु कण्ठेन = वाग्व्यापारेण, न ब्रुवते = नो बोधयन्ति, निजोपयोगितामिति शेष ॥ ४८ ॥

अनुवाद.-इस कार्यमे केवल आपकी सम्मति (मजूरी) को जाननेके लिए किये गये इस निवेदनको धिक्कार है, क्योकि सज्जन लोग अपनी उपयोगिताको कार्यसे दिखाते है, कण्ठसे नही बतलाते है ॥ ४८ ॥

टिप्पणी—अत्र=अस्मिन्निति, इदम् + त्रल्। अधिगन्तुम् = अधि + गम् + तुमुन्। निवेदितं = "धिक्" के योगमे "धिगुपर्यादिषु त्रिषु" इससे द्वितीया। हि="हि हेताववधारणे" इत्यमर.। निजोपयोगिता = निजस्य उपयोगिता, ताम् (ष० त०)। ब्रुवते = 'ब्रूञ् व्यक्ताया वाचि' धातुसे लट् + झ। इस पद्यमे सामान्यसे विशेषका समर्थन होनेसे 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार है ॥ ४८ ॥

तदिदं विशदं वचोऽमृतं परिपीयाऽभ्युदितं द्विजाऽधिपात्।
अतितृप्ततया विनिर्ममे स तदुद्गारमिव स्मितं सितम् ॥ ४९ ॥

अन्वयः—स द्विजाऽधिपात् अभ्युदितं विशदं तत् इद वचोऽमृतं परिपीय अतितृप्ततया तदुद्गारम् इव सितं स्मित विनिर्ममे ॥ ४९ ॥

व्याख्या—सः = नल, द्विजाऽधिपात्=पक्षिस्वामिनः, हसादिति भावः,

पक्षान्तरे—ब्राह्मणप्रभो चन्द्रादिति भाव । अभ्युदितम् = आविर्भूत, विशद = प्रसन्नम् उज्ज्वल च, तत् = पूर्वोक्तम्, इदम् = अनुभूयमान, वचोऽमृतं = वाक्य-पीयूष, परिपीय = सादरमाकर्ण्य, पीत्वा च, अतितृप्ततया = अतिसौहित्येन, तदुद्गारम् इव = तदुद्गमनम् इव, सित = शुक्ल स्मित = मन्दहास्य, विनिर्ममे= विनिर्मितवान्, पीतस्य शुक्लवचोमृतस्य उद्गारसदृश स्मितमपि शुक्ल भवतीति भाव ॥ ४९ ॥

अनुवादः—नलने पक्षिराज हससे उत्पन्न प्रसादयुक्त अथवा सफेद, वचन-रूप अमृतका पान कर अत्यन्त तृप्त होनेसे उसके डकारके सदृश सफेद मन्द हास्यका निर्माण किया ॥ ४९ ॥

टिप्पणी—द्विजाऽधिपात् = द्विजानाम् अधिप., तस्मात् (ष० त०), "दन्तविप्राण्डजा द्विजा " इस अमरवचनके अनुसार यहाँपर द्विजपदका अर्थ अण्डज (पक्षी) और विप्र (ब्राह्मण) दोनो ही होते है अत. द्विजाऽधिप = पक्षी (हस) अथवा चन्द्रमा। "द्विजराज शशधरो नक्षत्रेश. क्षपाकर.।" इत्यमर.। अभ्युदितम् = अभि + उद् + इण् + क्त + सु.। वचोऽमृत = वच एव अमृतं, तत् (रूपक०)। परिपीय = परि + पी + क्त्वा (ल्यप्)। अतितृप्त-तया = अत्यन्तं तृप्त (गति०), अतितृप्तस्य भाव अतितृप्तता, तया। अति-तृप्त + तल् + टाप् + टा। तदुद्गारम्=तदुद्गारणम् उद्गार , उद्—उपसर्गपूर्वक "गॄ निगरणे" धातुसे "उन्न्योर्ग्रः" इस सूत्रसे घञ प्रत्यय। तस्य उद्गार तम् (ष० त०)। विनिर्ममे=वि—निर्—उपसर्गपूर्वक माङ् धातुसे कर्तामे लिट् + त। सफेद वचनरूप अमृतका उद्गारस्वरूप मन्दहास्य भी श्वेत ही होता है यह तात्पर्य है। इस पद्यमे वचनमे अमृतत्वका आरोप हसमे चन्द्रत्व आरोपके प्रति कारण है और 'द्विजाऽधिप' पद श्लिष्ट है, श्लिष्टपरम्परितरूपक अलङ्कार और उत्प्रेक्षा भी है, अतः दो अलङ्कारोका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ४९ ॥

परिमृज्य भुजाऽग्रजन्मना पतगं कोकनदेन नैषधः।
मृदु तस्य मुदेऽगिरद् गिरः प्रियवादाऽमृतकूपकण्ठजाः ॥ ५० ॥

अन्वयः—नैषधः भुजाऽग्रजन्मना कोकनदेन पतग परिमृज्य तस्य मुदे प्रिय-वादामृतकूपकण्ठजाः गिर. मृदु अगिरत् ॥ ५० ॥

व्याख्या—नैषध॰ = नलः, भुजाऽग्रजन्मना = बाह्वग्रोत्पन्नेन, कोकनदेन = रक्तोत्पलेन, रक्तोत्पलसदृशेन पाणिना इति भाव । पतग = पक्षिण, हस-

मित्यर्थः । परिमृज्य = सस्पृश्येत्यर्थः । तस्य = हंसस्य, मुदे = हर्षाय, प्रियवादाऽमृतकूपकण्ठजाः = इष्टवाक्यपीयूषोदपानवागिन्द्रियजा, गिर. = वाणीः, मृदु = कोमलं यथा तथा, अगिरत् = उक्तवान् ॥ ५० ॥

अनुवादः—नल बाहुके अग्रभाग से उत्पन्न पाणिरूप रक्तकमलसे हसका स्पर्श करके उसको हर्ष उत्पन्न करनेके लिए प्रियवचनरूप अमृतके कुएँके समान कण्ठसे उत्पन्न वचनोको कोमलतापूर्वक कहने लगे ॥ ५० ॥

टिप्पणी—नैषध = निषधेषु भव, निषध + अण् । भुजाग्रजन्मना = भुजस्य अग्रम् (ष० त०), "भुजबाहू प्रवेष्टो दो." इत्यमर. । भुजाग्रे जन्म यस्य तेन (व्यधिकरणबहु०) । इस पदसे पाणि लक्षित होता है । कोकनदेन = रक्तोत्पलं कोकनदम्" इत्यमर । परिमृज्य = परि + मृज् + क्त्वा (ल्यप्) । प्रियवादाऽमृतकूपकण्ठजा = प्रियस्य वादा (ष० त०), ते एव अमृतानि (रूपक०) । तेषा कूप. (ष० त०), स चाऽसौ कण्ठ (क० धा०), तस्माज्जाता, ताः प्रियवादाऽमृतकूपकण्ठ + जन् + ड (उपपद०) मृदु = यह क्रियाविशेषण है । अगिरत्="गॄ निगरणे" धातुसे लङ् + तिप् । इस पद्यमे भुजाग्रजन्मा (पाणि) में कोकनदत्वका आरोप होनेसे रूपक, प्रियवादमे अमृतत्वका आरोप कण्ठमें कूपत्वके आरोपके प्रति निमित्त है अत परम्परितरूपक है इस प्रकार दो अलङ्कारोकी संसृष्टि है ॥ ५० ॥

न तुलाविषये तवाकृतिर्न वचोवर्त्मनि ते सुशीलता ।
त्वदुदाहरणा कृतौ गुणा इति सामुद्रिकसारमुद्रणा ॥ ५१ ॥

अन्वयः—(हे हंस !) तव आकृति , तुलाविषये न, ते सुशीलता वचोवर्त्मनि न । (अत एव) आकृतौ गुणा इति सामुद्रिकसारमुद्रणा त्वदुदाहरणा ॥ ५१ ॥

व्याख्या—(हे हस !) तव=भवतः, आकृतिः = आकारः, तुलाविषये न = सादृश्यभूमौ न, त्वदीयाऽऽकृतिरसाधारणीति भाव । एव च—ते=तव, सुशीलता= सच्चरित्रता, वचोवर्त्मनि न=वाक्यमार्गे न, ते सुशीलता वक्तुमशक्येति भावः । अत एव—आकृतौ = आकारे, गुणाः = दयादाक्षिण्यादय., इति = एवभूता, सामुद्रिकसारमुद्रणा = सामुद्रिकशास्त्रकारसिद्धान्तप्रतिपादनं, त्वदुदाहरणा = भवद्दृष्टान्तभूता, अस्तीति शेषः । "यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति" इति सामुद्रिकशास्त्रकारोक्तेरुदारणस्थानीयो भवानेवेति भावः ॥ ५१ ॥

अनुवादः—(हे हस !) तुम्हारा आकार सादृश्य भूमिमे नही है, तुम्हारी

सुशीलता वचनके मार्गमे नही है, अतएव उत्तम आकारमे गुण होते है ऐसा सामुद्रिकोके सिद्धान्तप्रतिपादनके तुम ही उदाहरणस्वरूप हो ॥ ५१ ॥

टिप्पणी—तुलाविषये = तोलनं तुला, 'तुल उन्माने' धातुसे "षिद्भिदादिभ्योऽङ्" इस सूत्रसे अङ् प्रत्यय होकर टाप्। 'तुला सादृश्यमानयो.' इति विश्व:। तुलाया विषय., तस्मिन् (ष० त०)। ते = युष्मद् शब्दके 'तव' के स्थानमे "तेमयावेकवचनस्य" इस सूत्रसे "ते" आदेश। सुशीलता = शोभनं शील यस्य स. (बहु०)। तस्य भाव: तत्ता, सुशील+तल्+टाप्। "शीलं स्वभावे सद्वृत्ते" इत्यमर.। वचोवर्त्मनि = वचसो वर्त्म, तस्मिन् (ष० त०)। सामुद्रिकसारमुद्रणा = समुद्रेण प्रोक्त 'सामुद्रिक', 'समुद्र' शब्दसे 'तेन प्रोक्तम्' इस सूत्रसे ठञ् (इक), आदिवृद्धि। समुद्रने स्त्री और पुरुषके हाथ और पैरकी रेखा आदिके शुभ-अशुभ लक्षणोका ज्ञापक शास्त्र बनाया उसे 'सामुद्रिक' कहते हैं। सामुद्रिकस्य सार, 'सारो बले स्थिरांऽशे च' इत्यमर.। तस्य मुद्रणा (ष० त०)। त्वदुदाहरणा = त्वम् एव उदाहरण यस्या. सा (बहु०)। इस पद्यमे आकृतिके तुलाविषयमे और सुशीलताके वचोवर्त्ममे सम्बन्ध होनेपर भी असम्बन्धकी उक्ति होनेसे दो अतिशयोक्तियाँ और परार्द्धके प्रति पूर्वार्द्धकी हेतुतासे वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग, इस प्रकार तीन अलङ्कारोकी निरपेक्षतया स्थिति होनेसे ससृष्टि है ॥ ५१ ॥

न सुवर्णमयी तनुः परं ननु किं वागपि तावकी तथा।
न परं पथि पक्षपातिताऽनवलम्बे किमु मादृशेऽपि सा ॥ ५२ ॥

अन्वय:—ननु! तावकी तनु पर सुवर्णमयी न, किं (तु) वाक् अपि तथा (सुवर्णमयी), तथा अनवलम्बे पथि पर पक्षपातिता न, अनवलम्बे मादृशे अपि सा पक्षपातिता न किमु ? (अस्ति एव) ॥ ५२ ॥

व्याख्या—ननु = हे हस!, तावकी = त्वदीया, तनु. = मूर्ति:, परम् = एव, सुवर्णमयी न = स्वर्णमयी न, किं (तु) तावकी, वाक् अपि = वाणी अपि, तथा = तेन प्रकारेण, सुवर्णमयी = शोभनाऽक्षरमयीऽत्यर्थ:, त्वदीया मूर्तिर्यथा सुवर्णमयी तथैव वाणी अपि सुवर्णमयी = सुन्दरवर्णमयीति भाव.। तथा अनवलम्बे = अवलम्बरहिते, पथि = मार्गे, आकाशे इत्ति भाव.। परम् = एव, पक्षपातिता न = पक्षपतनशीलता न, अनवलम्बे = निराधारे, मादृशे अपि = मत्सदृशे अपि, पक्षपातिता = पक्षवर्तिता, न किमु ? = नाऽस्ति किम् ? अस्त्येवेति भाव:। तव अनवलम्बे पथि (आकाशे) एव पक्षपातिता (पक्षपतनशीलता)

न, प्रत्युत मादृशे अनवलम्बे (अवलम्बरहिते) अपि पक्षपातिता पक्षवर्तिता न किमु ? अस्त्येवेति भाव. ॥ ५२ ॥

अनुवादः—हे हंस ! तुम्हारी केवल मूर्ति ही सुवर्णमयी नही है, वाणी भी सुवर्णमयी (सुन्दर अक्षरोवाली) है। उसी प्रकार अवलम्बरहित मार्ग (आकाश) मे मात्र तुम्हारी पक्षपातिता (पक्षपतनशीलता) नही है प्रत्युत अवलम्ब (आधार) से रहित मेरे सरीखे व्यक्तिमे भी वह पक्षपातिता (पक्षमे रहनेका गुण) नही है क्या ? है ही ॥ ५२ ॥

टिप्पणी—ननु="प्रश्नाऽवधारणाऽनुज्ञाऽनुनयाऽऽमन्त्रणे ननु।" इत्यमरः। यहाँपर "ननु" पद आमन्त्रण अर्थ मे है। तावकी = तव इयम्, 'युष्मद्' शब्दसे 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्या खञ् च' इस सूत्रमे चकार पाठके सामर्थ्यसे अण् प्रत्यय होकर 'तवकममकावेकवचने' इस सूत्रसे तवक आदेश, आदिवृद्धि और स्त्रीत्व-विवक्षामे ङीप् प्रत्यय। सुवर्णमयी=सुवर्णस्य विकारः, सुवर्ण + मयट् + ङीप्। यह 'तनु' के पक्षमे व्युत्पत्ति है। वाक्पक्षमे शोभना वर्णाः सुवर्णा., (गति०)। प्रचुरा सुवर्णा यस्या सा सुवर्णमयी, सुवर्ण शब्दसे 'तत्प्रकृतवचने मयट्' इससे प्रचुर अर्थमे मयट् + ङीप्। प्रचुर सुन्दर वर्णोवाली तुम्हारी वाक् (वाणी) है यह तात्पर्य है। अनवलम्बे = अविद्यमान अवलम्बः (आधार.) यस्य सः, तस्मिन् (नञ् बहु०)। अनवलम्बे पथि = इसका तात्पर्य आधाररहित मार्ग अर्थात् आकाशमे ऐसा होता है। पक्षपातिता = पक्षाभ्यां पततीति तच्छीलः पक्षपाती (पक्ष + पत् + णिनि + सु)। पक्षपातिनो भावः पक्षपातिन् + तल + टाप्। आधाररहित मार्ग आकाशमे मात्र पक्षपातिता = पखोसे चलने (उडने) का भाव नही है, अनवलम्बे मादृशेऽपि = अवलम्बसे रहित मेरे ऐसेमे भी पक्षपातिता = पक्षे पततीति तच्छीलः पक्षपाती, तस्य भावः। पक्षमें पडनेका भाव। अर्थात् मेरे ऐसे आधाररहितमे भी पक्षपातीका भाव है। इस पद्यमे "सुवर्णमयी" और "पक्षपातिता" इन दोनों पदोमे दो पदश्लेषोकी निरपेक्षतासे स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है ॥ ५२ ॥

भृशतापभृता मया भवान् मरुदासादि तुषारसारवान्।
धनिनामितरः सतां पुनर्गुणवत्सन्निधिरेव सन्निधिः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—(हे हंस !) भृशतापभृता मया भवान् तुषारसारवान् मरुत् आसादि। धनिनाम् इतरः सन्निधिः पुन. सतां गुणवत्सन्निधि एव सन्निधि. ॥ ५३ ॥

व्याख्या—(हे हंस !) भृशतापभृता = अतिशयसन्तप्तेन, मया = नलेन, भवान् = त्वं, तुषारसारवान् = हिमश्रेष्ठाऽशसम्पन्नः, मरुत् = वायुः आसादि = प्राप्तः, सन्तापहरत्वादिति भाव । तथा हि धनिनाम् = आढ्यानां, कुबेरादीनामिति भाव । इतर = अन्य , पद्मशङ्खादि, सन्निधिः = उत्तम-शेवधि., पुन = भूय , सता = विदुषा, गुणवत्सनिधिः एव = गुणिजनसामीप्यम् एव, सन्निधि = महानिधिः । हे हस ! मत्कृते त्वमेव शीतलमारुतः अन्यस्तु दहनप्राय इति भाव. ॥ ५३ ॥

अनुवादः—हे हंस ! अत्यन्त सन्तप्त मैंने हिमके श्रेष्ठ अशसे सम्पन्न वायुके समान तुम्हे प्राप्त कर लिया है । कुबेर आदि धनियोको पद्म, शङ्ख आदि निधि उत्तम निधि है परन्तु विद्वान् पुरुषोको गुणी पुरुषोका सामीप्य ही श्रेष्ठ निधि है ।

टिप्पणी—भृशतापभृता = ताप बिभर्तीति तापभृत्, ताप + भृ + क्विप् (उपपद०) । भृश तापभृत्, तेन (सुप्सुपा०) । तुषारसारवान् = तुषाराणा साराः (ष० त०), ते सन्ति यस्य सः, तुषारसार + मतुप् + सु । आसादि = आङ् + सद् + णिच् + लुङ् (कर्मणि) + त । धनिना = धन + इनि + आम् । "इभ्य आढ्यो धनी स्वामी" इत्यमर. । सन्निधि = सश्चाऽसौ निधि "सन्महत्-परमोत्तमोत्कृष्टा पूज्यमानै" इससे समास । "निधिर्ना शेवधिर्भेदा पद्मशङ्खादयो निधे" इत्यमरः । निधिके नौ भेद हैं—

"महापद्मश्च पद्मश्च शङ्खो मकरकच्छपौ ।
मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव ॥"

जैसे—महापद्म, पद्म, शङ्ख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील और खर्व । सता = सन्तीति सन्तस्तेषाम्, अस् + लट् (शतृ) + आम् । "सत्ये साधौ विद्यमाने प्रशस्तेऽभ्यर्हिते च सत् ।" इत्यमर । गुणवत्सन्निधिः = गुणा सन्ति येषा ते गुणवन्त , गुण + मतुप् । गुणवता सन्निधि (ष० त०), "सन्निधिः सन्निकर्षणम्" इत्यमर. । इस पद्यमे पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धमे रूपक अलङ्कार है । दो रूपकोकी ससष्टि है ॥ ५३ ॥

शतशः श्रुतिमागतैव सा त्रिजगन्मोहमहौषधिर्मम ।
अधुना तव शसितेन तु स्वदृशैवाऽधिगतामवैमि ताम् ॥ ५४ ॥

अन्वयः—त्रिजगन्मोहमहौषधिः सा शतशो मम श्रुतिम् आगता एव । अधुना तव शसितेन तु ता स्वदृशा एव अधिगताम् अवैमि ॥ ५४ ॥

व्याख्या—त्रिजगन्मोहमहौषधि. = त्रैलोक्यसंमोहनमहौषधं, सा = दमयन्ती, शतश: = बहुवारं, मम = नलस्य, श्रुति = कर्णम्, आगता एव = आयाता एव । परम्, अधुना = इदानी, तव = भवतः, शंसितेन तु = कथनेन तु, स्वदृशा एव = आत्मदृष्ट्या एव, अधिगतां = ज्ञाता, दृष्टामिति भावः, अवैमि = जानामि, आप्तोक्तिप्रामाण्यादिति भाव: ॥ ५४ ॥

अनुवाद:—त्रैलोक्यके संमोहनमे महौषधिके समान वे दमयन्ती मेरे कर्णमार्गमे आयी ही है । इस समय तुम्हारे कथनसे तो उनको अपनी आँखोसे ही देखी गयी जानता हूँ ॥ ५४ ॥

टिप्पणी—त्रिजगन्मोहमहौषधि = त्रयाणा जगतां समाहार त्रिजगत् (द्विगु०) । त्रिजगतो मोहः (ष० त०) । महती चाऽसौ ओषधि. (क० धा०) । त्रिजगन्मोहे महौषधि· (स० त०) । शतश. = 'शत' शब्दसे 'बह्वल्पाऽर्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम्'' इससे शस् प्रत्यय । श्रुति = श्रु + क्तिन् + अम् । शंसितेन = शस + क्तः (भावमे) । स्वदृशा = स्वस्य दृक्, तया (ष० त०), गोलकमे ही द्वित्व है, इन्द्रियके एकत्वसे एकवचन । अवैमि = अव + इण् + लट् + मिप् । इस पद्यके पूर्वार्द्धमे रूपक, उत्तरार्धमे भविष्यत्कालमे होनेवाले दमयन्तीके अधिगमके साक्षाद्दर्शनका वर्णन होनेसे भाविक अलङ्कार है । इसका लक्षण है—

अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याऽथ भविष्यत. ।
यत्प्रत्यक्षायमाणत्व तद्भाविकमुदाहृतम् ॥ १०—१२२ (सा० द०)

इस प्रकार दो अलङ्कारोकी ससृष्टि है ॥ ५४ ॥

अखिलं विदुषामनाविलं सुहृदा च स्वहृदा च पश्यताम् ।
सविधेऽपि न सूक्ष्मसाक्षिणी वदनाऽलङ्कृतिमात्रमक्षिणी ॥ ५५ ॥

अन्वयः—सुहृदा स्वहृदा च अखिलम् अनाविल पश्यता विदुषा सविधे अपि न सूक्ष्मसाक्षिणी, अक्षिणी वदनाऽलङ्कृतिमात्रम् ॥ ५५ ॥

स्वदृष्टेराप्तदृष्टेर्गरीयस्त्व प्रतिपादयति—अखिलमिति ।

व्याख्या—सुहृदा = मित्रेण, आप्तेनेति भावः । स्वहृदा च = निजाऽन्तःकरणेन च, अखिल = समस्तं पदार्थम्, अनाविलम् = अकलुषम्, असन्दिग्धं यथा तथा, पश्यता = विलोकयतां, जानतामिति भाव. । तादृशाना विदुषां = बुधानां, विवेकिनामिति भावः । सविधे अपि = समोपे अपि, नसूक्ष्मसाक्षिणी =

सूक्ष्मपदार्थस्य अद्रष्टृणी, अक्षिणी = नेत्रे, वदनाऽलङ्कृतिमात्रं = मुखाऽलङ्कार-मात्रं, न तु दूरसूक्ष्मपदार्थदर्शनोपयोगिनी इति भावः ॥ ५५ ॥

अनुवादः—आप्तभूत मित्रसे और अपने अन्त करणसे समस्त पदार्थको असन्दिग्ध रूपसे देखनेवाले विवेकियोके लिए समीपमे भी सूक्ष्म पदार्थको न देखनेवाले नेत्र मुखमण्डलके अलङ्कारमात्र है ॥ ५५ ॥

टिप्पणी—सुहृदा = शोभनं हृदय यस्य स सुहृत् (बहु०) । "सुहृद्दुर्हृदौ मित्राऽमित्रयो." इस सूत्रसे हृदयके स्थानमे हृद् आदेश, "अथ मित्रं सखा सुहृत्" इत्यमर । स्वहृदा = स्वस्य हृत् स्वहृत्, तेन (ष० त०), "स्वान्तं हृन्मानस मन." इत्यमर. । अनाविलं = न आविलं तद्यथा तथा (नञ्त०) । यह क्रियाविशेषण है । "कलुषोऽनच्छ आविल." इत्यमर. । पश्यता = पश्यन्तीति पश्यन्त, तेषाम् दृश् + लट् (शतृ) + आम् । विदुषा = विद् + लट् (शतृ) + वसु: + आम् । सन्देह और विपर्यासके विना शब्द और अनुमान आदि प्रमाणोसे पदार्थोंको देखने (जानने) वालोंके यह तात्पर्य है । सविधे = "सदेशाऽभ्याससविधसमर्यादसवेशवत्" इत्यमरः, न सूक्ष्मसाक्षिणी = साक्षात् द्रष्टृणी साक्षिणी, साक्षात् शब्दसे "साक्षाद् द्रष्टरि सञ्ज्ञायाम्" इस सूत्रसे निपातन । सूक्ष्माणा साक्षिणी (ष० त०), न सूक्ष्मसाक्षिणी (सुप्सुपा०) । अक्षिणी = "ईक्षण चक्षुरक्षिणी" इत्यमरः । वदनाऽलङ्कृतिमात्र = वदनस्य अलङ्कृति (ष० त०), सा एव (मयूरव्यंसकादिसमास) । "मात्रं कात्स्न्र्येऽवधारणे" इत्यमर । यहाँपर 'मात्र' शब्द अवधारण अर्थमे है । समीपमे भी नेत्रमे स्थित कज्जल और रक्तत्वको न देखनेवाला नेत्र तो केवल मुखका अलङ्कार है यह तात्पर्य हैं ।

इस पद्यमे नेत्रोमे वदनाऽलङ्कृतिमात्रत्वका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धकी उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ५५ ॥

अमितं मधु तत्कथा मम श्रवणप्राघुणिकीकृता जनैः ।
मदनाऽनलबोधनेऽभवत्खग ! धाय्या धिगधैर्यधारिणः ॥ ५६ ॥

अन्वयः— हे खग ! जनै. मम श्रवणप्राघुणिकीकृता अमितं मधु तत्कथा अधैर्यधारिणो मम मदनाऽनलबोधने धाय्या अभवत् । धिक् ! ॥ ५६ ॥

व्याख्या—हे खग = हे विहग, हस इत्यर्थं । जनैः = लोकै, मम = नलस्य, श्रवणप्राघुणिकीकृता = कर्णाऽतिथीकृता, श्रवणविषयीकृतेति भाव. । अमितम् = अपरिमितं, मधु = क्षौद्रम्, अपरिमितमधुसमाना अतिमधुरेति भावः ।

तत्कथा = दमयन्तीगुणवर्णना, अधैर्यधारिण. = अत्यन्ताऽधीरस्य, मम = नलस्य, मदनाऽनलबोधने = कामाग्निप्रज्वलने, धाय्या = सामिधेनी, अग्नि-समिन्धनसमर्था ऋगिति भावः। अभवत् = अभूत, धिक् = अधैर्यधारिणमिति शेष·। अधैर्यंधारिणो मम निन्देति भाव. ॥ ५६ ॥

अनुवादः—हे हंस ! लोगोसे मेरे कानोमे अतिथि बनायी गयी (पहुचायी गयी) अपरिमित मधु (शहद) के समान दमयन्तीकी कथा अधीर होनेवाले मेरे कामाऽग्निको प्रज्वलित करनेमे सामिधेनी (अग्निको प्रदीप्त करनेवाली ऋचा)-सी हुई है। अधीर मुझको धिक् ! ॥ ५६ ॥

टिप्पणी—श्रवणप्राघुणिकीकृता = अप्राघुणिका प्राघुणिका यथा संपद्यते तथा कृता प्राघुणिकीकृता, प्राघुणिक + च्वि + कृ + क्त + टाप्। "आवेशिकः प्राघुणिक आगन्तुरतिथिस्तथा।" इति हलायुधः। श्रवणयो· प्राघुणिकीकृता (स० त०)। अमित = न मितम् (नञ०)। तत्कथा = तस्या· कथा (ष० त०)। अधैर्यंधारिण· = धैर्यं धारयतीति तच्छील· धैर्यंधारी, धैर्य + धृ + णिच् + णिनि (उपपद०)। न धैर्यंधारी, तस्य (नञ्०)। मदनाऽनल-बोधने = मदन एव अनल (रूपक०), तस्य बोधनं तस्मिन् (ष० त०)। धाय्या = धीयते अनया समित् इति धाय्या (ऋक्) "पाय्यसान्नाय्यनिकाय्य-धाय्या मानहविर्निवाससामिधेनीषु" इस सूत्रसे "धा" धातुसे करणमे ण्यत् होकर आय् आदेशका निपातन और टाप् प्रत्यय। "ऋक् सामिधेनी धाय्या च या स्यादग्निसमिन्धने।" इत्यमर। अर्थात् जिस ऋक्‌का उच्चारण कर आग जलाते है उसे "सामिधेनी" और "धाय्या" भी कहते हैं। ऋक्‌का लक्षण है—"अर्थव्यवस्थितपादा ऋच." अर्थात् छन्दोविशेषसे जहाँपर पादव्यवस्था होती है उसे "ऋक" कहते हैं। इस पद्यमे प्रथम चरणमे रूपक, मदनमे अनलत्वका आरोप कथामे मन्त्रत्वके आरोपमे निमित्त होनेसे अश्लिष्टशब्दनिबन्धन परम्परित रूपक है। इस प्रकार इन दोनोका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार हैं ॥ ५६ ॥

विषमो मलयाऽहिमण्डली विषफूत्कारमयो मयोहितः।
बत ! कालकलत्रदिग्भवः पवनस्तद्विरहाऽनलैधसा ॥ ५७ ॥

अन्वयः—विषम. कालकलत्रदिग्भवः पवन. तद्विरहाऽनलैधसा मया मलयाऽ-हिमण्डलीविषफूत्कारमय ऊहितः बत ! ॥ ५७ ॥

व्याख्या—विषम. = प्रतिकूलः, कालकलत्रदिग्भवः = यमदिशाभव., दाक्षि-

णात्यः, प्राणहर इति भाव । पवनः = वायुः, तद्विरहाऽनलैधसा = दमयन्ती-वियोगाऽग्निकाष्ठरूपेण, मया=नलेन, मलयाऽहिमण्डलीविषफूत्कारमय· = मलय-पर्वतसर्पसङ्घगरलफूत्कारस्वरूप , ऊहित = तर्कित· । बत = खेदे ॥ ५७ ॥

अनुवादः—यमराजकी दिशा (दक्षिण) मे उत्पन्न प्रतिकूल वायुको दमयन्ती-के वियोगाऽग्निके काष्ठरूप मैंने "यह मलयपर्वतके सर्पसमूहके विषका फूत्कारस्वरूप है" ऐसी तर्कना की, खेद है ॥ ५७ ॥

टिप्पणी—कालकलत्रदिग्भवः = कालस्य कलत्र (ष० त०), "कालो दण्ड-धर· श्राद्धदेवो वैवस्वतोऽन्तक ।' इति । "कलत्र श्रोणिभार्ययो " इति चाऽमरः । कालकलत्र चाऽसौ दिक् (क० धा०) तस्या भव (स० त०) । तद्विरहानलै-धसा = तस्या विरहः (ष० त०), स एव अनलः । (रूपक०), तस्य एधः, तेन (ष० त०) । मलयाऽहिमण्डलीविषफूत्कारमय. = अहीना मण्डली (ष० त०), मलये अहिमण्डली (स० त०) । तस्या विष (ष० त०), प्रचुरः फूत्कार, अस्ति यस्मिन् स फूत्कारमयः फूत्कार शब्दसे "तत्प्रकृतवचने मयट्" इस सूत्रसे मयट् प्रत्यय । मलयाऽहिमण्डलीविषस्य फूत्कारमयः (ष० त०) । ऊहितः = "ऊह वितर्के" धातुसे क्त प्रत्यय । इस पद्यमे विरहमें अनलत्वका आरोप, अपनेमे काष्ठत्वके आरोपमे निमित्त है अत परम्परित रूपक और उत्प्रेक्षा भी है इस प्रकार दो अलङ्कारोका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर है ॥ ५७ ॥

प्रतिमासमसौ निशाकरः खग । सगच्छति यद्दिनाऽधिपम् ।
किमु तीव्रतरैस्ततः करैर्मम दाहाय स धैर्यतस्करैः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—हे खग ! असौ निशाकर· प्रतिमासं यत् दिनाऽधिपं सगच्छति, ततः स तीव्रतरै. धैर्यतस्करै करै. मम दाहाय सगच्छति किमु ? ॥ ५८ ॥

व्याख्या—हे खग = हे हस !, असौ=अयं, निशाकर = चन्द्र , प्रतिमासं = मासे मासे, प्रतिदर्शमिति भाव· । यत्, दिनाऽधिप = सूर्यं, सगच्छति = प्राप्नोति, तत. = सूर्यसङ्गात्, सः = चन्द्रः, तीव्रतरै = अतितीक्ष्णै , धैर्य-तस्करै. = धीरतापहारिभि·, करै. = किरणै , मम = नलस्य, कान्तावियोगिन इति भाव. । दाहाय = सन्तापाय, संगच्छति = प्राप्नोति, किमु = उत्प्रेक्षायाम् । सूर्यसङ्गादेव चन्द्रकरेषु तीक्ष्णता, अन्यथा कथं स्यादिति भाव ॥ ५८ ॥

अनुवादः—हे हंस ! ये चन्द्रमा प्रतिमास जो सूर्यसे मिलते है, वे उनसे

अत्यन्त तीक्ष्ण और मेरे धैर्यको चुरानेवाली किरणोसे मुझे जलाने के लिए मिलते हैं क्या ? ॥ ५८ ॥

टिप्पणी—निशाकर॰ = निशां करोतीति, निशा-उपपदपूर्वक 'कृ' धातुसे "दिवाविभानिशा०" इत्यादि सूत्रसे ट प्रत्यय। कही-कही "निशापति" ऐसा पाठान्तर है, अर्थ समान है। प्रतिमासं = मास मासम्, वीप्सामे अव्ययीभाव। दिनाऽधिप = दिनानाम् अधिप., तम् (ष० त०)। सगच्छति = स + गम् + लट् + तिप्। सकर्मक होनेसे "समोगम्यृच्छिभ्याम्" इससे आत्मनेपद नही हुआ। तीव्रतरै = अतिशयेन तीव्रा, तैः, तीव्र + तरप् + भिस्! धैर्यतस्करै॰=धैर्यस्य तस्करा, तै (ष० त०)। दाहाय = "तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या" इससे चतुर्थी। इस पद्यमे "किमु" शब्दके उत्प्रेक्षावाचक होनेसे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ५८ ॥

कुसुमानि यदि स्मरेषवो न तु वज्रं, विषवल्लिजानि तत्।
हृदयं यदमूमुहन्नमूर्मम यच्चातितमामतीतपन् ॥ ५९ ॥

अन्वयः—स्मरेषवः कुसुमानि यदि, न तु वज्र, तत् विषवल्लिजानि। यत् अमू. मम हृदयम् अमूमुहन्, यत् अतितमाम् अतीतपन् ॥ ५९ ॥

व्याख्या—स्मरेषव = कामबाणा, कुसुमानि यदि = पुष्पाणि चेत्, न तु वज्र = न तु अशनिः, तत्क्षणमरणाऽभावादिति भाव। तत्=तर्हि, विषवल्लिजानि = गरललतोत्पन्नानि। यत् = यस्मात्कारणात्, अमूः = स्मरेषव॰, मम = नलस्य, हृदय = मन॰, अमूमुहन् = अमूर्च्छयन्, यत् = यस्मात्, अतितमाम् = अतिमात्रम्, अतीतपन् = तापितवत्य ॥ ५९ ॥

अनुवादः—कामदेवके बाण यदि फूल है, वज्र नही तो वे विषकी लताओंसे उत्पन्न है। जो कि इन्होने (कामदेवके बाणभूत फूलोने) मेरे हृदयको मूर्च्छित और अत्यन्त सन्तप्त किया ॥ ५९ ॥

टिप्पणी—स्मरेषव = स्मरस्य इषव (ष० त०), "पत्री रोप इषुर्द्वयो." इस कोशके अनुसार 'इषु' शब्द पुलिङ्ग और स्त्रीलिङ्गमे है, यहाँपर उत्तरवाक्यमे "अमू" ऐसे सर्वनाम शब्दसे स्त्रीलिङ्गी है। विषवल्लिजानि = विषस्य वल्लयः (ष० त०)। "वल्ली तु व्रततिर्लता" इत्यमर। विषवल्लिभ्यो जातानि, विषवल्लि + जन् + ड + जस। अमूमुहन् = "मुह वैचित्ये" धातुसे णिच् प्रत्यय होकर लुङ् + झिः, च्लिके स्थानमे चङ्। अतितमाम् = अति-उपसर्गसे तमप् होकर "किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे" इस सूत्रसे आमु

प्रत्यय । अतीतपन् = "तप सन्तापे" धातुसे णिच् प्रत्यय होकर लुङ् + झि, च्लि के स्थानमे चङ् । इस पद्यमे स्मरेषुओमे विषवल्लिजत्वकी संभावना करनेसे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ५९ ॥

तदिहाऽनवधौ निमज्जतो मम कन्दर्पशराऽऽधिनीरधौ ।
भव पोत इवाऽवलम्बनं विधिनाऽऽकस्मिकसृष्टसन्निधिः ॥ ६० ॥

अन्वय—तत् इह अनवधौ कन्दर्पशराऽऽधिनीरधौ निमज्जतो मम विधिना आकस्मिकसृष्टसन्निधि (सन्) पोत इव अवलम्बन भव ॥ ६० ॥

व्याख्या—तत् = तस्मात्कारणात्, इह = अस्मिन्, अनवधौ = अवधिशून्ये, अपार इति भाव. । कन्दर्पशराऽऽधिनीरधौ = कामबाणमनोव्यथासमुद्रे, निमज्जत = अन्तर्गतस्य, मम = नलस्य, विधिना = भाग्येन, आकस्मिकसृष्टसन्निधि. = अकस्मादुत्पादितसामीप्यः, मत्सौभाग्यादागत इति भाव. । त्वमिति शेषः । पोत इव = यानपात्रम् इव, अवलम्बनम् = आलम्बन, भव = एधि, दमयन्तीसयोजनेन त्वं मम कामबाणमनोव्यथासमुद्रोत्तरणहेतुर्भव इति भाव ॥ ६० ॥

अनुवाद.—(हे हस !) इस कारणसे इस अपार कामबाणरूप मनोव्यथाके समुद्रमे डूबते हुए मेरे लिए भाग्यसे अकस्मात् सामीप्यसे सम्बद्ध तुम, नौकाके समान अवलम्बन बनो ॥ ६० ॥

टिप्पणी—अनवधौ = अविद्यमानः अवधिर्यस्य स, तस्मिन् (नञ्बहु०) । कन्दर्पशराऽऽधिनीरधौ = कन्दर्पस्य शरा. (ष० त०), तै आधि (तृ० त०), "पुंस्याधिर्मानसी व्यथा" इत्यमरः । कन्दर्पशराऽऽधि. एव नीरधि, तस्मिन् (रूपक०) निमज्जतः = नि + मस्ज + लट् (शतृ) + ङस् । आकस्मिकसृष्टसन्निधि. = अकस्मात् भवम् आकस्मिकम्, "अकस्मात्" इस अव्ययसे "अध्यात्मादिभ्यश्च" इससे ठक् प्रत्यय और "अव्ययाना भमात्रे टिलोप." इससे टिलोप । सृष्ट. सन्निधि. यस्य स (बहु०) । आकस्मिक (यथा तथा) सृष्टसन्निधिः (सुप्सुपा०) । पोतः = "यानपात्रे शिशौ पोत" इत्यमर । भव=भू + लोट् + सिप् । प्रार्थनामे लोट्, इस पद्यमे पूर्वार्द्ध मे रूपक और उत्तरार्द्धमे उपमा इस प्रकार दो अलङ्कारोकी निरपेक्षतासे ससृष्टि है ॥ ६० ॥

अथवा भवतः प्रवर्तना न कथं पिष्टमियं पिनष्टि नः ।
स्वत एव सतां परार्थता, ग्रहणानां हि यथा यथार्थता ॥ ६१ ॥

अन्वयः—अथवा इय नः भवतः प्रवर्तना कथ पिष्ट न पिनष्टि, हि ग्रहणानां यथार्थता यथा सता परार्थता स्वतः एव ॥ ६१ ॥

व्याख्या—अथवा = पक्षान्तरे, इयम् = एषा, "भव पोत इवाऽवलम्बनम्" इत्यादिवाक्यघटिता, नः = अस्माक, भवतः = तव, प्रवर्तना = प्रेरणा, कथं = केन प्रकारेण, पिष्टं = चूर्णितमन्नादिकं न पिनष्टि = न पुनश्चूर्णयति, भवतः स्वतः कर्तृत्वान्मदीया प्रेरणा पिष्टपेषणरूपेति भावः। उक्तमर्थं समर्थयते–स्वत इति। हि = यस्मात्कारणात्, ग्रहणाना = ज्ञानाना, यथार्थता = याथार्थ्यं प्रामाण्यमिति भाव'। यथा = इव, सता = सज्जनानां, पराऽर्थता = पराऽर्थ-प्रवृत्ति, स्वत एव = स्वभावत एव, यथा ज्ञानानां प्रामाण्य स्वतस्तथैव सज्जनाना परार्थप्रवृत्ति स्वभावत एव न तत्र प्रवर्तनाया अपेक्षेति भाव. ॥ ६१ ॥

अनुवाद—अथवा आपको यह हमारी प्रेरणा पिष्टपेषणकी समान क्यों नही होगी ? क्योकि जैसे ज्ञानोका प्रामाण्य स्वत. होता है वैसे ही सज्जनोकी दूसरोके हितके लिए प्रवृत्ति भी स्वभावत. होती है ॥ ६१ ॥

टिप्पणी—नः = "अस्मदो द्वयोश्च" इस सूत्रसे एकत्वकी उक्तिमे भी अस्मद् शब्दसे षष्ठीमे बहुवचन। "प्रवर्तना" इस कृदन्तपदके योगमे "उभय-प्राप्तौ कर्मणि" इस नियमसे "कर्तृकर्मणो कृति" इस सूत्रसे कारकषष्ठीका निषेध होनेसे यह षष्ठी विभक्ति "षष्ठी शेषे" इस सूत्रसे हुई है। प्रवर्तना = प्रवर्तनम्, णिच् प्रत्ययान्त "वृतु वर्तने" धातुसे "ण्यासश्रन्थो युच्" इस सूत्रसे युच् (अन) प्रत्यय होकर टाप्। पिनष्टि = पिष्लृ सचूर्णने" धातुसे लट् + तिप्। यथार्थता = यथार्थस्य भाव। यथार्थ + तल् + टाप्। परार्थता = परेषु अर्थः (प्रयोजनम्) येषा ते (व्यधिकरणबहु०), तेषा भाव., पराऽर्थ + तल् + टाप्। स्वतः = स्वस्मात् इति, स्व शब्दसे "अपादाने चाऽहीयरुहो." इस सूत्रसे तसि प्रत्यय, यह अव्यय है। यहाँपर मीमासकोके सिद्धान्तके अनुसार ज्ञानका स्वतः प्रामाण्य माना गया है। नैयायिक ज्ञानका परत. प्रामाण्य मानते हैं। इस पद्यमे उपमा और अर्थान्तरन्यास, दो अलङ्कारोकी ससृष्टि है ॥ ६१ ॥

तव वर्त्मनि वर्ततां शिवं, पुनरस्तु त्वरितं समागमः।
अपिसाधय साधयेप्सितं, स्मरणीयाः समये वय वयः ! ॥ ६२ ॥

अन्वयः—हे वय ! तव वर्त्मनि शिवं वर्तताम्। त्वरितं पुनः समागमः अस्तु। अपिसाधय। ईप्सितम् साधय। समये वय स्मरणीया ॥ ६२ ॥

व्याख्या—हे वयः = हे हस !, तव=भवतः, वर्त्मनि = मार्गे, शिव=मङ्गलं,

इत्यमरः । =सूनृतवाक्षु बृहस्पतिः (स० त०), नृपतिः=नृणां पतिः (ष० त०), विसृज्य = वि+सृज्+क्त्वा (ल्यप्) । कलहंसशसितैः = कलहंसस्य शंसितानि, तैः (ष० त०), "कादम्बः कलहंसः स्यात्" इत्यमरः । वनवेश्म = वनस्य वेश्म, तत् (ष० त०) । अविशत् = "विश प्रवेशने" धातुसे लङ्+तिप् । "सूनृतवाग्बृहस्पतिः" इस पदमे लुप्तोपमा अलङ्कार है ॥ ६३ ॥

अथ भीमसुताऽवलोकनैः सफलं कर्तुमहस्तदेव सः ।
क्षितिमण्डलमण्डनायितं नगरं कुण्डिनमण्डजो ययौ ॥ ६४ ॥

अन्वयः—अथ स अण्डजः तत् अहः एव भीमसुताऽवलोकनैः सफलं कर्तुं क्षितिमण्डलमण्डनायितं कुण्डिनं नगरं ययौ ॥ ६४ ॥

व्याख्या—अथ = यात्राऽर्थं राजाऽनुज्ञाऽनन्तरं, सः = पूर्वोक्तः, अण्डजः = पक्षी, हंस इत्यर्थः । तद् अहः एव = तद् दिनम् एव, भीमसुताऽवलोकनैः = भैमीदर्शनैः, सफलं = साऽर्थकं, कर्तुं = विधातुं, तस्मिन्नेव दिने दमयन्तीं द्रष्टुमिति भावः । क्षितिमण्डलमण्डनायितं = भूमण्डलाऽलङ्कारभूतं, कुण्डिनं = कुण्डिननामकं, नगरं = पुरं, ययौ = जगाम ॥ ६४ ॥

अनुवादः—तब वह पक्षी (राजहंस) उसी दिनको दमयन्तीके दर्शनोंसे सफल करनेके लिए भूमण्डलके अलङ्कारभूत कुण्डिन नगरको गया ॥ ६४ ॥

टिप्पणी—अण्डजः = अण्डे जातः, अण्ड+जन्+डः (उपपद०), "अण्डजाः पक्षिसर्पाद्याः" इत्यमरः । भीमसुताऽवलोकनैः = भीमस्य सुता (ष० त०), तस्या अवलोकनानि, तैः (ष० त०) । सफलं = फलेन सहितं, तत् (तुल्ययोगबहु०) । कर्तुं = कृ+तुमुन् । क्षितिमण्डलमण्डनायितं = क्षितेः मण्डलं (ष० त०)। मण्डनवत् आचरितं मण्डनायितम्, मण्डन+क्यङ्+क्तः । ययौ = या+लिट्+तिप् । इस पद्यमें "मण्डनायितम्" उपमा अलङ्कार है ॥ ६४ ॥

प्रथमं पथि लोचनाऽतिथिं पथिकप्रार्थितसिद्धिशंसिनम् ।
कलसं जलसंभृतं पुरः कलहंसः कलयाम्बभूव सः ॥ ६५ ॥

अन्वयः—सः कलहंसः प्रथमं पथि लोचनाऽतिथिं पथिकप्रार्थितसिद्धिशंसिनं जलसंभृतं कलसं पुरः कलयाम्बभूव ॥ ६५ ॥

व्याख्या—अथ श्लोकत्रयेण शुभशकुनान्याह—प्रथममित्यादिना ।

सः = पूर्वोक्तः, कलहंसः = राजहंस, प्रथमम् = आदौ, पथि = मार्गे, लोचनाऽतिथिं = नेत्राऽऽगन्तुकभूतं, पथिकप्रार्थितसिद्धिशंसिनं = पान्थेष्टार्थ-

साफल्यसूचकं, जलसभृतं = सलिलपूर्णं, कलसं = कुम्भं, पुर: = अग्रे, कलयाम्बभूव = ददर्श, यात्रासमये आकस्मिकरूपेण नेत्रगोचर: पूर्णघट: शकुनसूचको भवतीति भाव ॥ ६५ ॥

अनुवाद—उस राजहंसने पहले मार्गमें पथिकोंके अभीष्टकी सफलताके सूचक जलपूर्ण कलशको देख लिया ॥ ६५ ॥

टिप्पणी—लोचनाऽतिथिं = लोचनयो: अतिथि, तम् (ष० त०) । पथिकप्रार्थितसिद्धिशसिन = पन्थानं गच्छन्तीति पथिका:, 'पथिन्' शब्दसे "पथ: ष्कन्" इस सूत्रसे ष्कन् प्रत्यय और "षः प्रत्ययस्य" इस सूत्रसे 'ष्' की इत्सञ्ज्ञा । "अध्वनीनोऽध्वगोऽध्वन्य पान्थ. पथिक इत्यपि ।" इत्यमर. । पथिकानां प्रार्थितं (ष० त०), तस्य सिद्धि (ष० त०) । पथिकप्रार्थितसिद्धि शसतीति पथिकप्रार्थितसिद्धिशसी, तम्, पथिकप्रार्थितसिद्धि + शस + णिनि: (उपपद०) + अम् । जलसभृत=जलेन सभृत जलसभृत., तम् (तृ० त०) । कलयाम्बभूव= "कल सख्याने" धातुसे णिच् होकर लिट् + तिप् (णल्) । इस पद्यमें पूर्वार्द्धं और उत्तरार्द्धमें वृत्यनुप्रास "लस" 'लसम्' इस अशमे छेकानुप्रास इस प्रकार उनका एकाश्रयाऽनुप्रवेशरूप सङ्कर अलङ्कार है ॥ ६५ ॥

अवलम्ब्य दिदृक्षयाऽम्बरे क्षणमाश्चर्यरसाऽलसं गतम् ।
स विलासवनेऽवनीभुजः फलमैक्षिष्ट रसालसगतम् ॥ ६६ ॥

अन्वय—स दिदृक्षया अम्बरे क्षणम् आश्चर्यरसाऽलस गतम् अवलम्ब्य अवनीभुजो विलासवने रसालसगत फलम् ऐक्षिष्ट ॥ ६६ ॥

व्याख्या—स: = हस:, दिदृक्षया = दर्शनेच्छया, स्वगन्तव्यमार्गस्येति शेष. । अम्बरे = आकाशे, क्षण=कचित्काल यावत्, आश्चर्यरसालसं=विस्मयरसेन मन्दं, गत=गतिम्, अवलम्ब्य = आश्रित्य, अवनीभुज =राज्ञ:, नलस्येत्यर्थ: । विलासवने=क्रीडोपवने, रसालसगत = चूतवृक्षसम्बद्धं, फलम् = आम्रफलम्, ऐक्षिष्ट = दृष्टवान्, प्रस्थाने आम्रफलदर्शनमपि शुभशकुनरूपमिति भाव: ॥ ६६ ॥

अनुवाद—उस हंसने मार्गदर्शनकी इच्छासे आकाशमें कुछ समयतक आश्चर्यरससे मन्द गतिका अवलम्बन कर राजाके क्रीडावनमें आमके पेड़में विद्यमान आम्रफलको देखा ॥ ६६ ॥

टिप्पणी—दिदृक्षया = द्रष्टुमिच्छा दिदृक्षा, तया, दृश् + सन् + अ + टाप् + टा । क्षणं = "कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इस सूत्रसे द्वितीया । आश्चर्यरसाऽलसम् = आश्चर्यस्य रस (ष० त०), तेन अलसम् (तृ० त०), तत् ।

गतं=गम्+क्त+अम्। अवनीभुज.=अवनीं भुनक्तीति अवनीभुक्, तस्य अवनी+भुज्+क्विप् (उपपद०)+ङस्। "अवनीभृत" इस पाठमे अवनी बिभर्तीति अवनीभृत्, तस्य, अपनी+भृ+क्विप्+ङस्। विलासवने=विलासस्य वन, तस्मिन् (ष० त०)। रसालसगत=रसाले सगत, तत् (स० त०)। "आम्रश्चूतो रसालोऽसौ" इत्यमरः। ऐक्षिष्ट=ईक्ष+लुङ्+त। इस पद्यमें प्रथम और चतुर्थ चरणमे अन्त्ययमक है, अत दो शब्दाऽलङ्कारोकी संसृष्टि है॥ ६६॥

नभसः कलभैरुपासित जलदैर्भूरितरक्षुपन्नगम्।
स ददर्श पतङ्गपुङ्गवो विटपच्छन्नतरक्षुपं नगम्॥ ६७॥

अन्वय.—पतङ्गपुङ्गव सः नभस कलभै जलदै उपासितं भूरितरक्षुपन्नगं विटपच्छन्नतर क्षुप नगं ददर्श॥ ६७॥

व्याख्या—पतङ्गपुङ्गवः=पक्षिश्रेष्ठ., स.=हसः, नभसः=आकाशस्य-कलभैः=हस्तिशावकरूपै, जलदैः=मेघै, उपासित=व्याप्त, भूरितरक्षु-पन्नग=बहुमृगादनसर्पम्, एव च विटपच्छन्नतरक्षुपं=शाखाऽतिशयच्छादित-ह्रस्वशाखवृक्ष, नग=पर्वत, ददर्श=दृष्टवान्, पूर्णकुम्भादिदर्शन पान्थानां क्षेमकरमिति शकुनज्ञा॥ ६७॥

अनुवाद.—पक्षियोमे श्रेष्ठ उस हंसने आकाशके हाथीके बच्चोके समान मेघोसे व्याप्त और शाखाओसे छिपे हुए चीते और सर्पोसे युक्त पर्वतको देखा॥ ६७॥

टिप्पणी—पतङ्गपुङ्गव=पुमांश्चाऽसो गौ पुङ्गवः (क० धा०), "गोरतद्धितलुकि" इससे समासाऽन्त टच् प्रत्यय। "स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुङ्ग-वर्षभकुञ्जरा। सिंहशार्दूलनागाद्या. पुंसि श्रेष्ठाऽर्थगोचराः।" इत्यमरः। पतङ्गश्चाऽसौ पुङ्गव (क० धा०)। कलभै.="कलभ करिशावक:" इत्यमर.। जलदैः=जल ददतीति जलदा, तै जल-उपपदपूर्वक डुदाञ् दाने" धातुसे "आतोऽनुपसर्गे क." इस सूत्रसे क प्रत्यय (उपपद०)+भिस्। भूरितरक्षु-पन्नगम्=भूरयः तरक्षवः पन्नगा यस्मिन्, तम् (बहु०)। "तरक्षुस्तु मृगाऽदनः" इत्यमरः। विटपच्छन्नतरक्षुप=अतिशयेन छन्नाः छन्नतरा. छन्न+तरप्+जस्। विटपै. छन्नतरा. (तृ० त०)। "विस्तारो विटपोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः। विटपच्छन्नतरा क्षुपा यस्मिन्, तम् (बहु०)। "ह्रस्वशाखाशिफ. क्षुपः" इत्यमरः। नगं=न गच्छतीति नगः, तम्, नञ्+गम्+डः+अम्। "नगोऽ-

प्राणिष्वन्यतरस्याम्" इस सूत्रसे नञ्का विकल्पसे प्रकृतिभाव। अत. एक पक्षमे "अगः" ऐसा रूप भी होता है। "शैलवृक्षौ नगावगौ" इत्यमरः। ददर्श = दृश् + लिट् + तिप्। इस पद्यमे "कलभै" जलदै, यहाँपर रूपक और द्वितीय और चतुर्थ पादोमे अन्त्ययमक है॥ ६७॥

स ययौ धुतपक्षतिः क्षणं क्षणमूर्ध्वायनदुर्विभावनः।
विततीकृतनिश्चलच्छदः क्षणमालोककदत्तकौतुकः॥ ६८॥

अन्वयः—स क्षण धुतपक्षति, क्षणम् ऊर्ध्वायनदुर्विभावन विततीकृत-निश्चलच्छद. क्षणम् आलोककदत्तकौतुक (सन्) ययौ॥ ६८॥

व्याख्या—सः = हस, क्षण = कचित्काल यावत्, धुतपक्षति = कम्पित-पक्षमूलः, क्षण = कञ्चित्काल यावत्, ऊर्ध्वायनदुर्विभावन = उपरिगमनदुर्लक्ष, विततीकृतनिश्चलच्छद =विस्तारितनिष्कम्पपक्ष, तथा क्षण=कचित्काल यावत्, आलोककदत्तकौतुक = दर्शकवितीर्णकुतूहल सन् ययौ = जगाम॥ ६८॥

अनुवादः—वह हस कुछ समयतक पक्षमूलोको हिलाता हुआ, और कुछ समयतक ऊपर जानेसे दु खसे देखा जानेवाला तथा कम्परहित पखोको फैलाता हुआ इस प्रकार कुछ समयतक देखनेवालोको कौतुक देता हुआ गया॥ ६८॥

टिप्पणी—क्षण="कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इससे द्वितीया। धुतपक्षति = पक्षयोर्मूले पक्षती, "पक्षात्ति." इस सूत्रसे ति प्रत्यय। स्त्री पक्षति पक्षमूलम्" इत्यमर.। धुते पक्षती येन स. (बहु०)। ऊर्ध्वायनदुर्विभावन = ऊर्ध्वं च तत् अयनं (क० धा०)। दुर्लभ विभावन यस्य स (बहु०)। ऊर्ध्वाऽयनेन दुर्विभावनः (तृ० त०)। विततीकृतनिश्चलच्छदः = अविततौ विततौ यथा सम्पद्यते तथा कृतौ विततीकृतौ, वितत + च्वि + कृ + क्त + औ। विततीकृतौ निश्चलौ छदौ येन स. (बहु०)। आलोककदत्तकौतुक. = आलोकयन्तीति आलोकका:, आङ् + लोक + णिच् + ण्वुल्। दत्त कौतुक येन स (बहु०)। आलोककानां दत्तकौतुकः (ष० त०)। ययौ = या + लिट् + तिप्। "आत औ णल:" इस सूत्रसे णल्के स्थानमे औकार आदेश। इस पद्यमे स्वभावोक्ति अलङ्कार है॥ ६८॥

तनुदीधितिधारया रयाद्गतया लोकविलोकनामसौ।
छदहेम कषन्निवाऽलसत् कषपाषाणनिभे नभस्तले॥ ६९॥

अन्वयः—असौ रयात् लोकविलोकनां गतया तनुदीधितिधारया कषपाषाणनिभे नभस्तले छदहेम कषन् इव अलसत्॥ ६९॥

व्याख्या—असौ = हंस, रयात् = वेगात् हेतो, लोकविलोकनां = जन-नयनगोचर, गतया = प्राप्तया, तनुदीधितिधारया = शरीरकिरणरेखया, कषपाषाणनिभे = निकषोपलसदृशे, नभस्तले = आकाशे, छदहेम = निजपक्षसुवर्णं, कषन् इव = घर्षन् इव, अलसत् = अशोभत ॥ ६९ ॥

अनुवादः—वह (हंस) वेगसे लोगोंके दर्शन पथको प्राप्त शरीरके किरण-की रेखासे कसौटीके सदृश आकाशमें अपने पंखके सुवर्णको घिसते हुएके समान शोभित हुआ ॥ ६९ ॥

टिप्पणी—रयात्=हेतुमें पञ्चमी। लोकविलोकना लोकाना विलोकना, ताम् (ष० त०), "लोकस्तु भुवने जने" इत्यमर.। तनुदीधितिधारया = तनोः दीधितिः (ष० त०), तस्या धारा तया (ष० त०)। हंसके सुनहले शरीरकी किरणकी रेखासे यह अभिप्राय है। इस पदकी मल्लिनाथने दूसरी व्याख्या भी की है—तनुश्चाऽसौ दीधितिधारा, तया (क० धा०) अर्थात् हंसकी सूक्ष्म किरणकी रेखासे यह तात्पर्य है। "स्तोकाऽल्पक्षुल्लका. सूक्ष्म श्लक्ष्ण दभ्रं कृश तनु।" इत्यमर.। कषपाषाणनिभे = कषश्चाऽसौ पाषाण. (क० धा०)। तेन सदृश कषपाषाणनिभं, तस्मिन् (तृ० त०)। "निभसङ्काशनीकाशप्रतीकाशोपमादय।" इत्यमर। छदहेम = छदयो हेम, तत् (ष० त०)। कषन् = कषतीति, कष+लट् (शतृ)+सु.। अलसत्="लस दीप्तौ" धातुसे लङ्+तिप्। इस पद्यमें 'कषपाषाणनिभे' यहाँपर उपमा और 'कषन् इव' यहाँपर उत्प्रेक्षा इस प्रकार दो अलङ्कारोंका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ६९ ॥

विनमद्भिरधः स्थितैः खगैर्झटिति श्येननिपातशङ्किभिः।
स निरैक्षि दृशैकयोपरि स्यदसाङ्कारिपतत्त्रिपद्धतिः ॥ ७० ॥

अन्वयः—स्यदसाङ्कारिपतत्त्रिपद्धति स श्येननिपातशङ्किभिः विनमद्भिः अध स्थितै. खगैः झटिति एकया दृशा उपरि निरैक्षि ॥ ७० ॥

व्याख्या—स्यदसाङ्कारिपतत्त्रिपद्धति. = स्यदेन (वेगेन) साङ्कारिणी ('साम्' इति शब्द कुर्वाणा) पतत्त्रिपद्धति (पक्षिसरणि) यस्य स., तादृश. स. = हंस, श्येननिपातशङ्किभि = पतत्त्रिनिपतनशङ्कनशीलै., अतएव विन-मद्भि. = नम्रीभूतै, अधःस्थितै = अधोभागे विद्यमानै, खगै = पक्षिभि., झटिति = शीघ्रम्, एकया = एकसंख्यया, दृशा = दृष्ट्या, उपरि = ऊर्ध्वं, निरैक्षि = निरीक्षित. ॥ ७० ॥

अनुवादः—वेगसे 'साम्' ऐसा शब्द करनेवाले पक्षियोके मार्गमे स्थित उस हसको बाजके आक्रमणकी शङ्का करनेवाले अतएव झुकते हुए नीचे रहनेवाले पक्षियोने शीघ्रतासे एक ही नेत्रसे ऊपर देखा ॥ ७० ॥

टिप्पणी—स्यदसाङ्कारिपतत्त्रिपद्धति = सा करोतीति साकारिणी सा + कृ + णिनिः + ङीप् + सु । पतत्त्रिणा पद्धति (ष० त०)। साङ्कारिणी पतत्त्रिपद्धति यस्य स (बहु०)। स्यदेन साङ्कारिपतत्त्रिपद्धति. (तृ० त०)। श्येननिपातशङ्किभि = श्येनस्य निपात (ष० त०), 'पत्त्री श्येन' इत्यमर । श्येननिपात शङ्कन्ते तच्छीला, तै, श्येननिपात + शकि + णिनि (उपपद०) + भिस् ।विनमद्भि = विनमन्तीति विनमन्त:, तै, वि + नम + लट् (शतृ) + भिस् । निरैक्षि = निर् + ईक्ष + लुङ् (कर्ममे), इस पद्यमे पक्षिस्वभावका वर्णन होनेसे स्वभावोक्ति अलङ्कार है ॥ ७० ॥

ददृशे न जनेन यन्नसौ भुवि तच्छायमवेक्ष्य तत्क्षणात् ।
दिवि दिक्षु वितीर्णचक्षुषा पृथुवेगद्रुतमुक्तदृक्पथः ॥ ७१ ॥

अन्वयः—यन् असौ भुवि तच्छायम् अवेक्ष्य तत्क्षणात् दिवि दिक्षु च वितीर्णचक्षुषा जनेन पृथुवेगद्रुतमुक्तदृक्पथ (सन्) न ददृशे ॥ ७१ ॥

व्याख्या—यन् = गच्छन्, असौ = हंस., भुवि = भूमौ, तच्छाय = तस्य छायाम् (प्रतिबिम्बम्), अवेक्ष्य = दृष्ट्वा, तत्क्षणात् = तस्मिन्नेव क्षणे, दिवि = आकाशे, दिक्षु च = दिशासु, वितीर्णचक्षुषा=दत्तदृष्टिना, जनेन = लोकेन, भूतलस्थितेनेति शेष । पृथुवेगद्रुतमुक्तदृक्पथ = महाजवशीघ्रत्यक्तदृष्टिमार्ग. सन्, न ददृशे = नो दृष्ट, अल्पक्षणेनैव हसो नेत्रमार्गमतिक्रान्त इति भाव ॥ ७१ ॥

अनुवादः—जाते हुए उस हंसके जमीनपर उसकी छायाको देखकर, उसी क्षणमे आकाशमे और दिशाओमे दृष्टिपात करनेवाले मनुष्यने बडे वेगसे नेत्रमार्गको पार करनेसे उसे नही देखा ॥ ७१ ॥

टिप्पणी—'यन् = एतीति, "इण् गतौ" धातुसे लट् (शतृ) + सु । तच्छायं = तस्य छाया तच्छाय, तत् (ष० त०) "विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्" इससे नपुसकलिङ्ग हुआ है । अवेक्ष्य = अव + ईक्ष + क्त्वा (ल्यप्)। तत्क्षणात् = सचाऽसौ क्षण, तस्मात् (क० धा०)। वितीर्णचक्षुषा= वितीर्णे चक्षुषी येन स, तेन (बहु०)। पृथुवेगद्रुतमुक्तदृक्पथ =पृथुश्चाऽसौ वेगः (क० धा०)। द्रुत मुक्त (सुप्सुपा०)। दृशो. पन्था दृक्पथ. (ष० त०), ऋक्पूरब्धू. पथामानक्षे" इससे समासाऽन्त अप्रत्यय । द्रुतमुक्तो दृक्पथो येन सः

(बहु०)। पृथुवेगेन द्रुतमुक्तहवपथः (तृ० त०)। ददृशे = दृश् + लिट् + त (कर्ममें)। इस पद्यमें दर्शनाऽभावके प्रति पृथु आदि पदके अर्थकी हेतुतासे पदाऽर्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ॥ ७१ ॥

न वनं पथि शिश्रियेऽमुना क्वचिदप्युच्चतरद्रुचारुतम् ।
न सगोत्रजमन्ववादि वा गतिवेगप्रसरद्रुचा रुतम् ॥ ७२ ॥

अन्वयः—गतिवेगप्रसरद्रुचा अमुना पथि क्वचित् अपि उच्चतरद्रुचारुतं वनं न शिश्रिये, सगोत्रज रुत वा न अन्ववादि ॥ ७२ ॥

व्याख्या—गतिवेगप्रसरद्रुचा = गमनजवप्रसर्पत्कान्तिना, अमुना = हसेन, पथि = मार्गे, क्वचित् अपि = कुत्रचित् अपि, उच्चतरद्रुचारुतम् = उन्नततर-वृक्षसौन्दर्यं, वन = काननं, न शिश्रिये = न आश्रितम् । तथा सगोत्रज = बन्धुजन्यं, रुत वा = कूजित वा, न अन्ववादि = न अनूदित, नलेन राजकार्यं त्वरया मध्येमार्गं श्रमाऽपनयनाऽर्थं वन नाश्रित तथैव बन्धुसभाषणादिक च नो विहितमिति भाव ॥ ७२ ॥

अनुवाद—गमनके वेगसे फैलनेवाली कान्तिवाले हसने मार्गमे कही भो वृक्षोके उन्नतसौन्दर्यसे सम्पन्न किसी वनका आश्रय नही लिया और न अपने बन्धु हसोके कूजितका उत्तर ही दिया ॥ ७२ ॥

टिप्पणी—गतिवेगप्रसरद्रुचा = गतेर्वेग (ष० त०)। प्रसरन्ती रुक् यस्य स 'प्रसरद्रुक्' (बहु०)। गतिवेगेन प्रसरद्रुक, तेन (तृ० त०)। उच्चतर-द्रुचारुतम् = अतिशयेन उच्चा उच्चतरा, उच्च + तरप् + जस् । उच्चतराश्च ते द्रव. (क० धा०)। चारोर्भाव. चारुता, चारु + तल् + टाप् । उच्चतरद्रूणा चारुता यस्मिस्तत् (व्यधिकरणबहु०)। "पलाशी द्रुद्रुमाऽगमा" इत्यमर'। शिश्रिये = "श्रिञ् सेवायाम्" धातुसे कर्ममे लिट् + त । सगोत्रज = समान गोत्रं (कुल) येषा ते सगोत्रा. (बहु०), "ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिना-मगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु" इस सूत्रसे 'समान' के स्थानमे "स" भाव। "गोत्रं नाम्न्यचले कुले" इति कोश.। "सगोत्रबान्धवज्ञातिबन्धु-स्वस्वजनाः समा'।" इत्यमर। सगोत्रेभ्यो जात, सगोत्र + जन् + ड + सु'। रुतं = "तिरश्चां वाशितं रुतम्" इत्यमर। अन्ववादि=अनु-उपसर्गपूर्वक 'वद'-धातुसे लुङ् (कर्ममे)। नलके कार्यको शीघ्र सपन्न करनेके लिए हसने मार्गमे श्रम हटानेके लिए न किसी वनमें मुकाम किया और न अपने बन्धुओके साथ

संभाषण आदि ही किया यह भाव है। इस पद्यमे द्वितीय और चतुर्थ पादोमें अन्त्ययमक अलङ्कार है॥ ७२ ॥

अथ भीमभुजेन पालिता नगरी मञ्जुरसौ धराजिता।
पतगस्य जगाम दृक्पथं हिमशैलोपमसौधराजिता ॥ ७३ ॥

अन्वयः—अथ धराजिता भीमभुजेन पालिता हिमशैलोपमसौधराजिता मञ्जु असौ नगरी पतगस्य दृक्पथ जगाम ॥ ७३ ॥

व्याख्या—अथ = प्रस्थानाऽनन्तरं, धराजिता = भूमिजयिना, भीमभुजेन = भीमभूपबाहुना, पालिता = रक्षिता, हिमशैलोपमसौधराजिता = हिमालय-सदृशराजभवनशोभिता, मञ्जु = मनोहरा, असौ = इय, नगरी=पुरी, कुण्डिन-पुरीति भाव । पतगस्य = पक्षिण, हंसस्य। दृक्पथ = नेत्रमार्गं, जगाम = ययौ, हस.=कुण्डिनपुरी ददर्शेति भाव ॥७३ ॥

अनुवादः—तब पृथ्वीको जीतनेवाले महाराज भीमके बाहुसे रक्षित हिमालय पर्वतके समान (सफेद) राजभवनोसे शोभित, मनोहर वह कुण्डिन-पुरी पक्षी (हस) के दृष्टिमार्गमे प्राप्त हुई ॥ ७३ ॥

टिप्पणी—धराजिता = धरा जयतीति धराजित्, तेन, धरा + जि + क्विप् (उपपद०)+टा। भीमभुजेन = बिभेति अस्मात् इति भीम, भीमादयोऽ-पादाने" इस सूत्रसे निपातन। भीमस्य भुज, तेन (ष० त०)। हिमशैलोपम-सौधराजिता = हिमाना शैल. (ष० त०), तस्य इव उपमा (सादृश्यम्), येषां तानि (व्यधि० बहु०)। तानि च तानि सौधानि (क० धा०), "सौधोऽस्त्री राजसदनम्" इत्यमरः। तै. राजिता (तृ० त०)। दृक्पथ=दृशोः पन्था दृक्पथ', तम् (ष० त०), समासाऽन्त अप्रत्यय। जगाम = गम् + लिट् + तिप्। इस पद्यमे "मञ्जुरसौ धराजिता" इस द्वितीय चरणमे 'असौ-धराजिता' और चतुर्थचरणमे 'सौधराजिता' होनेसे विरोधाभास अलङ्कार है। 'हिमशैलोपमसौधराजिता' यहांपर उपमा है पूर्वार्द्धमे अन्त्याऽनुप्रास और द्वितीय और चतुर्थ चरणमे यमक है, इस प्रकार ससृष्टि है॥ ७३ ॥

दयितं प्रति यत्र सन्ततं रतिहासा इव रेजिरे भुवः।
स्फटिकोपलविग्रहा गृहाः शशभृद्भित्तनिरङ्कभित्तय॰ ॥ ७४ ॥

अन्वयः—यत्र स्फटिकोपलविग्रहाः शशभृद्भित्तनिरङ्कभित्तय. गृहा दयितं प्रति सन्तत भुवः रतिहासा इव रेजिरे ॥ ७४ ॥

व्याख्या—अथ द्वात्रिंशत्सख्यकैः पद्यैः कुण्डिनपुरी वर्णयति। यत्र=कुण्डिनपुर्यां, स्फटिकोपलविग्रहा:=स्फटिकमणिमयशरीराः, शशभृद्भित्तनिरङ्कभित्तयः=चन्द्रखण्डनिष्कलङ्ककुड्याः, गृहाः = भवनानि, दयितं प्रति = प्रियं प्रति, भीमभूपं प्रतीति भाव.। सन्ततम् = निरन्तर, भुव. = भूमेः, नायिकास्वरूपाया इति भाव। रतिहासा इव = केलिहास्यानि इव, कविसमये हासस्य शुक्लवर्णत्वादिति भाव.। रेजिरे = शुशुभिरे ॥ ७४ ॥

अनुवादः—जिस कुण्डिननगरीमे स्फटिक मणिसे बने हुए चन्द्रखण्डोके समान निष्कलङ्क दीवारोवाले भवन, पति महाराज भीमके प्रति पृथ्वीरूप नायिकाके निरन्तर क्रीडाके हास्योके समान शोभित होते थे ॥ ७४ ॥

टिप्पणी—स्फटिकोपलविग्रहा. = स्फटिकाश्च त उपला. (क० धा०), त एव विग्रहाः येषा ते (बहु०) 'शरीर वर्ष्म विग्रह ' इत्यमर । शशभृद्भित्तनिरङ्कभित्तय=शश बिभर्तीति शशभृत्, शश+भृ+क्विप् (उप०)। तस्य भित्तानि (ष० त०), 'भित्त शकलखण्डे वा पुसि' इत्यमर.। निर्गतः अङ्कः (कलङ्क.) याभ्यस्ताः निरङ्का (बहु०), शशभृद्भित्तानि इव निरङ्का भित्तयो येषा ते (बहु०)। 'भित्तिः स्त्री कुड्यमेडूकम्' इत्यमरः। गृहा. = 'गृहा. पुसि च भूम्न्येव निकाय्यनिलयालया।' इत्यमर । दयित = 'प्रति' इसके योगमें 'अभित.परित समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' इस वार्तिकसे द्वितीया विभक्ति। रतिहासा. = रतेर्हासा. (ष० त०)। रेजिरे = 'राजृ दीप्तौ' धातुसे लिट्+झ। 'फणा च सप्तानाम्' इस सूत्रसे एत्व और अभ्यासका लोप। इस पद्यमे पूर्वार्द्धमे उत्प्रेक्षा और उत्तरार्द्धमे उपमा इस प्रकार दो अलङ्कारोकी संसृष्टि है ॥ ७४ ॥

नृपनीलमणीगृहत्विषामुपधेर्यत्र भयेन भास्वतः।
शरणाप्तमुवास वासरेऽप्यसदावृत्त्युदयत्तमं तमः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—यत्र तम' भास्वत. भयेन नृपनीलमणीगृहत्विषाम् उपधेः शरणाप्तं वासरे अपि असदावृति उदयत्तमम् (सत्) उवास ॥ ७५ ॥

व्याख्या—यत्र=यस्या, कुण्डिननगर्यामित्यर्थः। तमः = अन्धकार, भास्वतः= सूर्यात्, भयेन = भीत्या, नृपनीलमणीगृहत्विषां = भूपेन्द्रनीलरत्नगृहकान्तीनाम्, उपधे. = छलात्, शरणाप्त = गृहप्राप्त, वासरे अपि = दिवसे अपि, असदावृत्ति = पुनरावृत्तिरहितम्, अत उदयत्तमम् = उद्यत्तम सत्, अतिनिबिडमिति भावः। उवास=वसति स्म ॥ ७५ ॥

अनुवादः— जिस कुण्डिनपुरीमे अन्धकार, सूर्यके भयसे राजा भीमके इन्द्र-नील मणियोसे बने हुए भवनोके बहानेसे भवनके भीतर रहकर दिनमे भी नही लौटता हुआ गाढ होकर रहता था ॥ ७५ ॥

टिप्पणी—भास्वत = भास. सन्ति यस्य स भास्वान्, तस्मात्, 'भास' शब्दसे 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' इस सूत्रसे मतुप् और 'तसौ मत्वर्थे' इस सूत्र से भसज्ञा होनेसे पदकार्य रुत्वका अभाव। 'भीत्राऽर्थाना भयहेतु'' इससे अपादानसज्ञा होनेसे पञ्चमी। नृपनीलमणीगृहत्विषा = नीलाश्च ता मणय: (क० धा०)। 'रत्नं मणिर्द्वयो.' इत्यमर। 'मणि' शब्दसे 'कृदिकारादक्तिन.' इससे ङीष् होकर 'मणी' शब्द बनता है। नीलमणीना गृहा (ष० त०)। नृपस्य नीलमणीगृहा (ष० त०), तेषा त्विष, तासाम् (ष० त०)। उपधे. = 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे।' इत्यमर। शरणाप्त = शरणम् (गृह रक्षितारं वा) आप्तम्, 'द्वितीया श्रिताऽतीतपतितगताऽत्यस्त-प्राप्तापन्नै:' इससे द्वि० त०। 'शरण गृहरक्षित्रो:' इत्यमर। असदावृत्ति= न सती असती (नञ्०)। असती आवृत्तिर्यस्य तत् (बहु०)। उदयत्तमम् = उदेतीति उदयत्, उद्+इण्+लट् (शतृ)। अतिशयेन उदयत् उदयत्तमम्, उदयत्+तमप्। उवास = वस्+लिट्+तिप्। "लिटचभ्यासस्योभयेषाम्" इससे अभ्यासका सप्रसारण। इस पद्यमे अन्धकारमे कार्यके द्वारा शरणार्थी जनके व्यवहारका समारोप होनेसे समासोक्ति और उदात्त अलङ्कार है दोनोकी संसृष्टि है ॥ ७५ ॥

सितदीप्रमणिप्रकल्पिते यदगारे हसदङ्करोदसि।
निखिलान्निशि पूर्णिमा तिथीनुपतस्थेऽतिथिरेकिका तिथि: ॥ ७६ ॥

अन्वय—सितदीप्रमणिप्रकल्पिते हसदङ्करोदसि यदगारे निशि निखिलान् तिथीन् एकिका पूर्णिमा तिथि अतिथि. (सती) उपतस्थे ॥ ७६ ॥

व्याख्या— सितदीप्रमणिप्रकल्पिते = शुक्लदीपनशीलरत्ननिर्मिते, हसदङ्करोदसि =प्रकाशमाननिकटद्यावापृथिवीके, यदगारे = कुण्डिनगृहे, निशि = रात्रौ, निखिलान् = समस्तान्, तिथीन् = प्रतिपत्प्रभृतीन्, एकिका = एकाकिनी, एकैवेति भाव। पूर्णिमा = पौर्णमासी, तिथि. = राकेति भाव., अतिथि. = आगन्तुका सती, उपतस्थे = उपस्थिता, सङ्गतेति भाव। स्फटिकरत्ननिर्मित-कुण्डिनभवनाना शुक्लवर्णैर्द्यावापृथिव्यौ रात्रावपि प्रकाशमाने आस्ताम् ततश्च सर्वा अपि तिथय पूर्णिमातुल्या जाता इति तात्पर्यम् ॥ ७६ ॥

अनुवादः—सफेद प्रकाशमान रत्नो (स्फटिको) से बने हुए, जिनके निकट आकाश और पृथिवी प्रकाशमान हैं कुण्डिनपुरीके ऐसे गृहोमे रातमे सब तिथियो, के पास एकमात्र पूर्णिमा तिथि अतिथि होती हुई उपस्थित होती थी ।। ७६ ।।

टिप्पणी—सितदीप्रमणिप्रकल्पिते = दीपनशीला दीप्रा "दीपी दीप्तौ" धातुसे "नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो र." इस सूत्रसे र प्रत्यय । सिताश्चते दीप्राः (क० धा०) । सितदीप्राश्च ते मणय (क० धा०), तै प्रकल्पितम् (तृ० त०) तस्मिन् । "यदगारे" इस पदका विशेषण । हसदङ्करोदसि = हसन् अङ्कः (मध्यभाग) ययोस्ते (बहु०) । हसदङ्के रोदस्यौ (द्यावापृथिव्यौ) यस्य तत् हसदङ्करोद, तस्मिन् (बहु०) । यदगारे = यस्या (कुण्डिनपुर्याः) अगार तस्मिन् (ष० त०) । "अगारे" यह जातिमे एकवचन है । तिथीन् = "तिथयोद्वंयो" इत्यमरः । एकिका = एका एव, "एक" शब्दसे "एकादाकिनिच्चाऽसहाये" इस सूत्र से स्वार्थमे कप्रत्यय । अतिथि = "स्युरावेशिकरागन्तुरतिथिर्ना गृहागते ।" इत्यमर । उपतस्थे = उप–उपसर्गपूर्वक 'स्था' धातुसे "उपाद् देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यम्" इससे सङ्गतिकरणमे आत्मनेपद होकर लिट् + त । इस पद्यमे कुण्डिनपुरीमे स्फटिकके भवनों की कान्तिसे नित्य चन्द्रिकाका योग होनेसे सभी रात्रियाँ पूर्णिमाकी समान थी इस प्रकार भेद होनेपर भी अभेदकी उक्तिसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ।। ७६ ।।

सुदतीजनमज्जनाऽर्पितैर्घुसृणैर्यत्र कषायिताऽऽशया ।
न निशाऽखिलयाऽपि वापिका प्रससाद ग्रहिलेव मानिनी ।। ७७ ।।

अन्वयः—यत्र सुदतीजनमज्जनाऽर्पितै. घुसृणै कषायिताऽऽशया वापिका ग्रहिला मानिनी इव अखिलया निशा अपि न प्रससाद ।। ७७ ।।

व्याख्या—यत्र = यस्यां नगर्यां, सुदतीजनमज्जनाऽर्पितैः = सुन्दरीलोकस्नानवितीर्णे., घुसृणै =कुड्कुमैः, कषायिताऽऽशया = सुगन्धिताऽभ्यन्तरभागा, कलुषिताऽन्त करणा च, वापिका = दीर्घिका, ग्रहिला = निर्बन्धयुक्ता, मानिनी इव = मानवती नायिका इव, अखिलया = सकलया, निशा अपि = रात्र्या अपि रात्र्या. सर्वभागेषु व्यतीतेष्वपीति भाव, न प्रससाद = प्रसन्ना ना.भूत् । कुण्डिनपुर्यां सुन्दरीणां स्नानेन तत्कुचाऽर्पितकुड्कुमरञ्जिता वापिका सपत्नीकुचकुडकुमसम्पर्कयुक्त नायकं दृष्ट्वा निर्बन्धवती नायिका इव रात्रौ व्यतीतायामपि न प्रससाद, वापी निर्मला नाभूत् नायिका च प्रसन्नमानसा नाऽभूदिति भावः ।। ७७ ।।

अनुवादः—जिस कुण्डिनपुरीमे सुन्दरियोके स्नानसे फैले हुए कुङ्कुमोसे भीतर सुगन्धित होनेवाली बावली सपत्नीके कुङ्कुमके सपर्कयुक्त पतिको देखकर हठ करनेवाली अभिमानिनी नायिकाकी समान रातके बीतने पर भी प्रसन्न (बावलीके पक्षमे निर्मल, नायिकाके पक्षमे प्रसादयुक्त) नही हुई ॥ ७७ ॥

टिप्पणी—सुदतीजनमज्जनार्पितै. = शोभना दन्ता यासां ता सुदत्यः (बहु०), "वयसि दन्तस्य दतृ" इस सूत्रसे दन्तके स्थानमे "दतृ" आदेश और स्त्रीत्वविवक्षामे "उगितश्च" इस सूत्रसे ङीप्। सुदत्यश्च ते जना (क० धा०), तेषा मज्जन (ष० त०), तेन अर्पितानि, तै (तृ० त०)। कषायिताऽऽशया = कषायित आशय (अभ्यन्तरभाग, अन्त करण वा) यस्याः सा। वापिका = "वापी तु दीर्घिका" इत्यमर । ग्रहिला = ग्रह अस्ति यस्या: सा, 'ग्रह' शब्दसे "लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलच" इस सूत्रसे इलच् और स्त्रीत्वविवक्षामे टाप्। मानिनी = प्रशस्तो मान. अस्या अस्तीति, मान+इनि+ङीप्। "स्त्रीणामीर्ष्याकृत कोपो मानोऽन्यासङ्गिनि प्रिये।" प्रियके अन्यस्त्रीके संसर्गसे स्त्रियोको जो ईर्ष्यासे उत्पन्न कोप है उसे "मान" कहते है। निशा = "निशा" शब्दका "पद्दन्नोमास् हृन्निशसन्०" इत्यादि सूत्रसे निश् आदेश, टा विभक्ति। प्रससाद = प्र+सद्+लिट्+तिप्। इस पद्यमे पूर्णोपमा अलङ्कार है ॥ ७७ ॥

क्षणनीरवया यया निशि श्रितवप्रावलियोगपट्टया।
मणिवेश्ममय स्म निर्मलं किमपि ज्योतिरबाह्यमीक्ष्यते ॥ ७८ ॥

अन्वय.—निशि क्षणनीरवया श्रितवप्रावलियोगपट्टया यया मणिवेश्ममयं निर्मलम् अबाह्य किमपि ज्योति. ईक्ष्यते ॥ ७८ ॥

व्याख्या—निशि= रात्रौ, अर्धरात्र इति भाव । क्षणनीरवया = अल्पकालं नि शब्दया, नगरीपक्षे जनाना सुप्तत्वात्, योगिनीपक्षे ध्याननिश्चलत्वादिति तात्पर्यम् । श्रितवप्रावलियोगपट्टया = आश्रितयोगवस्त्रसदृशप्राकारपङ्क्तया यया = नगर्या, मणिवेश्ममय=स्फटिकभवनस्वरूप, निर्मल=शुभ्रम्, अविद्यादिदोष-रहितं च, अबाह्यम् = अन्तर्वर्ति, किमपि = अवाङ्मनसगोचर, ज्योति. = तेजः, आत्मप्रकाशश्च, ईक्ष्यते स्म = दृश्यते स्म, "इज्यते स्म" इति पाठे पूज्यते स्मेत्यर्थः ॥ ७८ ॥

अनुवाद.—आधीरात मे कुछ समय नि.शब्द होकर योगवस्त्रकी समान प्राकारपङ्क्तिको धारण कर जो कुण्डिनपुरी, योगिनीके समान स्फटिकमणियोके

गृहस्वरूप निर्मल (शुक्ल) अभ्यन्तरस्मित अनिर्वाच्य प्रकाशका दर्शन करती थी ॥ ७८ ॥

टिप्पणी—क्षणनीरवया = निर्गतो रवो यस्याः सा नीरवा (बहु०.) । क्षण नीरवा (सुप्सुपा०) तया । श्रितवप्राऽऽवलियोगपट्टया = वप्राणाम् आवलिः (ष० त०), "प्राकारो वरणो वप्रः" इत्यमर । योगस्य पट्टः (ष० त०) वप्राऽऽवलि, योगपट्ट इव, "उपमित व्याघ्रादिभि सामान्याऽप्रयोगे" इससे उपमितकर्मधारय । श्रितो वप्राऽऽवलियोगपट्टो यया, तया (बहु०) । यह नगरी पक्षमे है । योगिनीपक्ष मे—वप्राऽऽवलि. इव योगपट्टः "उपमानानि सामान्यवचनैः" इससे समास । श्रितो वप्रावलियोगपट्टो यया, तया (बहु०) । मणिवेश्ममय = मणीनां वेश्म (ष० त०) तत् स्वरूप यस्य तत् (मणिवेश्म + मयट्) । निर्मल = निर्गत मलं यस्मात्तत् (बहु०) । ज्योति = प्रभा (नगरीपक्षमे), आत्मज्योति (योगिनीपक्षमे) । ईक्ष्यते स्म = ईक्ष + लट् (कर्ममे) + त । "इज्यते स्म" ऐसे पाठान्तरमे यज + लट् (कर्ममे) । इस पद्यमे प्रस्तुत नगरी के विशेषणके साम्यसे अप्रस्तुत योगिनीकी प्रतीति होनेसे समासोक्ति अलङ्कार है ॥ ७८ ॥

विललास जलाशयोदरे क्वचन द्यौरनुबिम्बितेव या ।
परिखाकपटस्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बाऽनवलम्बिताऽम्बुनि ॥ ७९ ॥

अन्वय.—या परिखाकपटस्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बाऽनवलम्बिताऽम्बुनि क्वचन जलाशयोदरे अनुबिम्बिता द्यौ. इव विललास ॥ ७९ ॥

व्याख्या—या=नगरी, परिखाकपटस्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बऽनवलम्बिताऽम्बुनि= खेयच्छलव्यक्तसंचलत्प्रतिमाऽसम्बद्धजले, क्वचन = कुत्रचन, जलाशयोदरे = ह्रद-मध्ये, अनुबिम्बिता = प्रतिबिम्बिता, द्यौ इव = अमरावती इव, विललास = शुशुभे ॥ ७९ ॥

अनुवादः—जो (नगरी) खाईके बहानेसे स्पष्ट चलनेवाले प्रतिबिम्बसे जहाँ बीचका जल नही दिखाई देता है ऐसे किसी सरोवरके बीचमें प्रतिबिम्बित अमरावतीकी तरह शोभित होती थी ॥ ७९ ॥

टिप्पणी—परिखाकपटेत्यादि = परितः खन्यते इति परिखा, परि-उपसर्ग पूर्वक "खनु अवदारणे" इस धातुसे "अन्येस्योऽपि दृश्यते" इससे उप्रत्यय । "खनु अवदारणे" इस धातुसे "अन्येभ्योऽपि दृश्यते" इससे ड प्रत्यय । "खेय तु परिखा" इत्यमर. । परिखायाः कपटः (ष० त०), स्फुरच्च

तत् प्रतिबिम्बम् (क० धा०) स्फुट स्फुरत्प्रतिबिम्बम् (सुप्सुपा०) । परिखाकपटेन स्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बम् (तृ० त०) । न अवलम्बितम् (नञ्०) । अनवलम्बितम् (मध्ये अगृह्यमाणम्) अम्बु यस्मिन् (बहु०) । प्रतिबिम्बमे पडा हुआ जल प्रतिबिम्बदेशमें प्रतीत नही होता है, चारो ओर प्रतीत होता है । परिखाकपटस्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बेन अनवलम्बिताम्बु, तस्मिन् (तृ० त०) । जलाशयोदरे=जलानाम् आशयः (ष० त०) तस्य उदर, तस्मिन् (ष० त० । अनुबिम्बिता = अनुबिम्बं सजात यस्या सा (अनुबिम्ब + इतच् + टाप्) । द्यौ. = "सुरलोको द्योदिवौ द्वे" इत्यमर । विललास = वि + लस + लिट् । इस पद्यमे कैतवाऽपह्नुति और उत्प्रेक्षा इन दोनोकी ससृष्टि है ॥ ७९ ॥

व्रजते दिवि यद्गृहाऽऽवलीचलचेलाऽञ्चलदण्डताडना: ।
व्यतरन्नरुणाय विश्रम सृजते हेलिहयाऽऽलिकालनाम् ॥ ८० ॥

अन्वय—यद्गृहाऽऽवलीचलचेलाञ्चलदण्डताडना दिवि व्रजते हेलिहयाऽऽलिकालना सृजते अरुणाय विश्रम व्यतरन् ॥ ८० ॥

व्याख्या—यद्गृहाऽऽवलीचलचेलाऽञ्चलदण्डताडना. = कुण्डिनभवनपङ्क्तिचञ्चलपताकाऽग्रप्रतोदाघाता, दिवि = आकाशे, व्रजते = गच्छते, हेलिहयाऽऽलिकालना = सूर्याऽश्वपङ्क्तिप्रेरणा, सृजने = कुर्वते, अरुणाय = सूर्यसारथये, विश्रम = विश्रान्ति, व्यतरन् = अददु ॥ ८० ॥

अनुवाद—जिस कुण्डिनपुरीके भवनोमे चञ्चल पताकाके अग्रभागके दण्डोके आघात आकाशमे जाते हुए और सूर्यके घोडोको प्रेरणा करनेवाले अरुणको विश्राम देते थे ॥ ८० ॥

टिप्पणी—यद्गृहावलीचलचेलाऽञ्चलदण्डताडनाः = गृहाणाम् आवल्य । (ष० त०) । यस्या गृहावल्य (स० त०) । चेलानाम् अञ्चला. (ष० त०), "वस्त्रमाच्छादन वासश्चेल वसनमशुकम् ।" इत्यमर. । चलाश्च ते चेलाऽञ्चलाः (क० धा०) चलचेलाऽञ्चला एव दण्डाः (रूपक०) चलचेलाऽञ्चलदण्डैः ताडना (तृ० त०) । यद्गृहाऽऽवलीषु चलचेलाऽञ्चलदण्डताडना (स० त०) । यह कर्तृपद है । व्रजते = व्रज + लट् (शतृ) + ङे । हेलिहयाऽऽलिकालनां = हेलेर्हयाः (ष० त०) । "हेलिरालिङ्गने रवौ" इति यादव. । हेलिहयानाम् आलि. (ष० त०), तस्याः कालना, ताम् (ष० त०) । सृजते = सृज + लट् (शतृ) + ङे । विश्रम=विश्रमण विश्रमः तम्, वि–उपसर्गपूर्वक-श्रम धातुसे घञ् "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्याऽनाचमे." इससे वृद्धिका निषेध । व्यतरन् =

वि—उपसर्गपूर्वक "तॄ प्लवनसन्तरणयो." इस धातुसे लङ् + झिः। इस पद्यमें सूर्यके घोडोके दण्डसे ताडनका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धकी उक्तिसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है और उससे कुण्डिनपुरी के गृहोकी सूर्यमण्डलतक ऊँचाई व्यक्त होती है इस प्रकार अलङ्कारसे वस्तुध्वनि है ॥ ८० ॥

क्षितिगर्भधराऽम्बराऽऽलयैस्तलमध्योपरिपूरिणां पृथक् ।
जगतां खलु याऽखिलाऽद्भुताऽजनि सारैर्निजचिह्नधारिभिः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—तलमध्योपरिपूरिणा जगता पृथक् निजचिह्नधारिभि सारै. क्षितिगर्भधराऽम्बराऽऽलयै या अखिला अद्भुता अजनि खलु ॥ ८१ ॥

व्याख्या—तलमध्योपरिपूरिणाम् = अधोमध्योर्ध्वपूरकाणा, पातालभूमिस्वर्गाणामित्यर्थं । जगता=लोकानां, पृथक् = असङ्कीर्णा, निजचिह्नधारिभिः = स्वलक्षणधारकै, सारै =उत्कृष्टै , अर्थं क्षितिगर्भधराम्बराऽऽलयै =पातालभूम्याकाशगृहै:, या = कुण्डिनपुरी, अखिला = समस्ता, अद्भुता = चित्रा, अजनि = जाता ॥ ८१ ॥

अनुवादः—अधोभाग, मध्यभाग और ऊर्ध्वभागको पूर्ण करनेवाले पाताल, भूमि और स्वर्ग इन तीनों लोकोके भिन्न-भिन्न अपने चिह्नोको धारण करनेवाले उत्कृष्ट पाताल, भूमि और आकाशमे स्थित भवनोसे जो (कुण्डिनपुरी , पूर्णरूपसे अद्भुत (अनूठी) हो गई ॥ ८१ ॥

टिप्पणी—तलमध्योपरिपूरिणा = तल च मध्य च उपरि च (द्वन्द्वः) तलमध्योपरि पूरयन्तीति तच्छीलानि तलमध्योपरिपूरीणि, तेषाम्, तलमध्योपरि + पूर + णिनि (उपपद०) + आम् । निजचिह्नधारिभिः = निज च तत् चिह्न (क० धा०), तत् धारयन्तीति तच्छीला. निजचिह्नधारिण , तै , निजचिह्न + धृ + णिनि (उपपद०) + भिस् । पाताल यानी भूगर्भ (तहखाना), उसका चिह्न—निधि (खजाना) आदि। धरा = पृथिवी, उसका चिह्न—धान्य आदि, आकाश—ऊर्ध्वलोक—ऊँची मञ्जिलवाले भवन उनके चिह्न—फूल चन्दन आदि भोगके उपकरण। इनको धारण करनेवाले यह तात्पर्य है। क्षितिगर्भधराऽम्बराऽऽलयै = क्षितेर्गर्भः (ष० त०), क्षितिगर्भ कहनेसे पाताल यानी तहखाना। क्षितिगर्भश्च धरा च अम्बर च (द्वन्द्वः), तेषु आलयैः (स० त०)। तिमञ्जिले गृहोसे युक्त जो कुण्डिनपुरी आश्चर्यमयी थी यह तात्पर्य है। अजनि = "जनी प्रादुर्भावे" धातुसे लुङ् + त, "दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम्" इस सूत्रसे च्लिके स्थानमे चिण्, "चिणो लुक्" इस

सूत्रसे उसका लुक्। इस पद्यमे अन्य नगरियोसे कुण्डिननगरीके आधिक्यके वर्णनसे व्यतिरेक अलङ्कार है ॥ ८१ ॥

दधदम्बुदनीलकण्ठतां वहदत्यच्छसुधोज्ज्वलं वपुः ।
कथमृच्छतु यत्र नाम न क्षितिभृन्मन्दिरमिन्दुमौलिताम् ॥ ८२ ॥

अन्वय.—यत्र अम्बुदनीलकण्ठता दधत् अत्यच्छसुधोज्ज्वल वपु. वहत् क्षितिभृन्मन्दिरम्, इन्दुमौलिता कथ नाम न ऋच्छतु ? ॥ ८२ ॥

व्याख्या—यत्र = यस्या कुण्डिनपुर्याम्, अम्बुदनीलकण्ठता = मेघैर्नील-कण्ठता, दधत् = धारयत्, अत्यच्छसुधोज्ज्वलम् = अतिनिर्मललेपनद्रव्य-निर्मलं वपुः = शरीर, वहत् = बिभ्रत्, क्षितिभृन्मन्दिर = राजभवनम्, इन्दु-मौलिता = चन्द्रमण्डलपर्यन्तशिखरत्व चन्द्रशेखरता वा, कथ नाम = केन प्रकारेण, न ऋच्छतु=नो प्राप्नोतु ॥ ८२ ॥

अनुवादः—जिस कुण्डिनपुरीमे मेघोसे श्याम कण्ठवाला अत्यन्त निर्मल चूनेसे उज्ज्वल शरीर धारण करनेवाला राजाका प्रासाद, शिरपर चन्द्रको धारण करनेवाले चन्द्रशेखर (शिव) के भावको क्यो नही प्राप्त करेगा ? ॥ ८२ ॥

टिप्पणी—अम्बुदनीलकण्ठताम् = अम्बु ददतीति अम्बुदाः, अम्बु + दा + क (उपपद०)। नील. कण्ठो यस्य स· (बहु०)। नीलकण्ठस्य भावो नील-कण्ठता, नीलकण्ठ + तल् + टाप् । अम्बुदैः नीलकण्ठता, ताम् (तृ० त०)। दधत् = दधातीति, धा + लट् + शतृ + सु , "उभे अभ्यस्तम्" इससे अभ्यस्तसज्ञा होनेसे "नाऽभ्यस्ताच्छतुः" इससे नुम् आगमका निषेध। राजप्रासादकी चोटीके समीपमे मेघकी उपस्थितिसे नीलकण्ठके समान प्रासाद यह तात्पर्य है । अत्यच्छसुधोज्ज्वलम् = अत्यन्तम् अच्छा (सुप्सुपा०), सा चाऽसौ सुधा (क० धा०)। "सुधालेपोऽमृत सुधा" इत्यमर । अत्यच्छसुधया उज्ज्वलम् (तृ० त०) अत्यन्त निर्मल चूनेके लेपसे उज्ज्वल भवन । इन्दुमौलि-(शिव) के पक्षमे अत्यन्त निर्मल अमृतके समान उज्ज्वल यह तात्पर्य है। वहत् = वहतीति, वह + लट् + शतृ । क्षितिभृन्मन्दिरं = क्षितिं बिभर्तीति क्षितिभृत्, क्षिति + भृ + क्विप् (उपपद०)। क्षितिभृतः मन्दिरम् (ष० त०)। इन्दुमौलिताम् = इन्दुमौलौ यस्य (व्यधिकरणबहु०) । तस्य भाव तत्ता, ताम्, इन्दुमौलि + तल् + टाप् + अम् । ऋच्छतु = ऋच्छ + लोट + तिप् । इस पद्यसे राजभवनकी मेघमण्डलपर्यन्त ऊँचाई व्यक्त होती है। इस पद्यमे राज-

भवनका इन्दुमौलित्वके साथ सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धके कथन होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ८२ ॥

बहुरूपकशालभञ्जिकामुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कवः ।
यदनेककसौधकन्धराहरिभिः कुक्षिगतीकृता इव ॥ ८३ ॥

अन्वयः—यदनेककसौधकन्धराहरिभि. बहुरूपकशालभञ्जिकामुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कव. कुक्षिगतीकृता इव ॥ ८३ ॥

व्याख्या—यदनेककसौधकन्धराहरिभि. = कुण्डिनपुरीबहुप्रासादमध्यभागस्थसिंहै, बहुरूपकशालभञ्जिकामुखचन्द्रेषु = अधिकसौन्दर्यपाञ्चालिकाऽऽननसोमेषु, स्थिता इति शेष.। कलङ्करङ्कव = लाञ्छनमृगा, कुक्षिगतीकृता इव = भक्षिता इव, प्रतीयन्त इति शेष. ॥ ८३ ॥

अनुवादः—जिस कुण्डिनपुरी के प्रचुर प्रासादोके मध्यभागमे निर्मित सिंहोने अधिक सौन्दर्यवाली पुतलियोके मुखचन्द्रोंमे स्थित कलङ्करूप मृगोको मानो खा लिया है ॥ ८३ ॥

टिप्पणी—यदनेककसौधकन्धराहरिभि = अनेककानि च तानि सौधानि (क० धा०), यस्या अनेककसौधानि (ष० त०), तेषा कन्धरा. (ष० त०), यहाँ "कन्धरा" पदसे मध्यभाग लक्षित होता है। यदनेककसौधकन्धरासु हरय. तै (स० त०)। "सिंहो मृगेन्द्र· पञ्चाऽऽस्यो हर्यक्ष केसरी हरि·।" इत्यमर । बहुरूपकशालभञ्जिकामुखचन्द्रेषु = बहु रूप (सौन्दर्यम्) यासा ता बहुरूपकाः (बहु०), "शेषाद्विभाषा" इस सूत्रसे समासान्त कप् प्रत्यय। बहुरूपकाश्च ता· शालभञ्जिका. (क० धा०)। मुखानि एव चन्द्रा (रूपक०)। बहुरूपकशालभञ्जिकानां मुखचन्द्राः, तेषु (ष० त०)। कलङ्करङ्कव कलङ्का एव रङ्कवः (रूपक०)। कृष्णसाररुरुन्यङ्कुरङ्कुशम्बररौहिषा ।" इत्यमर । कुक्षिगतीकृता = कुक्षि गता. (द्वि० त०), "पिचण्डकुक्षी जठरोदर तुन्दम्" इत्यमरः। अकुक्षिगता कुक्षिगता यथा सपद्यन्ते तथा कृताः कुक्षिगतीकृता, कुक्षिगत + च्वि + कृ + क्त + जस्। पुतलियोके मुख चन्द्रके समान थे, चन्द्रमे कलङ्क होता है, उन लोगोके मुखचन्द्रोमे कलङ्करूप जो मृग थे वे उनको भवनोमे निर्मित सिंहोंने खा लिया इसीलिए नही दिखाई पडते है। पुतलियोके मुखचन्द्र निष्कलङ्क थे यह तात्पर्य है। इस पद्यमें "मुखचन्द्रेषु" इस पदमे रूपक और "कुक्षिगतीकृता इव" इस पदमे उत्प्रेक्षा है इस प्रकार इनकी निरपेक्षरूपसे स्थिति होनेसे संसृष्टि है ॥ ८३ ॥

बलिसद्म दिवं स तथ्यवागुपरि स्माऽऽह दिवोऽपि नारदः ।
अधराऽथ कृता ययेव सा विपरीताऽजनि भूविभूषया ॥ ८४ ॥

अन्वयः—स तथ्यवाक् नारदः बलिसद्मदिव दिव. अपि उपरि आह स्म । अथ भूविभूषया यया अधरा कृता इव सा विपरीता अजनि ॥ ८४ ॥

व्याख्या—सः = प्रसिद्ध , तथ्यवाक = सत्यवचन , नारदः = ब्रह्मपुत्र , देवर्षिविशेष । बलिसद्मदिव = पातालस्वर्गं, दिवः अपि = स्वर्गात् अपि, उपरि = ऊर्ध्वंस्थिताम्, उत्कृष्टा च, आह स्म = उक्तवान् । अथ = इदानी, भूविभूषया = भूम्यलङ्कारभूतया, यया = कुण्डिननगर्या, अधरा = न्यूना, अधस्तान्च, कृता इव = विहिता इव, सा = बलिसद्मद्यौः, विपरीता = अन्यादृशी, नारदोक्तेरिति शेष. । हीना इति भावः, अजनि = जाता, सर्वोपरिस्थितायाः पुनरध स्थितिर्वैपरीत्यमिति भावः ॥ ८४ ॥

अनुवादः—प्रसिद्ध सत्यभाषी नारद ऋषिने पातालरूप स्वर्गको स्वर्गसे भी ऊपर (उत्कृष्ट) कहा था । इस समय पृथिवीकी अलङ्कारभूत जिस कुण्डिननगरीने अपने सौन्दर्यसे पातालको अधर (नीचा) सा कर दिया इस कारणसे वह (पातालरूप स्वर्ग) विपरीत (नीचा) हो गया ॥ ८४ ॥

टिप्पणी—तथ्यवाक् = तथ्या वाक् यस्य सः (बहु०) । बलिसद्मदिव = बले. सद्म (ष० त०), "अधोभुवनपाताल बलिसद्म रसातलम् ।" इत्यमरः । बलिसद्म एव द्यौ. ताम् (रूपक०) । आह स्म = ब्रू धातुके स्थानमे "ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुव." इस सूत्रसे "आह" आदेश, "स्म" के योगमे भूतकालमे लट् । नारदने विष्णुपुराणमे "स्वर्गादप्यतिरमणीयानि पातालानि" अर्थात् "पाताल स्वर्गसे भी अत्यन्त रमणीय है" ऐसा कहा है । भूविभूषया= भुवो विभूषा, तया (ष० त०) । अजनि = जन + लुङ् (कर्तामे) + त । स्वर्ग और पातालसे भी कुण्डिनपुरी रमणीय है यह तात्पर्य है । इस पद्यमे "बलिसद्मदिवम्" यहाँपर रूपक और "कृता इव" यहाँपर उत्प्रेक्षा है इस प्रकार दो अलङ्कारोका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ८४ ॥

प्रतिहट्टपथे घरट्टजात् पथिकाह्वानदसक्तुसौरभे ।
कलहान्न घनान् यदुत्थितानधुनाऽप्युज्झति घर्घरस्वरः ॥ ८५ ॥

अन्वयः—पथिकाह्वानदसक्तुसौरभे प्रतिहट्टपथे घरट्टजात् यदुत्थितात् कलहात् घर्घरस्वर. अधुना अपि घनान् न उज्झति ॥ ८५ ॥

व्याख्या—पथिकाह्वानदसक्तुसौरभे = पान्थाह्वायकसक्तुसुगन्धे, प्रतिहट्टपथे= प्रत्यापणमार्गे, घरट्टजात् = गोधूमादिचूर्णपाषाणजन्यात्, यदुत्थितात् = कुण्डिननगर्युत्पन्नात्, कलहात् = विवादात्, जात इति शेष', घर्घरस्वर = निर्झरस्वर, अधुना अपि = साम्प्रतम् अपि, घनान् = मेघान्, न उज्झति = न त्यजति । सर्वदा सर्वहट्टेषु घरट्टा मेघध्वान कुर्वन्तीति भाव. ॥ ८५ ॥

अनुवाद—पथिकोको बुलानेवाले (आकर्षण करनेवाले) सत्तूके सौरभसे युक्त बाजारके मार्गमें चक्कियोसे उत्पन्न जिस कुण्डिनपुरसे उठे हुए कलहसे घर्घर शब्द अबतक मेघको नही छोड रहा है ॥ ८५ ॥

टिप्पणी—पथिकाह्वानदसक्तुसौरभे = पन्थानं गच्छन्तीति पथिका, पथिन् शब्दसे "पथ ष्कन्" इससे ष्कन् प्रत्यय । पथिकानाम् आह्वानम् (ष० त०) तत् तदातीति पथिकाह्वानदम् पथिकाह्वान+दा+क (उपपद०) । सक्तूना सौरभम् (ष० त०) । पथिकाह्वानद सक्तुसौरभ यस्मिन्, तस्मिन् (बहु०) । प्रतिहट्टपथे=हट्टस्य पन्था हट्टपथ (ष० त०), समासान्त अ प्रत्यय । हट्टपथं हट्टपथ प्रति प्रतिहट्टपथं, तस्मिन् (यथा शब्दके वीप्सा अर्थमे अव्ययीभाव), "तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्" इस सूत्रसे सप्तमीमे बाहुल्येन अम्का अभाव । घरट्टजात् = घरट्टात् जात घरट्टजः, तस्मात्, घरट्ट+जन्+ड. (उपपद०)+ ङसिः । यदुत्थितात् = यस्या उत्थित, तस्मात् (प० त०) । घर्घरस्वर = घर्घरश्चासौ स्वरः (क० धा०) । "घर्घर" यह अव्यक्ताऽनुकरण शब्द है । उज्झति = "उज्झी विवासे' धातुसे लट+तिप् । कुण्डिनपुरमे सब हाटोमे चक्कियाँ मेघके समान शब्द करती रहती है यह इस पद्यका तात्पर्य है। इस पद्यमे मेघोका चक्कियोसे कलहका सम्बन्ध न होनेपर भी कलहसम्बन्धकी उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति और घर्घर शब्दका कलहके हेतुके तौर उत्प्रेक्षणसे इवादि शब्दके अभावसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा इस प्रकार दो अलङ्कारो का सङ्कर है ॥८५॥

वरणः कनकस्य मानिनीं दिवमङ्कादमराऽद्रिरागताम् ।
घनरत्नकवाटपक्षति. परिरभ्याऽनुनयन्नुवास याम् ॥ ८६ ॥

अन्वयः—कनकस्य वरणः अमराऽद्रि. यां मानिनीम् अङ्कात् आगता दिवं घनरत्नकवाटपक्षति (सन्) परिरभ्य अनुनयन् उवास ॥ ८६ ॥

व्याख्या—कनकस्य = सुवर्णस्य, वरण = प्राकार एव, अमराऽद्रिः = सुरपर्वत, सुमेरुरित्यर्थ', या = नगरीम् एव, मानिनी = कोपयुक्ताम्, अत एव अङ्कात् = निजोत्सङ्गात्, आगताम् = आयातां, भूलोकमिति शेष. । दिव =

स्वर्गम्, अमरावतीमित्यर्थः, घनरत्नकवाटपक्षतिः = निबिडमणिकपाटपक्षमूलः सन्। परिरभ्य = आलिङ्ग्य, अनुनयन् = अनुनय कुर्वन्, अनुसरन्नित्यर्थः, उवास = उषितवान्, कामिन प्रणयकुपिता प्रेयसीमाप्रसादमनुगच्छन्तीति भाव ॥ ८६ ॥

अनुवादः—सुवर्णप्राकाररूप सुमेरुपर्वत जिस कुण्डिनपुरीरूप मानिनी और गोदसे आई हुई अमरावतीको गाढ रत्नोवाले कपाटरूप पक्षमूलोसे युक्त होकर आलिङ्गन कर अनुनय करता हुआ रहता था ॥ ८६ ॥

टिप्पणी—वरण = "प्राकारो वरणो वप्र" इत्यमर.। अमराऽद्रि = अमरस्य अद्रि (ष० त०)। मानिनी = मान अस्ति अस्या सा मानिनी, ताम्, मान्+इनि+ङीप्+अम्। घनरत्नकवाटपक्षति = रत्नानां कवाटे (ष० त०), "कवाटमरर तुल्ये" इत्यमरः। घने रत्नकवाटे एव पक्षती यस्य सः (बहु०)। "स्त्री पक्षतिः पक्षमूलम्" इत्यमर। परिरभ्य = परि+रभ्+क्त्वा (ल्यप्)। अनुनयन् = अनुनयतीति, अनु+नी+लट् (शतृ)+सु। उवास = वस+लिट्+तिप् (णल्), इस पद्यसे विदर्भ देशमे सुवर्णका प्राकार सुमेरु पर्वतके समान है, कुण्डिननगरी अमरावतीकी सदृश है, रत्नोके किवाड सुमेरुपर्वतके पक्षमूलोके तुल्य है ऐसी प्रतीति होती है। इस पद्यमे सुवर्ण-प्राकारमे सुमेरुपर्वतका और कपाटमे पक्षतिका और कुण्डिन नगरीमे अमरावती का आरोप होनेसे समस्तवस्तुविषय साङ्गरूपक और लिङ्गसाम्यसे सुमेरुपर्वत और स्वर्गपुरी मे नायक और नायिकाके व्यवहारका समारोप होनेसे समासोक्ति इस प्रकार दो अलङ्कारोका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ८६ ॥

अनलै. परिवेषमेत्य या ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मभि ।
उदयं लयमन्तरा रवेरवहद्बाणपुरीपरार्ध्यताम् ॥ ८७ ॥

अन्वयः—या रवे उदय लयम् अन्तरा ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मभिः अनलैः परिवेषम् एत्य बाणपुरीपरार्ध्यताम् अवहत् ॥ ८७ ॥

व्याख्या—या = कुण्डिननगरी, रवे = सूर्यस्य, उदयम् = उद्गम, लयम् = अस्तमयं च, अन्तरा = मध्ये, सूर्यस्योदयाऽस्तकालयोर्मध्यकाले इति भावः। ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मभि. = दीप्यमान सूर्यकान्तप्राकारोत्पन्नै, सूर्यकिरणसम्पर्कादिति शेषः। अनलैः अग्निभिः, परिवेषं = परिवेष्टनम्, एत्य = प्राप्य, बाणपुरीपरार्ध्यतां = बाणाऽसुरनगरीश्रेष्ठताम्, अग्निपरिवेष्टिततामिति भावः। अवहत् = धृतवान् ॥ ८७ ॥

अनुवाद—जो कुण्डिननगरी सूर्यकिरणके उदय और अस्तकालके मध्य समयमे सूर्यकिरणके सम्पर्कसे जलनेवाले सूर्यकान्तके प्राकारसे उत्पन्न अग्नियोसे घिरी जाती हुई बाणाऽसुरकी नगरीकी श्रेष्ठताको धारण करती थी ॥ ८७ ॥

टिप्पणी—उदय, लयम् = "अन्तरा" पदके योगमे "अन्तराऽन्तरेण युक्ते" इस सूत्रसे द्वितोया । ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मभि = अर्कस्य उपला (ष० त०), ज्वलन्तश्च ते अर्कोपला (क० धा०) तेषा वप्र. (ष० त०) । ज्वलदर्कोपल-वप्रात् जन्म येषा ते ज्वलदर्कोपलप्रजन्मान, तै (व्यधिकरणबहु०) । बाणपुरी-परार्ध्यता=बाणस्य पुरी (ष० त०) । परार्ध्यस्य भाव: परार्ध्यता, परार्ध्य+तल् +टाप् । "परार्ध्याऽग्रप्रागहरप्राग्र्याऽग्र्याऽग्रीयमग्रियम् ।" इत्यमर । बाणपुर्या परार्ध्यता ताम् (ष० त०) । अवहन् = वह + लङ् + तिप् । शिवभक्त बाणा-सुरकी नगरी शिवजीके अनुग्रहसे अग्निसे परिवेष्टित थी ऐसी पुराणकी प्रसिद्धि है । इस पद्यमे एककी परार्ध्यता दूसरी कैसे धारण करेगी इस कारण वस्तु सम्बन्धके सादृश्यका बोधन करनेसे निदर्शना अलङ्कार है ॥ ८७ ॥

बहुकम्बुमणिर्वराटिकागणनाटत्करकर्कटोत्करः ।
हिमबालुकयाऽच्छबालुक पटु दध्वान यदापणाऽर्णव ॥ ८८ ॥

अन्वयः—बहुकम्बुमणि वराटिकागणनाऽटत्करकर्कटोत्कर हिमबालुकया अच्छबालुको यदापणाऽर्णव पटु दध्वान ॥ ८८ ॥

व्याख्या—बहुकम्बुमणि = अधिकशङ्खरत्नयुक्त., वराटिकागणनाऽटत्कर-कर्कटोत्कर.=कपर्दिकासख्यानप्रचरत्पाणिकुलीरसमूहसम्पन्न एव च हिमबालुकया= कर्पूरेण, अच्छबालुक = निर्मलसिकत, यदापणाऽर्णव = कुण्डिननगरीनिषद्या-समुद्र, पटु = गम्भीर यथा स्यात्तथा, दध्वान = ननाद ॥ ८८ ॥

अनुवादः—बहुतसे शङ्खो और रत्नोसे युक्त, कौडियोके गिननेमे चलनेवाले हस्तरूप कर्कटोसे सम्पन्न और कर्पूरसे निर्मल बालूवाला जिस कुण्डिननगरीका बाजाररूपी समुद्र गम्भीर शब्द करता था ॥ ८८ ॥

टिप्पणी—बहुकम्बुमणि =बहव कम्बवो मणयो यस्मिन् स. (बहु०) । वराटिकागणनाऽटत्करकर्कटोत्कर = वराटिकाना गणना (ष० त०) कर्कटानाम् उत्करा (ष० त०) । करा एव कर्कटोत्करा· (रूपक०) । अटन्तश्च ते करकर्कटोत्करा. (क० धा०) । वराटिकागणनायाम् अटत्करकर्कटोत्करा: (स० त०) । हिमबालुकया = "घनसारश्चन्द्रसंज्ञ. सिताऽभ्रो हिमबालुका ।" इत्यमर. । अच्छबालुक =अच्छा बालुका यस्मिन् स (बहु०) । यदापणाऽर्णव. =

आपण एव अर्णवः (रूपक०) यस्या आपणाऽर्णव (ष० त०) । पटु = यह क्रियाविशेषण है । दध्वान = "ध्वन शब्दे" धातुसे लिट् + तिप् (णल्) । इस पद्यमे समस्तवस्तुविषय साऽङ्गरूपक अलङ्कार है ॥ ८८ ॥

यदग रघटाट्टकुट्टिमस्रवदिन्दूपलतुन्दिलापया ।
मुमुचे न पतिव्रतौचिती प्रतिचन्द्रोदयमभ्रगङ्गया ॥ ८९ ॥

अन्वयः—यदगारघटाट्टकुट्टिमस्रवदिन्दूपलतुन्दिलापया अभ्रगङ्गया प्रतिचन्द्रोदयं पतिव्रतौचिती न मुमुचे ॥ ८९ ॥

व्याख्या—यदगारेत्यादि = कुण्डिननगरीगृहपङ्क्तिक्षौमनिबद्धभूमिस्यन्दमानचन्द्रकान्तमणीप्रवृद्धजलया, अभ्रगङ्गया=मन्दाकिन्या, प्रतिचन्द्रोदय=चन्द्रोदये चन्द्रोदये, पतिव्रतौचिती = सत्या औचित्य, न मुमुचे=न परित्यक्ता ॥ ८९ ॥

अनुवाद—जिस कुण्डिननगरीके भवनोकी अटारियोकी निबद्धभूमियोमे पिघलनेवाले चन्द्रकान्त मणियोसे बढे हुए जलसे युक्त आकाशगङ्गाने प्रत्येक चन्द्रोदयके अवसरमे पतिव्रताका औचित्य नही छोडा ॥ ८९ ॥

टिप्पणी—यदगारेत्यादि । अगाराणा घटा (ष० त०) । यस्याम् अगारघटाः (स० त०) । यदगारघटासु अट्टा (स० त०), "स्यादट्ट. क्षौममस्त्रियाम्" इत्यमर. । तेषा कुट्टिमा "कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भू" इत्यमर । इन्दो उपलाः (ष० त०) । स्रवन्तश्च ते इन्दूपला (क० धा०) । यदगारघटा ट्टकुट्टिमेषु स्रवदिन्दूपला (स० त०) । तुन्दिला आप यस्या सा, तुन्दिलाऽपा, "ऋक्पूरब्धू पथामानक्षे" इस सूत्रसे समासाऽन्त अ प्रत्यय । "पिचण्डकुक्षी जठरोदर तुन्दम्" इत्यमर । तुन्दम् अस्या-स्तीति तुन्दिल, "तुन्द" शब्दसे "तुन्दादिभ्य इलच्च" इस सूत्रसे इलच् प्रत्यय होता है । यद्यपि "तुन्द" शब्दका अर्थ है उदर, बढे हुए उदरवाले (तोदवाले) को तुन्दिल कहते है, तथाऽपि यहाँपर "तुन्दिल" शब्दका लाक्षणिक अर्थ है बढा हुआ । यदगारघटाऽट्टकुट्टिमस्रवदिन्दूपलै तुन्दिलापा, तया (तृ० त०) । अभ्रगङ्गया = अभ्रेगङ्गा, तया (स० त०) । "द्योदिवौ द्वे स्त्रियामभ्र व्योमपुष्करमम्बरम् ।" इत्यमर । प्रतिचन्द्रोदय=चन्द्रस्य उदयः (ष० त०) । चन्द्रोदये चन्द्रोदये इति, वीप्सामे अव्ययीभाव । पतिव्रतौचिती = पत्यौ व्रत (नियमः) यस्या. सा पतिव्रता, व्यधि० बहु०, "सुचरित्रा तु सती साध्वी पतिव्रता ।" इत्यमर । उचितस्य भाव औचिती, "उचित" शब्दसे "गुणवचनब्राह्मणादिभ्य कर्मणि च" इस सूत्रसे ष्यञ् प्रत्यय । "षः प्रत्ययस्य" इससे 'ष' का और "हलस्तद्धितस्य" इससे 'य' का लोप तथा षित् होनेसे

"षिद्गौरादभ्यश्च" इससे ङीष् । पतिव्रताया औचिती (ष० त०)। पतिव्रताका लक्षण है—"आर्ताऽऽर्ते, मुदिते हृष्टा, प्रोषिते मलिना कृशा। मृते म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता।" या० स्मृ०। मुमुचे = "मुच्लृ मोक्षणे" धातुसे कर्ममे लुङ + त । इस पद्यमे कुण्डिनपुरमे बडे-बडे भवन हैं, उनमे अटारियाँ आकाशके समान ऊँची है, वहाँपर फर्शमे चन्द्रकान्त मणि जडे हुए है, चन्द्रके उगनेपर उनकी किरणोके सम्पर्कसे चन्द्रकान्तके पिघलनेसे पानी निकलता है, वही आकाशगङ्गा है। चन्द्रोदय होनेपर जैसे आकाशगङ्गाके पति समुद्रके जलकी वृद्धि होती है वैसे ही पत्नी आकाशगङ्गामे भी पतिव्रताधर्मके पालनके कारण जलकी वृद्धि होती है, यह तात्पर्य है। इस पद्यमे चन्द्रकान्तसे पिघले हुए जलसे आकाशगङ्गामे जलवृद्धिका सम्बन्ध न होनेपर भी उसकी उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति और समृद्धिविशिष्ट वस्तुका वर्णन होनेसे उदात्त अलङ्कार है, उन दोनोके अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर है और अतिशयोक्तिसे कुण्डिननगरीके गृहोका औन्नत्य व्यक्त होता है। इस प्रकार अलङ्कारसे वस्तुध्वनि है ॥ ८९ ॥

रुचयोऽस्तमितस्य भास्वतः स्खलिता यत्र निरालयाः खलु ।
अनुसायमभुर्विलेपनापणकश्मीरजपण्यवीथयः ॥ ९० ॥

अन्वयः—यत्र अनुसाय विलेपनाऽऽपणकश्मीरजपण्यवीथयः अस्तम् इतस्य भास्वतः स्खलिता निरालया रुचयः अभुः खलु ॥ ९० ॥

व्याख्या—यत्र=कुण्डिननगर्याम्, अनुसाय = प्रतिसन्ध्याकाल, विलेपनाऽऽपणकश्मीरजपण्यवीथयः = विलेपनापणेषु (सुगन्धद्रव्यनिषद्यासु) कश्मीरजपण्यवीथयः (कुङ्कुमरूपविक्रेयवस्तुश्रेणयः), अस्तम् = अस्तपर्वतम्, इतस्य=गतस्य, भास्वतः = सूर्यस्य, स्खलिता =च्युता. अतएव निरालया: = निराश्रया , रुचयः = प्रभा., अभु = भान्ति स्म, खलु = निश्चयेन ॥ ९० ॥

अनुवाद—जिस कुण्डिननगरीमे प्रति सायङ्कालको सुगन्धद्रव्योकी दूकानोपर केशररूप विक्रेय पदार्थोकी राशियाँ अस्ताचलको गये हुए सूर्यकी च्युत तथा आश्रयहीन प्रभाओके समान शोभित होती थी ॥ ९० ॥

टिप्पणी—अनुसाय = साय सायम् (वीप्सामे अव्ययीभाव०)। विलेपनाऽऽपणकश्मीरजपण्यवीथयः = विलेपनानाम् आपणाः (ष० त०), "आपणस्तु निषद्यायाम्" इत्यमरः। कश्मीरेषु जातानि कश्मीरजानि, कश्मीर+जन्+ड । पणितु योग्यानि पण्यानि, "पण व्यवहारे स्तुतौ च" धातुसे "अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्याऽनिरोधेषु" इस सूत्रसे यत्प्रत्ययान्त निपातन। कश्मीरजानि च

तानि पण्यानि (क० धा०), तेषा वीथयः (ष० त०)। विलेपनाऽऽपणेषु कश्मीरजपण्यवीथयः (स० त०)। निरालया = निर्गत आलयो याभ्यस्ताः (बहु०)। अभु. = "भा दीप्तौ" धातुसे लुङ् + झि। इस पद्यमे इव आदि शब्दोके न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा और सूर्यकी रुचियोका निरालयत्व कहनेसे विशेष अलङ्कार भी है। इस प्रकार दो अलङ्कारोका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर है। उसका यहाँपर लक्षण है—"यदाधेयमनाधारम्।" १०–७३ ॥ ९० ॥

विलत वणिजाऽऽपणेऽखिल पणितुं यत्र जनेन वाक्ष्यते।
मुनिनेव मृकण्डुसूनुना जगतीवस्तु पुरोदरे हरेः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—यत्र वणिजा पणितुम् आपणे विततम् अखिल जगतीवस्तु पुरा हरेः उदरे मृकण्डुसूनुना मुनिना इव जनेन वीक्ष्यते ॥ ९१ ॥

व्याख्या—यत्र = कुण्डिननगर्या, वणिजा = पण्याजीवेन, पणितुं = व्यवहर्तुम्, आपणे = निषद्यायां, वितत = प्रसारितम्, अखिल = समस्त, जगतीवस्तु = लोकपदार्थ, पुरा = पूर्वकाले, हरे = विष्णो, उदरे = जठरे, मृकण्डुसूनुना = मार्कण्डेयेन मुनिना इव = ऋषिणा इव, जनेन = लोकेन, वीक्ष्यते=अवलोक्यते।

अनुवाद—जिस कुण्डिननगरीमे व्यापारीसे बेचनेके लिए दूकानमे फैलाये गये सपूर्ण लोकोका पदार्थ, पूर्वकालमे विष्णुके उदरमे मार्कण्डेय ऋषिके समान लोग देखा करते है ॥ ९१ ॥

टिप्पणी—वणिजा = "वैदेहक. सार्थवाहो नैगमो वाणिजो वणिक्।" इत्यमर। पणितु = पण + तुमुन्। जगतीवस्तु = जगत्या वस्तु (स० त०)। मृकण्डुसूनुना = मृकण्डो सूनु तेन (ष० त०)। वीक्ष्यते = वि + ईक्ष + लट् (कर्ममे) + त। जैसे पूर्वकालमे मार्कण्डेय मुनिने भगवान् विष्णुके उदरमे लोकका समस्त पदार्थ देखा था उसी तरह जिस कुण्डिननगरीकी दूकानमे लोग लोकके समस्त पदार्थ देखते है यह तात्पर्य है। इस पद्यमे उपमा अलङ्कार है ॥ ९१ ॥

सममेणमदैर्यदापणे तुलयन्सौरभलोभनिश्चलम्।
पणिता न जनाऽऽरवैरवैदपि कूजन्तमलिं मलीमसम्॥ ९२ ॥

अन्वय.—यदापणे सौरभलोभनिश्चल मलीमसम् अलिम् एणमदै. समं तुलयन् पणिता कूजन्तम् अपि जनाऽऽरवै. न अवैत् ॥ ९२ ॥

व्याख्या—यदापणे = कुण्डिननगरीनिषद्यायां, सौरभलोभनिश्चल = सौगन्ध्यलोलुपत्वस्थिर, मलीमस = मलिनं, कस्तूरीसवर्णमिति भाव। अलि =

भ्रमरम्, एणमदै = कस्तूरीभि, सम = सह, तुलयन् = तोलयन्, पणिता = विक्रेता, कूजन्तम् अपि = गुञ्जन्तम् अपि, जनारवै = लोकशब्दै, कलकलैरित्यर्थ । न अवैत् = न ज्ञातवान्, शब्दतोऽपीति शेष ॥ ९२ ॥

अनुवादः—कुण्डिनपुरके बाजारमे सुगन्धके लोभसे निश्चल कृष्णवर्णवाले भ्रमरको कस्तूरियोके साथ तौलता हुआ बिक्री करता हुआ व्यापारी शब्दके करनेपर भी लोगोके शोरगुलोसे नही जानता था ॥ ९२ ॥

टिप्पणी—यदापणे=यस्या आपण, तस्मिन् (ष० त०)। सौरभलोभनिश्चल = सुरभेर्भाव सौरभ, सुरभि + अण । सौरभस्य लोभ. (ष० त०), तेन निश्चल., तम् (तृ० त०)। मलीमस = 'मल' शब्दसे "ज्योत्स्नातमिस्रा०" इत्यादि सूत्रसे ईमसचप्रत्ययप्रान्त निपातन, "मलीमसं तु मलिनं कच्चर मलदूषितम् ।" इत्यमर । एणमदै =एणस्य मदा, तै. (ष० त०), "समम्" इस पदके योगमे तृतीया । तुलयन्="तुल उन्माने" धातुसे णिच् प्रत्यय होकर लट्के स्थानमे शतृ आदेश। सज्ञापूर्वक विधिसे लघूपध गुण नही हुआ। पणिता = पणत इति, पण + तृच् + सु.। कूजन्त = कूज + लट् (शतृ) + अम्। जनाऽऽरवै = जनानाम् आरवा, तै. (ष० त०)। अवैत् = अव + इण् + लङ् + तिप्। इस पद्यमे प्रकृत भ्रमरको कृष्णवर्ण गुणसे अप्रकृत कस्तूरीसे तादात्म्यप्रतीति होनेसे "सामान्य" अलङ्कार है। उसका लक्षण है—

"सामान्य प्रकृतस्याऽन्यतादात्म्यं सदृशैर्गुणै. ।" सा०द० १०-११६ ॥९२॥

रविकान्तमयेन सेतुना सकलाऽहं ज्वलनाऽऽहितोष्मणा ।
शिशिरे निशि गच्छतां पुरा चरणौ यत्र दुनोति नो हिमम् ॥ ९३ ॥

अन्वयः—यत्र सकलाऽहं ज्वलनाऽहितोष्मणा रविकान्तमयेन सेतुना गच्छतां चरणौ शिशिरे निशि हिमं पुरा नो दुनोति ॥ ९३ ॥

व्याख्या—यत्र=कुण्डिननगर्यां, सकलाह = सपूर्णं दिनं (व्याप्य), ज्वलनाऽऽहितोष्मणा=अग्निजनिततापेन, रविकान्तमयेन = सूर्यकान्तमणिस्वरूपेण, सेतुना = आलिसदृशमार्गेण, सूर्यकान्तकुट्टिमाऽध्वनेति भाव.। गच्छता=सञ्चरता जनानां, चरणौ = पादौ। शिशिरे = शिशिरतौं, निशि = रात्रौ, हिमं = तुहिनं, पुरा नो दुनोति = न अपीडयत् ॥ ९३ ॥

अनुवाद—जिस कुण्डिननगरीमे दिनभर अग्निसे उत्पन्न तापवाले सूर्यकान्तमणिसे निबद्ध भूमिके मार्गसे चलनेवाले जनोके चरणोको शिशिर ऋतुमें भी रातको जाडा पीडित नही करता था ॥ ९३ ॥

टिप्पणी—सकलाऽहम् = सकल च तत् अह·, तम् (क० धा०), "राजाऽह सखिभ्यष्टच्" इस सूत्रसे समासान्त टच् प्रत्यय, "रात्राऽह्नाहा· पुसि" इस सूत्रसे पुंलिङ्गता "कालाऽध्वनोरत्यन्तसयोगे" इस सूत्रसे द्वितीया। ज्वलनाऽऽहितोष्मणा = आहिता ऊष्मा (उष्णता) येन स आहितोष्मा = (बहु०)। ज्वलनेन आहितोष्मा, तेन (तृ० त०), रविकान्तमयेन = प्रचुर: रविकान्तो यस्मिन् स तेन, "रविकान्त" शब्दसे "तत्प्रकृतवचने मयट्" इस सूत्रसे मयट् प्रत्यय। गच्छता = गम् + लट् (शतृ) + आम्। पुरा नो दुनोति = "पुरा" के योगमे "टुदु उपतापे" इस धातुसे "यावत्पुरानिपातयोर्लट्" इस सूत्रसे भूतकालमे लट्। कुण्डिननगरीमे सूर्यकान्तमणिकी कुट्टिम भूमिमे दिनभर सूर्यकी किरणोके सम्पर्कसे उत्पन्न आगकी गर्मीसे शिशर ऋतुमे रातमे चलनेवाले मनुष्योके चरणोको जाडा नही सताता था यह इस पद्यका तात्पर्य है। इस पद्यमे हिमरूप कारणके रहनेपर भी उसका कार्य पीडाकी उत्पत्ति न होनेसे विशेषोक्ति अलङ्कार है, वह ऊष्मा (उष्णता) की उक्ति होनेसे उक्तनिमित्ता है और समृद्धिविशिष्ट वस्तुका वर्णन होनेसे उदात्त अलङ्कार भी है इस प्रकार दोनोका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ ९३ ॥

विधुदीधितिजेन यत्पथ पयसा नैषधशीलशीतलम्।
शशिकान्तमय तपाऽऽगमे कलितीव्रस्तपति स्म नाऽऽतपः ॥ ९४ ॥

अन्वयः—विधुदीधितिजेन पयसा नैषधशीलशीतल शशिकान्तमय यत्पथं तपाऽऽगमे कलितीव्र आतप न तपति स्म ॥ ९४ ॥

व्याख्या—विधुदीधितिजेन = चन्द्रकिरणसम्पर्कोत्पन्नेन, पयसा = जलेन, नैषधशीलशीतल = नलस्वभावसदृशशीत, शशिकान्तमय = चन्द्रकान्तमणिनिर्मितं, यत्पथ कुण्डिननगरीमार्गं, कलितीव्र· = कलिसदृशतीक्ष्ण , आतपः = सूर्यताप·, न तपति स्म = न अतपत् ॥ ९४ ॥

अनुवाद·—चन्द्रकिरणोके सम्पर्कसे उत्पन्न जलसे नलके स्वभावके समान शीतल चन्द्रकान्त मणिसे बने हुए जिस कुण्डिनपुरीके मार्गको कलिके समान तीक्ष्ण धूप ताप नही करती थी ॥ ९४ ॥

टिप्पणी—विधुदीधितिजेन = विधो दीधिति (ष० त०), तस्या जातं विधुदीधितिजं, तेन (विधुदीधिति + जन् + ड + टा)। नैषधशीलशीतल = निषधानाम् अय नैषध·, निषध + अण्। नैषधस्य शील (ष० त०)। "शीलं स्वभावे सद्वृत्ते" इत्यमर·। नैषधशीलम् इव शीतलम्, "उपमानानि सामान्य-

वचनै" इससे समास। शशिकान्तमय = प्रचुरा शशिकान्ता यस्मिन्, तम्, शशिकान्त+मयट्। यत्पथ = यस्याः पन्था., तम् (ष० त०), "ऋक्पूरब्धू-पथामानक्षे" इस सूत्रसे समासाऽन्त अ प्रत्यय। तपाऽऽगमे = तपस्य आगम, तस्मिन् (ष० त०)। "निदाघ उष्णोपगम उष्ण ऊष्मागमस्तप।" इत्यमरः। कलितीव्र = कलिरिव तीव्र', (उपमानपूर्वपदकर्म०)। तपति स्म='तप सन्तापे' धातुसे "स्म" के उत्तरपदके रहते हुए भूतकालमे लट्। चन्द्रकान्तमणिसे निर्मित जिस कुण्डिनपुरीके मार्गको चन्द्रकी किरणोके सम्पर्कसे उत्पन्न जलके कारण ठण्डा होनेसे ग्रीष्म ऋतुके आगमनमे भी धूप ताप नही करती थी यह अभिप्राय है। इस पद्यमे भी ग्रीष्मके आगमन रूप कारणके रहनेपर उसके कार्य तापकी उत्पत्ति न होनेसे विशेषोक्ति अलङ्कार हैं, उसमे चन्द्रकिरणके सम्पर्कसे चन्द्रकान्तके पिघलनेसे जलकी उक्ति होनेसे उक्तनिमित्ता है, "कलि-तीव्र" और "नैषधशीलशीतलम्" दोनो उपमा अलङ्कार है इस प्रकार उनकी समृष्टि है॥ ९४॥

परिखावलयच्छलेन या न परेषां ग्रहणस्य गोचरा।
फणिभाषितभाष्यफक्किका विषमा कुण्डलनामवापिता॥ ९५॥

अन्वयः—परिखावलयच्छलेन कुण्डलनाम् अवापिता परेषा ग्रहणस्य न गोचरा या विषमा फणिभाषितभाष्यफक्किका॥ ९५॥

व्याख्या—परिखावलयच्छलेन = खेयमण्डलव्याजेन, कुण्डलनाम् = मण्डलाकाररेखाम्, अवापिता = प्रापिता, अतएव, परेषा = शत्रूणाम्, अन्येषा च, ग्रहणस्य = आक्रमणस्य च। न गोचरा = अविषया, या=कुण्डिन-नगरी, विषमा = दुर्बोधा, फणिभाषितभाष्यफक्किका=पतञ्जलिकथितमहाभाष्य-कुण्डलावृतग्रन्थ, कुण्डिनपुरी पातञ्जलमहाभाष्यविनष्टग्रन्थभागसदृशी विषमा इति भाव.॥ ९५॥

अनुवादः—खाईके मण्डलके बहानेसे मण्डलाकार रेखाको प्राप्त करायी गयी शत्रुओके आक्रमणके बाहर, जो कुण्डिननगरी दूसरेके ज्ञानका अविषय दुर्बोध, शेषनागसे कथित भाष्यकी फक्किका (विनष्ट ग्रन्थभाग) के सदृश थी॥९५॥

टिप्पणी—परिखावलयच्छलेन = परित खाता परिखा., परि उपसर्ग-पूर्वक "खनु अवदारणे" इस धातुसे "अन्येष्वपि दृश्यते" इस सूत्रसे डप्रत्यय और टाप् "खेय तु परिखा" इत्यमर। परिखाणा वलय (ष० त०), तस्य छलं तेन (ष० त०)। अवापिता = अव+आप्+णिच्+क्त+टाप्। फणि-

भाषितभाष्यफक्किका = फणा अस्याऽस्तीति फणी, "फणा" शब्दसे "व्रीह्यादिभ्यश्च" इस सूत्रसे इनि, "कुण्डली गूढपाच्चक्षु श्रवा काकोदर फणी।" इत्यमर। फणा होनेसे सर्पको "फणी" कहते है। यहाँपर "फणी" कहनेसे पाणिनिकी अष्टाध्यायीके महाभाष्यकार शेषनागके अवतार पतञ्जलि मुनि विवक्षित है। फणिना भाषितम् (तृ० त०), फणिभाषित च तत् भाष्यम् (क० धा०)। सूत्रकी व्याख्याको "भाष्य" कहते है। उसका लक्षण हे—

"सूत्राऽर्थो वर्ण्यते यत्र पदै सूत्राऽनुसारिभि।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्य भाष्यविदो विदु॥"

अर्थात् जहाँपर सूत्रके अनुसरण करनेवाले पदोसे सूत्रार्थका और उसी प्रसङ्गमे प्रतिपादित स्वप्नोका भी वर्णन होता है उसे "भाष्य" कहते है। काव्यमीमासामे राजशेखरने "आक्षिप्य भाषणाद्भाष्यम्" ऐसा लक्षण किया है। जहाँपर आक्षेपपूर्वक सूत्रार्थका वर्णन किया जाता है उसे भाष्य कहते है। फणिभाषितभाष्यस्य फक्किका (ष० त०)। कहा जाता है कि अष्टाध्यायीके सूत्रोका महाभाष्य पेडके पत्तोपर लिखकर कोई विद्वान् ले आ रहे थे, वे मध्याह्नमे पेडके नीचे सो रहे थे इतनेमे कुछ सूत्रोके व्याख्याभाग भाष्यके पन्नोको बकरीने खा लिया अत उतने भागमे कुण्डलाकार चिह्न अङ्कित है। जैसे वे सूत्राऽश भाष्यकी अनुपलब्धिसे दुर्ज्ञेय है उसी तरह खाईंसे कुण्डलाकार घिरी हुई कुण्डिननगरी शत्रुओसे आक्रमणकी विषयभूत नही है यह तात्पर्य है। इस पद्यमे कैतवाऽपह्नुति और नगरीका कुण्डलिग्रन्थत्वसे उत्प्रेक्षा, वह व्यञ्जक शब्दोके अभावसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा, इस प्रकार दो अलङ्कारोका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर है॥ ९५॥

मुखपाणिपदाऽक्षिण पङ्कजै रचिताऽङ्गेष्वपरेषु चम्पकैः।
स्वयमादित यत्र भीमजा स्मरपूजाकुसुमस्रजः श्रियम्॥ ९६॥

अन्वय.—यत्र मुखपाणिपदाऽक्षिण पङ्कजै, अपरेषु अङ्गेषु चम्पकै रचिता भीमजा स्मरपूजाकुसुमस्रज श्रिय स्वयम् आदित॥ ९६॥

व्याख्या—यत्र = कुण्डिननगर्यां, मुखपाणिपदाऽक्षिण = वदनकरचरणनेत्रे, पङ्कजै = कमलै, रचिता, अपरेषु = अन्येषु मुखपाणिपदाक्षिव्यतिरिक्तेष्विति भाव, अङ्गेषु = अवयवेषु, चम्पकै = चम्पकपुष्पै, रचिता = निर्मिता, सर्वत्र सादृश्याद् व्यपदेश, तादृशी भीमजा = दमयन्ती, स्मरपूजाकुसुमस्रज = कामाऽर्चनपुष्पमालाया, श्रियं = शोभां, स्वयम् = आत्मनैव, आदित = आत्तवती, गृहीतवती॥ ९६॥

अनुवादः—जिस कुण्डिननगरीमे मुख, हाथो, चरणो और नेत्रोमें कमलोसे और मुख आदिसे अतिरिक्त और अङ्गोमे चम्पक पुष्पोसे बनायी गयी दमयन्ती, कामदेवकी पूजाके फूलोकी मालाको स्वयम् (खुद) ग्रहण करती थी ॥ ९६ ॥

टिप्पणी—मुखपाणिपदाक्षिण = मुख च पाणी च पदे च अक्षिणी च मुखपाणिपदाऽक्षि, तस्मिन् । "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाऽङ्गानाम्" इसे सूत्रसे समाहार द्वन्द्व । "पदाऽङ्गाऽधिकारे तस्य च तदन्तस्य च" इससे तदन्तविधिकी अनुज्ञासे "अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्त" इससे अनङ् और "अल्लोपोऽन." इससे अल्लोप । भीमजा = भीमाज्जाता, भीम + जन् + ड + टाप् (उपपद०) । स्मरपूजाकुसुमस्रज = स्मरस्य पूजा (ष० त०), तस्या कुसुमानि (स० त०), तेषा स्रक, तस्या (ष० त०) । आदित = आङ्–उपसर्गपूर्वक "डुदाञ् दाने" धातुसे "आडो दोऽनास्यविहरणे" इससे आत्मनेपद होकर लुङ् + त, "स्थाघ्वोरिच्च" इससे इत्व और "ह्रस्वादङ्गात्" इससे सिच्का लोप । जिस कुण्डिन नगरीमे मुखमे श्वेत कमलसे, हाथोमे और चरणोमे रक्त कमलोसे तथा नेत्रोमे नीलकमलोसे एवम् मुख आदिसे भिन्न अङ्गोमे चम्पक पुष्पोसे बनायी गयी दमयन्ती, कामदेवकी पूजामे फूलोकी मालाकी शोभाको प्राप्त करती थी अर्थात् दमयन्तीके मुख, हाथ, चरण और नेत्र कमलके समान तथा उनसे भिन्न अङ्ग चम्पक पुष्पोके समान थे यह तात्पर्य है । इस पद्यमे कमलो और चम्पकपुपोसे दमयन्तोके मुखादि अङ्गोकी रचनाके असम्बन्धमे भी सम्बन्धकी उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति और एककी शोभाका दूसरेसे ग्रहणके असभव होनेसे सादृश्यका आक्षेप होकर निदर्शना इस प्रकार दो अलङ्कारोका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर है ।

जघनस्तनभारगौरवाद्वियदालम्ब्य विहर्तुमक्षमाः ।
ध्रुवमप्सरसोऽवतीर्य यां शतमध्यासत तत्सखीजनः ॥ ९७ ॥

अन्वयः—जघनस्तनभारगौरवात् वियत् आलम्ब्य विहर्तुम् अक्षमा. शतम् अप्सरस अवतीर्य तत्सखीजन॰ याम् अध्यासत ध्रुवम् ॥ ९७ ॥

व्याख्या—जघनस्तनभारगौरवात् = नितम्बकुचभरगुरुत्वात् हेतो, वियत् = आकाशम्, आलम्ब्य = आश्रित्य, विहर्तु = क्रीडितुम्, अक्षमा: = असमर्था, शत = बहुसख्यका, अप्सरस = स्ववेंश्या उर्वश्यादय इति भाव । अवतीर्य = अवरुह्य, स्वर्गादागत्येति भाव । तत्सखीजन = दमयन्तीवयस्यागण, दमयन्तीसख्य: सत्य:, या = कुण्डिननगरीम्, अध्यासत=अध्यतिष्ठन्, ध्रुव=सम्भावनायाम् । अप्सर:सदृश्यो दमयन्तीसख्यो दमयन्तीमुपासत इति भावः ॥ ९७ ॥

अनुवाद:—नितम्ब और कुचोके भारकी गुरुतासे आकाशको अवलम्बन कर क्रीडा करनेके लिए असमर्थ बहुत-सी अप्सराएँ स्वर्गसे आकर दमयन्तीकी सखियाँ होकर जिस कुण्डिननगरीमे रहती है क्या ? ऐसा मालूम होता था ।। ९७ ।।

टिप्पणी—जघनस्तनभारगौरवात् = जघन च स्तनौ च जघनस्तन, "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाऽङ्गानाम्" इस सूत्रसे प्राण्यङ्ग होनेसे समाहार द्वन्द्व । जघनस्तनस्य भार (ष० त०), गुरोर्भाव गौरव, गुरु+अण् । जघनस्तन-भारस्य गौरव, तस्मात् (ष० त०), हेतुमे पञ्चमी । आलम्ब्य = आङ्+लबि+क्त्वा (ल्यप) । विहर्तुम् = वि+हृञ्+तुमुन् । अक्षमा = न क्षमा (नञ्०) । शत="विशत्याद्या सदैकत्वे सख्या सख्येयसख्ययो. ।" इत्यमर । अवतीर्य = अव+तॄ+क्त्वा (ल्यप) । तत्सखीजन = सखी चाऽसौ जन (क० धा०), "जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्" इससे जातिमे एकवचन, याम् = "अध्यासत" 'अधि-उपसर्गपूर्वक आस धातुके योगमे "अधि-शीङ्स्थाऽऽसा कर्म" इस सूत्रसे आधारकी कर्मता होनेसे द्वितीया । अध्यासत = अधि+शीङ्+आस+लङ्+झ । अप्सराओके सदृश दमयन्तीकी सखियाँ उनकी सेवा करती थी यह तात्पर्य है । इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है, "ध्रुवम्" यह पद उसका वाचक है ।। ९७ ।।

स्थितिशालिसमस्तवर्णता न कथ चित्रमयी बिभर्तु या ।
स्वरभेदमुपैतु वा कथ कलिताऽनल्पमुखाऽऽरवा न वा ।। ९८ ।।

अन्वयः—चित्रमयी या स्थितिशालिसमस्तवर्णता कथ न बिभर्तु ? कलिताऽनल्पमुखाऽऽरवा या स्वरभेद कथ वा न उपैतु ।। ९८ ।।

व्याख्या— चित्रमयी = आश्चर्यप्रचुरा आलेख्यप्रचुरा च, या=कुण्डिननगरी, स्थितिशालिसमस्तवर्णता=मर्यादाशोभिसकलब्राह्मणादिवर्णताम् (आश्चर्य प्रचुरा-पक्षे), मर्यादाशोभिसकलशुक्लादिवर्णताम् (आलेख्यप्रचुरापक्षे), कथ=केन प्रकारेण, न बिभर्तु=नो धारयतु, धारयत्येवेति भाव । एव च कलिताऽनल्पमुखाऽऽरवा = प्राप्तबहुमुखशब्दा प्राप्तचतुर्मुखपञ्चमुखषण्मुखशब्दा च, या = पुरी, स्वरभेद = ध्वनिनानात्व (प्राप्तबहुमुखशब्दापक्षे), स्वर्गात् अभेद (प्राप्तचतुर्मुखपञ्च-मुखषण्मुखशब्दापक्षे), कथ वा = केन प्रकारेण वा, न उपैतु = न प्राप्नोतु, उपैत्येवेति भाव ।। ९८ ।।

अनुवाद.—प्रचुर आश्चर्यवाली और प्रचुर चित्रवाली जो कुण्डिननगरी मर्यादावाले ब्राह्मण आदि वर्णोसे युक्त और ठीक स्थानमे रहनेवाले शुक्ल-कृष्ण

आदि वर्णोंसे युक्त क्यो न हो ? मनुष्य आदिके अनेक मुखोसे शब्दोको प्राप्त करनेवाली जो नगरी स्वरके भेदको क्यो नही प्राप्त करेगी ? और बहुमुखवालों (चतर्मुख = ब्रह्मा, पञ्चमुख=महादेव और षण्मुख = कार्तिकेय) शब्दको प्राप्त करनेवाली जो कुण्डिननगरी स्वर्गसे अभेदको क्यो नही प्राप्त करेगी ? ॥ ९८ ॥

टिप्पणी—चित्रमयी = प्रचुर चित्रमस्ति यस्या. सा, चित्र + मयट् + ङीप् "आलेख्याऽऽश्चर्ययोश्चित्रम्" इत्यमर । स्थितिशालिसमस्तवर्णता = स्थित्या शाड (ल) न्ते तच्छीला इति स्थितिशालिन, स्थिति + शाड् + णिनि । "ड" और "ल" के अभेदसे "स्थितिशालिन" ऐसा पद हुआ है। "स्थिति. स्त्रियामवस्थाने मर्यादाया च सीमनि" इत्यमर । समस्ताश्च ते वर्णा: (क० धा०), "वर्णो द्विजाऽऽदौ शुक्लादौ स्तुतौ, वर्णं तु वाऽक्षरे।" इत्यमर । स्थितिशालिन समस्तवर्णा यस्या सा (बहु०)। तस्या. भाव स्थितिशालिसमस्तवर्णता, ताम् स्थितिशालिसमस्तवर्णा + तल् + टाप् + अम् । "सामान्ये नपुसकम्" इससे नपुसकलिङ्गता । विभर्तु = डुभृञ् + लोट् + तिप् । आश्चर्यमयी इस नगरीमे ब्राह्मण आदि सपूर्ण वर्ण अपनी मर्यादामे थे, प्रचुर चित्रोवाली इस नगरीमे चित्रोमे शुक्ल, नील आदि समस्त वर्ण (रङ्ग) ठीक स्थानमे थे। मनुष्य आदिके मुखोके शब्दोवाली जो नगरी स्वरोके भेदको प्राप्त करती थी तथा बहुत मुखोवालो (चतुर्मुख=ब्रह्मा, पञ्चमुख = महादेव और षण्मुख= कार्तिकेय) के शब्दोको प्राप्त करनेवाली जो नगरी (स्व अभेदम्) स्वर्गसे अभेदको प्राप्त करती थी अर्थात् जैसे स्वर्गमे चतुर्मुख, पञ्चमुख और षण्मुखके शब्द है वैसे ही यहाँपर बहुत मुखोके शब्द है यह तात्पर्य है। इस पद्यमे पूर्वार्द्धमे अर्थापत्ति, शब्दश्लेष और प्रकृतिश्लेषका एकाश्रयाऽनुप्रवेशरूप सङ्कर और उत्तरार्द्धमे भी वैसा ही सङ्कर है। समुदायमे ससृष्टि अलङ्कार है ॥ ९८ ॥

स्वरुचाऽरुणया पताकया दिनमर्केण समीयुषोत्तृषः ।
लिलिहुर्बहुधा सुधाकरं निशिमाणिक्यमया यदालया. ॥ ९९ ॥

अन्वय—माणिक्यमया यदालया दिन समीयुषा अर्केण उत्तृषः (सन्त) निशि स्वरुचा अरुणया पताकया सुधाकर बहुधा लिलिहु ॥ ९९ ॥

व्याख्या—माणिक्यमया: = पद्मरागरत्ननिर्मिता , यदालया. = कुण्डिननगरीगृहा , दिन=दिवस व्याप्य, समीयुषा = सङ्गतेन, अर्केण = सूर्येण हेतुना, उत्तृष. = उत्पन्नपिपासा. सन्त, सूर्यकिरणसम्पर्कादिति शेष. । निशि = रात्रौ, स्वरुचा = आलयप्रभया, अरुणया = रक्तवर्णया, पताकया = वैजयन्त्या,

रसनायमानयेति भाव । सुधाकरम् = अमृतनिधिं, चन्द्रमित्यर्थ, बहुधा = अनेकप्रकारै, लिलिहु = आस्वादयामासु । दिवसे सन्तप्ता रात्रौ शीतोपचारं कुर्वन्तीति भाव ॥ ९९ ॥

अनुवादः—पद्मराग रत्नोसे बने हुए जिस कुण्डिननगरीके भवन, दिनभर मिले हुए सूर्यके कारण प्यासे होकर रातमे भवनकी कान्तिसे लाल रसना-(जीभ) के सदृश पताकासे चन्द्रमाको अनेक प्रकारसे आस्वादन करते थे।

टिप्पणी—माणिक्यमया = माणिक्याना विकारा., माणिक्य + मयट् । यदालयाः = यस्याम् आलया (स० त०) । दिनं = 'कालाऽध्वनोरत्यन्त-सयोगे' इस सूत्रसे कालके अत्यन्त सयोगमे द्वितीया । समीयुषा=सम्-उपसर्गपूर्वक इण् धातुसे "उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च" इस सूत्रमे "उद्" इस उपसर्गके अवि-वक्षित होनेसे उपसर्गरहित वा अन्य उपसर्गसे युक्त इण धातुसे क्वसु प्रत्ययान्त निपातन । सम् + इण् + क्वसु + टा । उत्तृष. = उद्गता तृट् येषा ते (बहु०), स्वरुचा = स्वस्य रुक्, तया (ष० त०) । सुधाकर = सुधाया आकरः, तम् (ष० त०) । बहुधा = बहुभिः प्रकारै, "बहुगणवतुडतिसंख्या" इस सूत्रसे सख्यासज्ञा होनेसे "बहु" शब्दसे "सख्याया विधार्थे धा" इस सूत्रसे धा प्रत्यय । लिलिहु = "लिह आस्वादने" धातुसे लिट् + झि । इस पद्यमे पताकाओके अपने शुक्लगुणका परित्याग कर माणिक्यमे स्थित अरुण गुणका ग्रहण करनेसे तद्गुण और कुण्डिनके आलयोका चन्द्रलेहनकी उत्प्रेक्षा करनेमे इव आदि वाचक शब्दोके अभावसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा इस प्रकार दो अलङ्कारो-का अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर है ॥ ९९ ॥

लिलिहे स्वरुचा पताकया निशि जिह्वानिभया सुधाकरम् ।
श्रितमर्ककरैः पिपासु यन्नृपसद्माऽमलपद्मरागजम् ॥ १०० ॥

अन्वयः—अमलपद्मरागजं यन्नृपसद्म अर्ककरै श्रितं पिपासु (सत्) स्वरुचा जिह्वानिभया पताकया निशि सुधाकर लिलिहे ॥ १०० ॥

व्याख्या—पूर्वोक्तमेवाऽर्थं भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादयति लिलिह इति । अमल पद्मरागज = निर्मलपुष्परागरत्ननिर्मित, यन्नृपसद्म = कुण्डिननगरीराजभवनम्, अर्ककरै = सूर्यकिरणै, श्रितम् = अभिव्याप्तम्, अतिसामीप्यादिति शेष. । अत एव पिपासु = तृषित सत्, स्वरुचा=स्वसदृशकान्तियुक्तया, जिह्वानिभया = रसनासदृश्या, पताकया = वैजयन्त्या, निशि = रात्रौ, सुधाकर = चन्द्रमसं, लिलिहे = आस्वादयामास ॥ १०० ॥

अनुवादः—निर्मल पुष्परागरत्नोसे निर्मित कुण्डिननगरीका राजप्रासाद, सूर्यकिरणोसे अभिव्याप्त अतएव प्यासा होकर अपनी कान्तिवाली जीभके समान पताकासे चन्द्रमाका आस्वादन करता था ॥ १०० ॥

टिप्पणी—अमलपद्मरागजम् = पद्मरागेभ्यो जात पद्मरागजम् पद्मराग+जन्+ड । अमल च तत् पद्मरागजम् (क० धा०) । यन्नृपसद्म=नृपस्य सद्म (ष० त०), यस्या नृपसद्म (स० त०) । अर्ककरै. = अर्कस्य कराः, तै (ष० त०) । श्रित = श्रि+क्त (कर्ममे) । पिपासु = पातुम् इच्छु, पा+सन्+उ । स्वरुचा = स्वा रुक् यस्या सा स्वरुक्, तया (बहु०) । जिह्वानिभया= जिह्वया सदृशी जिह्वानिभा, तया (तृ० त०) । लिलिहे = "लिह आस्वादने" धातुसे कर्तामे लिट्+त । इस पद्यमे पहलेके समान तद्गुण, प्रतीयमानोत्प्रेक्षा और उपमा इनका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर है ॥ १०० ॥

अमृतद्युतिलक्ष्म पीतया मिलितं यद्वलभीपताकया ।
वलयायितशेषशायिनः सखितामादित पीतवाससः ॥ १०१ ॥

अन्वयः—पीतया यद्वलभीपताकया मिलितम् अमृतद्युतिलक्ष्म वलयायितशेषशायिन. पीतवासस सखिताम् आदित ॥ १०१ ॥

व्याख्या—पीतया=पीतवर्णया, यद्वलभीपताकया = कुण्डिननगरीवैजयन्त्या, मिलित = सगत, सामीप्यादिति शेष । अमृतद्युतिलक्ष्म = चन्द्रलाञ्छन, वलयायितशेषशायिनः = मण्डलीभूताऽनन्तनागे शयनशालिन, पीतवासस. = पीताम्बरस्य, विष्णोरित्यर्थं । सखितां = सादृश्यम्, आदित=अग्रहीत् ॥१०१॥

अनुवादः—पीतवर्णवाली जिस कुण्डिननगरीके ऊँचे गृहकी पताकासे सगत चन्द्रमाका कलङ्क, मण्डलाकार शेषनागमे सोनेवाले पीताम्बर (विष्णु) के सादृश्यको ग्रहण करता था ॥ १०१ ॥

टिप्पणी—पीतया = "पीतो गौरो हरिद्राऽऽभ." इत्यमर. । यद्वलभीपताकया = यस्या वलभी (स० त०) । "वलभी चन्द्रशालाया गृहे सौधोर्ध्ववेश्मनि ।" इति रभस. । यद्वलभ्या पताका, तया (स० त०) । अमृतद्युतिलक्ष्म=अमृत द्युतिर्यस्य स (बहु०) । अमृतद्युतेर्लक्ष्म (ष० त०) । वलयायितशेषशायिन = वलयवत् आचरित· वलयायित , "वलय" शब्दसे "कर्तु क्यङ् सलोपश्च" इससे क्यङ् प्रत्यय होकर कर्तामे क्त प्रत्यय । वलयायितश्चाऽसौ शेष (क० धा०) । वलयायितशेषे शेते तच्छील वलयायितशेषशायी, तस्य वलयायितशेष+शीङ्+णिनिः (उपपद०)+ङस् । पीतवासस.=पीत वासो

यस्य स पीतवासा, तस्य (बहु०)। सखिताम् = सख्युर्भाव सखिता, ताम्, सखि + तल् + टाप् + अम्। आदित = आङ्-उपसर्गपूर्वक "डुदाञ् दाने" धातुसे कर्तामे लुङ् + त। इस पद्यमे चन्द्रमाका शेषनागके साथ, उनके कलङ्कका विष्णुके साथ और पीली पताकाका पीतवस्त्रके साथ सादृश्य है। इस पद्यमे वलभीपताकाके चन्द्रकलङ्कके साथ मेलनका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धका प्रतिपादन करनेसे अतिशयोक्ति और उपमा अलङ्कार है। इन दोनोका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर है ॥ १०१ ॥

अश्रान्तश्रुतिपाठपूतरसनाऽऽविर्भूतभूरिस्तवा-
जिह्मब्रह्ममुखौघविघ्नितनवस्वर्गक्रियाकेलिना।
पूर्वं गाधिसुतेन सामिघटिता मुक्ता नु मन्दाकिनी
यत्प्रासाददुकूलवल्लिरनिलाऽऽन्दोलैरखेलद्दिवि ॥ १०२ ॥

अन्वय.—यत्प्रासाददुकूलवल्लि अश्रान्तश्रुतिपाठपूतरसना० गाधिसुतेन पूर्वं सामिघटिता मुक्ता मन्दाकिनी नु अनिलान्दोलै दिवि अखेलत् ॥ १०२ ॥

व्याख्या—यत्प्रासाददुकूलवल्लिः = कुण्डिननगरीराजभवनपताकालता, अश्रान्तश्रुतिपाठपूतरसनाऽऽविर्भुतभूरिस्तवाऽजिह्मब्रह्ममुखौवविघ्नितनवस्वर्गक्रिया - केलिना = निरन्तरवेदपाठपवित्रजिह्वाप्रादुर्भूतप्रचुरस्तोत्राऽकुण्ठपितामहाऽऽनन-प्रत्यूहितनूतनसुरलोकरचनाविलासेन, गाधिसुतेन = विश्वामित्रेण, पूर्वं = प्रथम, ब्रह्मप्रार्थनादिति शेष। सामिघटिता = अर्धसृष्टा, प्रागिति शेष, मुक्ता = त्यक्ता, पश्चादिति शेष। मन्दाकिनी नु = आकाशगङ्गा किम्, अनिलान्दोलै = वायुचलनै, दिवि = आकाशे, अखेलत् = अक्रीडत् ॥ १०२ ॥

अनुवाद.—कुण्डिनपुरीके राजभवनकी पताका, लगातार वेदपाठ करनेसे पवित्र जीभसे प्रादुर्भुत प्रचुरस्तोत्रमे कुण्ठित न होनेवाले ब्रह्माजीके मुखोसे नये स्वर्गलोककी रचनामे विघ्नवाले विश्वामित्रसे ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे पहले आधी बनायी गयी और पीछेसे छोडी गयी आकाशगङ्गा, वायुके आन्दोलनोसे आकाशमे मानो खेल रही थी ॥ १०२ ॥

टिप्पणी—यत्प्रासाददुकूलवल्लि = यस्या. प्रासाद. (ष० त०)। दुकूल वल्लिरिव दुकूलवल्लि (उपमितकर्म०)। यत्प्रासादे दुकूलवल्लि (स० त०)। अश्रान्तश्रुतिपाठ० = न श्रान्त अश्रान्त. (नञ्०)। श्रुते पाठ (ष० त०)। अश्रान्तश्चाऽसौ श्रुतिपाठ. (क० धा०), तेन पूता. (तृ० त०)। अश्रान्त-श्रुतिपाठपूताश्च ता रसना. (क० धा०)। ताभ्य आविर्भूता. (ष० त०)।

भूरयश्च ते स्तवा. (क० धा०)। अश्रान्तश्रुतिपाठपूतरसनाविर्भूताश्च ते भूरिस्तवा. (क० धा०), न जिह्म. अजिह्म (नञ्०)। ब्रह्मणो मुखानि (ष० त०), तेषाम् ओघ (ष० त०)। अजिह्मश्चाऽसौ ब्रह्ममुखौघ. (क० धा०)। विघ्नः सञ्जात· अस्या सा विघ्निता, विघ्न+इतच्+टाप्। नवश्चाऽसौ स्वर्गः (क० धा०)। तस्य क्रिया (ष० त०)। अश्रान्तश्रुतिपाठ-पूतरसनाऽऽविर्भूतभूरिस्तवेषु अजिह्म (स० त०), स चाऽसौ ब्रह्ममुखौघ (क० धा०), तेन विघ्निता (तृ० त०)। सा चाऽसौ नवस्वर्गक्रिया एव केलि यस्य तेन (बहु०)। गाधिसुतेन = गाधे सुत, तेन (ष० त०)। सामिघटिता, 'सामि' इस सूत्रसे समास। "सामि त्वर्धे जुगुप्सिते" इत्यमर। मुक्ता=मुचलृ+क्त+टाप्। अनिलान्दोलै = अनिलस्य आन्दोला·, तै (ष० त०)। अखेलन्= "खेलृ चलने" इस धातुसे लङ्+तिप्। सशरीर स्वर्ग जानेके लिए यज्ञका अनुष्ठान चाहनेवाले इक्ष्वाकुवशमे उत्पन्न त्रिशङ्कु नामके राजाको वशिष्ठके प्रत्याख्यान करनेपर विश्वामित्रने यज्ञ कराया और उनको स्वर्गमे भिजवाया तब इन्द्रने उनको नीचे गिरा दिया तब क्रुद्ध होकर विश्वामित्रने नये स्वर्गकी सृष्टिका आरम्भ किया तब ब्रह्माजीने उनकी स्तुति (प्रशसा) कर उनको उस कर्मसे विरत किया, वाल्मीकिरामायणके इस कथानकके अनुसार यह वर्णन है। इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलङ्कार, ओज गुण और गौडी रीति तथा शार्दूल-विक्रीडित छन्द है ॥ १०२ ॥

यदतिविमलनीलवेश्मरश्मिभ्रमरितभा. शुचिवस्त्रवल्लिः।
अलभत शमनस्वसु शिशुत्वं दिवसकराऽङ्कतले चला लुठन्ती ॥ १०३ ॥

अन्वयः—यदतिविमलनीलवेश्मरश्मिभ्रमरितभा शुचिवस्त्रवल्लि. दिवसकराऽङ्कतले चला लुठन्ती शमनस्वसु. शिशुत्वम् अलभत ॥ १०३ ॥

व्याख्या—यदतिविमलनीलवेश्मरश्मिभ्रमरितभा = कुण्डिननगर्यतिनिर्मले-न्द्रनीलनिकेतनकिरणभ्रमरसदृशकान्ति, शुचिवस्त्रवल्लि. = शुक्लवसनलता, शुक्लवस्त्रपताकेति भाव। दिवसकराऽङ्कतले=सूर्योत्सङ्गप्रदेशे, चला = चञ्चला, लुठन्ती = परिवर्तमाना सती, शमनस्वसु =यमभगिन्या, यमुनाया.। शिशुत्व = शैशवम्, अलभत = प्राप्तवती, बालयमुनेव शुशुभ इति भाव बालिकाश्च पितुरुत्सङ्गे लुठन्तीति भाव ॥ १०३ ॥

अनुवाद.—जिस कुण्डिननगरीके अत्यन्त निर्मल नीलमके भवनोकी किरणोसे भ्रमरके समान नीली कान्तिवाली सफेद वस्त्रकी पताकाने (अपने पिता) सूर्य-

की गोदमे चञ्चल होकर लोट-पोट करती हुई यमुनाकी बाल्याऽवस्थाको प्राप्त किया ॥ १०३ ॥

टिप्पणी—यदतिविमल० = नील च तत् वेश्म (क० धा०) । नीलवेश्मनो रश्मय (ष० त०) । अत्यन्त विमला. (सुप्सुपा०) । अतिविमलाश्च ते नील-वेश्मरश्मय: (क० धा०), यस्याम् अतिविमलनीलवेश्मरश्मय (स० त०) । भ्रमर सजात अस्या सा भ्रमरिता, भ्रमर + इतच् + टाप् । भ्रमरिता भा यस्या: सा (बहु०) । यदतिविमलनीलवेश्मरश्मिभि भ्रमरितभा (तृ० त०) । शुचिवस्त्रवल्लि = वस्त्रम् एव वल्लि: (रूपक०) । शुचिश्चाऽसौ वस्त्रवल्लि: (क० धा०) । दिवसकराङ्कतले = दिवस करोतीति तद्धेतु दिवसकर , "कृञो हेतुताच्छील्याऽऽनुलोम्येषु" इस सूत्रसे दिवस-उपपदपूर्वक "कृ" धातुसे ट प्रत्यय (उपपद०) । अङ्कस्य तलम् (ष० त०) । दिवसकरस्य अङ्कतलं तस्मिन् (ष० त०) । चला=चलतीति, चल + अच् + टाप् । लुठन्ती=लुठ + लट् (शतृ०) + ङीप् । शमनस्वसु =शमनस्य स्वसा, तस्या (ष० त०) । "कालिन्दी सूर्यतनया यमुना शमनस्वसा ।" इत्यमर । शिशुत्वम्=शिशु + त्व + अम् । अलभत=लभ + लङ् + त । इस पद्यमे सफेद पताकाके नीलमणि भवनोसे नीलगुण ग्रहण करनेसे तद्गुण अलङ्कार "भ्रमरितभा" यहाँपर उपमा, यमुनाकी शिशुताको पताका कैसे प्राप्त करेगी, इस प्रकार सादृश्यका आक्षेप होनेसे निदर्शनाका पूर्वोक्त तद्गुण रूपक और उपमासे अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है, पुष्पिताग्रा छन्द है । उसका लक्षण है—"अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्चपुष्पिताग्रा" ।

स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकाऽऽतिथ्यग्रहायोत्सुक
पाथोदं निजकेलिसौधशिखरादारुह्य यत्कामिनी ।
साक्षादप्सरसो विमानकलितव्योमान एवाऽभव-
न्न प्राप निमेषमभ्रतरसा यान्ती रसादध्वनि ॥१०४॥

अन्वय.—यत्कामिनी विमानकलितव्योमान: साक्षात् अप्सरस एव अभवत्, यत् निजकेलिसौधशिखरात् स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकाऽऽतिथ्यग्रहाय उत्सुक पाथो-दम् आरुह्य रसात् यान्ती अध्वनि अभ्रतरसा निमेष न प्राप ॥ १०४ ॥

व्याख्या—यत्कामिनी = कुण्डिननगरीरमणी, विमानकलितव्योमान. = व्योमयानक्रान्तगगना , साक्षात् = प्रत्यक्षरूपा , अप्सरस एव = दिव्याऽङ्गना एव, अभवत् = अवर्तत, यत् = यस्मात्कारणात्, निजकेलिसौधशिखरात् = स्वक्रीडागृहशृङ्गात्, स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकाऽऽतिथ्यग्रहाय = निजवल्लभक्रीडा-

सौधमध्यभागप्राघुणिकत्वस्वीकाराय, तत्र विश्रामार्थमिति भावः। उत्सुकम् = उत्कण्ठितं पाथोद = मेघम्, आरुह्य = आरोहण कृत्वा, रसात् = अनुरागात्, यान्ती = गच्छन्ती सती, अध्वनि = मार्गे, अभ्रतरसा = मेघवेगेन, निमेष = निमेषपातविलम्ब नेत्रसङ्कोच च, न प्राप = न प्राप्तवती, स्वाभाविक सौन्दर्येण विमानतुल्यमेघारोहणेन आकाशगमनेन निमेषाऽप्राप्तेश्च कुण्डिननगरीरमणी अप्सर - समाना संजातेति भाव ॥ १०४ ॥

अनुवादः—जिस कुण्डिननगरीकी रमणी अटारीसे आकाशका अवलम्बन कर साक्षात् अप्सरा ही हो गयी, जो कि अपने क्रीडाभवनके ऊर्ध्वभागसे अपने प्रियतमके क्रीडाभवनसे आतिथ्यग्रहणके लिए उत्कठित मेघपर आरोहण कर अनुरागसे जाती हुई मार्गमे मेघके वेगसे उसने निमेषको भी प्राप्त नही किया (पलक भी नही झुकायी) ॥ १०४ ॥

टिप्पणी—यत्कामिनी = यस्या कामिनी (स० त०)। विमानकलितव्योमान =कलितं व्योम याभिस्ताः कलितव्योमान (बहु०), यहाँपर "अनो बहुव्रीहे." इस सूत्रसे डीप्‌का निषेध हुआ है। विमानेन कलितव्योमान (तृ० त०)। "अप्सरस" इसका विशेषण होनेसे बहुवचन हुआ है। अभवत् = भू + लङ् + तिप्। उद्देश्यवाचक "यत्कामिनी" इस पदके एकवचनाऽन्त होनेसे एकवचन। निजकेलिसौधशिखरात् = केले सौधम् (ष० त०), तस्य शिखरम् (ष० त०)। निज च तत् केलिसौधशिखर, तस्मात् (क० धा०)। (अपादानमे पञ्चमी)। स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकाऽऽतिथ्यग्रहाय=प्राणानाम् ईश्वरः (ष० त०)। स्वश्चा सौ प्राणेश्वर. (क० धा०), नर्मणो हर्म्यम् (ष० त०), स्वप्राणेश्वरस्य नर्महर्म्यम् (ष०त०), तस्य कटक (ष०त०), "कटकोऽस्त्री नितम्बोऽद्रे" इत्यमर.। अतिथय इदम् आतिथ्यम्, "अतिथि" शब्दसे "अतिथेर्ञ्य." इस सूत्रसे तादर्थ्यमे ञ्य प्रत्यय, आदिवृद्धि। आतिथ्यस्य ग्रहः (ष० त०)। स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकात् आतिथ्यग्रहः, तस्मै (ष० त०)। पाथोद=पाथो ददातीति पाथोद. तम्, पाथस् + दा + कः (उपपद)। आरुह्य = आङ् + रुह + क्त्वा (ल्यप्)। रसात्=हेतुमे पञ्चमी। यान्ती = यातीति, या + लट् (शतृ) + ङीप्। अभ्रतरसा=अभ्रस्य तर , तेन ष० त० (हेतुमे तृतीया)। यहाँपर कुण्डिननगरकी स्त्री अपने स्वाभाविक सौन्दर्यसे प्रियतमके पास जानेके लिए अपनी अटारीसे विमानके समान मेघपर चढ़नेसे आकाशमे गमन-सा करनेसे प्रियतमके पास जानेकी उत्कण्ठासे पलक भी न मारनेसे अप्सरा-सी हो गयी इस बातको प्रकाशित किया

है। इस पद्यमे कुण्डिननगरकी स्त्री और अप्सराका भेद होनेपर भी अभेदका अध्यवसाय होनेसे तथा निमेषपातविलम्ब और नेत्रसङ्कोचका भेद होनेपर भी 'निमेष' पदके श्लेषसे अभेदका अध्यवसाय होनेसे दो अतिशयोक्ति अलङ्कारोकी संसृष्टि है, एवम् कटक और शिखर दो पदोसे नर्महर्म्योंकी और सौधोकी अत्यन्त ऊँचाई व्यङ्ग्य होती है इस प्रकार शब्दशक्तिमूलवस्तुध्वनि है। शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ १०४ ॥

वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरादुत्थितैरंशुदर्भै-
र्ब्रह्माण्डाऽऽघातभग्नस्यदजमदतया ह्रीधृताऽवाङ्मुखत्वैः ।
कस्या नोत्तानगाया दिवि सुरसुरभेरास्यदेशं गताऽग्रै-
र्यद्गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतमविश्रान्तमुज्जृम्भते स्म ॥ १०५ ॥

अन्वयः— वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरात् उत्थितैः ब्रह्माण्डाघातभग्नस्यदजमदतया ह्रीधृताऽवाङ्मुखत्वैः दिवि उत्तानगाया कस्याः सुरसुरभेः आस्यदेशं गताऽग्रैः अंशुदर्भैः यद्गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतम् अविश्रान्तम् उज्जृम्भते स्म ॥१०५॥

व्याख्या—वैदर्भीकेलिशैले = दमयन्तीक्रीडापर्वते, मरकतशिखरात् = गारुत्मतरत्नशृङ्गात्, उत्थितैः =ऊर्ध्वगामिभिः, अथ ब्रह्माण्डाघातभग्नस्यदजमदतया= ब्रह्माण्डसङ्घट्टनविनाशितवेगगर्वत्वेन, ह्रीधृताऽवाङ्मुखत्वैः = लज्जाधृताऽधोमुखत्वैः अत एव, दिवि = आकाशे, उत्तानगाया = उत्तानगामिन्या, ऊर्ध्वमुखाया इत्यर्थः। कस्याः, सुरसुरभेः = देवधेनोः, आस्यदेशं = मुखप्रदेशं, गताऽग्रैः = प्राप्ताऽग्रैः, अंशुदर्भैः = किरणरूपकुशैः, यद्गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतं = कुण्डिननगरीधेनुग्रासवितरणनियमपुण्यम्, अविश्रान्तं = निरन्तरम्, उज्जृम्भते स्म = वर्धते स्म ॥ १०५ ॥

अनुवाद.—दमयन्तीके क्रीडापर्वतमे पन्नेकी चोटियोसे उठे हुए, ब्रह्माण्डसे आघात होनेसे वेगका घमण्ड टूटनेसे लज्जासे अधोमुख, आकाशमे ऊँचा मुख करनेवाली किस देवताकी गायके मुखप्रदेशमे अग्रभागको जानेवाले किरणरूप कुशोसे जिस कुण्डिननगरीका गोग्रास देनेके नियमका पुण्य लगातार बढ़ता था।

टिप्पणी—वैदर्भीकेलिशैले = विदर्भेषु भवा वैदर्भी, विदर्भ + अण् + ङीप्। केलेः शैलः (ष० त०)। वैदर्भ्या केलिशैलः, तस्मिन् (ष० त०), मरकतशिखरात् = मरकतानां शिखरं, तस्मात् (ष० त०)। "गारुत्मतं मरकतमश्मगर्भो हरिन्मणिः" इत्यमरः। उत्थितैः = उद् + स्था + क्त + भिस्। ब्रह्माऽण्डाऽऽघातभग्नस्यदजमदतया = ब्रह्मणः अण्डं (ष० त०), ब्रह्माण्डेन आघातः (तृ०

त०), तेन मग्न (तृ० त०)। स्यदात् जात स्यदज. (स्यद+जन्+ड)। स चाऽसौ मद. (क० धा०)। ब्रह्माऽण्डाघातमग्नः स्यदजमदो येषा ते (बहु०), तेषा भाव , तत्ता, तया। ब्रह्माऽण्डाघातमग्नस्यदज मद+तल्+टाप्+टा)। ह्रीधृताऽवाङ्मुखत्वै. = ह्रिया धृतम् (तृ० त०)। अवाक् मुख येषा ते अवाङ्मुखा (बहु०)। तेषा भाव अवाङ्मुखत्वम्, अवाङ्मुख+त्व। ह्रीधृतम् अवाङ्मुखत्वं यैस्ते, तै (बहु०)। उत्तानगाया = उत्तान गच्छतीति उत्तानगा, तस्या , उत्तान+गम्+ड +टाप्+ङस् "उत्ताना वै देवगवा वहन्ति" वेदके इस वचनके अनुसार यह उक्ति है। सुरसुरभे = सुरस्य सुरभि तस्या (ष० त०)। आस्यदेशम्=आस्यस्य देश , तम् (ष० त०)। गताऽग्रैः= गता अग्रा येषा ते, तै. (बहु०), अशुदर्भै = अशव एव दर्भा , तै. (रूपक०), यद्गोग्रासप्रदानव्रतसुकृत = गो ग्रास (ष० त०), तस्य प्रदानं (ष० त०), तदेव व्रतम् (रूपक०), तस्य सुकृत (ष० त०), "स्याद्धर्ममस्त्रिया पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृष ।" इत्यमर । यस्या गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतम् (ष० त०)। अविश्रान्तं = न विश्रान्तम् (नञ०)। अविश्रान्त यथा तथा, यह क्रियाविशेषण है। उज्जृम्भते स्म = उद्-उपसर्गपूर्वक "जृभि" धातुसे "स्म" के योगमे भूतकालमे लट्+त। बहुतसे मरकत (पन्ना) रत्नोसे बना हुआ दमयन्तीका क्रीडापर्वत है, उससे उत्पन्न किरणे ब्रह्माऽण्डतक पहुँची, ऊपर न जानेसे मानो लज्जासे लौट रही थी, उसी समय ऊपर मुख करनेवाली देवताओकी गायोके मुखमे पडी, वे कुशोके समान हरे वर्णवाली थी, इसीको लेकर वैदर्भीके क्रीडापर्वतमे गोग्रास देनेके पुण्यका वर्णन किया गया हैं। इस पद्यमे "अशुदर्भै" यहाँपर रूपक है। अशुदर्भोंका ब्रह्माण्डसे आघात आदिका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धका वर्णन करनेसे अतिशयोक्ति, "लज्जासे अधोमुख" इस अर्थमे वाचक शब्दके न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा और लोकाऽतिशयसम्पत्तिका वर्णन होनेसे उदात्त अलकार, इस प्रकार इन अलङ्कारोकी ससृष्टि है। स्रग्धरा छन्द है, उसका लक्षण है—

"म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम् ।" ॥ १०५ ॥

विधुकरपरिरम्भादात्तनिष्यन्दपूर्णैः
शशिदृषदुपक्लृप्तैरालवालैस्तरूणाम् ।
विफलितजलसेकप्रक्रियागौरवेण
व्यरचि स हृतचित्तस्तत्र भैमीवनेन ॥ १०६ ॥

अन्वयः—तत्र शशिदृषदुपक्लृप्तै (अत एव) विधुकरपरिरम्भात् आत्तनिष्यन्दपूर्णै तरूणाम् आलवालैः विफलितजलसेकप्रक्रियागौरवेण भैमीवनेन स हृतचित्तो व्यरचि ॥ १०६ ॥

व्याख्या—तत्र = तस्यां, कुण्डिननगर्याम् । शशिदृषदुपक्लृप्तैः = चन्द्रकान्तशिलानिर्मितैः, अत एव, विधुकरपरिरम्भात् = चन्द्रकिरणसम्पर्कात्, आत्तनिष्यन्दपूर्णै =गृहीतजलप्रस्रवणपूरितै , तरूणा = वृक्षाणाम्, आलवालैः=आवापै , विफलितजलसेकप्रक्रियागौरवेण = व्यर्थीकृतसलिलसेचनप्रकारभारेण, भैमीवनेन = दमयन्त्युपवनेन, सः=हंस , हृतचित्त =आकृष्टमना , व्यरचि=विरचित ॥ १०६ ॥

अनुवादः—उस कुण्डिननगरीमे चन्द्रकान्त मणियोसे बनी हुई अतएव चन्द्रकिरणके सपर्कसे गृहीत जलसे पूर्ण पेडोकी क्यारियोसे जलसेचनकी आवश्यकतासे रहित दमयन्तीके उपवनने हसके चित्तको आकृष्ट किया ॥ १०६ ॥

टिप्पणी—शशिदृषदुपक्लृप्तै = शशिनो दृषत् (ष० त०) । तया उपक्लृप्तानि, तै (तृ० त०) । विधुकरपरिरम्भात् = विधो करा (ष० त०), तेषा परिरम्भ , तस्मात् (ष०त०), हेतुमे पञ्चमी । "परिरम्भ " पदका अर्थ परिष्वङ्ग सश्लेप उपगूहनम्" । अमरकी ऐसी उक्तिसे "परिरम्भ" पदका अर्थ आलिङ्गन है, यहाँपर लक्षणासे सम्पर्क अर्थ किया गया है । आत्तनिष्यन्दपूर्णै = आत्ताश्च ते निष्यन्दा. (क० धा०) । "आत्म०" ऐसे पाठमे आत्मन = स्वस्य, निष्यन्दा (ष० त०) । ऐसा अर्थ करना चाहिए । आत्तनिष्यन्दै. पूर्णानि तै (तृ० त०) । विफलितजलसेकप्रक्रियागौरवेण = विफल कृत विफलितम्, विफल+णिच्+क्त' । जलस्य सेक. (ष० त०), तस्य प्रक्रिया (ष० त०), तस्या गौरवम् (ष० त०) । विफलित जलसेकप्रक्रियागौरव यस्य तत्, तेन (बहु०) । भैमीवनेन = भैम्या वन, तेन (ष० त०) । हृतचित्त = हृतं चित्तं यस्य सः (बहु०) । व्यरचि = वि+रच+लुङ्+त (कर्ममें) । इस पद्यमे आलवालोका चन्द्रकान्त मणिसे पिघले जलसे सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धकी उक्तिसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है । यहाँसे चार पद्योतक मालिनी छन्द है, उसका लक्षण है—"ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः" ॥ १०६ ॥

अथ कनकपतत्रस्तत्र तां राजपुत्रीं
सदसि सदृशभासां विस्फुरन्तीं सखीनाम् ।
उडुपरिषदि मध्यस्थायिशीतांऽशुलेखाऽ-
नुकरणपटुलक्ष्मीमक्षिलक्षीचकार ॥ १०७ ॥

भ्रमणरयविकीर्णस्वर्णभासा खगेन
क्वचन पतनयोग्यं देशमन्विष्यताऽधः ।
मुखविधुमदसीयं सेवितुं लम्बमानः
शशिपरिधिरिवोच्चैर्मण्डलस्तेन तेने ॥ १०८ ॥

अन्वयः—अधो भूतले क्वचन पतनयोग्य देशम् अन्विष्यता भ्रमणरयविकीर्ण-स्वर्णभासा तेन खगेन अदसीयं मुखविधु सेवितु लम्बमान. शशिपरिधि. इव उच्चै. मण्डल तेने ॥ १०८ ॥

व्याख्या—अध = निम्नभागे, भूतले = भूमितले, क्वचन = कुत्रचित्, पतनयोग्यम् = अवतरणार्हं, देश = स्थानम्, अन्विष्यता = गवेषमाणेन, भ्रमणरयविकीर्णस्वर्णभासा = भ्रमिवेगविक्षिप्तसुवर्णकान्तिना, तेन = पूर्वोक्तेन, खगेन = पक्षिणा, हसेनेत्यर्थ । अदसीय = दमयन्तीसम्बन्धिन, मुखविधु = वदनचन्द्रं, सेवितु = सेवन कर्तुं, द्रष्टुमिति भाव । लम्बमान = स्रसमान, शशिपरिधि इव = चन्द्रपरिवेष इव, उच्चै = उपरि, मण्डल = वलय, तेने = वितेने ॥ १०८ ॥

अनुवादः नीचे जमीनपर कहीं उतरनेके लिए उपयुक्त स्थान ढूँढनेवाले और भ्रमणके वेगसे सुनहरी कान्तिको फैलानेवाले उस पक्षी (हस) ने दमयन्ती-के मुखचन्द्रकी सेवा करनेके लिए लटककर चन्द्रमाके परिवेश के समान ऊपर मण्डल (चक्कर) फैलाया ॥ १०८ ॥

टिप्पणी—भूतले = भुव तल, तस्मिन् (ष० त०) । पतनयोग्य = पतने योग्य, तम् (स० त०) । अन्विष्यता=अन्विष्यतीति अन्विष्यन्, तेन, अनु + इष + लट (शतृ) + टा । भ्रमणरयविकीर्णस्वर्णभासा = भ्रमणस्य रय. (ष० त०), तेन विकीर्णा तृ० त०) । स्वर्णस्य भा. (ष० त०) । भ्रमणरय-विकीर्णा स्वर्णभा येन, तेन (बहु०) । अदसीयम् = अमुष्या अयम् अदसीयः तम् । अदस् शब्दसे "त्यदादीनि च" इससे वृद्धसंज्ञा होकर "वृद्धाच्छ"=सेव + तुमुन् । लम्बमान. = लबि + लट् (शानच्) + सु. । शशिपरिधि = शशिन परिधि (ष० त०) । मण्डल = "बिम्बोऽस्त्री मण्डल त्रिषु ।" इत्यमरः । तेने = "तनु विस्तारे" धातुसे कर्ममे लिट् + त । इस पद्यमे स्वभावोक्ति, 'मुखविधुम्' यहाँपर रूपक, 'शशिपरिधिः इव' यहाँपर उत्प्रेक्षा, इन अलङ्कारोका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार है । मालिनी छन्द है ॥ १०८ ॥

"अनुभवति शचीत्थं सा घृताचीमुखाभि-
र्न सह सहचरीभिर्नन्दनानन्दमुच्चैः।"
इति मतिरुदयासीत् पक्षिणः प्रेक्ष्य भैमीं
विपिनभुवि सखीभिः सार्धसाबद्धखेलाम् ॥ १०९ ॥

अन्वयः—विपिनभुवि सखीभि. सार्धम् आबद्धखेला भैमी प्रेक्ष्य पक्षिण "सा शची घृताचीमुखाभि· सहचरीभि सह इत्थम् उच्चै नन्दनाऽऽनन्द च अनुभवति" इति मति उदयासीत् ॥ १०९ ॥

व्याख्या—विपिनभुवि = काननभूमौ, सखीभि = सहचरीभिः, सार्धं = सह, आबद्धखेलाम् = अनुबद्धक्रीडा, भैमी = दमयन्ती, प्रेक्ष्य = दृष्ट्वा, पक्षिण = हसस्य, सा = प्रसिद्धा, शची = इन्द्राणी, घृताचीमुखाभि = घृताचीप्रभृतिभि., सहचरीभि, सह = सखीभि सार्धम्, इत्थम् = अनेन प्रकारेण, उच्चैः = उत्कृष्ट, नन्दनाऽऽनन्द=नन्दनोपवनसुख, न अनुभवति = नो निर्विशति, इति = एतादृशी, मति. = बुद्धि, उदयासीत् = उत्थिता ॥ १०९ ॥

अनुवादः—उपवन भूमिमे सखियोके साथ क्रीडा करती हुई दमयन्तीको देखकर हसको "वे (प्रसिद्ध) इन्द्राणी भी घृताची आदि सखियोके साथ इस प्रकारसे नन्दन वनमे भी उत्कृष्ट आनन्दका अनुभव नही करती है" ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई ॥ १०९ ॥

टिप्पणी—विपिनभुवि = विपिनस्य भू, तस्याम् (ष० त०)। सखीभि = "सार्द्धम्" पदके योगमे तृतीया। आबद्धखेलाम् = आबद्ध खेला यया सा, ताम् (बहु०)। "क्रीडा खेला च कूर्दनम्" इत्यमरः। प्रेक्ष्य = प्र+ईक्ष+क्त्वा (ल्यप्)। सा = यहापर यद् शब्द (या) के न होनेपर भी प्रसिद्ध अर्थ होनेसे अविमृष्टविधेयाऽश दोष नही होता है। शची "पुलोमजा शचीन्द्राणी" इत्यमर·। घृताचीमुखाभि = घृताची (अप्सरोविशेष.) मुख यासा ता घृताचीमुखा·, ताभिः (बहु०)। यहाँ "मुख" शब्द अङ्गवाचक न होनेसे ङीप् प्रत्यय नही हुआ है। सहचरीभि = सह चरन्तीति सहचर्य, ताभि सह+चर+ट+ङीप्+भिस्। पचादिगणमे "चरट्" ऐसा पाठ होनेसे टित् होनेसे "टिड्ढाणञ्" इत्यादि सूत्रसे ङीप्। नन्दनाऽऽनन्द = नन्दन आनन्द तम् (स० त०)। उदयासीत् = उद्–उपसर्गपूर्वक "या प्रापणे" धातुसे लुङ्, "यमरमनमातां सक् च" इस सूत्रसे सक् और सिच्का इट्। "प्रेक्ष्य मति·" यहाँपर मनन क्रियाकी अपेक्षासे समानकर्तृक होनेसे और पूर्वकाल होनेसे

भी "प्रेक्ष्य" इसमे क्त्वा निर्देशकी उपपत्ति है । इस पद्यमे शचीरूप उपमानसे उपमेयभूत दमयन्तीके आधिक्यकी उक्तिसे व्यतिरेक अलङ्कार है ॥ १०९ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीर. सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
द्वैतीयीकतया मितोऽयमगमत्तस्य प्रबन्धे महा-
काव्ये चाऽणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ ११० ॥

अन्वय —कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीर श्रीहीर. मामल्लदेवी च जितेन्द्रियचयं य श्रीहर्षं सुत सुषुवे । तस्य प्रबन्धे चारुणि नैषधीयचरिते महाकाव्ये अय द्वैतीयीकतया मित निसर्गोज्ज्वल सर्गं अगमत् ॥ ११० ॥

व्याख्या - व्याख्यातपूर्वं श्लोक सक्षेपेण पुनर्व्याख्यायते । कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीर = पण्डितश्रेणीकिरीटभूषणवज्रमणि , श्रीहीर , मामल्लदेवी च, जितेन्द्रियचय = वशीकृतहृषीकसमूह, य, श्रीहर्षं, सुत=पुत्र सुषुवे = जनयामास । तस्य = श्रीहर्षस्य, प्रबन्धे = रचनाया, चारुणि = मनोहरे, नैषधीयचरिते = तदाख्ये, महाकाव्ये, अय = सन्नि ष्टस्थ द्वैतीयीकतया = द्वितीयत्वेन, मित = गणित , निसर्गोज्ज्वल = स्वभावसुन्दर , सर्गं = अध्याय , अगमत् = गत समाप्त इति भाव. ॥ ११० ॥

अनुवादः श्रेष्ठ पण्डितोकी श्रेणीके मुकुटके अलङ्कार हीरेके समान श्रीहीर और मामल्लदेवीने इन्द्रियोको जीतनेवाले जिन श्रीहर्ष पुत्रको उत्पन्न किया, उनकी रचनामे सुन्दर नैषधीयचरित महाकाव्यमे यह द्वितीय रूपसे परिमित स्वभावसे मनोहर सर्ग समाप्त हुआ ॥ ११० ॥

टिप्पणी – द्वैतीयीकतया = द्वयो पूरणो द्वितीय , 'द्वि' शब्दसे "द्वेस्तीय." इससे पूरणाऽर्थक तीय प्रत्यय । द्वितीय एव द्वैतीयीक , "द्वितीय" शब्दसे "तीयादीकक् स्वार्थे वा वाच्य" इससे ईकक् प्रत्यय । कित् होनेसे "किति च" इससे आदिवृद्धि । द्वैतीयीकस्य भावो द्वैतीयीकता, तया, द्वैतीयीक+तल्+टाप्+टा । मित = माङ्+क्त । निसर्गोज्ज्वल = निसर्गेण उज्ज्वल (तृ० त०) । अगमत् = गम्+लुङ्+तिप् । च्लिके स्थानमे अङ् ॥ ११० ॥

इति चन्द्रकलाऽभिख्याया नैषधीयचरितव्याख्याया द्वितीय सर्ग ।

नैषधीयचरितके द्वितीयसर्गमे अकारादिक्रमसे
पद्यानुक्रमणिका

॥ श्रीः ॥

नैषधीयचरितं महाकाव्यम्

चन्द्रकलाऽऽख्यया व्याख्यया हिन्द्यनुवादेन च विभूषितम्



तृतीयः सर्गः

आकुञ्चिताभ्यामथ पक्षतिभ्यां नभोविभागात्तरसाऽवतीर्य ।
निवेशदेशाऽऽततधूतपक्षः पपात भूमावुपभैमि हंस. ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ हस आकुञ्चिताभ्या पक्षतिभ्या नमोविभागात् तरसा अवतीर्य निवेशदेशाऽऽततधूतपक्ष उपभैमि भूमौ पपात ॥ १ ॥

व्याख्या—अथ = मण्डलीकरणाऽनन्तर, हंसः = राजहस`, आकुञ्चिताभ्या सकुचिताभ्या, पक्षतिभ्या = पक्षमूलाभ्या, नभोविभागात् = आकाशदेशात्, तरसा = वेगेन, अवतीर्य = अवरुह्य, निवेशदेशाऽऽततधूतपक्ष = उपनिवेशस्थान-विस्तारितकम्पितपतत्र सन्, उपभैमि = दमयन्त्या. समीपे, भूमौ = भुवि, पपात = आपतित. ॥ १ ॥

अनुवादः—मण्डलीकरणके अनन्तर हस सङ्कुचित पक्षमूलोसे आकाशदेशसे वेगसे उतरकर बैठनेके स्थानपर पंखोको फैलाकर और कम्पित कर दमयन्तीके समीप उतरा ॥ १ ॥

टिप्पणी—हसतीति हंसः, "हस" धातुसे अच् प्रत्यय और "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" इसके अनुसार नुम् वर्णका आगम हुआ है। "भवेद्वर्णाऽऽगमा-द्धंस"। पक्षतिभ्यां = "स्त्री पक्षति पक्षमूलम् ।" इत्यमरः। नभोविभागात् = नभसो विभाग., तस्मात् (ष० त०)। अवतीर्य = अव+तॄ+क्त्वा (ल्यप्)। निवेशदेशाऽऽततधूतपक्ष. = निवेशस्य देशः (ष० त०)। समन्तात् ततौ आततौ "कुगतिप्रादयः" इससे गतिसमास। आततौ धूतौ पक्षौ येन स. (बहु०)।

निवेशदेशे आततधूतपक्ष. (स० त०)। उपभैमि = भैम्या समीपे, समीप अर्थमे अव्ययीभाव। पपात = पत + लिट् + तिप्। इस पद्यमे स्वभावोक्ति अलङ्कार है। प्रथम चरणमे इन्द्रवज्रा और द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ चरणमे उपेन्द्रवज्रा, इस प्रकार उपजाति छन्द है। जैसे कि—"स्वादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ ग', उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ। अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ता ॥ १ ॥

आकस्मिकः पक्षपुटाहतायाः क्षितेस्तदा यः स्वन उच्चचार।
द्रागन्यविन्यस्तदृशः स तस्याः संभ्रान्तमन्त करणं चकार ॥ २ ॥

अन्वयः—तदा पक्षपुटाहताया क्षिते आकस्मिक य स्वन उच्चचार। स' अन्यविन्यस्तदृश तस्या अन्त करण द्राक् सभ्रान्त चकार ॥ २ ॥

व्याख्या—तदा = पतनसमये, पक्षपुटाहताया = पतत्रपुटताडिताया, क्षितेः = पृथिव्या, सकाशात्, आकस्मिक = अकस्माद्भव, अहेतुक इत्यर्थ । य स्वन = ध्वनि, उच्चचार = उत्थित । स. = ध्वनि, अन्यविन्यस्तदृश = विषयान्तरनिविष्टनयनाया, तस्या. = दमयन्त्या, अन्त करणं = मन, द्राक् = झटिति, सभ्रान्त = ससभ्रम, चकार = कृतवान्, आकस्मिकशब्दश्रवणाद्भैमी सभया साश्चर्या च जातेति भाव ॥ २ ॥

अनुवादः—हसके पतनके समयमे उसके पखोसे ताडित पृथिवीसे अकस्मात् जो शब्द उत्पन्न हुआ। उसने दूसरे विषयमे चित्त देनेवाली दमयन्ती के अन्तःकरणको संभ्रमयुक्त बनाया ॥ २ ॥

टिप्पणी—पक्षपुटाहताया = पक्षयो. पुटं (ष० त०), तेन आहता, तस्याः (तृ० त०)। क्षिते = अपादानमे पञ्चमी। आकस्मिक = अकस्मात् भव, "तत्र भव" इससे ठक् प्रत्यय। उच्चचार = उद् + चर + लिट् + तिप्। अकर्मक होनेसे "उदश्चर सकर्मकात्" इससे आत्मनेपद नही हुआ। अन्यविन्यस्तदृश = विन्यस्ते दृशौ यया सा (बहु०), अन्यस्मिन् विन्यस्तदृक्, तस्या. (स० त०)। सभ्रान्त = सं + भ्रम + क्त + अम्। चकार=कृ + लिट् + तिप्। इस पद्यमे स्वभावोक्ति अलङ्कार है ॥ २ ॥

नेत्राणि वैदर्भसुतासखीना विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि।
प्रापुस्तमेक निरुपाख्यरूप ब्रह्मेव चेतांसि यतव्रतानाम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—वैदर्भसुतासखीना नेत्राणि विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि (सन्ति) एकं निरुपाख्यरूपं त हंसं यतव्रतानां चेतासि ब्रह्म इव प्रापु' ॥ ३ ॥

व्याख्या—वैदर्भसुतासखीनां = भैमीवयस्यानां, नेत्राणि = नयनानि, विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि = परित्यक्ततत्तच्छब्दादिविषयग्रहणानि सन्ति, पदमिदं "चेतांसि" इत्यत्राऽपि योजनीयम । एकम् = एकचरं, ब्रह्मपक्षे—अद्वितीय, निरुपाख्यरूपम्= अनिर्वाच्याकार, ब्रह्मपक्षे—अनिर्वचनीयस्वरूप, तं = पुरोर्वातिनं, हंस = राजहंस, ब्रह्मपक्षे—तत्पदाऽर्थभूत यतव्रताना = योगिना, चेतासि = अन्त.करणानि ब्रह्म इव = परात्मानम् इव, प्रापुः = आसादयामासु अत्यादरेण अद्राक्षुरित्यर्थं ॥ ३ ॥

अनुवादः—दमयन्तीकी सखियोके नेत्रोने उन-उन विषयोकी आसक्तिको छोडकर अकेले चलनेवाले, अनिर्वाच्य आकारवाले, उस हंसको, जैसे योगियोके चित्त अद्वितीय, अनिर्वचनीय स्वरूपवाले और तत् पदके अर्थस्वरूप ब्रह्मको ग्रहण करते है उसी तरह ग्रहण किया ॥ ३ ॥

टिप्पणी—वैदर्भसुतासखीना=विदर्भाणा राजा वैदर्भ., विदर्भ शब्दसे "जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्" इस सूत्रसे अञ् प्रत्यय । विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि=ते च ते च तत्ते (क० धा०) । तत्ते च ते विषया: तत्तद्विषया. (क० धा०), तत्तद्विषयाणा ग्रहा (ष० त०) । विमुक्ता तत्तद्विषयग्रहा यैस्तानि (बहु०) । निरुपाख्यरूपं=निर्गता उपाख्या यस्मात्तन् निरुपाख्य (बहु०), तत् रूप यस्य, तम् (हसपक्षे), तत् (ब्रह्मपक्षे) (बहु०), यतव्रतानां = यत व्रत येषा ते यतव्रता·, तेषाम् (बहु०) । इस पद्यमे उपमा अलङ्कार है ॥ ३ ॥

हंस तनौ सन्निहितं चरन्त मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकायाम् ।
ग्रहीतुकामा दरिणा शयेन यत्नादसौ निश्चलतां जगाहे ॥ ४ ॥

अन्वयः—असौ मुने मनोवृत्ति· इव स्विकाया तनौ सन्निहित चरन्त हसम् अदरिणा शयेन, आदरिणा आशयेन वा ग्रहीतुकामा (सती) यत्नात् निश्चलता जगाहे ॥ ४ ॥

व्याख्या—असौ = दमयन्ती, मुने· = योगिन , मनोवृत्ति. इव = चित्तवृत्ति इव, स्विकाया = स्वकीयायां, तनौ = शरीरसमीपे, मुनिमनोवृत्तिपक्षे—तन्वभ्यन्तरे, सन्निहितं = निकटस्थम्, मुनिमनोवृत्तिपक्षे—आविर्भूत, चरन्तं = सञ्चरन्तं, मुनिमनोवृत्तिपक्षे—वर्तमान, हंस = मराल, मुनिमनोवृत्तिपक्षे—परमात्मानं च, अदरिणा=निर्भयेन, शयेन = पाणिना, मुनिमनोवृत्तिपक्षे—आदरिणा = आदरयुक्तेन, आशयेन = चित्तेन, ग्रहीतुकामा = आदातुकामा, मुनिमनोवृत्तिपक्षे—साक्षात्कर्तुकामा च सती, यत्नात् = प्रयत्नात्,

निश्चलता = निश्चलाऽङ्गत्वं, मुनिमनोवृत्तिपक्षे — स्थिरता, जगाहे = जगाम ॥ ४ ॥

अनुवाद—जैसे मुनिकी मनोवृत्ति अपने शरीरके भीतर आविर्भूत होकर स्थित परमात्माको आदरयुक्त चित्तसे साक्षात्कार करनेकी इच्छा कर यत्न-पूर्वक स्थिर होती है वैसे ही दमयन्ती भी अपने शरीरके समीप स्थित और चलते हुए हंसको निर्भय हाथसे ग्रहण करनेकी इच्छा कर यत्नपूर्वक निश्चल हुई ॥ ४ ॥

टिप्पणी—मनोवृत्ति = मनसो वृत्ति (ष० त०)। स्विकाया = स्वा एव स्विका, तस्या, स्वा शब्दसे स्वार्थिक कन्, "प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्याऽत इदाप्यसुप" इससे इत्व। सन्निहित = स + नि + धा + क्त. + अम्। चरन्तं = चरतीति चरन्, तं, चर + लट् + शतृ + अम्, हस = "हसो विहङ्गभेदे च परमात्मनि मत्सरे", इति विश्व। अदरिणा = दर. अस्याऽस्तीति दरी, दर + इनि:। न दरी अदरी (नञ्०), तेन, "दरस्त्रासो भीतिर्भीः साध्वस भयम्।" इत्यमर.। शयेन = "पञ्चशाख. शय पाणिः" इत्यमर। आदरिणा = आदरः अस्याऽस्तीति आदरी, तेन, आदर + इनि + टा। आशयेन = "अभिप्रायश्छन्द आशय।" इत्यमरः। ग्रहीतुकामा = ग्रहीतुं काम अस्या सा (बहु०)। ग्रहीतु = ग्रह + तुमुन्। "ग्रहोऽलिटि दीर्घः" इससे दीर्घ। "तु काममनसोरपि" इससे मकारका लोप। निश्चलता = निश्चलस्य भावो निश्चलता, ताम्, निश्चल + तल् + टाप् + अम्। जगाहे = "गाहू विलोडने" धातुसे लिट्। इस पद्यमे श्लेष और उपमाका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है॥ ४ ॥

तामिङ्गितैरप्यनुमाय मायामयं न भैम्या वियदुत्पपात।
तत्पाणिमात्मोपरिपातुक तु मोघं वितेने प्लुतिलाघवेन ॥ ५ ॥

अन्वयः—अय ता भैम्या मायाम् इङ्गितैः अनुमाय अपि धैर्यात् वियत् न उत्पपात। आत्मोपरिपातुक तत्पाणि तु प्लुतिलाघवेन मोघ वितेने ॥ ५ ॥

व्याख्या—अयं = हंस, ता = पूर्वोक्ता, भैम्या. = दमयन्त्या., माया = कपटं, स्वग्रहणाऽर्थमिति शेषः। इङ्गितै. = चेष्टितैः, अनुमाय अपि = ज्ञात्वा अपि, धैर्यात् = स्थैर्यम् आस्थाय, वियत् = आकाशं प्रति, न उत्पपात = न उड्डीनः, आत्मोपरिपातुक = स्वोपरिपतयालुं, तत्पाणिं तु = दमयन्तीहस्त तु, प्लुतिलाघवेन=उत्पतनकौशलेन, मोघं = निष्फलं, वितेने = कृतवान्, आशाम-जीजनत्-पर पाणिगतो नाऽभूदिति भावः ॥ ५ ॥

अनुवाद: हंस दमयन्तीके उस कपटको, पकड़नेकी उनकी चेष्टाओसे जानकर भी धैर्यपूर्वक आकाशमे नही उडा। उसने अपने ऊपर पडनेवाले उनके हाथको उड़नेकी निपुणता से निष्फल बना डाला ॥ ५ ॥

टिप्पणी—अनुमाय = अनु + माङ् + क्त्वा (ल्यप्), "न ल्यपि" इस सूत्रसे ईत्वका निषेध हुआ है। धैर्यात् = धीर + ष्यञ्, "ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च" इससे ल्यप्के लोपमे पञ्चमी। उत्पपात = उद् + पत् + लिट् + तिप्। आत्मोपरिपातुक = पतनशील. पातुकः, "पत्लृ पतने" धातुसे "लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशॄभ्य उकञ्" इससे उकञ् प्रत्यय। उपरि पातुकः (सहसुपा०), आत्मन उपरिपातुक , तम् (ष० त०)। तत्पाणि=तस्या पाणिः तम् (ष० त०)। प्लुतिलाघवेन = प्लुतेर्लाघवं, तेन (ष० त०)। वितेने = वि + तनु + लिट् + त ॥ ५ ॥

व्यर्थीकृत पत्त्ररथेन तेन तथाऽवसाय व्यवसायमस्याः।
परस्परामर्पितहस्ततालं तत्कालमालीभिरहस्यताऽलम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—अस्या व्यवसायं तेन पत्त्ररथेन तथा व्यर्थीकृतम् अवसाय तत्कालं परस्पराम् अर्पितहस्ततालम् आलीभि. अलम् अहस्यत ॥ ६ ॥

व्याख्या—अस्या = दमयन्त्या., व्यवसायम् = उद्योगं, हंसग्रहणस्येति शेष.। तेन = पूर्वोक्तेन, पत्त्ररथेन = पक्षिणा, हंसेन। तथा = तेन प्रकारेण, उत्पतनेनेति भाव। व्यर्थीकृत = निष्फलीकृतम्, अवसाय = ज्ञात्वा, तत्कालं= तस्मिन्काले, परस्परा = परस्परस्यामित्यर्थं। अर्पितहस्ततालं = दत्तकरताडनं यथा तथा, आलीभि = सखीभि., अलम् = अत्यर्थम्, अहस्यत = हसितम् ॥६॥

अनुवादः—दमयन्तीके पकडनेके उद्योगको उस हसने निष्फल किया गया जानकर उस समय परस्परमे ताली पीटकर उनकी सखियां बहुत हँसी ॥ ६ ॥

टिप्पणी—पत्त्ररथेन = पत्त्रम् एव रथ. (यानम्) यस्य स पत्त्ररथस्तेन (बहु०), "पतत्रिपत्त्रिपतगपतत्पत्त्ररथाऽण्डजाः।" इत्यमर.। व्यर्थीकृतं = विगत अर्थं यस्मात् स (बहु०), अव्यर्थो व्यर्थो यथा सपद्यते तथा कृतः व्यर्थीकृत , तम्, व्यर्थ + च्वि + कृ + क्त. + अम्। तत्काल = त च त कालम्, "कालाऽध्वनोरत्यन्तसयोगे" इस सूत्रसे द्वितीया, "अत्यन्तसयोगे च" इससे समास। परस्परा=परा परस्याम्, यहाँपर "कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये समासवच्च बहुलम्" इस वार्तिकसे "द्वित्व और बहुल" का ग्रहण करनेसे समासभावके न होनेसे पूर्वपदके प्रथमाके एक वचनमे कस्कादिगणमे पढ़े जानेसे

समास और उत्तरपदमें एकवचनमे "स्त्रीनपुसकयोरुत्तरपदस्थाया विभक्तेराम्-भावो वा वक्तव्य." इस वार्तिकसे आम् आदेश हुआ है। अर्पितहस्ततालम् = हस्ताभ्या ताल. (तृ० त०), अर्पितो हस्ततालो यस्मिन् (कर्मणि) (बहु०), तद् यथा तथा (क्रि० वि०)। अहस्यत = हस + लङ् (भावमे) + त ॥ ६ ॥

"उच्चाटनीयः करतालिकानां दानादिदानीं भवतीभिरेषः।
याऽन्वेति मां द्रुह्यति मह्यमेव साऽत्र" त्युपालम्भि तयाऽऽलिवर्ग. ॥ ७ ॥

अन्वय.—"(हे सख्य !) भवतीभि एष. करतालिकाना दानात् उच्चाटनीय. ? अत्र या माम् अन्वेति सा मह्यम् एव द्रुह्यति" इति तया आलिवर्गः उपालम्भि ॥ ७ ॥

व्याख्या– (हे सख्य !) भवतीभि , = युष्माभि', एष = हंस , करतालिकानां = हस्ततालानां, दानात् = वितरणात्, वादनादिति भाव उच्चाटनीय. = निष्कासनीय किम्, इति प्रश्नकाकु , न उच्चाटनीय इत्यर्थ । अत्र = आसु, भवतीषु मध्य इति भाव , या = काचित्, मा = भैमीम्, अन्वेति = अनुसरति, अनुसरिष्यतीति भाव.। सा = सखी, मह्यम् एव = सख्यै एव, द्रुह्यति = जिघासति, ममैव द्रोह करिष्यतीति भाव.। इति = इत्थ, तया = दमयन्त्या, आलिवर्ग. = सखीसङ्घ , उपालम्भि = उपालब्ध , उपालम्भेन निवारित इति भाव ॥ ७ ॥

अनुवादः—(हे सखियो !) तुम लोग ताली पीटकर इस हसको उसको उड़ा दोगी क्या ? तुम लोगोमे जो कोई मेरा पीछा करेगी वह मेरा ही द्रोह करेगी" ऐसा कहकर दमयन्तीने सखियोको उलहना दिया ॥ ७ ॥

टिप्पणी—करतालिकाना = करयोस्तालिका , तासाम् (ष० त०)। उच्चाटनीय. = उद् + चट् + णिच् + अनीयर् + सु. । यहाँपर "भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरै काकुरित्यभिधीयते ।" इस लक्षणके अनुसार प्रश्नाऽर्थक काकु है, अन्वेति = अनु + इण् + लट् + तिप् । द्रुह्यति = द्रुह + लट् + तिप् । दोनों क्रियापदोमे "वर्तमान सामीप्ये वर्तमानवद्वा" इस सूत्रसे भविष्यत्कालमे लट् । मह्यम् = "द्रुह्यति" द्रुह धातुके योगमें "क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थाना य प्रति कोप." इससे संप्रदानसंज्ञा होकर चतुर्थी। "मह्यम्" यहाँपर अन्वादेशके होनेपर भी "एव" शब्दका योग होनेसे "न चवाहाहैवयुक्ते" इससे "मे" आदेश नही हुआ है। आलिवर्गः = आलीनां वर्गः (ष० त०)। उपालम्भि = उप + आङ् + लभ + लुङ् (कर्ममे) ॥ ७ ॥

धृताऽल्पकोपा हसिते सखीनां छायेव भास्वन्तमभिप्रयातुः।
श्यामाऽथ हंसस्य कराऽनवाप्तेर्मन्दाक्षलक्ष्या लगति स्म पश्चात् ॥ ८ ॥

अन्वयः—अथ सखीना हसिते धृताऽल्पकोपा भास्वन्तम् अभिप्रयातुः छाया इव श्यामा कराऽनवाप्तेः मन्दाक्षलक्ष्या (सती) हंसस्य पश्चात् लगति स्म ॥ ८ ॥

व्याख्या—अथ = अनन्तरं, सखीनिवारणादिति शेष । सखीनां = वयस्याना, हसिते = हास्यविषये, धृताऽल्पकोपा = कृतमन्दक्रोधा, भास्वन्त = सूर्यम्, अभिप्रयातु. = संमुख गच्छत , जनस्येत्यर्थ । छाया इव = अनातपरेखा इव, श्यामा = नीलवर्णा, अन्यत्र—यौवनमध्यस्था । कराऽनवाप्तेः = हस्तेन अप्राप्ते , पक्षान्तरे—किरणानामप्राप्ते , मन्दाक्षलक्ष्या = अपटुनयनग्राह्या (सती), मन्दाऽक्षै (अपटुनयनै) छाया लक्ष्यते न प्रकाश इति भाव. । पक्षान्तरे—सलज्जा सती । हसस्य = पक्षिण , सूर्यस्य वा । पश्चात् = पृष्ठभागे, लगति स्म = लग्नाऽभूत, ग्रहणाऽऽशया हसमनुससारेति भाव. ॥ ८ ॥

अनुवाद—सखियोको उलाहना देनेके अनन्तर उनकी हसीमे कुछ कोप करनेवाली सूर्यके सम्मुख जानेवालेकी श्याम छायाकी समान श्यामा (युवती) दमयन्ती हाथमे हसको न पानेसे लज्जायुक्त होती हुई हसके पीछे लगी ॥ ८ ॥

टिप्पणी—हसिते = हस + क्त + ङि । धृताऽल्पकोपा = धृत अल्प कोपो यया सा (बहु०) । भास्वत = भास् + मतुप् + अम् । अभिप्रयातु = अभि + प्र + या + तृच् + ङस् । श्यामा = "श्यामा यौवनमध्यस्था" इत्युत्पलमाला । कराऽनवाप्ते = न अवाप्तिः अनवाप्तिः (नञ्०) करेण अनवाप्ति, तस्या (तृ० त०), अथवा कराणाम् (किरणानाम्) । अनवाप्ति˙, तस्या (ष० त०), दोनो पक्षोमे हेतुमे पञ्चमी । "बलिहस्तांऽशवः करा" इत्यमर । मन्दाऽक्षलक्ष्या = मन्दे (अपटुनी) अक्षिणी (नेत्रे) येषा ते मन्दाक्षा (बहु०) "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णो स्वाङ्गात्षच" इससे समासाऽन्त षच् प्रत्यय । मन्दाक्षैः लक्ष्या (तृ० त०) । मन्द नेत्रोवालोसे छाया ही देखी जाती है प्रकाश नही । दूसरे पक्षमे—मन्दाऽक्षेण लक्ष्या (तृ० त०) "मन्दाक्ष ह्रीस्त्रपा व्रीडा लज्जा" इत्यमर । लज्जित होती हुई यह तात्पर्य है । हसस्य = "पश्चात्" इस पदके योगमे "षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन" इससे षष्ठी । "रविश्वेतच्छदौ हसौ" इत्यमरः । लगति स्म = "लगे सङ्गे" धातुसे "स्म" के योगमे भूतकालमे लट् + तिप् । इस पद्यमे उपमा अलङ्कार है ॥ ८ ॥

"शस्ता न हंसाऽभिमुखी तवेयं यात्रे" ति ताभिश्छलहस्यमाना ।
साऽऽह स्म "नैवाऽशकुनीभवेन्मे भाविप्रियावेदक एष हंसः" ॥ ९ ॥

अन्वय.—"तव इय हसाऽभिमुखी यात्रा शस्ता न" इति ताभि छलहस्यमाना (सती) सा "भाविप्रियावेदक एष हसो मे न अशकुनीभवेत् एव" इति आह स्म ॥ ९ ॥

व्याख्या—"(हे भैमि !) तव = भवत्या , इयम् = एषा, हसाऽभिमुखी = राजहससमुखी, सूर्यसमुखी च, यात्रा = गमन, शस्ता न = प्रशस्ता न, राजहस-पक्षे—श्रमकारकत्वात्, सूर्यपक्षे—सन्तापकरत्वरूपदृष्टदोषात् शास्त्रविरुद्धत्वाच्च श्रेयस्करी नेति भाव । इति = इत्थ, ताभिः = सखीभि , छलहस्यमाना = छलेन (व्याजोक्त्या) हस्यमाना (उपहस्यमाना) सती, सा = दमयन्ती, भाविप्रियावेदकः = भविष्यत्प्रियसूचक , मङ्गलमूर्तित्वादिति शेष. । एषः = समीपतरवर्ती, हस = राजहस । मे = मम, दमयन्त्या । न अशकुनीभवेत् एव = न अपशकुनरूपो भवेत् एव, अथवा न अपक्षी भवेत् एव, इति = इत्थम्, आह स्म = उक्तवती । एतेन यात्रानिषेधपक्षे दोष परिहृत ॥ ९ ॥

अनुवाद—" (हे दमयन्ती !) आपका यह हसके वा सूर्यके सम्मुख गमन कल्याणकारक नही है" ऐसा कहकर सखियोके छलसे उपहास करनेपर दयमन्तीने "आगामी प्रियका सूचक यह हंस मेरे लिए अपशकुन वा अपक्षी नही ही होगा" ऐसा कहा ॥ ९ ॥

टिप्पणी—हसाऽभिमुखी = हसस्य अभिमुखी (ष० त०) । छलहस्य-माना=हस्यते इति हस्यमाना, हस + लट (कर्ममे) + यक् + शानच् + टाप् । छलेन हस्यमाना (तृ० त०) । भाविप्रियावेदक = भावि च तत्प्रियम् (क० धा०) तस्य आवेदक. (ष० त०), मे = "मम" के स्थान मे "ते मया-वेकवचनस्य" इससे "मे" आदेश । अशकुनीभवेत् = अशकुन + च्वि + भू + लिङ् (विधिमे) । "अस्य च्वौ" इससे अवर्णके स्थानमे ईकार आदेश । "शकुन तु शुभाशसा निमित्ते, शकुन पुमान् ।" इति विश्वः । आह स्म = "ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि" धातुके स्थानमे "आह" आदेश होकर "स्म" के योगमे भूतकालमे लट् । इस पद्यमे श्लेष अलङ्कार है ॥ ९ ॥

हंसोऽप्यसौ हसगतेः सुदत्याः पुर. पुरश्चारु चलन्बभासे ।
वैलक्ष्यहेतोर्गतिमेतदीयामग्रेऽनुकृत्योपहसन्निवोच्चैः ॥ १० ॥

अनुवादः—असौ हंस अपि हंसगतेः सुदत्या पुरः पुर. अग्रे चारु चलन् वैलक्ष्यहेतो एतदीया गतिम् अनुकृत्य उच्चैः उपहसन् इव बभासे ॥ १० ॥

व्याख्या—दमयन्तीचेष्टामभिधाय हसव्यापार प्रतिपादयति हंसोऽपीति। असौ = पूर्वप्रतिपादित, हंस. अपि = राजहस अपि, सुदत्याः = सुन्दरदशनाया, दमयन्त्या इत्यर्थः। पुर पुर = पुरत पुरतः अग्रे = समन्तात्, चारु = रम्यं, चलन् = गच्छन्, वैलक्ष्यहेतो. = आश्चर्योत्पादनाऽर्थम्, एतदीया = दमयन्तीसम्बन्धिनी, गतिं = गमनम्, अनुकृत्य = अभिनीय, उच्चैः = अतिशयेन, उपहसन् इव=उपहास कुर्वन् इव, बभासे = बभौ, लोकेऽपि परिहासकास्तत्तच्चेष्टाऽनुकरणेन जनाना विस्मय जनयन्ति ॥ १० ॥

अनुवादः—वह हस भी हसके समान चलनेवाली दमयन्तीके आगे मनोहर ढगसे चलता हुआ आश्चर्य उत्पन्न करनेके लिए उनकी गतिकी नकल कर मानो उपहास करता हुआ शोभित हुआ ॥ १० ॥

टिप्पणी—हंसगते = हसस्य इव गतिर्यस्या सा हसगति, तस्या (व्यधिकरण०)। सुदत्या =शोभना दन्ता यस्या. सा सुदती, तस्या (बहु०)। "पुरः" इस पदके योगमे "षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन" इस सूत्रसे षष्ठी। चलन् = चल+लट् (शतृ)। वैलक्ष्यहेतो = वैलक्ष्यस्य हेतु, तस्य (ष० त०), "षष्ठी हेतुप्रयोगे" इससे षष्ठी, "विलक्षो लज्जयाऽन्विते" इत्यमर.। एतदीयाम् = एतस्या इयम् एतदीया, ताम्, "त्यदादीनि" च इससे वृद्धसज्ञा होकर "वृद्धाच्छ" इस सूत्रसे छ (ईय) प्रत्यय। उपहसन् = उप+हस+लट् (शतृ)। बभासे = "भासृ दीप्तौ" धातुसे लिट्+त। इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ १० ॥

पदे पदे भाविनि भाविनी त यथा करप्राप्यमवैति नूनम्।
तथा सखेलं चलता लतासु प्रतार्य तेनाऽऽचकृषे कृशाऽङ्गी ॥ ११ ॥

अन्वयः—भाविनी कृशाङ्गी भाविनि पदे पदे त यथा करप्राप्यं नूनम् अवैति तथा सखेल चलता तेन प्रतार्य लतासु आचकृषे ॥ ११ ॥

व्याख्या—भाविनी=हसग्रहणभावयुक्ता अथवा प्रशस्ताऽभिप्राया, कृशाङ्गी= दमयन्ती, भाविनि=भविष्यति, अनन्तरे इत्यर्थ, पदे पदे = प्रतिपद, त=येन हस, यथा प्रकारेण, करप्राप्य = हस्तग्राह्य, नूनं = निश्चितम्, अवैति = जानाति, तथा = तेन प्रकारेण, सखेल = सक्रीडं, चलता = गच्छता, तेन = हसेन, प्रतार्य = वञ्चयित्वा, लतासु = वल्लीसमीपे, आचकृषे = आकृष्टा, एकान्तं नीतेति भावः ॥ ११ ॥

अनुवाद.—हंसको पकडनेकी इच्छा करनेवाली दमयन्ती निकटवर्ती पग-पगमे हसको जैसे हाथसे पकडे जानेवाला निश्चित रूपसे जानती है वैसे क्रीडासे चलनेवाले हसने प्रतारण कर दमयन्तीको लताओके समीप पहुँचाया ॥ ११ ॥

टिप्पणी—भाविनी = भावयतीति, भू + णिच् + णिनि + ङीप् । कृशाङ्गी= कृशानि अङ्गानि यस्या सा (बहु०), "अङ्गगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्" इससे ङीप् । भाविनि = भविष्यतीति भावि तस्मिन्, भू धातुसे "भविष्यति गम्यादय" इस सूत्रसे भविष्यत्कालमे णिनि प्रत्यय । पदे पदे = वीप्सामे द्विरुक्ति । कर-प्राप्य = करेण प्राप्य', तम् (तृ० त०) । अवैति = अव + इण् + लट् + तिप् । सखेल = खेलया सहित यथा तथा (तुल्ययोगबहु०) । चलता = चल + लट् + (शतृ) + टा । आचकृषे=आङ् + कृष + लिट् (कर्ममे) + त ॥११॥

रुषा निषिद्धाऽऽलिजनां यदैना छायाद्वितीयां कलयाञ्चकार ।
तदा श्रमाऽम्भःकणभूषिताङ्गी स कीरवन्मानुषवागवादीत् ॥ १२ ॥

अन्वयः—रुषा निषिद्धाऽऽलिजनाम् एना यदा छायाद्वितीया कलयाञ्चकार तदा श्रमाऽम्भ.कणभूषिताऽङ्गी ताम् स कीरवत् मानुषवाक् (सन्) अवादीत् ।

व्याख्या—रुषा = क्रोधेन हेतुना, निषिद्धाऽऽलिजना = निवारितसखीजना एना = दमयन्ती, यदा = यस्मिन्समये, छायाद्वितीया = प्रतिबिम्बमात्र-सहचरीम्, एकाकिनीमिति भाव । कलयाञ्चकार = ज्ञातवान्, तदा = तस्मिन् समये, श्रमाऽम्भ.कणभूषिताङ्गी = स्वेदजललवाऽलङ्कृताऽङ्गी, ता = भैमी, स=स , कीरवत् = शुकवत्, मानुषवाक् = मानववाणीयुक्त. सन्, अवादीत् = उक्तवान् ॥ १२ ॥

अनुवाद.—क्रोधसे सखियोको निवारण करनेवाली दमयन्तीको जब केवल छायासे युक्त (अकेली) जान लिया, तब पसीनेके जलकी कणोसे अलङ्कृत शरीरवाली उनसे उस हंसने तोतेके समान मनुष्यवाणीसे भाषण किया ॥१२॥

टिप्पणी—निषिद्धाऽऽलिजना = निषिद्धा आलिजना यया सा, ताम् (बहु०) । छायाद्वितीयां = छाया एव द्वितीया यस्याः सा (बहु०) । अथवा छायया (कान्त्या) हेतुना अद्वितीया, ताम् (तृ० त०), कान्तिसे अद्वितीय, अतिशय सुन्दरी यह तात्पर्य है । श्रमाऽम्भ कणभूषिताङ्गी = श्रमेण अम्भ.कणा. (तृ० त०), भूषितानि अङ्गानि यस्या. सा, (बहु०) । श्रमाऽम्भः कणैः भूषिताङ्गी, ताम् (तृ० त०) कीरवत् = कीरेणतुल्यम्, कीर + वतिः ।

मानुषवाक् = मानुषस्य इव वाक् यस्य स. (व्यधिकरणबहु०) अवादीत् = वद + लुङ् + तिप् ॥ १२ ॥

अये ! कियद्यावदुपैषि दूरं व्यर्थं ? परिश्राम्यसि वा किमर्थम् ? ।
उदेति ते भीरपि किन्नु बाले ! विलोकयन्त्या न घना वनाऽऽली ? ॥१३॥

अन्वयः—अये बाले ! व्यर्थं कियद् दूर यावत् उपैषि ? वा किमर्थं परिश्राम्यसि ? घना वनाली विलोकयन्त्या ते भी अपि न उदेति किन्नु ? ॥ १३ ॥

व्याख्या—अये बाले = हे तरुणि !, व्यर्थं = निरर्थं, कियत् = किंपरिमाणं, दूर यावत् = विप्रकृष्टं पर्यन्तम्, उपैषि=उपैष्यसि ? वा = अथवा, किमर्थं = केन प्रयोजनेन, परिश्राम्यसि = परिश्रान्ता भवसि । घना = निबिडा·, वनाली = विपिनपङ्क्ती , विलोकयन्त्या = पश्यन्त्या., ते=तव, भी अपि = भयम् अपि, न उदेति किन्नु = न उत्पद्यते किम् ? ॥ १३ ॥

अनुवादः—हे बाले ! व्यर्थं कितनी दूरतक आ रही है ? अथवा किस लिए आप परिश्रान्त होती है ? गाढ वनपङ्क्तियोको देखनेवाली आपको भय भी उत्पन्न नही होता है क्या ? ॥ १३ ॥

टिप्पणी— कियत् = किंपरिमाण, किम् + वतुप्, उपैषि = उप + इण्—धातुसे "यावत्" पदके योगमे "यावत्पुरानिपातयोर्लट्" इस सूत्रसे भविष्यत्-कालमे लट् । किमर्थं = कस्मै इदम् (चतुर्थीतत्पुरुष) । वनालो = वनानाम् आल्य , ता (ष० त०) । विलोकयन्त्या = वि + लोक् + णिच् + लट् + (शतृ) ङीप् + ङस् ॥ १३ ॥

वृथाऽर्पयन्तीमपथे पद त्वां मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पै. ।
आलीव पश्य प्रतिषेधतीय कपोतहुङ्कारगिरा वनाऽऽलिः ॥ १४ ॥

अन्वय·—वृथा अपथे पदम् अर्पयन्ती त्वा मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पैः कपोतहुङ्कारगिरा च इय वनालि. आली इव प्रतिषेधति । पश्य ॥ १४ ॥

व्याख्या—(हे राजकुमारि !) वृथा=व्यर्थमेव, अपथे = दुर्मार्गे, अकृत्ये च, पद = पाद, व्यवसाय च, अर्पयन्तीम् = कुर्वती, (त्वाम्), मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पै = वायुचलत्किसलयकरवेपथुभि., कपोतहुङ्कारगिरा = पारावतहुङ्करणवाचा, च, इयम् = एषा, वनाऽऽलि· = विपिनपङ्क्ति , आली इव = सखी इव, प्रतिषेधति = निवारयति, पश्य = विलोकय, (वाक्याऽर्थं कर्म) । यथालोके कुमार्गप्रवृत्त जन सुहृत् पाणिना वाचा च निवारयति तथैव इय वनालि. प्रतिषेधति इति भावः ॥ १४ ॥

अनुवादः—व्यर्थ ही दुर्मार्गमे अकृत्यमे भी पैर रखनेवाली आपको वायुसे चञ्चल पल्लवरूप हाथोके कम्पनोसे और कबूतरकी हुङ्कारवाणोसे भी यह वनपङ्क्ति सखीकी समान निवारण कर रही है देखिए ॥ १४ ॥

टिप्पणी—अपथे = न पन्था अपथम् (नञ्०) तस्मिन्, "ऋक्पूरब्धू-पथामानक्षे" इस सूत्रसे समासान्त अप्रत्यय। "अपथ नपुंसकम्" इससे नपुसक-लिङ्गता। पद = "पद व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माऽङ्घ्रिवस्तुषु।" इत्यमर। मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पै = पल्लव एव पाणि (रूपक०), ललश्चाऽसौ पल्लव-पाणि (क० धा०)। मरुता ललत्पल्लवपाणि (तृ० त०)। तस्य कम्पा, तै (ष० त०)। कपोतहुङ्कारगिरा = हुङ्कार एव गी (रूपक०)। कपोतानां हुङ्कारगी तया (ष० त०)। वनालि = वनानाम् आलि (ष०त०)। प्रतिषेधति = प्रति + षिध + लट् + तिप्। इस पद्यमे रूपक और उपमाका अङ्गाङ्गिभावसे सङ्कर अलङ्कार है ॥ १४ ॥

धार्यः कथङ्कारमहं भवत्या वियद्विहारी वसुधैकगत्या ?।
अहो ! शिशुत्वं तव खण्डित न स्मरस्य सख्या वयसाऽप्यनेन ॥ १५ ॥

अन्वय.—वसुधैकगत्या भवत्या वियद्विहारी अह कथङ्कार धार्यं ? स्मरस्य सख्या अनेन वयसा अपि तव शिशुत्व खण्डितं न, अहो ! ॥ १५ ॥

व्याख्या—(हे राजकुमारि !) वसुधैकगत्या = भूमात्रचारिण्या, भवत्या = त्वया, वियद्विहारी = आकाशचारी, अह = पक्षी, कथङ्कार = केन प्रकारेण, धार्य. = ग्रहीतु शक्य। स्मरस्य = कामस्य, सख्या = मित्रेण, अनेन = एतेन, वयसा अपि = अवस्थया अपि, तारुण्येनापीऽति भावः। तव = भवत्याः, शिशुत्वं = शैशवम्, अज्ञत्वमित्यर्थं, खण्डित न = निर्वतित न, अहो ! = आश्चर्यम् ॥ १५ ॥

अनुवादः—भूमिमात्रमे गतिवाली आपसे आकाशमें विचरण करनेवाला मैं कैसे पकडा जाऊँगा ? कामदेवके मित्र इस अवस्था (तारुण्य) से भी आपका बालभाव नही हटा है, आश्चर्य है ! ॥ १५ ॥

टिप्पणी—वसुधैकगत्या = एका गतिर्यस्याः सा एकगति (बहु०)। वसुधायाम् एकगतिः तया (स० त०)। वियद्विहारी = विहरतीति तच्छीलो विहारी, वि + हृञ् + णिनिः। वियति विहारी (स० त०)। कथङ्कारं = 'कथम्' उपपदपूर्वक 'कृ' धातुसे "अन्यथैवकथमित्थसु सिद्धाऽप्रयोगश्चेत्" इस सूत्रसे णमुल् प्रत्यय। धार्यः = धर्तुं शक्यः, 'धृ' धातुसे "शकि लिङ् च" इस

सूत्रमे 'च' का पाठ होनेसे शक्य अर्थमे ण्यत् (कृत्य) प्रत्यय। इस पद्यमे अधार्यत्वमे वसुधागति और वियद्विहाररूप पदार्थहेतुक एक काव्यलिङ्ग और शैशवके अखण्डनमे पूर्ववाक्यार्थके हेतु होनेसे दूसरा काव्यलिङ्ग, इनका सजातीय सङ्कर है ॥ १५ ॥

सहस्रपत्त्रासनपत्त्रहंसवंशस्य पत्त्राणि पतत्रिणः स्मः ।
अस्मादृशां चाटुरसाऽमृतानि स्वर्लोकलोकेतरदुर्लभानि ॥ १६ ॥

अन्वय.—पाठाऽनुसारी ॥ १६ ॥

व्याख्या—हंसः स्वपरिचयं प्रस्तौति—सहस्रेति। सहस्रपत्त्रासनपत्त्रहंसवंशस्य = ब्रह्मवाहनहंसकुलस्य, पत्त्राणि = वाहनानि, पतत्रिण = पक्षिणः, स्म = भवामः। वयमिति शेषः। अहं ब्रह्मवाहनहंसकुलोत्पन्नोऽस्मीति भावः। अस्मादृशाम् = अस्मत्सदृशाना, चाटुरसाऽमृतानि = सुभाषितशृङ्गारादिरस-पीयूषाणि, स्वर्लोकलोकेतरदुर्लभानि = देवभिन्न (मनुष्य) दुष्प्राप्याणि, सन्तीति शेषः ॥ १६ ॥

अनुवादः—(हे राजकुमारि !) हम ब्रह्माजीके वाहन हंसोके कुलमे उत्पन्न वाहन पक्षी है। हमारे सरीखे लोगोके सुभाषितरसरूप अमृत, देवभिन्न मनुष्योके लिए दुर्लभ है ॥ १६ ॥

टिप्पणी—सहस्रपत्त्रासनपत्त्रहंसवंशस्य = सहस्र पत्त्राणि यस्य तत् सहस्रपत्त्र (बहु०), "सहस्रपत्त्र कमलम्" इत्यमरः। सहस्रपत्त्रम् आसनम् यस्य स सहस्रपत्त्रासन "विरञ्चि कमलाऽऽसन" इत्यमरः। पत्त्राणि च ते हंसा (क० धा०)। सहस्रपत्त्रासनस्य पत्त्रहंसा. (ष० त०), तेषां वंशः, तस्य (ष० त०)। पत्त्राणि = "वंशो वेणौ कुले वर्गे", पत्त्र स्याद्वाहने पर्णे" इति च विश्वः। अस्मादृशाम् = अस्मानिव पश्यन्तीति अस्मादृशः, तेषाम्, उपपदपूर्वक 'दृश' धातुसे "त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च" इस सूत्रसे क्विन् प्रत्यय। चाटुरसाऽमृतानि = चाटुषु रसाः (स० त०), ते एव अमृतानि (रूपक०), स्वर्लोकलोकेतरदुर्लभानि=स्वश्चाऽसौ लोकः स्वर्लोकः (क० धा०)। स्वर्लोके लोकाः (देवजनाः), (स० त०)। स्वर्लोकलोकेभ्यः इतरे (अन्ये, मनुष्या इत्यर्थः) (प० त०)। स्वर्लोकलोकेतरैः दुर्लभानि (तृ० त०)। इस पद्यमे रूपक अलङ्कार है ॥ १६ ॥

स्वर्गाऽऽपगाहेममृणालिनीनां नालामृणालाऽग्रभुजो भजामः ।
अन्नाऽनुरूपां तनुरूपऋद्धिं कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते ॥ १७ ॥

अन्वय.—स्वर्गापगाहेममृणालिनीना नालामृणालाऽग्रभुज· अन्नाऽनुरूपा तनुरूपर्द्धिं भजाम., हि कार्यं निदानात् गुणान् अधीते ॥ १७ ॥

व्याख्या—(हे राजकुमारि !) स्वर्गाऽऽपगाहेममृणालिनीना = मन्दाकिनीसुवर्णकमलिनीना, नालामृणालाऽग्रभुज = काण्डबिसाग्रभोजिन , वयमिति शेष: । अन्नाऽनुरूपाम् = आहारसदृशी, तनुरूपर्द्धि = शरीरवर्णसमृद्धि, भजाम. = प्राप्ता: स्म इति भाव । (उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन समर्थयते—कार्यमिति)। हि = यस्मात् कारणात्, कार्य = जन्य द्रव्य, निदानात् = उपादानकारणात्, गुणान् = रूपादिविशेषगुणान्, अधीते = प्राप्नोतीति भाव. ।

अनुवाद:—स्वर्गकी नदी (मन्दाकिनी) की सुवर्णकमलिनियोके काण्ड और मृणालके अग्रभागको खानेवाले हम लोग आहारके समान शरीरके वर्णकी समृद्धिको प्राप्त किये हुए है, क्योकि कार्य, कारणसे रूप आदि विशेष गुणोको प्राप्त करता है ॥ १७ ॥

टिप्पणी—स्वर्गाऽऽपगाहेममृणालिनीना = स्वर्गे आपगा (स० त०), हेम्नो मृणालिन्य (ष० त०), स्वर्गापगाया हेममृणालिन्य , तासाम् (ष० त०)। नालामृणालाऽग्रभुज = मृणालानामग्राणि ष० त०)। नालाश्च मृणालाऽग्राणि च (द्वन्द्व), तानि भुञ्जत इति (नालामृणालाऽग्र + भुज् + क्विप + जस्)। अन्नाऽनुरूपाम्=अन्नस्य अनुरूपा, ताम् (ष० त०)। तनुरूपर्द्धि = रूपस्य ऋद्धि (ष० त०), "ऋत्यक" इससे प्रकृतिभाव होनेसे अर्‌गुण नही हुआ। तनो रूपर्द्धि , ताम् (ष० त०)। निदानात् = "आख्यातोपयोगे" इस सूत्रसे अपादानसज्ञा होनेसे पञ्चमी । इस पद्यमे सामान्यसे विशेषका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ॥ १७ ॥

धातुर्नियोगादिह नैषधीय लीलासर: सेवितुमागतेषु ।
हैमेषु हंसेष्वहमेक एव भ्रमामि भूलोकविलोकनोत्क: ॥ १८ ॥

अन्वय:—धातु. नियोगात् इह नैषधीय लीलासर. सेवितुम् आगतेषु हैमेषु हसेषु अहम् एक एव भूलोकविलोकनोत्क: (सन्) भ्रमामि ॥ १८ ॥

व्याख्या—(हे राजकुमारि !) धातु = ब्रह्मण·, नियोगात् = आदेशात्, इह = अस्मिन्, भूलोक इति भाव. । नैषधीय = नलीय, लीलासर: = विलासकासार, सेवितुम् – आलोडयितुम्, विहर्तुमिति भाव । आगतेषु = आयातेषु, हैमेषु = सौवर्णेषु, हसेषु = चक्राङ्गेषु, अहम्, एक एव = एकाकी एव, भूलोकविलोकनोत्क: = भूमिलोकदर्शनोत्कण्ठित. सन्, भ्रमामि = पर्यटामि ॥ १८ ॥

अनुवादः—ब्रह्माजीकी आज्ञासे इस भूलोकमे नलके विलासकी तालाबमें विहार करनेके लिए आये हुए सुनहरे हंसोमे मै अकेला ही भूलोक देखनेमे उत्कण्ठित होता हुआ पर्यटन कर रहा हूँ ॥ १८ ॥

टिप्पणी—नैषधीय = निषधानामय नैषधः, निषध + अण्। नैषधस्य इदम् "वा नामधेयस्य वृद्धसज्ञा वक्तव्या" इससे वृद्धसंज्ञा होकर "वृद्धाच्छ." इससे छ (ईय) प्रत्यय। हैमेषु = हेम्नो विकारा तेषु, हेमन् + अण् + सुप्। "नस्त-द्धिते" इससे टि का लोप। भूलोकविलोकनोत्क = भूश्चाऽसौ लोक (क० धा०)। तस्य विलोकन (ष० त०), तस्मिन् उत्क. (स० त०)। "उत्क" इसमे "उत्क उन्मना" इस सूत्रसे उद् उपसर्गसे कन्प्रत्ययान्त निपात। भ्रमामि = भ्रम + लट् + मिप् ॥ १८ ॥

विधेः कदाचिद् भ्रमणीविलासे श्रमाऽऽतुरेभ्यः स्वमहत्तरेभ्यः ।
स्कन्धस्य विश्रान्तिमदां तदादि श्राम्यामि नाऽविश्रमविश्वगोऽपि ॥ १६ ॥

अन्वयः—कदाचित् विधे भ्रमणीविलासे श्रमातुरेभ्य स्वमहत्तरेभ्य स्कन्धस्य विश्रान्तिम् अदा, तदादि अविश्रमविश्वग अपि न श्राम्यामि ॥ १९ ॥

व्याख्या—कदाचित् = जातुचित्, विधे = ब्रह्मण, भ्रमणीविलासे = भुवन-भ्रमणविनोदे, श्रमाऽऽतुरेभ्य = परिश्रमाऽऽकुलेभ्य, भारवहनादिति शेष। स्वमहत्तरेभ्य = निजवशवृद्धेभ्य, स्कन्धस्य = असस्य, विश्रान्ति = विश्रमम्, अदा = दत्तवान्, स्वमहत्तरेषु श्रान्तेषु तद्भारमह गृहीतवानिति भाव। तदादि= तत्कालादारभ्य, अविश्रमविश्वग अपि = निरन्तरसर्वलोकगामी अपि, न श्राम्यामि = श्रान्तो न भवामि, न खिद्ये इति भाव. ॥ १९ ॥

अनुवाद.—किसी समय ब्रह्माजीके भ्रमणके विनोदमे परिश्रमसे आतुर अपने पूर्वजोको मैने कन्धेको विश्राम दिया। इस कारणसे मै उस समयसे लेकर लगा-तार विश्वमे भ्रमण करनेपर भी परिश्रान्त नही होता हूँ ॥ १९ ॥

टिप्पणी—भ्रमणीविलासे = भ्रमण्या विलास, तस्मिन् (ष० त०)। श्रमातुरेभ्य. = श्रमेण आतुराः, तेभ्य (तृ० त०)। स्वमहत्तरेभ्य = अति-शयेन महान्तो महत्तरा., महत + तरप्। स्वस्मात् महत्तरा तेभ्य (प० त०), "कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्" इससे सम्प्रदान सज्ञा होकर चतुर्थी। स्कन्धस्य = "स्कन्धो भुजशिरोऽसोऽस्त्री" इत्यमर। अदाम् = "डुदाञ् दाने" धातुसे लुङ् + मिप्। "गातिस्थाघुपाभूभ्य सिच परस्मैपदेषु" इससे सिच्का लुक्। तदादि = स (काल) आदिः यस्मिन् (कर्मणि) (बहु०), तद यथा तथा

(क्रि० वि०) । अविश्रमविश्वगः = अविद्यमानः विश्रमः यस्मिन् कर्मणि, (नञ्बहु०), विश्वं गच्छतीति विश्वग', विश्व–उपपदपूर्वक गम धातुसे "अन्यत्राऽपि दृश्यते" इससे ड प्रत्ययः । अविश्रम (यथा तथा) विश्वगः (सुप्सुपा०) । श्राम्यामि = "श्रमु तपसि खेदे च" इस धातुसे लट् + मिप् । "शमामष्टाना दीर्घ. श्यनि" इससे दीर्घ । इस पद्यमे काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।। १६ ।।

बन्धाय दिव्ये न तिरश्चि कश्चित्पाशादिरासादितपौरुषः स्यात् ।
एक विना मादृशि तन्नरस्य स्वर्भोगभाग्यं विरलोदयस्य ।। २० ।।

अन्वयः—मादृशि दिव्ये तिरश्चि विरलोदयस्य नरस्य एक स्वर्भोगभाग्य विना कश्चित् पाशादि बन्धाय आसादितपौरुषो न स्यात् ।। २० ।।

व्याख्या—मादृशि = मत्सदृशे, दिव्ये = सुरलोकभवे, तिरश्चि = पक्षिणि विषये, विरलोदयस्य = दुर्लभजन्मन , नरस्य = मनुष्यस्य, अथवा विरलोदयस्य= रेफस्थाने लकारयुक्तस्य, नरस्य = नलस्येतिभाव । एक = मुख्य, स्वर्भोगभाग्य विना = स्वर्गसुखभागधेय विना, कश्चित् = कश्चन्, पाशादिः = पाशाद्युपाय , बन्धाय = बन्धनाऽर्थम्, आसादितपौरुष = प्राप्तपुरुषार्थ , न स्यात् = न भवेत्, स्वर्भोगभाग्यशालिन नरं (नलम्) विना मा ग्रहीतु न कोऽपि समर्थ इति भाव. ।। २० ।।

अनुवादः—मेरे सरीखे दिव्य पक्षीके विषयमे दुर्लभजन्मवाले नरके वा 'र'-के स्थानमे 'ल' से युक्त नर अर्थात् नलके मुख्य स्वर्गभोगके भाग्यको छोड़कर कुछ पाश आदि उपाय बन्धनके लिए समर्थ नही होगा अर्थात् नलके सिवाय मैं किसीसे ग्राह्य नही हूँगा ।। २० ।।

टिप्पणी—विरलोदयस्य = विरल उदयो यस्य स विरलोदय , तस्य (बहु०) । अथवा—विगतः रः यस्मात् स विर. (बहु०) । लस्य उदयो यस्मिन् स लोदयः (व्यधिकरणबहु०) । विरश्चाऽसौ लोदय. विरलोदयः (क० धा०) । विरलोदयस्य नरस्य = 'र' के स्थानमे 'ल' के उदयवाले नर अर्थात् नलका यह तात्पर्य है । स्वर्भोगभाग्यं = स्वः भोग. स्वर्भोग' (ष० त०), तस्य भाग्य, तत् (ष० त०), "विना" इस पदके योगमे द्वितीया । पाशादि.= पाश आदिर्यस्य सः (बहु०) । बन्धाय = "तुमर्थाच्च भाववचनात्" इससे चतुर्थी । आसादितपौरुष. = आसादितं पौरुष येन सः (बहु०) । स्यात् = अस् + विधिलिङ् + तिप् ।। २० ।।

इष्टेन पूर्तेन नलस्य वश्याः स्वर्भोगमत्राऽपि सृजन्त्यमर्त्याः ।
महीरुहो दोहदसेकशक्तेराकालिकं कोरकमुद्‌गिरन्ति ॥ २१ ॥

अन्वयः—इष्टेन पूर्तेन वश्या अमर्त्या नलस्य अत्र अपि स्वर्भोगं सृजन्ति । महीरुहो दोहदसेकशक्ते आकालिक कोरकम् उद्‌गिरन्ति ॥ २१ ॥

व्याख्या—नलस्य स्वर्भोगभाग्य प्रतिपादयन्ति—इष्टेनेति । इष्टेन = यागेन, पूर्त्तेन = खाताऽऽदिकर्मणा, वश्या = वशगता, अमर्त्या. = देवाः, नलस्य = नैषधस्य, अत्र अपि = भूलोके अपि, स्वर्भोग = स्वर्गसुख, सृजन्ति=सम्पादयन्ति । अत्राऽर्थे दृष्टान्तमुपन्यस्यति–महीरुह इति । महीरुह = वृक्षा, दोहदसेकशक्ते = धूपादिदोहदसेचनसामर्थ्यात्, आकालिकम् = असमयमव, कोरक = कलिकाम्, उद्‌गिरन्ति = उत्पादयन्ति । दोहदसेचनादिभ्यो वृक्षा इव इष्टपूर्तादिकर्मभ्यो देवा अपि देशकालावनपेक्ष्याऽपि फल ददतीति भाव ॥ २१ ॥

अनुवादः—याग और खात आदि कर्मसे वशीभूत होकर देवगण नलके लिए भूलोकमे भी स्वर्गसुखका सम्पादन करते है। वृक्ष, धूप आदि दोहद और सेचनकी शक्तिसे असमयमे भी कलिकाको उत्पन्न करते हैं ॥ २१ ॥

टिप्पणी—इष्टेन पूर्तेन = यज् + क्त + टा । पॄ + क्त + टा । "अथ क्रतुकर्मेष्ट, पूर्तं खातादिकर्मणि ।" इत्यमर । "पूर्त" यहाँपर "न ध्याख्यापॄमूर्च्छिमदाम्" इस सूत्रसे तकारका नकार नहा हुआ । वश्या· = वश गता, "वश गत" इस सूत्रसे यत् प्रत्यय । अमर्त्या·="अमर्त्या अमृतान्धस" इत्यमर । दोहदसेकशक्ते = दोहद च सेकश्च दोहदसेकौ (द्वन्द्व), तयो शक्ति, तस्या (ष० त०) । आकालिकम् = न काल अकाल (नञ्०) । अकाले भव· आकालिक, तम्, 'अकाल' शब्दसे अध्यात्मादिगणके आकृतिगण होनेसे "अध्यात्मादेष्ठञिष्यते" इससे ठञ् प्रत्यय । उद्‌गिरन्ति = उद् + गॄ + लट् + झि । इस पद्यमे दृष्टान्त अलङ्कार है ॥ २१ ॥

सुवर्णशैलादवतीर्य तूर्णं स्वर्वाहिनीवारिकणाऽवतीर्णैः ।
तं वीजयामः स्मरकेलिकाले पक्षैर्नृप चामरबद्धसख्यैः ॥ २२ ॥

अन्वयः—सुवर्णशैलात् तूर्णम् अवतीर्य स्वर्वाहिनीवारिकणाऽवतीर्णै चामरबद्धसख्यै पक्षै स्मरकेलिकाले त नृप वीजयाम ॥ २२ ॥

व्याख्या—नलस्य स्वर्गभोग प्रतिपादयति—सुवर्णशैलादिति । सुवर्णशैलात्= सुमेरो, तूर्णं = शीघ्रम्, अवतीर्य = अवरुह्य, स्वर्वाहिनीवारिकणाऽवकीर्णै = मन्दाकिनीजलबिन्दुसपृक्तै, चामरबद्धसख्यै. = प्रकीर्णककृतमैत्रीकै·, चामर-

सदृशैरिति भाव । पक्षैः = पतत्रै, स्मरकेलिकाले = रतिक्रीडासमये, तं = पूर्वोक्तं, नृपं = राजानं नल, वीजयामः = वातं सृजाम इति भाव । राज्ञः सुरतश्रम निवारयाम इति भाव ॥ २२ ॥

अनुवाद —सुमेरुपर्वतसे शीघ्र उतर कर मन्दाकिनीके जलके बिन्दुओके सम्पर्कयुक्त चामरके समान पङ्खोसे रतिक्रीडाके समयमे नलको हम पङ्खा झलते है ॥ २२ ॥

टिप्पणी—सुवर्णशैलात् = सुवर्णस्य शैल., तस्मात् (ष० त०) । अवतीर्य= अव + तॄ + क्त्वा (ल्यप्) । स्वर्वाहिनीवारिकणाऽवकीर्णै = वारिणः कणाः (ष० त०), स्वर्वाहिन्या वारिकणा (ष० त०), तै अवकीर्णा, तै. (तृ० त०) । चामरबद्धसख्यै =बद्धं सख्य यैस्ते (बहु०), चामरेषु बद्धसख्या, तै. (स० त०) स्मरकेलिकाले=स्मरस्य केलि (ष० त०), तस्य काल, तस्मिन् (ष० त०) ॥ २२ ॥

क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता, व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाऽभिधेया ।
या स्वौजसां साधयितुं विलासैस्तावत्क्षमानामपदं बहु स्यात् ॥ २३ ॥

अन्वय —साधुविभक्तिचिन्ता क्रियेत चेत्, सा व्यक्ति प्रथमाऽभिधेया । या स्वौजसा विलासै तावत् बहु अनामपदम्, पक्षान्तरे—नामपद साधयितु क्षमा स्यात् ॥ २३ ॥

व्याख्या— साधुविभक्तिचिन्ता = सज्जनविभागविचार , क्रियेत चेत् = विधीयेत यदि, सा = नलनामधेया, व्यक्ति = मूर्ति , प्रथमाऽभिधेया = प्रथम परिगणनीया । या = नलनामधेया व्यक्ति, स्वौजसा = निजतेजसा, विलासै = विभवै , बहु = प्रचुरम्, अनामपद = परराष्ट्र, साधयितु = स्वायत्तीकर्तुम्, क्षमा = समर्था, स्यात् = भवेत् ।

पक्षान्तरे—साधुविभक्तिचिन्ता = सप्तविभक्तिविचार , 'क्रियेत चेत् = विधीयेत यदि, सा = प्रसिद्धा, प्रथमा = प्रथमाऽऽख्या, व्यक्ति. = विभक्ति , अभिधेया = कथनीया, या = प्रथमा विभक्ति , स्वौजसा = सु औ जस् इत्येतेषा प्रत्ययाना, विलासै. = विस्तारै , तावत्, बहु=अनेक, नामपद = सुबन्तपद, राम इत्यादिक पदमिति भाव । साधयितु = निष्पादयितुं, क्षमा = समर्था ॥ २३ ॥

अनुवाद —सज्जनोके विभागका विचार किया जायगा तो "नल" नामवाले व्यक्तिको पहले परिगणन करना चाहिए । जो अपने प्रतापके विभवोसे प्रचुर शत्रुओके राष्ट्रको वशमे करनेके लिए समर्थ होगा ।

दूसरे पक्षमे—सात विभक्तियोंका विचार किया जायगा तो उस प्रथमा विभक्तिको पहले कहना चाहिए। जो (प्रथमा विभक्ति) सु औ जस् इन प्रत्ययोके विस्तारोसे बहुतसे सुबन्तपदको सिद्ध करनेके लिए समर्थ होगी ॥ २३ ॥

टिप्पणी—साधुविभक्तिचिन्ता = साधूना विभक्ति. (विभाग) (ष० त०), तस्याश्चिन्ता (ष० त०)। विभक्तिपक्षमे—विभक्तीनां चिन्ता (ष० त०), साधु (यथा तथा) विभक्तिचिन्ता (सुप्सुपा०)। क्रियेत = कृ + लिङ् (कर्ममे) + त। प्रथमाऽभिधेया = प्रथमम् (यथा तथा) अभिधेया (सुप्सुपा०)। विभक्तिपक्षमे—प्रथमा = "प्रातिपदिकाऽर्थलिङ्गपरिमाण-वचनमात्रे प्रथमा" इससे होनेवाली प्रथमा विभक्ति। स्वौजसां = स्वस्य ओजासि (तेजासि), तेषाम् (ष० त०)। विभक्तिपक्षमे—सुश्च औश्च जश्च स्वौजस, तेषाम् (द्वन्द्व)। अनामपदम् = नमन नाम, 'नम्' धातुसे भावमें घञ्। अविद्यमानः नाम येषा ते अनामा (नञ्बहु०), न झुकनेवाले अर्थात् शत्रु। अनामाना पद (ष० त०) तत्। विभक्तिपक्षमे—नामपद = नाम च तत्पद, तत् (क० धा०), निरुक्तके मतके अनुसार नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात इन चार प्रकारके पदोमे "सत्त्वप्रधानानि नामानि" अर्थात् जिनमे सत्त्व (द्रव्य) प्रधान होते है उन्हे "नाम" कहते है, अर्थात् सुबन्त पद। छ कारकोमे "व्यापाराश्रय कर्ता" व्यापारका आश्रय कर्ता होता है, अत वही प्रधान होता है, उसमे प्रथमा विभक्तिका प्रयोग होता है, इसलिए अन्य विभक्तियोमे उसीको प्रधानता और प्राथम्य होता है यह तात्पर्य है। इस पद्यमे प्रस्तुत अर्थं नल व्यक्तिका बोधन कर अभिधावृत्तिका विराम होनेके अनन्तर अन्वयकी अनुपपत्ति न होनेसे लक्षणाकी अप्रसक्तिसे तात्पर्यवृत्तिके पदार्थाऽन्वयका बोधन कर निवृत्त होनेपर अप्रस्तुत प्रथमा विभक्तिकी प्रतीति उपमाध्वनिसे हो जाती है ॥ २३ ॥

राजा स यज्वा विबुधव्रजत्रा कृत्वाऽध्वराऽऽज्योपमयेव राज्यम्।
भुङ्क्ते श्रितश्रोत्रियसात्कृतश्रीः पूर्वं त्वहो ! शेषमशेषमन्त्यम् ॥ २४ ॥

अन्वयः—यज्वा श्रितश्रोत्रियसात्कृतश्री स राजा अध्वराज्योपमया इव राज्य विबुधव्रजत्रा कृत्वा पूर्व शेषम्, अन्त्यं तु अशेष भुङ्क्ते अहो ! ॥ २४ ॥

व्याख्या—यज्वा = विधिना इष्टवान्, श्रितश्रोत्रियसात्कृतश्री. = आश्रितच्छान्दसाधोनकृतसम्पत्ति, सः = पूर्वोक्त, राजा = भूपतिः, नल इत्यर्थं। अध्वराज्योपमया इव = यज्ञघृतसादृश्येन इव, राज्यं = राष्ट्रं, **विबुधव्रजत्रा** =

देवद्विद्दधीन कृत्वा = विधाय, पूर्वं = पूर्वनिर्दिष्टम् अध्वराज्यं, शेषं = हुतशेषं भुङक्ते, अन्त्य तु = पश्चान्निर्दिष्ट राज्यं तु, अशेषम् = अखण्ड, भुङ्क्ते = उपभुङ्क्ते, अहो = आश्चर्यम् ।। २४ ।।

अनुवाद—विधिपूर्वक यज्ञ करनेवाले और आश्रित वैदिकोको सम्पत्ति देनेवाले वे राजा (नल) यज्ञके घृतके समान ही राज्यको देवता और विद्वानो-के अधीन कर पूर्वोक्त यज्ञके घृतका शेष भाग (हवनके अनन्तर अवशिष्ट भाग) का उपभोग करते है। पीछे कहे गये राज्यके अशेष (अखण्ड) भागका उपभोग करते है, आश्चर्य है ।। २४ ।।

टिप्पणी—यज्वा = यज् + ड्वनिप् । श्रितश्रोत्रियसात्कृतश्री = छन्दोऽधीयत इति श्रोत्रिया, "श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते" इससे निपात । "जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः सस्काराद् द्विज उच्यते । विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभि श्रोत्रिय उच्यते" । इस उक्तिके अनुसार, जिसमे जन्म, सस्कार, विद्याका जुटाव होता है, उसे "श्रोत्रिय" कहते है । श्रिताश्च ते श्रोत्रिया (क० धा०), श्रितश्रोत्रियाऽधीनीकृता श्रित-श्रोत्रियसात्कृता "तदधीनवचने" इस सूत्रसे "कृ" के योगमे सातिप्रत्यय । श्रित-श्रोत्रियसात्कृता श्रीर्येन स (बहु०) । "सम्पत्ति. श्रीश्च लक्ष्मीश्च" इत्यमर. । अध्वराज्योपमया = अध्वरेषु आज्यम् (स० त०) । अध्वराज्यस्य उपमा, तया (ष० त०), विबुधव्रजत्रा = विबुधाना व्रज (ष० त०) । विबुधव्रजाधीनं देय कृत्वा ऐसा विग्रह कर "देये त्रा च" इससे विबुधव्रजसे त्रा प्रत्यय । "तद्धि-तश्चाऽसर्वविभक्ति" इससे अव्ययभाव । अशेष = न शेषम्, तत् (नञ्०) । भुङ्क्ते = "भुज पालनाऽभ्यवहारयो" इस धातुसे "भुजोऽनवने" इस सूत्रसे आत्मनेपद, लट् + त । इस पद्यमे विरोधाऽभास अलङ्कार है ।। २४ ।।

दारिद्र्यदारिद्रविणौघवर्षैरमोघमेघव्रतमर्थिसार्थे ।
सन्तुष्टमिष्टानि तमिष्टदेवं नाथन्ति के नाम न लोकनाथम् ? ।। २५ ।।

अन्वयः—दारिद्र्यदारिद्रविणौघवर्षैः अर्थिसार्थे अमोघमेघव्रत सन्तुष्टम् इष्टदेवं लोकनाथ त के नाम इष्टानि न नाथन्ति ? ।। २५ ।।

व्याख्या—दारिद्र्यदारिद्रविणौघवर्षैः = दैन्यनिवर्तकघनराशिवृष्टिभि, अर्थि-सार्थे = याचकसमूहे विषये, अमोघमेघव्रतम् = सफलबलाहकव्रत, सन्तुष्ट = दानहृष्टम्, इष्टदेव = यज्ञाराधितसुर, लोकनाथं = राजान, त = नलं, के नाम = जना, इष्टानि = अभीष्टवस्तूनि, न नाथन्ति = नो याचन्ते, सर्वेऽपि याचन्त एवेति भावः ।। २५ ।।

अनुवाद—दरिद्रताको नष्ट करनेवाले धनसमूहकी वृष्टियोसे याचकसमूहमें सफल मेघके समान व्रत करनेवाले सन्तुष्ट और यज्ञसे देवताओकी आराधना करनेवाले महाराज नलसे कौन जन अभीष्टपदार्थोंकी याचना नहीं करते हैं ? ॥ २५ ॥

टिप्पणी—दारिद्र्यदारिद्रविणौघवर्षैः = दारिद्र्य दारयतीति दारिद्र्यदारी, दारिद्र्य + दृ + णिच + णिनि । द्रविणानाम् ओघ· (ष० त०) । दारिद्र्यदारी चाऽसौ द्रविणौघ· (क० धा०) । तस्य वर्षाणि, तै (ष० त०) । अर्थिसार्थे = अर्थिना सार्थ , तस्मिन् (ष० त०) । अमोघमेघव्रतम् = न मोघम् अमोघम् (नञ्०) । मेघस्य व्रतम् (ष० त०) । अमोघ मेघव्रत यस्य स, तम् (बहु०) । इष्टदेवम् = इष्टा देवा येन स , तम् (बहु० । लोकनाथं = लोकानां नाथ , तम् (ष० त०) । नाथन्ति = "नाथृ (नाधृ) याच्ञोपतापैश्वर्याशी·षु" इस धातुसे लट् + झि । याचनाऽर्थक नाथ् धातु दुहादिगणमे पढे जानेसे द्विकर्मक है । इस पद्यमे उपमा अलङ्कार है । ॥ २५ ॥

अस्मत्किल श्रोत्र सुधां विधाय रम्भा चिरं भामतुलां नलस्य ।
तत्राऽनुरक्ता तमनाप्य भेजे तन्नामगन्धान्नलकूबरं सा ॥ २६ ॥

अन्वय—सा रम्भा नलस्य अतुला भाम् अस्मत् चिर श्रोत्रसुधा विधाय तत्र अनुरक्ता (सती) तम् अनाप्य तन्नामगन्धात नलकूबरं भेजे ॥ २६ ॥

व्याख्या—सा = प्रसिद्धा, रम्भा = देवाङ्गना, नलस्य = नैषधस्य, अतुलाम् = अनुपमा, भा = सौन्दर्यम्, अस्मत् = मत्त:, चिर = बहुकालपर्यन्त, श्रोत्रसुधां = कर्णाऽमृत, विधाय = कृत्वा, अनुरागात् श्रुत्वेति भावः । तत्र = तस्मिन् नले, अनुरक्ता = अनुरागयुक्ता (सती), तम् = नलम्, अनाप्य = अप्राप्य, तन्नामगन्धात् = नलसञ्ज्ञाऽक्षरलेशात्, नलकूबरं = कुबेरपुत्र, भेजे = सिषेवे ॥ २६ ॥

अनुवाद—रम्भा नामकी अप्सराने नलके अनुपम सौन्दर्यको मुझसे बहुत समयतक कानोके अमृत बनाकर (रससे सुनकर) उनमे अनुराग कर उन्हे न पानेसे नलके नामके लेश (एक खण्ड) से कुबेरके पुत्र नलकूबरका आश्रय लिया ॥ २६ ॥

टिप्पणी—सा = यहाँ तद् शब्दके प्रसिद्ध अर्थमे होनेसे यद् शब्दके न रहनेपर भी विधेयाऽविमर्श दोष नही हुआ । अतुलाम् = अविद्यमाना तुला (उपमा) यस्या सा अतुला, ताम् (नञ्बहु०) । अस्मत् = अस्मद् + भ्यस् । श्रोत्रसुधा = श्रोत्रयो सुधा, ताम् (ष० त०) । यह पद "भाम्" इस पदका

विधेय है। विधाय = वि + धा + क्त्वा (ल्यप्)। अनुरक्ता = अनु + रञ्ज + क्त + टाप्। अनाप्य = न आप्य (नञ्०), 'आप्य' यहाँपर आङ्–उपसर्गपूर्वक "आप्लृ व्याप्तौ" धातुसे क्त्वा, उसके स्थानमे ल्यप्। तन्नामगन्धात् = तस्य नाम (ष० त०), तस्य गन्ध॰, तस्मात् (ष० त०), हेतुमे पञ्चमी। "गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयो।" इति विश्वः। भेजे = भज + लिट् + त ॥ २६ ॥

स्वर्लोकमस्माभिरितः प्रयातैः केलीषु तद्गानगुणान्निपीय।
हा ! हेति गायन्यदशोचि तेन नाम्नैव हाहा ! हरिगायनोऽभूत् ॥ २७ ॥

अन्वयः— केलीषु तद्गानगुणान् निपीय इत: स्वर्लोक प्रयातै अस्माभि हरिगायन. गायन् यत् "हा ! हा !" इति अशोचि, तत नाम्ना हाहा अभून् ॥२७॥

व्याख्या—केलीषु = विनोदगोष्ठीषु, तद्गानगुणान् = नलगीतमाधुर्यादिगुणान्, निपीय = नितरा पीत्वा, सादरं श्रुत्वेति भावः। इत = अस्माल्लोकात्, भूलोकादित्यर्थ.। स्वर्लोक = सुरलोक, प्रयातै = प्राप्तै, अस्माभिः = हसैः (कर्तृभि॰), हरिगायन = इन्द्रगायक, गायन् = गान कुर्वन् सन्, यत् = यस्मात् कारणात्, हा हा इति अशोचि = हा हा इति शोकविषयीकृतः, नलगानाऽपेक्षया निकृष्टगानत्वादिति शेष। तत = तस्मात्कारणात् नाम्ना = संज्ञया, हाहा = हाहा इत्याकारक, अभूत् = अभवत् ॥ २७ ॥

अनुवादः—विनोदगोष्ठियोमे नलके गानाके गुणोको आदरपूर्वक सुनकर भूलोकसे स्वर्गमे गये हुए हम लोगोने गाते हुए इन्द्रके गवैयेके प्रति हा ! हा !! कहकर जो शोक किया उससे वे 'हाहा' नामवाले हो गये ॥ २७ ॥

टिप्पणी—तद्गानगुणान् = तस्य गान (ष० त०), "गीत गानमिमे समे" इत्यमर। तद्गानस्य गुणा, तान् (ष० त०), निपीय = नि + पी + क्त्वा (ल्यप्)। हरिगायन॰ = गायतीति गायनः "गै शब्दे" धातुसे "ण्युट् च" इस सूत्रसे ण्युट् प्रत्यय। हरेर्गायन (ष० त०)। गायन् = गायतीति, गै + लट् (शतृ) + सु। अशोचि="शुच शोके" इस धातुसे लुङ् (कर्ममे) + त। नाम्ना = "प्रकृत्यादिभ्य उपसख्यानम्" इससे तृतीया। हाहा: = "हाहा हूहूश्चैवमाद्या गन्धर्वास्त्रिदिवौकसाम्।" इत्यमरः। इस पद्यमे "हा हा" पदका निर्वचन होनेसे पीयूषवर्ष जयदेवके चन्द्रालोकके अनुसार "निरुक्त" नामका काव्यलक्षण है जैसे कि—

निरुक्त स्यान्निर्वचन नाम्न. सत्यं तथाऽनृतम्॥"

इस पद्यमे इन्द्रके गवैयेके शोकनिमित्तका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धका वर्णन होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है, उससे गन्धर्वके गानसे भी नलके गानका उत्कर्षरूप वस्तुकी ध्वनि है ॥ २७ ॥

शृण्वन्सदारस्तदुदारभाव हृष्यन्मुहुर्लोम पुलोमजाया. ।
पुण्येन नालोकत नाकपाल· प्रमोदबाष्पाऽऽवृतनेत्रमाल: ॥ २८ ॥

अन्वयः— नाकपाल सदारः तदुदारभाव शृण्वन् प्रमोदबाष्पावृतनेत्रमालः (सन्) पुलोमजाया मुहु हृष्यत् लोम पुण्येन न आलोकत ॥ २८ ॥

व्याख्या—नाकपाल =स्वर्गाऽधिप , इन्द्र इत्यर्थ । सदार =सपत्नीक , तदुदारभाव = नलौदार्यं, शृण्वन् = आकर्णयन्, प्रमोदबाष्पाऽऽवृतनेत्रमाल. = आनन्दावाच्छादितनयनसमूह सन्, पुलोमजायाः = इन्द्राण्या , मुहु = वार वारं, हृष्यत् = उल्लसत्, नलाऽनुरागादिति शेष । लोम = रोम, रोमाञ्चमिति भाव , पुण्येन = सुकृतेन, इन्द्राण्या भाग्येनेति भाव. । न आलोकत = न अपश्यत, अन्यथा शच्या मानसव्यभिचार जानीयादिति भावः ॥ २८ ॥

अनुवाद.—देवराज इन्द्रने पत्नीके साथ नलकी उदारताको सुनकर हर्षकी आँसुओसे नेत्रोकी पङ्क्ति आच्छादित होनेसे इन्द्राणो के वारवार होनेवाले रोमाञ्चको इन्द्राणी के पुण्यसे नही देखा ॥ २८ ॥

टिप्पणी—नाकपाल = नाक पालयतीति (नाक + पाल + अच्) । सदार = दारै. सहित (तुल्ययोग०) । तदुदारभावम् = उदारश्चाऽसौ भाव (क० धा०) । तस्य उदारभावः, तम् (ष० त०) । शृण्वन् = शृणोतीति श्रु + लट् (शतृ) + सुः । प्रमोदबाष्पाऽऽवृतनेत्रमाल = प्रमोदस्य बाष्पाणि (ष० त०) तैः अता (तृ० त०) । नेत्राणा माला (ष० त०) इन्द्रके हजार नेत्र थे, इसलिए ' माला" कहना ठीक है । प्रमोदबाष्पाऽ.वृता नेत्रमाला यस्य सः (बहु०) । पुलोमजाया =पुलोम्नो जाता, तस्याः पुलोमन् + जन् + ड + टाप् + ङस् । आलोकत = आङ् + लोक + लङ् + त । इस पद्यमे भावोदय अलङ्कार है ॥ २८ ॥

साऽपीश्वरे शृण्वति तद्गुणौघान् प्रसह्य चेतो हरतोऽर्धशम्भु. ।
अभूदपर्णाऽङ्गुलिरुद्धकर्णा कदा न कण्डूयनकैतवेन ? ॥ २९ ॥

अन्वयः—ईश्वरे प्रसह्य चेतो हरतो तद्गुणौघान् शृण्वति (सति) सा अर्धशम्भु अपर्णा कदा कण्डूयनकैतवेन अङ्गुलिरुद्धकर्णा न अभूत् ? ॥ २९ ॥

व्याख्या—ईश्वरे = शङ्करे, प्रसह्य=बलात्कारेण, चेतः = चित्तं, हरतः=

आकर्षत , तद्गुणौघान् = नलगुणसमूहान्, शृण्वति = आकर्णयति सति, सा = प्रसिद्धा, अर्धशम्भु = शम्भोरर्धाऽङ्गभूता, अपर्णा = पार्वती, कदा = कस्मिन्काले, कण्डूयनकैतवेन = कण्डूनिवारणच्छलेन, अङ्गुलिरुद्धकर्णा = करशाखापिहितश्रवणा, न अभूत् = न अभवत्, अभूदेवेत्यर्थ । अन्यथा चित्तचलनादिति भाव ॥ २९ ॥

अनुवाद.—जबर्दस्तीसे चित्तको आकृष्ट करनेवाले नलके गुणोको महादेवजीके सुननेपर शम्भुकी अर्धाङ्गिनी पार्वतीने कब खुजलीके बहानेसे उँगलीसे कानको बन्द नही किया ? ॥ २९ ॥

टिप्पणी—हरत. = हरन्तीति हरन्त , तान्, हृञ् + लट् + (शतृ) + शस् । तद्गुणौघान् = गुणानाम् ओघा (ष० त०) । तस्य गुणौघा तान् (ष० त०), अर्धशम्भु = अर्धं (शरीरा-र्धम्) शम्भो (एकदेशि०), अपर्णा = अविद्यमान पर्णं यस्या. सा (नञ् बहु०) । ऋषि मुनियोने तपस्या मे वृक्षका पर्णं (पत्ता) खाया था, पार्वतीने उसे भी छोडकर अनशन कर तपस्या की थी, अतएव उनका नाम 'अपर्णा' पड गया इस बातको कविकुलगुरु कालिदासने कुमारसभवमे कैसे व्यक्त किया है—

"स्वयविशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता परा हि काष्ठा तपसस्तया पुन ।
तदप्यपाकीर्णमत· प्रियवदा वदन्त्यपर्णेति च ता पुराविद ॥" ५–२८

कण्डूयनकैतवेन = कण्डूयनस्य कैतव, तेन (ष० त०) अङ्गुलिरुद्धकर्णा= रुद्धौ कर्णौ यया सा (बहु०), अङ्गुलिभ्या रुद्धकर्णा (तृ० त०) । इस पद्यमे व्याजोक्ति अलङ्कार है ॥ २६ ॥

अलं सजन्धर्मविधौ विधाता रुणद्धि मौनस्य मिषेण वाणीम् ।
तत्कण्ठमालिङ्ग्य रसस्य तृप्तां न वेद ता वेदजड· स वक्राम् ॥ ३० ॥

अन्वयः—विधाता धर्मविधौ अल सजन् वाणी मौनस्य मिषेण रुणद्धि । (किन्तु) वेदजड स ताम् तत्कण्ठम् आलिङ्ग्य रसस्य तृप्ता वक्रा न वेद ॥३०॥

व्याख्या- विधाता = ब्रह्मा, धर्मविधौ = धर्माचरणे, अलम् = अत्यन्त, सजन् = आसक्तो भवन्, वाणी = स्वपत्नी सरस्वती, वर्णात्मिका वाच च, मौनस्य = वाग्यमनव्रतस्य, मिषेण = कैतवेन, रुणद्धि = निवारयति, नलकथाप्रङ्गादिति शेष , तस्या उभय्या अपि नलाऽऽसक्तिभयादिति भाव । (किन्तु) वेदजड·=श्रुतिजड , वेदपाठमात्रनिरतत्वाद्विचारहीन इति भाव , स.=विधाता ता = वाणी, स्वपत्नी वाचं चेत्युभयीमपि, तत्कण्ठ = नलगलम्, आलिङ्ग्य =

आश्लिष्य, रसस्य तृषा = अनुरागसन्तुष्टा शृङ्गारादिरससन्तुष्टां च। अत-एव वक्रा = प्रतिकूला, वक्रोक्त्यलङ्कारयुक्तां च, न वेद = न जानाति। स्त्रीणां रक्षा दुःशकेति भाव ॥ ३० ॥

अनुवाद.—ब्रह्माजी धर्मके आचरणमे अत्यन्त आसक्त होते हुए वाणी-(अपनी पत्नी सरस्वती अथवा वाणी) को मौनके बहानेसे (नलके कथा-प्रसङ्गसे) रोकते है। किन्तु वेदपाठमात्र करते रहनेसे जड वे (ब्रह्माजी) अपनी पत्नी सरस्वतीको और वाणीको नलके कण्ठको आलिङ्गन कर अनुरागसे अथवा शृङ्गार आदि रससे सन्तुष्ट अतएव वक्रा (प्रतिकूल अथवा वक्रोक्ति अलङ्कारसे युक्त) नही जानते हैं ॥ ३० ॥

टिप्पणी—धर्मविधौ = धर्मस्य विधि, तस्मिन् (ष० त०)। सजन् = सजतीति "षञ्ज सङ्गे" धातुसे लट् (शतृ) + सु। रुणद्धि = रुध् + लट् + तिप्। वेदजड = वेदेन जड. (तृ० त०)। तत्कण्ठ = तस्य कण्ठ, तम् (ष० त०)। आलिङ्ग्य + आङ् + लिगि + क्त्वा (ल्यप्)। रसस्य = कर-णत्वकी विवक्षा न करके सम्बन्धविवक्षामे षष्ठी। वेद = विद + लट् + तिप। इस पद्यमे प्रस्तुत वाणी देवी (सरस्वती) के कथनसे अप्रस्तुत वर्णात्मक वाणी-की प्रतीति होनेसे समासोक्ति अलङ्कार है ॥ ३० ॥

श्रियस्तदालिङ्गनभूर्न भूता व्रतक्षति. काऽपि पतिव्रतायाः।
समस्तभूतात्मतया न भूत तद्भर्तुरीर्ष्याकलुषाऽणुनापि ॥ ३१ ॥

अन्वयः—पतिव्रतायाः श्रिय तद्भर्तु समस्तभूतात्मतया तदालिङ्गनभू काऽपि व्रतक्षति न अभूत्। (अत एव) तद्भर्तु ईर्ष्याकलुषाऽणुना अपि न भूतम् ॥ ३१ ॥

व्याख्या.—पतिव्रतायाः = सत्या, श्रिय. = लक्ष्म्या, तद्भर्तु = लक्ष्मीपतेः, विष्णोरित्यर्थं। समस्तभूतात्मतया = सर्वभूतस्वरूपत्वेन, तदालिङ्गनभूः = नलाऽऽश्लेषभवा, काऽपि = काचिदपि, व्रतक्षतिः = पातिव्रत्यभङ्ग, न अभूत् = न अजायत, नलस्याऽपि विष्णुरूपत्वेनेति भाव। अत एव तद्भर्तु = लक्ष्मीपतेः विष्णो' ईर्ष्याकलुषाऽणुना अपि = असहिष्णुताकालुष्यलेशेन अपि, न भूतम् = न अभावि ॥ ३१ ॥

अनुवाद.—पतिव्रता लक्ष्मीका, उनके पति विष्णुके समस्त प्राणियोंके स्वरूप होनेसे नलके आलिङ्गनसे होनेवाला कुछ भी पातिव्रत्यभङ्ग नही हुआ, इसीसे उनके पति विष्णुको ईर्ष्याके कालुष्यका लेश भी नही हुआ ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—पतिव्रतायाः = पत्यौ व्रत यस्याः सा पतिव्रता, तस्या (व्यधि० बहु०)। तद्भर्तुं = तस्या भर्ता, तस्य (ष० त०)। "याजकादिभिश्च" इससे समास। समस्तभूतात्मतया = समस्ताश्च ते भूता· (क० धा०)। आत्मनो भाव आत्मता, आत्मन्+तल्+टाप्। समस्तभूतानाम् आत्मता, तया (ष० त०), तदालिङ्गनभू = तस्य (नलस्य) आलिङ्गनम् (ष० त०), तदालिङ्गनात् भवतीति, तदालिङ्गन+भू+क्विप् (उपपद०)+सु। व्रतक्षति. = व्रतस्य क्षति (ष० त०), तद्भर्तुः = तस्या भर्ता, तस्य, यहाँपर पत्यर्थक भर्तृशब्द होनेसे 'याजकादिभिश्च' इस सूत्रसे षष्ठीसमास। ईर्ष्या-कलुषाऽणुना = ईर्ष्यया कलुष (त० त०) तस्य अणु, तेन (ष० त०)। भूत = भू धातुसे "नपुसके भावे क्त" इससे क्त प्रत्यय। यहाँपर २८–३१ पद्योतक पुलोमजा आदियोके चित्तचाञ्चल्यकी उक्तिका नलके सौन्दर्यमे तात्पर्य होनेसे औचित्यभङ्ग नही समझना चाहिए। इस पद्यमे पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ॥ ३१ ॥

धिक्! तं विधेः पाणिमजातलज्ज निर्माति य पर्वणि पूर्णमिन्दुम्।
मन्ये स विज्ञ. स्मृततन्मुखश्रो कृताऽर्धमौज्झद्भवमूर्ध्नि यस्तम् ॥ ३२ ॥

अन्वयः— स्मृततन्मुखश्री. (अपि) पर्वणि य पूर्णम् इन्दु निर्माति, तम् अजातलज्ज विधे पाणि धिक्! यो भवमूर्ध्नि कृताऽर्धम् तम् औज्झत् स विज्ञ. (इति) मन्ये ॥ ३२ ॥

व्याख्या—(हे भैमि!) स्मृततन्मुखश्रीः (अपि) = चिन्तितनलाननशोभः (अपि), पर्वणि = पूर्णिमाया, य = विधिपाणिः पूर्ण = षोडशकलोपेतम्, इन्दु = चन्द्रमस, निर्माति = रचयति, तं = तादृशम्, अजातलज्ज = निर्लज्ज, विधे = ब्रह्मणः, पाणि = कर, धिक् = तस्य निन्देति भाव। यः विधि-पाणिः, भवमूर्ध्नि = शिवशिरसि, कृताऽर्ध = रचितैकदेश, त = चन्द्रमसम्, औज्झत् = त्यक्तवान्, सः = विधिपाणि, विज्ञः = अभिज्ञ, इति, मन्ये = चिन्तयामि, चन्द्रान्मनोहरतरं नलमुखमिति भावः ॥ ३२ ॥

अनुवाद:—नलकी मुखशोभाका स्मरण करके भी पूर्णिमामे जो (ब्रह्माका हाथ) पूर्ण चन्द्रका निर्माण करता है उस निर्लज्ज हाथको धिक्कार है। जिस-(ब्रह्माजीके हाथ) ने शिवजीके शिरमे आधा बनाये गये चन्द्रमाको छोड दिया वह बुद्धिमान् है मैं ऐसा मानता हूँ ॥ ३२ ॥

टिप्पणी—स्मृततन्मुखश्री = तस्य मुख (ष० त०), तस्य श्रीः (ष० त०)

स्मृता तन्मुखश्रीर्येन सः (बहु०)। अजातलज्जं = न जाता अजाता (नञ्०) । अजाता लज्जा यस्य सः अजातलज्जस्तम् (बहु०) । पाणिम्= "धिक्" पदके योगमे "धिगुपर्यादिषु त्रिषु" इमसे द्वितीया । भवमूर्ध्नि = भवस्य मूर्धा, तस्मिन् (ष० त०), कृतार्धं = कृतः अर्धः यस्य स कृताऽर्धः, तम् (बहु०) । "भित्त शकलखण्डे वा पुंस्यर्धं" इत्यमर । औज्झत्=उज्झ + लङ् + त "आडजादीनाम्" इससे आट् आगम और "आटश्च" इससे वृद्धि । चन्द्रमासे नलका मुख अतीव सुन्दर है यह इस पद्यका तात्पर्य है। इस पद्यमे "प्रतीप" अलङ्कार है ॥ ३२ ॥

निलीयते ह्रीविधुरः स्वजैत्रं श्रुत्वा विधुस्तस्य मुखं मुखान्नः ।
सूरे समुद्रस्य कदाऽपि पूरे कदाचिदभ्रभ्रमदभ्रगर्भे ॥ ३३ ॥

अन्वयः—विधु स्वजैत्र तस्य मुख न मुखात् श्रुत्वा ह्रीविधुर (सन्) कदापि सूरे कदापि समुद्रस्य पूरे कदाचित् अभ्रमदभ्रगर्भे निलीयते ॥ ३३ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) विधु =चन्द्रमा , स्वजैत्रम्=निजजेतृ, तस्य=नलस्य, मुखम् = वदन, न = अस्माकं, मुखात् = वदनात्, श्रुत्वा = आकर्ण्य, ह्रीविधुर = लज्जाविकल (सन्), कदाऽपि = कदाचित्, सूरे = सूर्ये, दर्शे इति भाव । कदाऽपि = कदाचित्, समुद्रस्य = सागरस्य, पूरे = प्रवाहे, अस्तकाल इति भाव । कदाचित् = जातुचित्, अभ्रभ्रमदभ्रगर्भे = आकाशसञ्चरमाण-मेघाऽभ्यन्तरे, निलीयते=अन्तर्धत्ते, कदाऽपि अग्रत स्थातु न उत्सहत इति भाव ।

अनुवाद.—चन्द्रमा अपनेको जीतनेवाले नलके मुखको हमारे मुखसे सुनकर लज्जासे पीडित होकर कभी सूर्यमे (अमावास्यामे), कभी समुद्रके प्रवाहमें (अस्तसमयमे) और कभी आकाशमे घूमते हुए मेघके भीतर छिप जाते है ॥ ३३ ॥

टिप्पणी—स्वजैत्र = जयतीति जेतृ, जि + तृच् । जेतृ एव जैत्रम्, "प्रज्ञा-दिभ्यश्च" इस सूत्रसे जेतृ शब्दसे स्वार्थमे अण् । स्वस्य जैत्र, तत् (ष० त०) । ह्रीविधुर. = ह्रिया विधुरः (तृ० त०) । अभ्रभ्रमदभ्रगर्भे = भ्रमच्च तत् अभ्रम् (क० धा०), "अभ्र मेघो वारिवाह" इत्यमर । अभ्रे भ्रमदभ्रम् (स० त०), "द्यौदिवौ द्वे स्त्रियामभ्रम्" इत्यमर. । अभ्रभ्रमदभ्रस्य गर्भं, तस्मिन् (ष० त०) । निलीयते = नि + लीङ् + लट् + त । इस पद्यमे चन्द्रमा-के स्वाभाविक सूर्य आदिमे प्रवेशमें पराजयके कारण लज्जासे छिपनेकी उत्प्रेक्षा होनेसे वाचक शब्दके अभावसे प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ३३ ॥

संज्ञाप्य नः स्वध्वजभृत्यवर्गान् दैत्याऽरिरत्यब्जनलास्यनुत्यै ।
तत्सङ्कुचन्नाभिसरोजपीताद्धातुर्विलज्ज रमते रमायाम् ॥ ३४ ॥

अन्वय—दैत्याऽरि स्वध्वजभृत्यवर्गान् न. अत्यब्जनलास्यनुत्यै सज्ञाप्य तत्सकुचन्नाभिसरोजपीतात धातु विलज्ज रमाया रमते ॥ ३४ ॥

व्याख्या—दैत्याऽरि. = विष्णु , स्वध्वजभृत्यवर्गान् = गरुडाऽनुचरसमूहान्, नः = अस्मान्, अत्यब्जनलाऽऽस्यनुत्यै = कमलजेतृनलमुखस्तुत्यै, सज्ञाप्य = संज्ञया आज्ञाप्य, तत्सङ्कुचन्नाभिसरोजपीतात् = नलस्तुतिनिमीलन्नाभिकमल-तिरोहितात्, धातु = ब्रह्मण , विलज्ज = लज्जाराहित्य यथा तथा, रमाया = लक्ष्म्या, रमते = क्रीडति ॥ ३४ ॥

अनुवाद—भगवान् विष्णु अपने वाहन गरुडके अनुचर हम लोगोको सिकुडे हुए नाभिकमलमे ब्रह्माजीके अदृश्य होनेसे लज्जारहित होकर लक्ष्मीमे रमण करते है ॥ ३४ ॥

टिप्पणी—दैत्याऽरि. = दैत्यानाम् अरिः (ष० त०) । स्वध्वजभृत्य-वर्गान् = स्वस्य ध्वज (ष० त०), गरुड इत्यर्थः । भृत्यानां वर्गा (ष० त०) । स्वध्वजस्य भृत्यवर्गा , तान् (ष० त०) । अत्यब्जनलाऽऽस्यनुत्यै = अब्जम् अतिक्रान्तम् अत्यब्जम् "अत्यादय क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया" इससे समास हुआ है । नलस्य आस्यम् (ष० त०) । अत्यब्जं च तत् नलास्यम् (क० धा०) । तस्य नुतिः, तस्यै (ष० त०) । "स्तवः स्तोत्र स्तुतिर्नुति " इत्यमरः । सज्ञाप्य = स + ज्ञा + णिच + क्त्वा (ल्यप्) । तत्सकुचन्नाभिसरोजपीतात् = नाभौ सरोज (स० त०) । सकुचच्च तत् नाभिसरोजम् (क० धा०) । तया (नुत्या) सकुचन्नाभिसरोज (तृ० त०) तेन पीत , तस्मात् (तृ० त०) । पीतका "तिरोहित" अर्थ लक्षणासे हुआ है । धातु = अपादानमे पञ्चमी । विलज्ज = विगता लज्जा यस्मिन् (कर्मणि) (बहु०) । तद्यथा तथा (क्रि० वि०) रमते = रम + लट् + त । इस पद्यमे विष्णुकी रमामे उस प्रकारसे रमणका सम्बन्ध न होनेपर भी सम्बन्धकी उक्ति होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ ३४ ॥

रेखाभिरास्ये गणनादिवाऽस्य द्वात्रिंशता दन्तमयीभिरन्त ।
चतुर्दशाऽष्टादश चाऽत्र विद्या द्वेधाऽपि सन्तीति शशंस वेधाः ॥ ३५ ॥

अन्वय—अस्य आस्ये दन्तमयीभि: द्वात्रिंशता रेखाभिः गणनात् चतुर्दश अष्टादश च विद्या द्वेधा अपि अत्र सन्ति इति वेधाः शशंस इव ॥ ३५ ॥

व्याख्या—अस्य = नलस्य, आस्ये = मुखे, दन्तमयीभि = दशनरूपाभि:, द्वात्रिंशता = द्वात्रिंशत्सख्याभि , रेखाभि = लेखाभि:, गणनात् = संख्यानात्, चतुर्दश = चतुर्दशसंख्यका , अष्टादश = अष्टादशसख्यका:, विद्या =वेदादिविद्या , सन्ति = वर्तन्ते, इति = इत्थ, शशास इव = कथयति स्म इव ॥ ३५ ॥

अनुवाद—नलके मुखमे दन्तस्वरूप बत्तीस रेखाओसे गिनती करनेसे चौदह और अठारह विद्याएँ दो प्रकारोसे इनमे है ऐसा ब्रह्माजी मानो सूचना करते है ॥ ३५ ॥

टिप्पणी—दन्तमयीभि: = दन्त + मयट् (स्वरूप अर्थमे) + ङीप् + भिस् । द्वात्रिंशता = द्वचधिका त्रिंशत् द्वात्रिंशत्, तया (मध्यमपद०) । "द्वयष्टन. सख्यायामबहुव्रीह्यशीत्यो." इससे आत्व । "रेखाभि." इसका विशेषण होनेपर भी "विंशत्याद्या सदैकत्वे सर्वा सख्येयसख्ययो: ।" इस नियमके अनुसार एकवचन । चतुर्दश = चतस्रश्च दश च (द्वन्द्व०), अष्टादश = अष्टौ च दश च (द्वन्द०), पूर्व सूत्रसे आत्व ।

"पुराणन्यायमीमासाधर्मशास्त्राऽङ्गमिश्रिता ।
वेदा. स्थानानि विद्याना धर्मस्य च चतुर्दश ॥ १–१–३ ।

याज्ञावल्क्यस्मृतिके इस वचनके अनुसार पुराण (ब्राह्म आदि) न्याय, मीमासा, धर्मशास्त्र (मानव आदि), वेदाङ्ग ६ जैसे--शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष तथा ऋक्, यजु, साम और अथर्ववेद ४ वेद कुल चौदह विद्याएँ हुईं । इनमे--

"आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रय: ।
अर्थशास्त्र चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टादशैव तु ॥"

विष्णुपुराणकी इस उक्तिके अनुसार आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र इन चार उपवेदोका सङ्कलन करनेसे अठारह विद्याएँ हो गईं । मत-भेद दिखाया गया है । द्वेधा = द्वाभ्यां प्रकाराभ्याम्, द्वि शब्दसे "एधाच्च" इससे एधाच प्रत्यय । इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ३५ ॥

श्रियौ नरेन्द्रस्य निरीक्ष्य तस्य स्मराऽमरेन्द्रावपि न स्मराम: ।
वासेन सम्यक् क्षमयोश्च तस्मिन् बुद्धौ न दध्म. खलु शेषबुद्धौ ॥ ३६ ॥

अन्वय:—तस्य नरेन्द्रस्य श्रियौ निरीक्ष्य स्मरामरेन्द्रौ अपि न स्मराम: । तस्मिन् क्षमयो सम्यक् वासेन शेषबुद्धौ न दध्म: खलु ॥ ३६ ॥

व्याख्या— तस्य = पूर्वोक्तस्य, नरेन्द्रस्य = राज्ञो नलस्य, श्रियौ = सौन्दर्य-सम्पत्ती, निरीक्ष्य = दृष्ट्वा, स्मरामरेन्द्रौ अपि=कामशक्रौ अपि, न स्मराम = न चिन्तयाम , स्मरे सौन्दर्यमेव न सम्पत्ति , इन्द्रे सम्पत्तिरेव न पुनः सौन्दर्यं, नले च द्विविधे अपि श्रियौ वर्तेते अतस्तस्य आधिक्यमिति भाव । एव च तस्मिन् = नले, क्षमयो = क्षितिक्षान्त्यो , सम्यक् = सुष्ठु, वासेन = स्थित्या, बुद्धौ = स्वमतौ, शेषबुद्धौ = अनन्तसुगतौ, न दध्म. = न धारयाम , खलु = निश्चयेन । शेष पृथिवीमेव धारयति न क्षान्ति, बुद्ध क्षान्तिमेव धारयति न न पुन॰ क्षितिम् । नलस्तु उभे अपि धारयति अतस्तस्य प्रकर्षाऽतिशय इति भावः ॥ ३६ ॥

अनुवादः—नलकी दोनो श्रियो (सौन्दर्य और सम्पत्ति) को देखकर कामदेव और इन्द्रका भी हम स्मरण नही करते है । उसी प्रकार उन (नल) मे दोनो क्षमा (पृथिवी और सहनशीलता) ओकी अच्छी तरह स्थिति होनेसे शेष और बुद्धको भी हम अपने मनमे धारण नही करते है ॥ ३६ ॥

टिप्पणी—नरेन्द्रस्य = नराणाम् इन्द्र , तस्य (ष० त०) । श्रियौ = श्रीश्च श्रीश्च श्रियौ, ते, "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ" इससे एकशेष समास । "शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मी श्री " इति शाश्वत । स्मरामरेन्द्रौ = अमराणाम् इन्द्र. (ष० त०) । स्मरश्च अमरेन्द्रश्च, तौ (द्वन्द्व०) । क्षमयो. = क्षमा च क्षमा च क्षमे, तयो , पूर्वसूत्रसे एकशेष । "क्षितिक्षान्त्यो क्षमा" इत्यमर । शेषबुद्धौ = शेषश्च बुद्धश्च, तौ (द्वन्द्व०) । दध्म = धा + लट् + मस् । इस पद्यमे दोनो श्रियो और क्षमाओका प्रकृत (प्रस्तुत) होनेसे केवल प्रकृतश्लेष है और सौन्दर्य आदि गुणोसे स्मर आदियो से नलका आधिक्य होनेसे व्यतिरेक अलङ्कार है । यथासख्यके साथ इनका सङ्कर है ॥ ३६ ॥

विना पतत्रं विनतातनूजैः, समीरणैरीक्षणलक्षणीयैः ।
मनोभिरासीदनणुप्रमाणैर्न निर्जिता दिक्कतमा तदश्वैः ॥ ३७ ॥

अन्वय —पतत्र विना विनतातनूजै॰, ईक्षणलक्षणीयै समीरणै , अनणुप्रमाणै मनोभि॰, तदश्वै कतमा दिक् न लङ्घिता आसीत् ॥ ३७ ॥

व्याख्या—पतत्र = पक्ष, विना = अन्तरेण, विनतातनूजै = गरुडै., तदश्वैरित्यत्र सम्बन्ध , एवमन्यत्राऽपि । ईक्षणलक्षणीयै॰ = नयनदर्शनीयै॰, समीरणैः = वायुभि (तदश्वै), अनणुप्रमाणै = अणुपरिमाणरहितै॰, महापरिमाणैरिति भावः । मनोभि॰ = अन्त.करणै॰, कतमा = का, दिक् = काष्ठा,

न लङ्घिता = न अतिक्रान्ता, आसीत् = अभवत्, सर्वाऽपि दिक् लङ्घितैवासीदिति भावः ।। ३७ ।।

अनुवादः—पङ्खके विना गरुड, नेत्रसे देखे जानेवाले वायु और अणु-परिमाणसे रहित अर्थात् महापरिमाणवाले नलके घोडोने कौन सी दिशाका लङ्घन नही किया ? ।। ३७ ।।

टिप्पणी—विनतातनूजै = विनतायास्तनूजा , तैः (ष० त०) । ईक्षण-लक्षणीयै = ईक्षणाभ्या लक्षणीया , तैः (तृ० त०) । अनणुप्रमाणैः = अणुः प्रमाण येषा तानि (बहु०), न अणुप्रमाणानि, तैः (नञ्०) । तदश्वैः = तस्य अश्वा , तैः (ष० त०) । कतमा = का एव, किम् शब्दसे "कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने" इस सूत्रसे डतमच् + टाप् । वेगवाले पदार्थोंमे गरुड, वायु और मन ये तीन प्रसिद्ध है, परन्तु नलके घोडे विना पङ्खके गरुड है । वायुका रूप नही है, इसलिए केवल स्पर्शसे उसका प्रत्यक्ष होता है । परन्तु नलके घोडे आँखो से देखे जानेवाले वायु है । इसी तरह मन अणुप्रमाण है, परन्तु नलके घोडे अणुप्रमाणसे भिन्न महाप्रमाणवाले मन है, इस प्रकार नलके घोडोकी वेगशा-लिताका वर्णन किया गया है । नलके घोडोमे गरुड, वायु और मनका आरोप होनेसे रूपक अलङ्कार है उसमे भी गरुडमे पतत्ररहितत्व, वायुमे ईक्षणलक्षणी-यत्व और मनमे अणुप्रमाणरहितत्व अधिक विशेषण होनेसे अधिकारूढवैशिष्टय-रूपक अलङ्कार है । जैसे कि—"अधिकारूढवैशिष्टय रूपक यत्तदेव तत् ।" १०=५० सा० द० ।। ३७ ।।

सङ्ग्रामभूमीषु भवत्यरीणामस्त्रैर्नदीमातृकतां गतासु ।
तद्बाणधारापवनाऽशनानां राजव्रजीयैरसुभिः सुभिक्षम् ।। ३८ ।।

अन्वयः—अरीणाम् अस्त्रै नदीमातृकता गतासु संग्रामभूमीषु तद्बाणधारा-पवनाऽशनाना राजव्रजीयैः असुभि सुभिक्षं भवति ।। ३८ ।।

व्याख्या—अरीणा = शत्रूणा, नलस्येति शेषः । अस्त्रैः = रुधिरै , नदीमातृ-कता = नद्यम्बुसम्पन्नशस्याढचता, गतासु = प्राप्तासु, सग्रामभूमीषु = युद्धभूमिषु, तद्बाणधारापवनाशनाना = नलशरपरम्परासर्पाणा, राजव्रजीयैः = नृपसमूह-सम्बन्धिभिः, असुभि =प्राणै , सुभिक्ष=भिक्षाणा समृद्धि , भवति=विद्यते ।। ३८ ।।

अनुवाद—शत्रुओके रुधिरोसे नदीके जलसे शस्यसम्पन्न भावको प्राप्त युद्ध-भूमियोमे नलके बाणधारारूप सर्पोको राजाओके प्राणोसे सुभिक्ष हो जाता है ।

टिप्पणी—नदीमातृकता = नदी एव माता यासा ता नदीमातृका. (बहु०),

"नद्यृतश्च" इससे समासाऽन्त कप् प्रत्यय। नदीमातृकाणा भावो नदीमातृकता, ताम्, नदीमातृका + तल् + टाप् + अम्। "त्वतलोर्गुणवचनस्य' इससे पुवद्भाव।

"देशो नद्यम्बुवृष्टयम्बुसम्पन्नव्रीहिपालित। स्यान्नदीमातृको देवमातृकश्च यथाक्रमम् ॥" इत्यमर सग्रामभूमीषु = सग्रामस्य भूम्य, तासु (ष० त०)। तद्बाणधारापवनाऽशनाना = बाणाना धारा (ष० त०), तस्य बाणधारा: (ष० त०), ता एव पवनाऽशना, तेषाम् (रूपक०)। राजव्रजीयै = राज्ञा व्रजा (ष० त०), राजव्रजानाम् इमे राजव्रजीया, तै "वृद्धाच्छ" इससे छ (ईय) प्रत्यय। सुभिक्ष = भिक्षाणा समृद्धि, "अव्यय विभक्ति०" इत्यादि सूत्र-से समृद्धिमे अव्ययीभाव। नदीके जलसे खेती किये जानेवाले देश वा भूमिको "नदीमातृक" और वृष्टिके जलसे खेती किये जाने वाले देश वा भूमिको "देवमातृक" कहते है। नलके शत्रु राजाओके रुधिरोसे सग्रामभूमियोके नदी-मातृक होनेपर नलके बाणधारारूप सर्पोको नलके शत्रु राजाओकी प्राणवायुसे सुभिक्ष होता है यह तात्पर्य है। इस पद्यमे रूपक अलङ्कार है ॥ ३८ ॥

यशो यदस्याऽजनि सयुगेषु कण्डूलभाव भजता भुजेन।
हेतोर्गुणादेव दिगापगालीकूलङ्कषत्व व्यसन तदीयम् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—सयुगेषु कण्डूलभावं भजता अस्य भुजेन यत् यश अजनि, तदीयं दिगापगालीकूलङ्कषत्व व्यसन हेतो गुणात् एव ॥ ३९ ॥

व्याख्या—सयुगेषु = युद्धेषु, कण्डूलभावं = खर्जू, भजता = प्राप्नुवता, अस्य = नलस्य, भुजेन = बाहुना, यत्, यश = कीर्ति, अजनि = जनित, तदीय = तद्यश.सम्बन्धि, दिगापगालीकूलङ्कषत्व = काष्ठानदीराजितटघर्षकत्व, व्यसनम् = आसक्ति, हेतो: = कारणस्य, भुजस्य। गुणात् एव = कण्डूलत्वात् एव, आगतमिति शेष ॥ ३९ ॥

अनुवाद.—युद्धोमे खुजलीको प्राप्त करनेवाली नलकी बाहुने जो यश पैदा किया, उस यशका दिशारूप नदियोके तटको खुजलानेका व्यसन अपने कारण बाहुके गुणसे ही आ गया है ॥ ३९ ॥

टिप्पणी—कण्डूलभाव=कण्डूरस्याऽस्तीति कण्डूल, शब्दसे "सिध्मादिभ्यश्च" इस सूत्रसे लच् प्रत्यय अथवा कण्डू लाति (आदत्ते) इति कण्डूल, "आतोऽनुप-सर्गे क" इससे कप्रत्यय। "कण्डू खर्जूश्च कण्डूया" इत्यमर। कण्डूलस्य भाव, तम् (ष० त०)। अजनि = जन् + णिच् + लुङ् + त (कर्ममे), तदीय = तस्य इदम्, तद् + छ (ईय)। दिगापगालीकूलङ्कषत्व = दिश एव

आपगा. (रूपक०) तासाम् आली (ष० त०)। कूल कषतीति कूलङ्कषं, कूल-उपपदपूर्वक 'कष' धातुसे "सर्वकूलाऽभ्रकरीषेषु कष." इस सूत्रसे खच प्रत्यय और "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इससे मुम् आगम (उपपद०)। कूलङ्कषस्य भाव. कूलङ्कषत्व, कूलङ्कष + त्व। दिगापगाल्याः कूलङ्कषत्वम् (ष० त०)। नलका यश सब दिशाओमे फैला हुआ है यह तात्पर्य है। इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ३९ ॥

यदि त्रिलोकी गणनापरा स्यात्तस्या समाप्तिर्यदि नायुष स्यात् ।
पारेपरार्धं गणितं यदि स्याद्, गणेयनि शेषगुणोऽपि स स्यात् ॥ ४० ॥

अन्वय.—त्रिलोकी गणनापरा स्यात् यदि, तस्या आयुष. समाप्ति न स्यात् यदि, पारेपरार्धं गणित स्यात् यदि, (तदा) स' अपि गणेयनि.शेषगुणः स्यात् ॥ ४० ॥

व्याख्या—त्रिलोकी=त्रिभुवन, गणनापरा = नलगुणसख्यानतत्परा, स्यात् यदि = भवेत् चेत्। एव च तस्या = त्रिलोक्या, आयुष = जीवनकालस्य, समाप्ति = समापन, न स्यात् यदि = न भवेत् चेत्, पारेपरार्धं = परार्धात् पर, गणित=सख्यात, स्यात् यदि = भवेत् चेत्, (तदा = तर्हि) स अपि = नल. अपि, गणेयनि शेषगुण = गणनीयसमस्तगुण, स्यात् = भवेत्, न तु एवं, ततो. नलगुणगणना कर्तु नैव शक्येति भाव ॥ ४० ॥

अनुवादः—यदि तीनो लोक नलके गुणोको गिननेमे तत्पर हो, यदि उनकी आयुकी समाप्ति भी न हो और यदि परार्धसे ऊपर भी गणना हो सके तो नलके सब गुणोकी गणना हो सकेगी ॥ ४० ॥

टिप्पणी—त्रिलोकी = त्रयाणा लोकाना समाहार, "तद्धितार्थोत्तरपद-समाहारे च" इससे समास, उसकी "सख्यापूर्वो द्विगु" इस सूत्रसे द्विगुसज्ञा, "अकारान्तोत्तरपदो द्विगु स्त्रियामिष्ट." इस नियमसे "द्विगो" इस सूत्रसे ङीप्। गणनापरा = गणनायां परा (स० त०)। पारेपरार्धं = परार्द्धस्य पारे "पारे मध्ये षष्ठ्या वा" इससे अव्ययीभाव, निपातनसे एकारान्तत्व हुआ है। गणेयनि शेषगुण. = गणयितुं योग्या गणेया, "गण सख्याने" धातुसे "गणेरेय" इस उणादिसूत्रसे एय प्रत्यय। स्यात् = क्रियाऽतिपत्तिकी विवक्षा न होनेसे लृङ नही हुआ, अतः सभावनामे लिङ्। इस पद्यमे गुणोके गणेयत्वके सम्बन्धमे भी असम्बन्धकी उक्तिसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है। चन्द्रालोककार जयदेवके मतके अनुसार 'संभावन' अलङ्कार है ॥ ४० ॥

१ नै० तृ०

अवारितद्वारतया तिरश्चामन्त पुरे तस्य निविश्य राज्ञः ।
गतेषु रम्येष्वधिक विशेषमध्यापयाम परमाणुमध्या ॥ ४१ ॥

अन्वयः—तिरश्चाम् अवारितद्वारतया तस्य राज्ञ. अन्त पुरे निविश्य परमाणुमध्याः रम्येषु गतेषु अधिक विशेषम् अध्यापयाम ॥ ४१ ॥

व्याख्या—अथ नलस्याऽन्त पुरे हसः स्वगतिं द्योतयति–अवारितेति। तिरश्चां = पक्षिणाम्, अवारितद्वारतया = अनिवारितप्रतीहारतया, अनिषिद्ध-प्रवेशत्वेनेति भावः। तस्य = पूर्वोक्तस्य, राज्ञ = नृपस्य, अन्त पुरे = अवरोधे, निविश्य = प्रविश्य, परमाणुमध्या = अतिकृशोदरी, नलाङ्गना इति भाव । रम्येषु = मनोहरेषु, गतेषु = गमनेषु विषये, अधिकम् = अपूर्वं, विशेष = भेदम्, अध्यापयाम = अभ्यासयाम, वयमिति शेष ॥ ४१ ॥

अनुवादः—पक्षियोके प्रवेशमे रुकावट न होनेसे राजा नलके अन्त पुरमे प्रवेश कर परमाणुसदृश (सूक्ष्म) कमरवाली उनकी स्त्रियोको मनोहर गतियोमे अपूर्व भेदको हम सिखाते है ॥ ४१ ॥

टिप्पणी—अवारितद्वारतया = न वारितम् अवारितम् (नञ्०)। अवारित द्वार येषा ते अवारितद्वारा (बहु०), तेषा भाव', तत्ता, तया अवारित-द्वार + तल + टाप् + टा। निविश्य = नि + विश् + क्त्वा (ल्यप्)। परमाणु-मध्याः = परमश्चाऽसौ अणु (क० धा०), परमाणुरिव मध्यो यासा, ताः (बहु०)। पदार्थोमे सबसे सूक्ष्म पदार्थ परमाणु है यह नैयायिकोका सिद्धान्त है। यहाँ सूक्ष्म अर्थमे तात्पर्य है। अध्यापयाम = अधि-उपसर्गपूर्वक "इङ अध्ययने" धातुसे णिच् प्रत्यय होकर लट् + मस्। दुहादिगणमे पढे जानेमे द्विकर्मक। ४१॥

पीयूषधाराऽनधराभिरन्तस्तासा रसोदन्वति मज्जयाम ।
रम्भादिसौभाग्यरह कथाभि काव्येन काव्य सृजताऽऽदृताभिः ॥ ४२ ॥

अन्वय—पीयूषधाराऽनधराभि काव्य सृजता काव्येन आदृताभि रम्भाऽऽदिसौभाग्यरह कथाभिः तासाम् अन्त रसोदन्वति मज्जयाम ॥ ४२ ॥

व्याख्या—(हे राजकुमारि !) पीयूषधाराऽनधराभि = अमृतधारान्यूनाभिः, अमृतसमानाभिरित्यर्थ.। काव्य = प्रबन्धविशेष, सृजता = रचयित्रा, काव्येन = शुक्रेण, आदृताभि = मानिताभिः, काव्ये प्रतिपादिताभिरिति भाव । रम्भादिसौभाग्यरह कथाभि. = रम्भाऽऽदिवाल्लभ्यरहस्यवर्णनाभि., तासां = नलाऽन्त पुरस्त्रीणाम्, अन्त. = अन्त करण, रसोदन्वति = शृङ्गाररससमुद्रे, मज्जयाम = अवगाहयाम. ॥ ४२ ॥

अनुवाद— हे राजकुमारि ! अमृतधाराकी समान, काव्यकी रचना करनेवाले काव्य (शुक्र) से प्रतिपादित रम्भाआदि अप्सराओके सौभाग्यकी रहस्यकथाओसे नलके अन्त.पुरकी स्त्रियोके अन्त करणको शृङ्गाररसके समुद्रमें हमलोग स्नान करा देते है ।। ४२ ।।

टिप्पणी—पीयूषधाराऽनधराभि = न अधरा अनधरा (नञ्०) । पीयूषस्य धारा. (ष० त०), ताभ्य अनधरा ताभि (प० त०) । काव्य = कवेर्भाव कर्म वा तत्, कवि शब्दसे "गुणवचनब्राह्मणादिभ्य. कर्मं च" इस सूत्रसे ष्यञ् प्रत्यय । सृजता = सृजतीति सृजन्, तेन, सृज+लट (शतृ)+टा । काव्येन = कवेरपत्य पुमान् काव्य, तेन, कवि शब्दसे "कुर्वादिभ्यो ण्य." इससे ण्य प्रत्यय, "शुक्रो दैत्यगुरु काव्य" इत्यमर । आदृताभि = आङ्+दृञ्+क्त+भिस् । रम्भाऽऽदिसौभाग्यरह.कथाभि = रम्भा आदिर्यासा ता रम्भादय (बहु०), तासा सौभाग्यम् (पतिवाल्लभ्यम्) (ष० त०) तस्य रह कथा, ताभि· (ष० त०) । रसोदन्वति = रसस्य उदन्वान्, तस्मिन् (प० त०) । मज्जयाम =(टु) मस्जो+णिच्+लट्+मस् । इस पद्यमे उपमा अलङ्कार हे ।। ४२ ।।

काभिर्न तत्राऽभिनवस्मराज्ञाविश्वासनिक्षेपवणिक् क्रियेऽहम् ।
जिह्रेति यन्नैव कुतोऽपि तिर्यक्, कश्चित्तिरश्चस्त्रपते न तेन ।। ४३ ।।

अन्वय—यत् तिर्यक् कुत अपि न जिह्रेति एव । तिरश्च अपि कश्चित् न त्रपते, तेन तत्र काभि अहम् अभिनवस्मराज्ञाविश्वासनिक्षेपवणिक् न क्रिये ।।४३ ।।

व्याख्या—यत् = यस्मात्कारणात्, तिर्यक् = पक्षी, कुत अपि = कस्मात् अपि जनात्, न जिह्रेति एव = न लज्जते एव, तिरश्च· अपि = पक्षिण अपि, कश्चित् = कोऽपि जन, न त्रपते = नो लज्जते । तेन = कारणेन, तत्र=अन्त - पुरे, काभि. = स्त्रीभि, अह = तिर्यक्, हस । अभिनवस्मराज्ञाविश्वासनिक्षेपवणिक् = अपूर्वरतिरहस्यवृत्तान्तविस्रम्भन्यासवाणिजक, न क्रिये = न कृतः, अपि तु क्रिये एव । अह नलस्य अन्त पुरवर्तिनीना सर्वासा रमणीना विश्वासकथापात्रमस्मीति भाव ।। ४३ ।।

अनुवाद:—जिस कारणसे कि पक्षी किसीसे भी नही ही लजाता है, और पक्षीसे भी कोई भी नही लजाता है, इस कारणसे नलके अन्तपुरमे कौन स्त्रियां मुझे अपूर्व रतिरहस्यके वृत्तान्तके विश्वासका धरोहर रखनेमे वणिक् नही बनाती है ? ।। ४३ ।।

टिप्पणी—तिर्यक् = तिर. अञ्चतीति, तिरस् + अञ्च + क्विन् + सु , "तिरसस्तिर्यलोपे" इससे तिरस्के स्थानमे तिरि आदेश । कुत = कस्मात् इति-किम् (कु) + ङसि (तस्), "भीत्रार्थाना भयहेतु" इससे पञ्चमी। जिह्रेति = ह्री + लट् + तिप् । त्रपते = त्रपूष् + लट् + त । अभिनवस्मराज्ञा-विश्वासनिक्षेपवणिक् = स्मरस्य आज्ञा (ष० त०), अभिनवा चाऽसौ स्मराज्ञा (क० धा०), विश्वासस्य निक्षेप. (ष० त०), अभिनवस्मराज्ञाया विश्वास (ष० त०), तस्य निक्षेप (ष० त०) । तस्य वणिक् (ष० त०) । क्रिये = कृ + लट् + इट् (कर्ममे) । इस पद्यमे रूपक अलङ्कार है ॥ ४३ ॥

वार्ता च साऽसत्यपि नाऽन्यमेति योगादरन्ध्रे हृदि यां निरुन्धे ।
विरिञ्चिनानाऽऽननवादधौतसमाधिशास्त्रश्रुतिपूर्णकर्ण. ॥ ४४ ॥

अन्वयः—विरिञ्चिनानाऽऽननवादधौतसमाधिशास्त्रश्रुतिपूर्णकर्ण (अहम्) योगात् अरन्ध्रे हृदि या निरुन्धे, सा वार्ता असती अपि अन्य न एति ॥ ४४ ॥

व्याख्या—अथ हस स्वस्य विश्वासभाजनत्व प्रतिपादयति–वार्तेति । विरिञ्चीत्यादि: = ब्रह्माऽनेकवदनव्याख्यानशोधितयोगशास्त्रश्रवणपूरितश्रोत्र , अहं, योगात् = उपायात्, अरन्ध्रे = छिद्ररहिते, हृदि = हृदये, या = वार्ता, निरुन्धे = नितराम् आवृणोमि, सा = तादृशी, वार्ता = लोकवार्ता, किमुत रहस्यवार्ता इति शेष । असती अपि = अतथाभूता अपि, विनोदाऽर्थं कथिता अपि, किमुत सतीति भाव । अन्यम् = अपर, बोद्धव्याद्भिन्न पुरुषम-पीति भाव., न एति = गच्छति, अतोऽहमन्त पुरस्त्रीणा परमविश्वसनीय इति भाव. ॥ ४३ ॥

अनुवादः—ब्रह्माजीके अनेक मुखोके व्याख्यानसे शुद्ध किये गये योगशास्त्रके श्रवणसे पूर्ण कर्णोवाला मै, उपायसे छिद्ररहित हृदयमे जिस वृत्तान्तको रोक लेता हूँ, वह वृत्तान्त भले ही झूठा क्यो नही हो दूसरेके पास नही पहुँचता है ॥ ४४ ॥

टिप्पणी—विरिञ्चिनानाननेति = विरिञ्चे: नानाऽऽननानि (ष० त०) तैः वाद (तृ० त०), तेन धौतम् (तृ० त०), तच्च तत् समाधिशास्त्रम् (क० धा०), तस्य श्रुति (ष० त०) । पूर्णौ कर्णौ यस्य स (बहु०) । विरञ्चिनानाऽऽननवादधौतसमाधिशास्त्रश्रुत्या पूर्णकर्ण. (तृ० त०) । अरन्ध्रे = अविद्यमानं रन्ध्र यस्य तत्, तस्मिन् (नञ्बहु०) । निरुन्धे = +

रुध्+लट्+इट्। असती = न सती (नञ्०)। इस पद्यमे वार्तानिरोधमें विरिञ्चि इत्यादि पदार्थोंकी हेतुतासे काव्यलिङ्ग अलङ्कार है॥ ४४॥

नलाश्रयेण त्रिदिवोपभोगं तवाऽनवाप्यं लभते बताऽन्या।
कुमुद्वतीवेन्दुपरिग्रहेण ज्योत्स्नोत्सवं दुर्लभमम्बुजिन्या॥ ४५॥

अन्वयः—तव अनवाप्यं त्रिदिवोपभोगम् अम्बुजिन्या दुर्लभं ज्योत्स्नोत्सवम् इन्दुपरिग्रहेण कुमुद्वती इव नलाश्रयेण अन्या लभते बत!॥ ४५॥

अथ पद्यद्वयेन दमयन्त्या नलाऽनुरागमुद्दीपयति—नलाश्रयेणेति।

व्याख्या—(हे राजकुमारि!) तव = भवत्या, अनवाप्यम् = अप्राप्यं, नलस्वीकाराऽभावादिति भाव.। त्रिदिवोपभोगं = स्वर्गोपभोगं, नलस्य इन्द्र-सदृशैश्वर्यत्वादिति भाव। अम्बुजिन्या = कमलिन्या, दुर्लभं = दुष्प्राप्यं, ज्योत्स्नोत्सवं = चन्द्रिकाभोगम्, इन्दुपरिग्रहेण = चन्द्राऽङ्गीकारेण, कुमुद्वती इव = कुमुदिनी इव, नलाश्रयेण = नलस्वीकरणेन, अन्या = भवत्या भिन्ना काचित् ललना, लभते = प्राप्नोति, बत=खेदस्य विषयोऽयमिति भाव.॥ ४५॥

अनुवादः—(हे राजकुमारि!) आपसे अप्राप्य स्वर्गका उपभोग, कमलिनी-से दुष्प्राप्य चादनीका भोग चन्द्रमाके अङ्गीकार करनेसे कुमुदिनीके समान नलके आश्रयमे दूसरी स्त्री प्राप्त करती है। खेद है!॥ ४५॥

टिप्पणी—तव="अनवाप्यम्" इसके योगमे "कृत्यानां कर्तरि वा" इस सूत्रसे तृतीयाके अर्थमे षष्ठी। त्रिदिवोपभोगं = त्रिदिवस्य उपभोग., तम् (ष० त०)। दुर्लभं = दुर्+लभ्+खल्+अम्। ज्योत्स्नोत्सवं = ज्योत्स्नाया उत्सव, तम् (ष० त०)। इन्दुपरिग्रहेण = इन्दो परिग्रहः, तेन (ष० त०) कुमुद्वती=कुमुदानि सन्ति यस्या सा, कुमुद शब्दसे "कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्" इस सूत्रसे ड्मतुप् प्रत्यय। "मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्य." इससे मकारके स्थानमे वकार। "उगितश्च" इस सूत्रसे ङीप्। नलाश्रयेण=नलस्य आश्रयः, तेन (ष० त०)। इस पद्यमे उपमा अलङ्कार है॥ ४५॥

तन्नैषधाऽनूढतया दुरापं शर्म त्वयाऽस्मत्कृतचाटुजन्म।
रसालवल्ल्या मधुपाऽनुविद्धं सौभाग्यमप्राप्तवसन्तयेव॥ ४६॥

अन्वयः—तत् अस्मत्कृतचाटुजन्म शर्म त्वया अप्राप्तवसन्तया रसालवल्ल्या मधुपाऽनुविद्धं सौभाग्यम् इव नैषधाऽनूढतया दुरापम्॥ ४६॥

व्याख्या—तत् = प्रसिद्धम्, अस्मत्कृतचाटुजन्म = मत्प्रयुक्तप्रियवाक्योत्पन्नं, शर्म=सुखं, त्वया = भवत्या, अप्राप्तवसन्तया = वसन्तानधिष्ठितया, रसालवल्ल्या=

आम्रश्रेण्या, मधुपाऽनुविद्धं = भ्रमरकृत, सौभाग्यम् इव = सौन्दर्यम् इव, नैषधाऽनूढतया = नलेन अपरिणीततया, दुरापं = दुष्प्राप्यम्, नलपरिग्रहाय भवत्या यत्न कार्यं इति भ.व ॥ ४६ ॥

अनुवादः—मुझसे कहे गये प्रियवाक्योसे उत्पन्न सुख, आपसे वसन्त ऋतुको अप्राप्त आम्रोकी श्रेणीसे भौरेसे किये गये सौन्दर्यकी तरह नलके साथ विवाह न होनेसे दुष्प्राप्य है ॥ ४६ ॥

टिप्पणी—अस्मत्कृतचाटुजन्म = अस्माभि कृतानि (तृ० त०), अस्मत्कृतानि च तानि चाटूनि (क० धा०), तेभ्यो जन्म यस्य तत् (व्यधिकरण-बहु०)। अप्राप्तवसन्तया = न प्राप्त अप्राप्त. (नञ्०)। अप्राप्तो वसन्तो यया सा अप्राप्तवसन्ता, तया (बहु०)। रसालवल्ल्या = रसालाना वल्ली, तया (ष० त०)। मधुपाऽनुविद्ध=मधु पिबन्तीति मधुपा, मधु+पा+कः। मधुपैः अनुविद्धम् (तृ० त०)। नैषधाऽनूढतया = निषधानामय नैषध, निषध+अण्। अनूढाया भाव अनूढता, अनूढा+तल+टाप्। "सामान्ये नपुसकम्" इससे नपुसकता। नैषधेन अनूढता, तया (तृ० त०)। दुराप = दु खेन आप्तु शक्यम्, दुर+आप्+खल। इस पद्यमे उपमा अलङ्कार है ॥ ४६ ॥

तस्यैव वा यास्यसि किं न हस्त ? दृष्टं विधे. केन मनः प्रविश्य ?।
अजातपाणिग्रहणाऽसि तावद्रूपस्वरूपाऽतिशयाऽऽश्रयश्च ॥ ४७ ॥

अन्वयः—वा तस्य एव हस्तं कि न यास्यसि ? केन विधे. मन एव प्रविश्य दृष्टम् ? अजातपाणिग्रहणा असि, रूपस्वरूपाऽतिशयाऽऽश्रयश्च (असि) ॥ ४७ ॥

व्याख्या—अथ हसो भैम्या पुनर्नलप्राप्त्याशा जनयति—तस्यैवेति। वा= अथवा, तस्य एव=नलस्य एव, हस्तं = पाणिं, किं, न यास्यसि = न प्राप्स्यसि ? यास्यस्येवेत्यर्थं। केन=जनेन, विधे = ब्रह्मणः, मन एव = चित्तम् एव, प्रविश्य= प्रवेश कृत्वा, दृष्टम् = अवलोकितम्, विध्यनुकूलताऽपि सम्भावितेति भावः। यत —अजातपाणिग्रहणा=अकृतविवाहा, असि = वर्तसे, रूपस्वरूपाऽतिशयाऽऽश्रयश्च = सौन्दर्यशीलप्रकर्षाऽधारश्च, असि = विद्यसे, योग्यगुणाश्रयत्वाच्च नलहस्तमेव गमिष्यतीति भाव ॥ ४७ ॥

अनुवादः—आप नलके ही हाथोमे क्यो नही पडेगी ? (पडेगी ही)। किसने ब्रह्माके हृदयमे प्रवेश कर देखा है ? क्योकि आपका विवाह भी नही हुआ है और आप सौन्दर्य और शीलके प्रकर्षकी आधार भी हैं ॥ ४७ ॥

टिप्पणी— यास्यसि = या+लृट्+सिप्। अजातपाणिग्रहणा = न जातम्

अजातम् (नञ्०) । पाणेर्ग्रहणम् (ष० त०) । अजातं पाणिग्रहण यस्या. सा (बहु०) । रूपस्वरूपाऽतिशयाऽऽश्रय: = रूपं च स्वरूपं रूपस्वरूपे (द्वन्द्व०) । तयोः अतिशय· (ष० त०), तस्य आश्रय (ष० त०) ॥ ४७ ॥

निशा शशाऽङ्क, शिवया गिरीशं, श्रिया हरिं योजयतः प्रतीतः ।
विधेरपि स्वारसिकः प्रयासः परस्परं योग्यसमागमाय ॥ ४८ ॥

अन्वयः—निशा शशाङ्क, शिवया गिरीश, श्रिया हरिं योजयत विधेः प्रयासोऽपि परस्पर योग्यसमागमाय एव स्वारसिक प्रतीत· ॥ ४८ ॥

व्याख्या—निशा = रात्र्या, शशाङ्कं = चन्द्रमस, शिवया = पार्वत्या, गिरीश = शिव, श्रिया = लक्ष्म्या, हरिं = विष्णु, योजयत. = सयोग प्रापयत., विधे = ब्रह्मण , प्रयासः अपि = यत्न अपि, परस्परम् = अन्योन्यं, योग्यसमागमाय एव = अर्हसघट्टनाय एव, स्वारसिक· = स्वानुरागप्रवृत्त , प्रतीत = प्रसिद्धः, निशाशशाङ्कादिदृष्टान्तादपि विधिसङ्कल्प सुज्ञेय इति भाव· ।

अनुवाद—रात्रिके साथ चन्द्रमाको, पार्वतीसे शिवजीको, लक्ष्मीसे नारायणको मिलानेवाले ब्रह्माजीका प्रयत्न भी परस्परमे योग्योके समागमके लिए ही अपने अनुरागसे प्रवृत्त है ऐसा प्रतीत होता है ॥ ४८ ॥

टिप्पणी—निशा =''पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्''० इत्यादि सूत्रसे शस् आदि विभक्तियोके परे रहते निशाके स्थानमे निश् आदेश । शशाङ्क = शशः अङ्कः यस्य स·, तम् (बहु०) । गिरीश = गिरेरीश , तम् (ष० त०) योजयत. = योजयतीति योजयन्, तस्य, युज् + णिच् + लट् (शतृ) + ङस् । योग्यसमागमाय = योग्या च योग्यश्च योग्यौ, ''पुमान् स्त्रिया'' इससे एकशेष । योग्ययोः समागम , तस्मै (ष० त०) । स्वारसिक.=स्वस्य रस (ष० त०), ''शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रस. ।'' इत्यमरः । स्वरसेन चरतीति, स्वरस शब्दसे ''चरति'' इस सूत्रसे ठक् प्रत्यय । प्रतीत. = ''प्रतीते प्रथितख्यात-वित्तविज्ञातविश्रुता '' इत्यमर । इस पद्यमे सम अलङ्कार है, उसका लक्षण है—

''समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा या योग्यवस्तुनो ।''

सा० द० १०–९२ ॥ ४८ ॥

वेलाऽतिगस्त्रैणगुणाऽब्धिवेणी न योगयोग्याऽसि नलेतरेण ।
सन्दर्भ्यते दर्भगुणेन मल्लीमाला न मृद्वी भृशकर्कशेन ॥ ४९ ॥

अन्वयः—वेलाऽतिगस्त्रैणगुणाऽब्धिवेणी (त्वम्) नलेतरेण योगयोग्या न असि । (तथाहि) मृद्वी मल्लीमाला भृशकर्कशेन दर्भगुणेन न सन्दर्भ्यते ॥ ४९ ॥

व्याख्या—नलादितरेण भैम्याः सम्बन्धस्यानौचित्यं वैधर्म्यमूलकदृष्टान्ताऽलङ्कारेण प्रतिपादयति—वेलाऽतिगेति । (हे भैमि !) वेलाऽतिगस्त्रैणगुणाऽब्धिवेणी = निःसीमस्त्रीगुणसमुद्रप्रवाहरूपा त्वं, नलेतरेण = नलात् (नैषधात्) इतरेण (अन्येन जनेन), योगयोग्या = सबन्धार्हा, न असि=नो वर्तसे । यतः मृद्वी = कोमला, मल्लीमाला = भूपदीपुष्पस्रक्, भृशकर्कशेन = अतिशयकठोरेण, दर्भगुणेन = कुशतन्तुना, न सन्दर्भ्यते = न ग्रथ्यते ॥ ४९ ॥

अनुवाद:—(हे दमयन्ति !) निःसीम (बेहद) स्त्रियोंके गुणरूप समुद्रकी प्रवाह सरीखी आप, नलसे भिन्न पुरुषमे सम्बन्धके लिए योग्य नही हैं। जैसे कि कोमल (मुलायम) बेलीकी माला अत्यन्त कठोर कुशकी रस्सीसे नही गूँथी जाती है ॥ ४९ ॥

टिप्पणी— वेलाऽतिगस्त्रैणगुणाऽब्धिवेणी = वेलाम् अतिक्रम्य गच्छन्तीति वेलाऽतिगाः, वेला + अति + गम् + ड + जस । स्त्रीणाम् इमे स्त्रैणाः, स्त्री शब्दसे "स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्" इस सूत्रसे नञ् प्रत्यय । स्त्रैणाश्च ते गुणाः (क० धा०), ते एव अब्धिः (रूपक०), तस्य वेणी (ष० त०) । "वेलाऽब्धि, जलबन्धने काले सीम्नि च" इति 'वेणी तु केशबन्धे जलस्रुतौ' इति च वैजयन्ती । नलेतरेण = नलात् इतरः, तेन, नल शब्दसे 'इतर' पदके योगमे 'अन्यारादि-तरर्तेदिक्शब्दाऽञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते' इस सूत्रसे पञ्चमी विभक्ति (ष० त०) । योगयोग्या = योगस्य योग्या (ष० त०), 'योगः सनहनोपायध्यानसगति-युक्तिषु ।' इत्यमरः । मृद्वी = मृदु शब्दसे 'वोतो गुणवचनात्' इस सूत्रसे ङीप् । मल्लीमाला = मल्लीनां माला (ष० त०) । 'तृणशून्यं तु मल्लिका, 'भूपदीशीतभीरुश्च' त्यमरः । भृशकर्कशेन = भृशं (यथा तथा) कर्कशः तेन (सुप्सुपा) । दर्भगुणेन = दर्भस्य गुणः, तेन (ष० त०), 'अस्त्री कुशं कुथो दर्भः पवित्रम्' इत्यमरः । सदर्भ्यते = 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'दृभ ग्रन्थे' इस धातुसे कर्ममे लट् + त । इस पद्यमे वैधर्म्यसे दृष्टान्त अलङ्कार है, उसका लक्षण—

"दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम् ।" सा० द० १०–६९ ॥४९॥

विधिं वधूसृष्टिमपृच्छमेव तद्यानयुग्यो नलकेलियोग्याम् ।
त्वन्नामवर्णा इव कर्णपीता मयाऽस्य संक्रीडति चक्रचक्रे ॥ ५० ॥

अन्वयः—विधिं तद्यानयुग्यः (सन्) नलकेलियोग्या वधूसृष्टिम् अपृच्छम् एव । मया अस्य चक्रचक्रे सक्रीडति (सति) त्वन्नामवर्णा इव कर्णपीता ॥५०॥

व्याख्या—विधिं = ब्रह्माणं, तद्यानयुग्यः = ब्रह्मरथवोढा सन्, अहमिति

शेष: । नलकेलियोग्यां = नैषधक्रीडाऽर्हां, वधूसृष्टिं = स्त्रीनिर्माणम्, अपृच्छम् एव = पृष्टवान् एव । तत , मया = हसेन विधिवाहनेन, अस्य = विधेः, चक्रचक्रे = रथाऽङ्गसमूहे, संक्रीडति = कूजति सति, तन्नामवर्णाः = भवदाख्याऽक्षरा इव, कर्णपीता = श्रोत्रेन्द्रियगृहीता ॥ ५० ॥

अनुवादः—ब्रह्माजीसे उनके रथको ढोते हुए मैने नलकी क्रीडाकी योग्य कौन सी स्त्री आपने रची है ऐसा पूछ ही लिया। तब मैने ब्रह्माजीके रथके पहियोकी आवाज करनेपर आपके नामके अक्षरोको सुना हुआ सा प्रतीत होता है ॥ ५० ॥

टिप्पणी—विधिम् = प्रच्छ धातुके द्विकर्मक होनेसे यह गौणकर्म है। तद्यानयुग्य = युग वहतीति युग्य, युग शब्दसे "तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्" इस सूत्रसे यत् प्रत्यय। तस्य यानम् (ष० त०), तस्य युग्य (ष० त०)। नलकेलियोग्या = नलस्य केलि. (ष० त०), तस्य योग्या, ताम् (ष० त०)। वधूसृष्टि = वध्वा सृष्टि , ताम् (ष० त०)। यह मुख्यकर्म है। अपृच्छम् = प्रच्छ + लङ् + मिप्, चक्रचक्रे = चक्राणा चक्र (समूह) तस्मिन् (ष० त०) सक्रीडति = स + क्रीड + लट् (शतृ) + ङि, यहाँपर "समोऽकूजने" इस वार्तिकसे कूजन होनेसे आत्मनेपद नही हुआ। त्वन्नामवर्णा = तव नाम (ष० त०), तस्य वर्णा (ष० त०)। कर्णपीता = कर्णाभ्या पीताः (तृ० त०)। पहियोकी आवाजसे ब्रह्माजीके वाक्यको अच्छी तरहसे नही सुना यह तात्पर्य है ॥ ५० ॥

अन्येन पत्या त्वयि योजितायां विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मनो वा ।
जनाऽपवादाऽर्णवमुत्तरीतु विधा विधातु कतमा तरीः स्यात् ? ॥ ५१ ॥

अन्वयः—वा अन्येन पत्या त्वयि योजितायां विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मनः विधातुः जनाऽपवादाऽर्णवम् उत्तरीतु कतमा विधा तरी स्यात् ? ॥ ५१ ॥

व्याख्या— वा = अथवा, अन्येन = अपरेण, नलेतरेणेति भाव । पत्या = भर्त्रा, त्वयि = भवत्या, योजितायां = घटितायां सत्या, विज्ञत्वकीर्त्या = अभिज्ञत्वख्यात्या एव, गतजन्मन = यापिताऽऽयुष , विधातु. = ब्रह्मण., जनापऽवादाऽर्णव = लोकनिर्वादसमुद्रम् उत्तरीतु = निस्तरीतु, कतमा विधा = कः प्रकारः, तरी = नौका, स्यात् = भवेत्, न काऽपीत्यर्थः । अतो लोकापवादभीतेरपि ब्रह्मणा त्व नलेनैव योजनीयेति भाव. ॥ ५१ ॥

अनुवादः—अथवा दूसरे (नलसे भिन्न) पतिके साथ आपका योग करनेपर

"ये अभिज्ञ (जानकार) है" प्रसिद्धिसे ही आयुको बितानेवाले ब्रह्माजीके लिए लोकाऽपवादस्वरूप समुद्रको पार करनेके लिए कौनसा उपाय नौकाका काम देगा ? ॥ ५१ ॥

टिप्पणी—विज्ञत्वकीर्त्या = विज्ञस्य भावो विज्ञत्वम्, विज्ञ+त्व । विज्ञत्वस्य कीर्ति , तया (ष० त०) । गतजन्मन.='गत जन्म यस्य स गतजन्मा' तस्य (बहु०) । जनाऽपवादार्णव = जनानाम् अपवाद (ष० त०), "अवर्णाऽऽक्षेपनिर्वादपरीवादाऽपवादवत् ।" इत्यमर । जनाऽपवाद एव अर्णवः, तम् (रूपक०) । उत्तरीतुम्=उद् + तॄ+तुमुन् । "तॄतो वा" इससे दीर्घ । तरी = तरन्त्यनया इति, तॄ धातुसे "अवितॄस्तृतन्त्रिभ्य ई" इस औणादिक सूत्रसे ई प्रत्यय । "स्त्रिया नौस्तरणिस्तरी" इत्यमर ॥ ५१ ॥

आस्तां तदप्रस्तुतचिन्तयाऽल, मयाऽसि तन्वि ! श्रमिताऽतिवेलम् ।
सोऽहं तदाग. परिमार्ष्टुकामस्तवेप्सित किं विदधेऽभिधेहि ॥ ५२ ॥

अन्वय.—तत् आस्ताम्, अप्रस्तुतचिन्तया अलम् । हे तन्वि ! मया अतिवेलं श्रमिता असि । तत् आग परिमार्ष्टुकाम. सोऽहं किं तव ईप्सितं विदधे ? अभिधेहि ॥ ५२ ॥

व्याख्या—दमयन्त्या अभिप्राय ज्ञातुमुपसहरति आस्तामिति । (हे भैमि !) तत् = पूर्वोक्त, नलवर्णनमित्यर्थ , आस्ता = तिष्ठतु, अप्रस्तुतचिन्तया = अप्रकृतविचारेण, अल = पर्याप्तम्, अप्रस्तुतचिन्तया साध्य ना.स्तीति भाव । हे तन्वि = हे कृशाङ्गि !, मया = हसेन, अतिवेल = भृशं श्रमिता = खेदिता, असि = वर्तसे, त्वमिति शेष । तत् = श्रमणरूपम्, आग = अपराधं, परिमार्ष्टुकाम. = परिहर्तुकाम , स = तादृश., अहम् = अपराद्धा, किं, तव = भवत्या , ईप्सितम् = अभीष्ट, मनोरथमिति भाव , विदधे = कुर्वे, अभिधेहि = ब्रूहि ॥ ५२ ॥

अनुवादः—वह वर्णन इतना ही हो । अप्रस्तुत विषयकी चिन्ता नही करनी चाहिए । हे कृशोदरि ! आप मुझसे बहुत ही परिश्रान्त बनाई गई है । उस अपराधको हटानेकी इच्छा करनेवाला मै आपका कौन-सा मनोरथ पूरा करूँ ? कहिए ॥ ५२ ॥

टिप्पणी—आस्ताम् = "आस उपवेशने" धातुसे लोट्+त । अप्रस्तुतचिन्तया = न प्रस्तुत अप्रस्तुत. (नञ्०) । तस्य चिन्ता तया (ष० त०), "अलम्" इस पदसे गम्यमान साधन क्रियाकी अपेक्षासे करण होनेसे तृतीया ।

श्रमिता = श्रम्+णिच+क्त (कर्ममे)+टाप्। आग = "आगोऽपराधो मन्तुश्च" इत्यमर। परिमार्ष्टुकाम = परिमार्ष्टुं कामो यस्य स (बहु०), "तु काममनसोरपि" इससे मकारका लोप। ईप्सितम् = आप्+सन्+क्त. । विदधे = वि+धाञ्+लट्+इट्। अभिधेहि = अभि+धा+लोट्+सिप्॥ ५२॥

इतीरयित्वा विरराम पत्त्री स राजपुत्रीहृदयं बुभुत्सुः।
ह्रदे गभीरे हृदि चाऽवगाढे शसन्ति कार्याऽवतर हि सन्तः॥ ५३॥

अन्वयः—स पत्त्री इति ईरयित्वा राजपुत्रीहृदय बुभुत्सु. विरराम। हि सन्तः गभीरे हृदि ह्रदे च च अवगाढे (सति) कार्याऽवतर शसन्ति॥ ५३॥

व्याख्या—स = पूर्वोक्त, पत्त्री = पक्षी, हस', इति = पूर्वोक्त वाक्यम्, ईरयित्वा = उक्त्वा, राजपुत्रीहृदयं = दमयन्तीचित्त, बुभुत्सु = जिज्ञासु, भैमी नले साऽनुरागाऽस्ति नो वेति जिज्ञासु सन्निति भाव। विरराम = तूष्णी बभूव। उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति—ह्रद इति। हि = यस्मात्कारणात्, सन्त = सज्जना, कार्यज्ञा इति भाव। गभीरे = अगाधे, हृदि = चित्ते, ह्रदे च = जलाशये च, अवगाढे = प्रविश्य दृष्टे सति, कार्याऽवतर = कार्यस्य (स्नानादेः रहस्योक्तेश्च) अवतर (तीर्थं प्रस्ताव च) शसन्ति = कथयन्ति, अवगाहनाऽभावे सति अनर्थ' स्यादिति भाव॥ ५३॥

अनुवादः—वह पक्षी (हस) ऐसा कहकर राजपुत्री (दमयन्ती) के अभिप्रायको जाननेकी इच्छा करता हुआ चुप हो गया, क्योकि विद्वान् लोग जैसे गम्भीर जलाशयमे प्रवेश कर देखनेपर उतरनेका प्रस्ताव करते है वैसे ही गम्भीर हृदयको टटोलनेपर ही रहस्य कहते है॥ ५३॥

टिप्पणी—ईरयित्वा = ईर+णिच्+क्त्वा। राजपुत्रीहृदय = राज्ञ पुत्री (ष० त०), तस्या हृदय, तत् (ष० त०)। "बुभुत्सु." इस उ प्रत्ययाऽन्तपदके योगमे "न लोकाऽव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" इससे षष्ठी विभक्तिका निषेध, बुभुत्सु = बुध्+सन्+उ। विरराम="व्याङ्परिभ्यो रम" इससे परस्मैपद। वि+रम्+लिट+तिप्। अवगाढे = अव+गाह+क्त+ङि। कार्याऽवतर = कार्यस्य अवतर' तम् (ष० त०)। शंसन्ति=शस+लट्+झि। इस पद्यमे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है॥ ५३॥

किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलिर्विचिन्त्य वाच्यं मनसा मुहूर्तम्।
पतत्रिण सा पृथिवीन्द्रपुत्री जगाद वक्त्रेण तृणीकृतेन्दुः॥ ५४॥

अन्वयः—किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलि वक्त्रेण तृणीकृतेन्दु· सा पृथिवीन्द्रपुत्री मुहूर्तं मनसा वाच्यं विचिन्त्य पतत्रिण जगाद ॥ ५४ ॥

व्याख्या—किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलि = स्तोकतिर्यक्कृतचञ्चलकेशबन्धा, वक्त्रेण = मुखेन, तृणीकृतेन्दु = अध कृतचन्द्रा, सा = पूर्वोक्ता, पृथिवीन्द्रपुत्री = राजकुमारी दमयन्ती मुहूर्तं = कचित्कालं, मनसा = चित्तेन, वाच्यं = वक्तव्यं वचन, विचिन्त्य = विचार्य, पतत्रिण = पक्षिण हस, जगाद = उवाच ॥ ५४ ॥

अनुवादः—चञ्चल केशबन्धको कुछ तिरछा करती हुई और मुखसे चन्द्रमाको मात करती हुई उस राजकुमारी (दमयन्ती) ने कुछ समय तक मनसे वक्तव्य वचनका विचार कर हसको कहा ॥ ५४ ॥

टिप्पणी—किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलि· = किञ्चित्तिरश्चीना विलोला मौलिर्यस्या सा (बहु०), "चूडा किरीट केशाश्च सयता मौलयस्त्रय ।" इत्यमर । तृणीकृतेन्दु = अतृण तृण यथा सम्पद्यते तथा कृतस्तृणीकृत , तृण + च्चि + कृ + क्त । तृणीकृत इन्दु यया सा (बहु०)। पृथिवीन्द्रपुत्री = पृथिव्या इन्द्र (ष० त०) तस्या. पुत्री (ष० त०)। मुहूर्तं = "कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इससे द्वितीया । जगाद = गद् + लिट् + तिप् । इस पद्यमे उपमा अलङ्कार है ॥ ५४ ॥

धिक् चापले वत्सिमवत्सलत्वं, यत्प्रेरणादुत्तरलीभवन्त्या ।
समीरसङ्गादिव नीरभङ्ग्या मया तटस्थस्त्वमुपद्रुतोऽसि ॥ ५५ ॥

अन्वय—चापले वत्सिमवत्सलत्व धिक् ! यत्प्रेरणात् उत्तरलीभवन्त्या मया समीरसङ्गात् (उत्तरलीभवन्त्या) नीरभङ्ग्या इव तटस्थ त्वम् उपद्रुतः असि ॥ ५५ ॥

व्याख्या—चापले = चपलकर्मणि, वत्सिमवत्सलत्व = बाल्यप्रयुक्तचापलमित्यर्थं , धिक्, यत्प्रेरणात् = चापलप्रेरणात्, उत्तरलीभवन्त्या = चपलायमानया, मया = भैम्या, समीरसङ्गात् = वाताऽऽघातात्, उत्तरलीभवन्त्या = चपलायमानया, नीरभङ्ग्या इव=जलतरङ्गेण इव, तटस्थ. = उदासीन , तीरं गतश्च, त्वं=हस., उपद्रुत. = पीडित , असि = वर्तसे, मदीयं बालचापल त्वया सोढव्यमिति भाव ॥ ५५ ॥

अनुवाद—चञ्चल कर्ममे बालभावसे होनेवाली आसक्तिको धिक्कार है ! जिसकी प्रेरणासे चञ्चल होनेवाली मुझसे वायुके आघातसे चञ्चल होनेवाली

जलकी तरङ्गसे उदासीन आप किनारेमे रहे हुए (व्यक्ति) के समान पीडित हो गये है ॥ ५५ ॥

टिप्पणी—चापले = चपल + अण् । वत्सिमवत्सलत्वं = वत्सस्य भावो वत्सिमा, वत्स + इमनिच् । वत्सलस्य भावो वत्सलत्वम् । वत्सल + त्व । वत्सिम्नि वत्सलत्व, तत् (स० त०), 'धिक्' के योगमे द्वितीया । यत्प्रेरणात्= यस्य प्रेरण, तस्मात् (ष० त०) । उत्तरलीभवन्त्या = उत्तरल + च्वि + भू + लट् + शतृ + ङीप् + टा । समीरसङ्गात् = समीरस्य सङ्ग, तस्मात् (ष० त०), हेतुमे पञ्चमी । नीरभङ्ग्या = नीरस्य भङ्गी, तया (ष० त०) । तटस्थः = तट + स्था + क. । उपद्रुत = उप + द्रु + क्त । इस पद्यमे उपमा अलङ्कार है ॥ ५५ ॥

आदर्शतां स्वच्छतया प्रयासि, सतां स तावत्खलु दर्शनीयः ।
आगः पुरस्कुर्वति सागसं मां यस्यात्मनीदं प्रतिबिम्बितं ते ॥ ५६ ॥

अन्वयः—स्वच्छतया आदर्शता प्रयासि । यस्य ते सागस मा पुरस्कुर्वति आत्मनि इदम् आग प्रतिबिम्बितम् । स सता तावत् दर्शनीय ॥ ५६ ॥

व्याख्या—(हे हस !) स्वच्छतया = निर्मलत्वेन, आदर्शता = दर्पणत्व, प्रयासि = प्राप्नोषि । यस्य = स्वच्छस्य, ते=तव, साऽऽगस = साऽपराधा मा= भैमी, पुरस्कुर्वति = पूजयति, "किमीप्सित विदधेऽभिधेहि" (३-५२), इत्यादिकथनेनेति भाव, अग्रे कुर्वाणे च, आत्मनि = बुद्धा, स्वरूपे च, इद = मदीयम्, भवद्ग्रहणोद्योगरूपमिति भाव । आग = अपराध, प्रतिबिम्बित= प्रतिफलित, पुरोवर्तिधर्माणामात्मनि सक्रमणादादर्शोऽसीत्यर्थ । तत किम् ? इत्यत आह—स आदर्श, सता = सज्जनाना, तावत् = प्रथम, दर्शनीय.= अवलोकनीय. पूज्यश्च ॥ ५६ ॥

अनुवाद. - (हे हंस !) तुम निर्मल होनेसे दर्पणके भावको प्राप्त कर रहे हो, अपराधिनी मुझे सत्कार करनेसे अथवा सामने रखनेसे स्वच्छ तुम्हारी बुद्धि वा स्वरूपमे मेरा अपराध प्रतिबिम्बित हुआ है, वैसा आदर्श सज्जनोको दर्शनीय और पूजनीय है ॥ ५६ ॥

टिप्पणी – स्वच्छतया = स्वच्छ + तल् + टाप् + टा । आदर्शताम्= आदर्श + तल् + टाप् + अम् । प्रयासि = प्र + या + लट् + सिप् । सागस = आगसा सहिता साऽऽगाः, ताम् (तुल्ययोगबहु०) । पुरस्कुर्वति = पुरस्करोतीति पुरस्कुर्वन्, तस्मिन्, पुरस + कृ + लट् (शतृ) + ङि । "पुरस्कृत पूजिते

स्यादभियुक्तेऽग्रत कृते ।" इत्यमर । आत्मनि = "आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धि स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च ।" इत्यमर आदर्श (दर्पण) की दर्शनीयतामे प्रमाण है—"रोचन चन्दनं हेम मृदङ्ग दर्पण मणिम् । गुरुमग्नि तथा सूर्यं प्रात पश्येत्सदा बुध." ॥ ५६ ॥

अनार्यमप्याचरित कुमार्या भवान्मम क्षाम्यतु सौम्य ! तावत् ।
हंसोऽपि देवांऽशतयाऽसि वन्द्यः श्रीवत्सलक्ष्मेव हि मत्स्यमूर्तिः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—हे सौम्य ! भवान् कुमार्या मम अनार्यम् अपि आचरित तावत् क्षाम्यतु । हंसोऽपि (त्वम्) देवांशतया मत्स्यमूर्ति. श्रीवत्सलक्ष्मा इव वन्द्य असि ॥ ५७ ॥

व्याख्या—हे सौम्य = हे सज्जन !, भवान्, कुमार्या = शिशो , मम, अनार्यम् अपि = अनुचितम् अपि, आचरितम = आचरण, त्वद्ग्रहणव्यवसाय-रूपमिति भाव । तावत् = प्रथम, क्षाम्यतु = सहताम्, हंसस्य वन्द्यता प्रतिपादयति—हंसोऽपि = मरालोऽपि, तिर्यगपि, त्वमिति, शेष , देवाऽशतया=सुराऽशत्वेन, मत्स्यमूर्ति = मीनाऽवतारधारी, श्रीवत्सलक्ष्मा इव = विष्णु इव, वन्द्य = अभिवादनीय , असि ॥ ५७ ॥

अनुवादः—हे सज्जन ! आप, कुमारी मेरे अनुचित आचरणको सहे । हंस होते हुए भी आप देवताके अंश होनेसे मत्स्यमूर्ति भगवान् विष्णुके समान अभिवादनके योग्य है ॥ ५७ ॥

टिप्पणी—हे सौम्य = सोमो देवताऽस्येति सौम्य , तत्सम्बुद्धौ "सोमाट्ट्यण्" इस सूत्रसे सोम शब्दसे ट्यण् प्रत्यय "सौम्य तु सुन्दरे सोमदैवते" इत्यमर । अनार्यं = न आर्यम् (नञ्०) । क्षाम्यतु = क्षमूष् + लोट् + तिप् । देवाऽशतया= देवस्य अंश. (ष० त०), तस्य भावः देवांशता, तया देवांश + तल् + टाप् । मत्स्यमूर्तिः = मत्स्यस्य इव मूर्तिर्यस्य स (व्यधिकरणबहु०) । श्रीवत्सलक्ष्मा= श्रीवत्सो लक्ष्म यस्य सः (बहु०) ॥ ५७ ॥

मत्प्रीतिमाधित्ससि कां ? त्वदीक्षामुदं मदक्ष्णोरपि याऽतिशेताम् ।
निजाऽमृतैर्लोचनसेचनाद्वा पृथक्किमिन्दु. सृजति प्रजानाम् ? ॥ ५८ ॥

अन्वय—(हे हंस !) का मत्प्रीतिम् आधित्ससि ? या मदक्ष्णो. त्वदीक्षामुदम् अतिशेताम् । इन्दु प्रजाना निजाऽमृतै लोचनसेचनात् पृथक् किं वा सृजति ? ॥ ५८ ॥

व्याख्या—"तवेप्सित किं विदधेऽभिधेहि" इति हसवाक्यस्य उत्तरमाह—मत्प्रीतिमिति (हे हस)। का = कीदृशी, मत्प्रीतिं = मत्सुखम्, आधित्ससि = आधातुम् (कर्तुम्) इच्छसि, या = प्रीति, मदक्ष्णो. = मन्नयनयो', त्वदीक्षा-मुद = भवदीक्षणप्रीतिम्, अतिशेताम् = अतिक्रामतु । दृष्टान्तालङ्कारेणोक्तमर्थं समर्थयते—निजाऽमृतैरिति । इन्दु = चन्द्र, प्रजानां = जनाना, निजाऽमृतै: = स्वीयपीयूषै, पीयूषतुल्यै स्वकिरणैरिति भाव । लोचनसेचनात् = नयनसेकात्, पृथक् = अन्यत्, किं वा सृजति=किं करोति ? न किञ्चित्करोतीति भाव ।।५८।।

अनुवाद—(हे हस !) तुम कौन-सी मेरी प्रीति करनेकी इच्छा करते हो ? जो (प्रीति) मेरी आँखोकी तुम्हारे दर्शनसे होनेवाली प्रीतिको भी मात करेगी। जैसे कि चन्द्रमा अपनी अमृततुल्य किरणोसे नेत्रोको सेचन करनेसे अतिरिक्त और क्या करता है ? ।। ५८ ।।

टिप्पणी—मत्प्रीतिं = मम प्रीति, ताम् (ष० त०)। आधित्ससि = आङ + धाञ् + सन् + लट् + सिप् । मदक्ष्णो' = मम अक्षिणी, तयो' (ष० त०)। त्वदीक्षामुदं = तव ईक्षा त्वदीक्षा (ष० त०), तस्या मुत्, ताम् (ष० त०)। अतिशेताम् = अति + शीङ् + लोट् + त । निजाऽमृतं = निजस्य अमृतानि, तैः (ष० त०)। लोचनसेचनात् = लोचनयो सेचन, तस्मात् (स० त०), "पृथक्" के योगमे "पृथग्विनानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्" इससे पञ्चमी । सृजति = सृज + लट् + तिप् । इस पद्यमे दृष्टान्त अलङ्कार है ।। ५८ ।।

मनस्तु य नोज्झति जातु, यातु मनोरथ कण्ठपथं कथ स ?।
का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाऽभिलाषं कथयेदभिज्ञा ? ।। ५९ ।।

अन्वय—मन य जातु न उज्झति, स मनोरथ कण्ठपथ कथं यातु ? अभिज्ञा का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेत् ? अथवा—हे द्विज ! अभिज्ञा का नाम बाला राजपाणिग्रहाऽभिलाष कथयेत् ? ।। ५९ ।।

व्याख्या—मन = मम चित्त, य = मनोरथ, जातु = कदाऽपि, न उज्झति= न जहाति, स = तादृश, मनोरथ. = अभिलाष । कण्ठपथ = गलमार्गं, वाग्विष-यम्, उपकण्ठदेश च, कथ = केन प्रकारेण, यातु = प्राप्नोतु । मनसा प्रतिबद्धस्य मनोरथस्य कथ कण्ठपथे सञ्चरणमिति भाव । यत —अभिज्ञा = विवेकिनी, का नाम बालाका नाम स्त्री, द्विजराजपाणिग्रहाऽभिलाषं = द्विजराजस्य (चन्द्रमसः) पाणिना (करेण) ग्रहे (ग्रहणे) अभिलाष (मनोरथम्) कथयेत् = ब्रूयात् । अथवा हे द्विज = हे पक्षिन् !, का नाम बाला, राजपाणिग्रहाऽभिलाषं =

नलपाणिग्रहणेच्छा, कथयेत् = ब्रूयात्। तथा च दुष्प्राप्यजनाऽभिलाषश्चन्द्र-पाणिग्रहणसदृश उपहासस्थानभूतः (सन्) लज्जावत्या कुमार्या कथं वक्तुं शक्य इति भाव. ॥ ५९ ॥

अनुवाद—मेरा चित्त जिस (मनोरथ) को कभी भी नही छोडता है, वह मनोरथ कैसे कण्ठमार्ग (वचनविषय) को प्राप्त होगा ? विवेकवाली कौन-सी स्त्री चन्द्रमाके पाणिग्रहणके अभिलाषको कहेगी ? (अथवा) हे हस ! विवेकवाली कौन-सी स्त्री राजा (नल) के पाणिग्रणके अभिलाषको कहेगी ? ॥ ५९ ॥

टिप्पणी—कण्ठपथ = कण्ठस्य पन्था कण्ठपथः तम् (ष० त०)। "ऋक्पू-रब्धूः पथामानक्षे" इससे समासाऽन्त अ प्रत्यय। द्विजराजपाणिग्रहाऽभिलाष = द्विजानां राजा द्विजराज (ष० त०), तस्य पाणि. (ष० त०), तेन ग्रह (तृ० त०), तस्मिन् अभिलाष, तम् (स० त०) अथवा राजपाणिग्रहाऽभिलाष= राज्ञः पाणिग्रह (ष० त०), तस्मिन् अभिलाष. तम् (स० त०)। कथयेत् = कथ + णिच् + विधिलिङ् + तिप्। इस पद्यमे श्लेष अलङ्कार है ॥ ५९ ॥

वाचं तदीयां परिपाय मृद्वीं मृद्वीकया तुल्यरसां स हंस.।
तत्याज तोषं परपुष्टघुष्टे, घृणां च वीणाक्वणिते वितेने ॥ ६० ॥

अन्वय—स हस मृद्वीकया तुल्यरसा मृद्वी तदीया वाच परिपीय परिपुष्ट-घुष्टे, तोष तत्याज, वीणाक्वणिते च घृणा वितेने ॥ ६० ॥

व्याख्या—स = पूर्वोक्त, हस = मराल, मृद्वीकया = द्राक्षया, तुल्यरसा समानस्वादा, मधुराऽर्थामिति भाव। मृद्वी = कोमला, तदीया = दमयन्ती-सम्बन्धिनी, वाच = वाणी, परिपीय = अत्यादरात् आकर्ण्य, परपुष्टघुष्टे = कोकिलकूजिते, तोष = प्रीतिं, तत्याज = त्यक्तवान्, वीणाक्वणिते च = वल्लकी-निनादे च, घृणा = जुगुप्सा, वितेने = चकार ॥ ६० ॥

अनुवाद.—उस हसने अगूरके समान मधुर और कोमल दमयन्तीकी वाणीको अत्यन्त आदरसे सुनकर कोयलके कूजितमे प्रीति छोड दी और बीनके शब्दमे भी घृणा की ॥ ६० ॥

टिप्पणी—मृद्वीकया = "मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षा" इत्यमर.। तुल्यरसा = तुल्यो रसो यस्या. सा, ताम् (बहु०)। मृद्वी = मृदु शब्दसे "वोतो गुणवच-नात्" इससे ङीप्। तदीया = तस्य इय तदीया, ताम्, तद् + छ (ईय) + टाप् + अम्। परिपीय = परि + पीङ् + क्त्वा (ल्यप्)। परपुष्टघुष्टे = परेण पुष्टः (तृ० त०)। "वनप्रियः परभृतः कोकिलः पिक इत्यपि।" इत्यमरः।

परपुष्टेन घुष्ट, तस्मिन् (तृ० त०)। तत्याज = त्यज + लिट् + तिप्। वीणाक्वणिते=वीणाया. क्वणित, तस्मिन् (ष० त०) घृणा = "घृणा जुगुप्सा कृपयो. इति विश्व"। वितेने = वि + तन् + लिट् + त। इस पद्यमे प्रतीप अलङ्कार है ॥ ६० ॥

मन्दाक्षमन्दाऽक्षरमुद्रमुक्त्वा तस्यां समाकुञ्चितवाचि हंसः।
तच्छंसिते किञ्चन सशयालुर्गिरा मुखाऽम्भोजमयं युयोज ॥ ६१ ॥

अन्वय—अय हसो मन्दाक्षमन्दाऽक्षरमुद्रम् उक्त्वा तस्या समाकुञ्चितवाचि (सत्याम्) तच्छसिते किञ्चन सशयालु मुखाऽम्भोज गिरा युयोज ॥ ६१ ॥

व्याख्या—मन्दाक्षमन्दाऽक्षरमुद्र = लज्जास्वल्पवर्णविन्यासम् (यथा तथा), उक्त्वा = अभिधाय, तस्यां = दमयन्त्यां, समाकुञ्चितवाचि = नियमितवचनायां सत्याम्, तच्छंसिते = दमयन्तीभाषिते, किञ्चन = किञ्चित्, सशयालु = सन्दिहानः सन्, मुखाऽम्भोजं = वदनकमलं, गिरा = वाण्या, युयोज = युक्तवान्, मुखेन वाणीमुवाचेति भाव ॥ ६१ ॥

अनुवादः—लज्जासे वर्णविन्यासको मन्द करके भाषण कर दमयन्तीके चुप रह जानेपर उनके वचनमे कुछ सन्देह करते हुए उस हसने मुखकमलको वाणीसे युक्त किया अर्थात् कहा ॥ ६१ ॥

टिप्पणी—मन्दाक्षमन्दाऽक्षरमुद्र = मन्दाक्षेण मन्दा (तृ० त०)। अक्षराणा मुद्रा (ष० त०)। मन्दाक्षमन्दा अक्षरमुद्रा यस्मिन् (कर्मणि) तद्यथा तथा (बहु०)। उक्त्वा = ब्रूञ् (वच्) + क्त्वा। समाकुञ्चितवाचि = समाकुञ्चिता वाक् यया सा, तस्याम् (बहु०)। तच्छसिते = तस्याः शसित, तस्मिन् (ष० त०)। संशयालु = सशेते इति संशयालु., सम्-उपसर्गपूर्वक "शीङ् स्वप्ने" धातुसे "स्पृहि गृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाम्य आलुच" इस सूत्रमे "शीङो वाच्यः" इस वार्तिकसे आलुच् प्रत्यय। मुखाऽम्भोजं = मुखम् अम्भोजम् इव तत्, "उपमितं व्याघ्रादिभि. सामान्याऽप्रयोगे" इससे समास। युयोज = युज + लिट् + तिप् (णल्)। इस पद्यमे उपमा अलङ्कार है ॥ ६१ ॥

करेण वाञ्छेव विधु विधतुं यमित्थमात्थादरिणी, तमर्थम्।
पातु श्रुतिभ्यामपि नाऽधिकुर्वे वर्णं श्रुतेर्वर्ण इवाऽन्तिम· किम् ? ॥ ६२ ॥

अन्वयः—(हे भैमि !) करेण विधु विधतु वाञ्छा इव यम् अर्थम् इत्थम् आदरिणी (सती) आत्थ, तम् अर्थम् अन्तिमो वर्ण. श्रुते. वर्णम् इव श्रुतिभ्या पातुम् अपि न अधिकुर्वे किम् ? ॥ ६२ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) करेण = हस्तेन, विधुं = चन्द्रमसं, विधतुं=ग्रहीतुं, वाञ्छा इव=इच्छा इव, यम्, अर्थम्=अभिधेयम् "द्विजराजपाणिग्रहाऽभिलाषम्" इत्याद्युक्तप्रकारमित्यर्थं । आदरिणी=आदरयुक्ता सती, आत्थ = ब्रवीषि, तं = तादृशम्, अर्थम्=अभिधेयम्, अन्तिम =चरम , वर्ण =शूद्र इत्यर्थ. । श्रुते =वेदस्य, वर्णम् इव = अक्षरम् इव, श्रुतिभ्या = कर्णाभ्या, पातुम् अपि = पान कर्तुम् अपि, श्रोतुम् अपीति भाव । न अधिकुर्वे किम् ? = न अधिकारी भवामि किम् ? अधिकारी अस्म्येवेत्यर्थं । सोऽर्थो वक्तव्य इति भाव ॥ ६२ ॥

अनुवादः—(हे राजकुमारि !) हाथसे चन्द्रमाको ग्रहण करनेकी इच्छाके समान जिस अर्थको इस प्रकार आदरयुक्त होकर आप कहती है, उस अर्थको अन्तिम वर्ण (शूद्र) जैसे वेदके वर्णको सुननेके लिए अधिकारी नही है वैसे मैं भी कानोसे सुननेको भी अधिकारी नही हूँ क्या ? ॥ ६२ ॥

टिप्पणी—विधर्तुं = वि + धृञ् + तुमुन् । 'आदरिणी = आदर + इनि + ङीप् । नारायण पण्डितने "आदरिणी" ऐसा पाठ भी माना है, उस पक्षमे निर्भया यह अर्थ है, अदर + इनि + ङीप् । आत्थ=ब्रू (आह) + लट् + सिप् । अन्तिम. = अन्ते भव , 'अन्त' शब्दसे "अन्ताच्चेति वक्तव्यम्" इस वार्तिकसे इमच् प्रत्यय । "स्त्रीशूद्रौ नाऽधीयेताम्" इस उक्तिके अनुसार स्त्री और शूद्रको वेदके अध्ययनमे अधिकार न होनेसे सुननेमे भी अधिकार नही है यह तात्पर्य है । इस पद्यमे उपमा अलङ्कार है ॥ ६२ ॥

अर्थाप्यते वा किमियद्भवत्या ? चित्तैकपद्यामपि वर्तते यः ।
यत्राऽन्धकार. खलु चेतसोऽपि जिह्मेतरैर्ब्रह्म तदप्यवाप्यम् ॥ ६३ ॥

अन्वयः—(हे भैमि !) भवत्या किं वा इयत् अर्थाप्यते ? य चित्तैकपद्याम् अपि वर्तते । यत्र चेतसोऽपि अन्धकारः, तद् ब्रह्म अपि जिह्मेतरैः अवाप्यं खलु ॥ ६३ ॥

व्याख्या—ननु अत्यन्तदुर्लभत्वात्तमर्थं वक्तु जिह्मेमीत्याशङ्क्याह-अर्थाप्यत इति । (हे भैमि !) भवत्या = त्वया, किंवा, इयत् = एतावत् यथा तथा । अर्थाप्यते = द्विजराजपाणिग्रहवत् अतिदुर्लभत्वेन आख्यायते । य· = अर्थ·, चित्तैकपद्याम् अपि = मनोमार्गे अपि, वर्तते = विद्यते, अत स कथ दुर्लभ इति भाव· । तथाहि, यत्र = यस्मिन् ब्रह्मणि, चेतसोऽपि = मनसोऽपि, अन्धकार = अग्राह्यत्वात्प्रतिबन्ध "अवाङ्मनसगोचरम्" "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इति श्रुतित इति भाव. । तत् = तादृशं, दुर्लभमिति भावः, ब्रह्म

अपि = शुद्धचैतन्यरूपं वस्त्वपि, जिह्मेतरैः =अकुटिलैः, कुशलबुद्धिभिरिति भावः । अवाप्यं = प्राप्यं, खलु = निश्चयेन, कुशलधीभिरमनोगोचरं ब्रह्माऽपि प्राप्यते, मनोगतं वस्तु प्राप्यत्र इति किं वक्तव्यमिति भाव. ॥ ६३ ॥

अनुवाद.—(हे राजकुमारि !) जो आपके चित्तरूप मार्गमे है उसे क्यो आप दुर्लभरूप कह रही है, जहाँ चित्तका भी अन्धकार (प्रतिबन्ध) है वह ब्रह्म भी कुशल बुद्धिवाले पुरुषसे प्राप्य है ॥ ६३ ॥

टिप्पणी—अर्थाप्यते = अर्थं क्रियते, 'अर्थ' शब्दसे "तत्करोति तदाचष्टे" इससे णिच् प्रत्यय होकर "अर्थवेदयोरप्यापुग्वक्तव्य·" इससे आपुक् होकर कर्ममें लट् । चित्तैकपद्याम् = एक. पादौ यस्या सा एकपदी (बहु०) "कुम्भपदीषु च" इससे निपातन, "सरणि. पद्धति पद्या वर्तन्येकपदीति च ।" इत्यमर. । चित्तम् एव एकपदी, तस्याम् (रूपक०) । जिह्मेतरैः = जिह्मात् इतरे, तैः (प० त०) । अवाप्यम् = अवाप्तुं योग्यम्, अव+आप्+यत् । इस पद्यमें अर्थापत्ति अलङ्कार है ॥ ६३ ॥

ईशाऽणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये ! लोकेशलोकेशयलोकमध्ये ।
तिर्यञ्चमप्यञ्च मृषाऽनभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञमज्ञम् ॥ ६४ ॥

अन्वयः—हे ईशाऽणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये ! लोकेशलोकेशयलोकमध्ये अज्ञं तिर्यञ्चम् (माम्) अपि मृषाऽनभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञम् अञ्च ॥ ६४ ॥

व्याख्या—हे ईशाऽणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये = हे ईश्वराऽणुत्वविभूतिरूपान्तराऽवलग्ने !, हे कृशोदरि ! इति भाव. । लोकेशलोकेशयलोकमध्ये = ब्रह्मलोकवासिजनमध्ये, अज्ञम्=अनभिज्ञ, मूढमित्यर्थ. । तिर्यञ्चम् अपि = पक्षिणामपि च, मामिति शेष· । मृषाऽनभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञम् = अनृताऽनभिज्ञरसनताऽऽद्यज्ञानयशस्विनम्, अञ्च = विद्धि, मा सत्यवादिनं जानीहीति भाव· ॥ ६४ ॥

अनुवादः—हे ईश्वरके अणिमा ऐश्वर्यके समान सूक्ष्म कमरवाली ! ब्रह्माजीके लोकमे रहनेवाले प्राणियोके मध्यमे अनभिज्ञ और पक्षी भी मुझको झूठमें अनभिज्ञ जानकारीरूप आदिज्ञान होनेसे यशवाले अर्थात् सत्यवादी जानिए ।

टिप्पणी—ईशाऽणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये = अणोर्भाव. अणिमा, अणु+इमनिच् । ईशस्य अणिमा (ष० त०), स च तत् ऐश्वर्यम् (क० धा०), तस्य विवर्त. (तत्त्वतः अन्यथाभाव), (ष० त०), ईशाऽणिमैश्वर्यविवर्तो मध्यो यस्याः सा, तत्सम्बुद्धौ (बहु०) । ईश्वरकी आठ योगसिद्धियाँ जिन्हे ऐश्वर्य कहते है, वे ये है—

अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा ।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाऽष्टसिद्धयः ॥

अर्थात् अणिमा (बहुत सूक्ष्म होना), महिमा (बहुत बडा होना), गरिमा (अत्यन्त गुरुता), लघिमा (अत्यन्त लघुता), प्राप्ति (पदार्थको पानेकी शक्ति), प्राकाम्य (सब अभिलाषोको पानेकी शक्ति), ईशित्व (उत्कृष्ट सामर्थ्य) और वशित्व (उत्कृष्ट स्वातन्त्र्य)। लोकेशलोकेशयलोकमध्ये = लोकानाम् ईशः (ष० त०), "हिरण्यगर्भो लोकेशः स्वयम्भूश्चतुराननः ।" इत्यमरः । लोकेशस्य लोकः (ष० त०), लोकेशलोके शेरते इति लोकेशलोकेशयाः , लोकेशलोक-उपपदपूर्वक "शीङ् स्वप्ने" धातुसे "अधिकरणे शेते" इस सूत्रसे अच प्रत्यय और "शयवासवासिष्वकालात्" इस सूत्रसे अलुक् समास । लोकेशलोकेशयाश्च ते लोकाः (क० धा०), "लोकस्तु भुवने जने" इत्यमरः । लोकेशलोकेशयलोकानां मध्यं, तस्मिन् (ष० त०) । मृषाऽनभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञ = "मृषा" यह अव्यय है। मृषा अनभिज्ञा (ष० त०) मृषाऽनभिज्ञा रसज्ञा यस्य स (बहु०), "रसज्ञा रसना जिह्वा" इत्यमरः । मृषाऽनभिज्ञरसज्ञस्य भावः, मृषाऽनभिज्ञ + रसज्ञ + तल् + टाप् । उपज्ञायते इति उपज्ञा, उप + उपसर्गपूर्वक 'ज्ञा' धातुसे "आतश्चोपसर्गे" इससे अङ् प्रत्यय और टाप् प्रत्यय । "उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्यात्" इत्यमरः । मृषाऽनभिज्ञताया उपज्ञा मृषाऽनभिज्ञरसज्ञतोपज्ञम् (ष० त०), "उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्" इससे नपुंसकलिङ्गता । समैर्ज्ञायते इति समज्ञा, सम + ज्ञा + अङ् + टाप्, पूर्वसूत्रसे अङ् प्रत्यय । "यशः कीर्तिः समज्ञा च" इत्यमरः । मृषाऽनभिज्ञरसज्ञतोपज्ञं समज्ञा यस्य सः तम् (बहु०) । अञ्च = अञ्च + लोट् + सिप् ॥ ६४ ॥

मध्ये श्रुतीनां प्रतिवेशिनीनां सरस्वती वासवती मुखे नः ।
ह्रियेव ताभ्यश्चलतीयमद्धापथान्न संसर्गगुणेन बद्धा ॥ ६५ ॥

अन्वयः—प्रतिवेशिनीनां श्रुतीनां मध्ये वासवती इयं नः मुखे सरस्वती संसर्गगुणेन बद्धा (सती) ताभ्यः ह्रिया इव अद्धापथात् न चलति ॥ ६५ ॥

व्याख्या—प्रतिवेशिनीनां = निकटगृहवासिनीनां, श्रुतीनां = वेदानां, ब्रह्ममुखस्थानामिति शेषः । मध्ये = अन्तरे, वासवती = निवसन्ती, इयं = निकटवर्तिनी, नः = अस्माकं, मुखे = वदने, सरस्वती = वाणी, संसर्गगुणेन = सङ्गतिगुणेन, बद्धा = नद्धा (सती), ताभ्यः = श्रुतिभ्यः, ह्रिया इव =

लज्जया इव, अद्धापथात् = सत्यमार्गात्, न चलति = न गच्छति, "ससर्गजा दोषगुणा भवन्ति" इति न्यायादिति भावः ॥ ६५ ॥

अनुवादः—पडोसिन श्रुतियोके बीचमे रहनेवाली यह हमलोगोकी वाणी सगतिरूप गुणसे बद्ध होती हुई उन श्रुतियोसे मानो लज्जा कर सत्यमार्गसे विचलित नही होती है ॥ ६५ ॥

टिप्पणी—प्रतिवेशिनीना = प्रतिविशन्तीति प्रतिवेशिन्य , तासाम्, प्रति+विश्+णिनिः+ङीप्+आम् (उपपद०)। वासवती = वास+मतुप्+ङीप्+सु । सरस्वती = "गीर्वाग्वाणी सरस्वती" इत्यमर । ससर्गगुणेन=ससर्ग एव गुण (धर्म तन्तुश्च), तेन (रूपक०)। बद्धा = बन्ध+क्त+टाप+सुः। अद्धापथात् = अद्धा पन्थाः अद्धापथ , तस्मात् (ष० त०)। "तत्त्वे त्वद्धाऽञ्जसा द्वयम्" इत्यमर । "अद्धा" यह अव्यय है। "ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे" इससे समासाऽन्त अ प्रत्यय। इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥६५॥

पर्यङ्कताऽऽपन्नसरस्वदङ्कां लङ्कापुरीमप्यभिलाषि चित्तम् ।
कुत्राऽपि चेद्वस्तुनि ते प्रयाति तदप्यवेहि स्वशये शयालु ॥ ६६ ॥

अन्वयः—कुत्र अपि वस्तुनि अभिलाषि ते चित्त पर्यङ्कतापन्नसरस्वदङ्कां लङ्कापुरीम् अपि प्रयाति चेत्, तत् अपि स्वशये शयालु अवेहि ॥ ६६ ॥

व्याख्या— कुत्र अपि = कस्मिन् अपि, द्वीपान्तरस्थेऽपीति भाव । वस्तुनि = पदार्थे, अभिलाषि = साऽभिलाष, ते = तव, चित्त = मन॰ (कर्तृ), पर्यङ्कताऽऽपन्नसरस्वदङ्का = मञ्चत्वप्राप्तसमुद्रचिह्ना, लङ्कापुरीम् अपि = सिंहलद्वीपनगरीम् अपि, प्रयाति चेत् = गच्छति यदि, तत् = वस्तु, अपि, स्वशये=निजहस्ते, शयालु = स्थितम्, अवेहि = जानीहि ॥ ६६ ॥

अनुवादः—किसी भी वस्तुमे अभिलाष करनेवाला आपका चित्त, पलगके समान समुद्ररूप चिह्नवाली लङ्कापुरीमे भी जाता है तो उस (वस्तु)को भी आप अपने हाथमे मौजूद समझिए ॥ ६६ ॥

टिप्पणी—अभिलाषि = अभि+लष+णिनि॰ । पर्यङ्कताऽऽपन्नसरस्वदङ्कां= पर्यङ्कस्य भाव पर्यङ्कता, पर्यङ्क+तल+टाप्। पर्यङ्कताम् आपन्न., "द्वितीया श्रिताऽतीतपतितगताऽत्यस्तप्राप्ताऽऽपन्न" इस सूत्रसे द्वि० त०। पर्यङ्कतापन्नः सरस्वान् अङ्को यस्या सा, ताम् (बहु०)। लङ्कापुरी = लङ्का चाऽसौ पुरी, ताम् (क० धा०)। स्वशये = स्वस्य शयः, तस्मिन् (ष० त०)। "पञ्चशाखः शयः पाणिः" इत्यमर. । शयालु = शेत इति, शीङ्+आलुच् ॥ ६६ ॥

इतीरिता पत्त्ररथेन तेन ह्लीणा च हृष्टा च बभाण भैमी।
"चेतो नलङ्कामयते मदीयं, नाऽन्यत्र कुत्रापि च साऽभिलाषम्" ॥ ६७ ॥

अन्वयः—तेन पत्त्ररथेन इति ईरिता भैमी ह्लीणा हृष्टा च (सती) बभाण—"मदीय चेतो लङ्का न अयते (पक्षान्तरे श्लेषेण) मदीय चेतो नलं कामयते। अन्यत्र कुत्र अपि साऽभिलाष न" ॥ ६७ ॥

व्याख्या—तेन = पूर्वोक्तेन, पत्त्ररथेन = हसेन, इति = इत्थम्, ईरिता = उक्ता, भैमी = दमयन्ती, ह्लीणा=लज्जिता, स्वाऽभिप्रायकथनसङ्कोचादिति शेष। हृष्टा च=प्रसन्ना च, उपायलाभादिति शेष। बभाण = जगाद। मदीय= मामकीन, चेत = चित्त, लङ्का = सिंहलद्वीपपुरी, न अयते = नो गच्छति। (पक्षान्तरे श्लेषेण)—किन्तु नल = नैषध, कामयते = इच्छति। अन्यत्र = अन्यस्मिन्, कुत्र अपि = कस्मिन् अपि, वस्तुनीति शेष। साऽभिलाषम् = इच्छुक, न = नो वर्तते ॥ ६७ ॥

अनुवादः—उस हंसके ऐसा कहने पर दमयन्तीने लज्जित और प्रसन्न होकर कहा—"मेरा चित्त लङ्का नही जाता है," (पक्षान्तरमे श्लेषसे) "मेरा चित्त नलको चाहता है, और किसी भी वस्तुमे अभिलाष नही करता है ॥ ६७ ॥

टिप्पणी—पत्त्ररथेन = पत्त्र (पक्ष) रथो यस्य स, तेन (बहु०), "पतत्पत्त्ररथाऽण्डजाः" इत्यमर। ह्लीणा =ह्री + क्त + टाप्, "नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम्" इस सूत्रसे निष्ठा तकारके स्थानमे विकल्पसे नकार। हृष्टा + हृष + क्त + टाप्। बभाण=भण + लिट् + तिप् (णल्)। अयते=अय + लट्+त। कामयते = कम् + णिङ् + लट् + त। साऽभिलाषम् = अभिलाषेण सहितम् (तुल्ययोगबहु०)। इस पद्यमे श्लेष अलङ्कार है ॥ ६७ ॥

विचिन्त्य बालाजनशीलशैलं लज्जानदीमज्जदनङ्गनागम्।
जगाद विस्पष्टमभाषमाणामेनां स चक्राङ्गपतङ्गशक्रः ॥ ६८ ॥

अन्वय.—विस्पष्टम् अभाषमाणाम् एना स चक्राङ्गपतङ्गशक्रो बालाजनशीलशैलं लज्जानदीमज्जदनङ्गनाग विचिन्त्य जगाद ॥ ६८ ॥

व्याख्या—विस्पष्ट = सुव्यक्तम्, अभाषमाणाम् = न वदन्ती, श्लेषोक्त्या सन्दिग्धमेव भाषमाणामिति भावः। एना = दमयन्ती, सः = पूर्वोक्त., चक्राङ्गपतङ्गशक्रः = हंसपक्षिश्रेष्ठ, बालाजनशीलशैल = मुग्धाऽङ्गनास्वभावपर्वतं, लज्जानदीमज्जदनङ्गनागं = त्रपासरिद्ब्रुडत्कामगज, विचिन्त्य=विचार्य, जगाद=

उवाच, लज्जापरित्यागाऽर्थं वक्ष्यमाणवाक्यमुवाचेति भावः प्रकाशव्याख्यायाम् "आचष्टे" तिपाठः तस्य उक्तवानित्यर्थं ॥ ६८ ॥

अनुवादः—स्पष्ट रूपसे भाषण न करनेवाली दमयन्तीको उस हंसश्रेष्ठने मुग्धा स्त्रीके स्वभावरूप पर्वतमे लज्जारूप नदीमे कामदेवरूप हाथी डूब रहा है ऐसा विचार कर कहा ॥ ६८ ॥

टिप्पणी—विस्पष्टम् = यह भाषण क्रियाका विशेषण है। अभाषमाणा = भाषत इति भाषमाणा, भाष+लट्+शानच्+टाप्। न भाषमाणा, ताम् (नञ्), चक्राङ्गपतङ्गशक्र = चक्राङ्गश्च ते पतङ्गा. (क० धा०)। "हसास्तु श्वेतगरुतश्चक्राङ्गा मानसौकस ।" इति "पतङ्गौ पक्षिसूर्यौं च" इत्यप्यमरः। चक्राङ्गपतङ्गाना शक्र· (ष० त०)। बालाजनशीलशैलं = बाला चाऽसौ जन (क० धा०), बालाजनस्य शीलम् (ष० त०)। तदेव शैल·, तम् (रूपक०)। लज्जानदीमज्जदनङ्गनागं = लज्जा एव नदी (रूपक०)। अनङ्ग एव नागः (रूपक०)। मज्जन् अनङ्गनागो यस्य स. (बहु०)। लज्जानद्या मज्जदनङ्गनाग, तम् (स० त०)। विचिन्त्य = वि+चिन्त+णिच्+क्त्वा (ल्यप्)। जगाद = गद + लिट् + तिप्। इस पद्यमे रूपक अलङ्कार है ॥ ६८ ॥

नृपेण पाणिग्रहणे स्पृहेति नल मन कामयते ममेति।
आश्लेषि न श्लेषकवेर्भवत्याः श्लोकद्वयाऽर्थः सुधिया मया किम् ? ॥ ६९ ॥

अन्वयः—श्लेषकवेः भवत्या. नृपेण पाणिग्रहणे स्पृहा इति मम मनो नलं कामयते इति श्लोकद्वयाऽर्थः सुधिया मया न आश्लेषि किम् ? (आश्लेषि एव) ॥ ६९ ॥

व्याख्या—(हे राजकुमारि !) श्लेषकवेः = श्लेषभङ्ग्या कवयित्र्या·, श्लिष्ट-शब्दप्रयोक्त्र्या इति भाव । भवत्याः = तव, नृपेण = राज्ञा, नलेन कर्त्रा, पाणि-ग्रहणे = करपीडने, स्पृहा = अभिलाष, इति = एव, "का नाम बाला० (३–५९), "चेतो नलं कामयते" (३–६७), श्लोकद्वयाऽर्थः = पद्यद्वितयाऽभिधेयः, सुधिया = विदुषा, मया = हसेन, न आश्लेषि किं = न अग्राहि किम् ? गृहीत एवेति भावः ॥ ६९ ॥

अनुवादः—हे राजकुमारि ! श्लेषसे कविता बनानेवाली आपकी नृप (राजा) नलके साथ पाणिग्रहणमें स्पृहा (अभिलाष) है (३–५९) और मेरा मन

नलकी कामना करता है (३–६७) ऐसा दो श्लोकोका अर्थ क्या मैने नही जाना ? (जाना है) ॥ ६९ ॥

टिप्पणी—श्लेषकवे: = श्लेषेण कवे. (तृ० त०)। पाणिग्रहणे = पाणे ग्रहणं, तस्मिन् (शेषषष्ठी० तत्पु०)। कामयते = कमु + णिङ् + लट् + त। श्लोकद्वयाऽर्थः = श्लोकयो द्वय (ष० त०), तस्य अर्थः (ष० त०)। सुधिया= सुष्ठु ध्यायतीति सुधी:, तेन, सु–उपसर्गपूर्वक "ध्यै चिन्तायाम्" इस धातुसे क्विप् प्रत्यय और सम्प्रसारण (उपपद०)। आश्लेषि = आङ् + श्लिष + लुङ् (कर्ममे) + त ॥ ६९ ॥

त्वच्चेतसः स्थैर्यविपर्ययं तु सम्भाव्य भाव्यस्मि तदज्ञ एव।
लक्ष्ये हि बालाहृदि लोलशीले दराऽपराद्धेषुरपि स्मरः स्यात् ॥ ७० ॥

अन्वयः—तु त्वच्चेतस स्थैर्यविपर्यय सम्भाव्य तदज्ञ एव भावी अस्मि। हि लोलशीले बालाहृदि लक्ष्ये स्मर. अपि दराऽपराद्धेषु स्यात् ॥ ७० ॥

व्याख्या—तु=किन्तु, "नृपेण पाणिग्रहणे स्पृहा", "मम मनो नलं कामयते" इति ज्ञानेऽपीति भाव.। त्वच्चेतस. = भवन्मनस, स्थैर्यविपर्ययम् = अस्थिरत्वं, सम्भाव्य = आशङ्क्य, तदज्ञ एव = श्लोकद्वयार्थानभिज्ञ एव, भावी = भविष्यन्, अस्मि = भवामि। हि = यत:, लोलशीले = चञ्चलस्वभावे, बालाहृदि = तरुणी-चित्ते, लक्ष्ये = शरव्ये, वेध्ये विषय इति भाव। स्मरोऽपि = कामदेवोऽपि, देवर्ष्यादिविजेता अपीति तात्पर्यम्। दराऽपराद्धेषु. = ईषच्च्युतसायक, स्यात् = भवेत्, स्मरसदृशः कुशलधानुष्कोऽपि चञ्चललक्ष्ये अपराद्धपृषत्क स्यादिति सम्भाव्यत इति भाव. ॥ ७० ॥

अनुवाद—परन्तु "राजाके साथ पाणिग्रहणमे स्पृहा", "मेरा चित्त नलकी कामना करता है" ऐसे दो श्लोकोका अर्थ जाननेपर भी आपके चित्तकी अस्थिरता की आशङ्का करके मै उस अर्थमे अनजान ही होनेवाला हूँ। क्योकि चञ्चल स्वभाववाली तरुणीके चित्तरूप लक्ष्यमे कामदेव भी कुछ निशाना चूकनेवाला होगा ॥ ७० ॥

टिप्पणी—त्वच्चेतसः = तव चेत:, तस्य (ष० त०) स्थैर्यविपर्ययं = स्थैर्यस्य विपर्यय., तम् (ष० त०)। सम्भाव्य = स + भू + णिच् + क्त्वा (ल्यप्)। तदज्ञ. = तस्मिन् अज्ञः (स० त०)। भावी = भविष्यतीति, "भविष्यति गम्यादयः" इससे साधु, भू + णिनि + सु:। लोलशीले = लोल शील यस्य तत्, तस्मिन् (बहु०)। बालाहृदि = बालाया हृत्, तस्मिन् (ष०

त०)। लक्ष्ये = "लक्षं लक्ष्यं शरव्य च" इत्यमरः। दराऽपराद्धेषु = अपराद्धः इषु. यस्य सः (बहु०)। दरम् अपराद्धेषुः (सुप्सुपा०)। इस पद्यमे अर्थान्तर-न्यास अलङ्कार है ॥ ७० ॥

महीमहेन्द्र. खलु नैषधेन्दुस्तद्बोधनीयः कथमित्थमेव ।
प्रयोजनं सांशयिक प्रतीदृक्पृथग्जनेनेव स मद्विधेन ॥ ७१ ॥

अन्वयः—तत् महीमहेन्द्र. स नैषधेन्दु· इह ईदृक् साशयिक प्रयोजनं प्रति मद्विधेन पृथग्जनेन इव इत्थम् एव कथ बोधनीयः खलु ॥ ७१ ॥

व्याख्या—तत् = तस्मात्कारणात्, महीमहेन्द्र = भूदेवेन्द्र , स· = प्रसिद्ध·, नैषधेन्दुः = नलचन्द्र·, इह = अस्मिन्विषये, ईदृक् = एतादृश, साशयिक = सशय-प्राप्तं, प्रयोजन प्रति = कार्यं प्रति, मद्विधेन = मत्सदृशेन, प्रामाणिकजनेनेति भावः। पृथग्जनेन इव = मूर्खजनेन इव, इत्थम् एव = एतादृशम् एव, युक्ताऽ-युक्तविचारमकृत्वैवेति भाव । कथ = केन प्रकारेण, बोधनीय. = ज्ञापनीयः, खलु = निश्चयेन ॥ ७१ ॥

अनुवादः—(हे राजकुमारि !) उस कारणसे पृथिवीके इन्द्र, प्रसिद्ध, चन्द्र-के सदृश नल इस विषयमे ऐसे सन्दिग्ध कार्यके प्रति मेरे ऐसे प्रामाणिक जनसे मूर्ख मनुष्यके समान विना विचारके कैसे निवेदन किये जायँ ? ॥ ७१ ॥

टिप्पणी—महीमहेन्द्र = महाश्चाऽसौ इन्द्र (क० धा०), मह्या महेन्द्रः (स० त०)। नैषधेन्दु = नैषध इन्दुरिव, "उपमितं व्याघ्रादिभि सामान्याऽ-प्रयोगे" इससे समास। साशयिकं = सशयम् आपन्नम्, "सशय" शब्दसे "सशय-मापन्नः" इस सूत्रसे ठक् (इक) प्रत्यय और "किति च" इससे आदिवृद्धि। "सांशयिक· सशयाऽऽपन्नमानस " इत्यमर । मद्विधेन = मम इव विधा (प्रकार) यस्य, तेन (व्यधिकरणबहु०)। पृथग्जनेन = "पृथग्जनः स्मृतो नीचे मूर्खे च" इति विश्व.। बोधनीय· = बोधयितु योग्य , बुध + णिच् + अनीयर्। इस पद्यमें उपमा अलङ्कार है ॥ ७१ ॥

पितुर्नियोगेन निजेच्छया वा युवानमन्य यदि वा वृणीषे ।
त्वदर्थमर्थित्वकृतिप्रतीति. कीदृङ् मयि स्यान्निषधेश्वरस्य ? ॥ ७२ ॥

अन्वयः—पितु नियोगेन वा निजेच्छया अन्य युवान वृणीषे यदि, तदा निष-धेश्वरस्य मयि त्वदर्थम् अर्थित्वकृतिप्रतीति· कीदृक् स्यात् ? ॥ ७२ ॥

व्याख्या—अविचार्य बोधने दोष प्रतिपादयति पितुरिति। (हे राजकुमारि !) पितुः = जनकस्य, भीमभूपते·, नियोगेन = आज्ञया, वा = अथवा, निजेच्छया=

स्वेच्छया, अन्यम् = अपर, नलाद्भिन्नमित्यर्थः । युवान = तरुण, वृणीषे यदि = वृणोषि चेत्, तदा = तर्हि, निषधेश्वरस्य = नलस्य, मयि = हसे विषये, त्वदर्थं= भवत्या कृते इति भावः, अर्थित्वकृतिप्रतीति = याचकत्वप्रयत्नविश्वास', याचनाविश्वास इति भाव' । कीदृक् = कीदृशी, स्यात् = भवेत् । तस्मादसन्दिग्ध वाच्यमिति भाव ॥ ७२ ॥

अनुवादः—(हे राजकुमारि !) पिताकी आज्ञासे वा अपनी इच्छासे आप दूसरे (नलसे भिन्न) जवानको वरण करेगी तो महाराज नलका मेरे विषयमें आपके लिए याचनाका विश्वास (भरोसा) कैसा होगा ? ॥ ७२ ॥

टिप्पणी—निजेच्छया = निजस्य इच्छा, तया (ष० त०) । युवान = "वय.स्थस्तरुणो युवा" इत्यमर । वृणीषे = वृञ्+लट्+थास् । निषधेश्वरस्य= निषधानाम् ईश्वर , तस्य (ष० त०) । मयि = विषयमे सप्तमी । त्वदर्थं = तुभ्यम् इदम् (च० त०) । अर्थित्वकृतिप्रतीति = अर्थिनो भाव', अर्थिन्+त्व । अर्थित्वस्य कृति (ष० त०) । तस्या प्रतीति. (स० त०) । स्यात् = अस्+विधि–लिङ्+तिप् ॥ ७२ ॥

त्वयापि किं शङ्कितविक्रियेऽस्मिन्नधिक्रिये वा विषये विधातुम् ।
इतः पृथक् प्रार्थयसे तु यद्यत् कुर्वे तदुर्वीपतिपुत्रि ! सर्वम् ॥ ७३ ॥

अन्वय.—हे उर्वीपतिपुत्रि ! वा त्वया अपि किं विधातु शङ्कितविक्रिये अस्मिन् विषये अहम् अधिक्रिये ? इत पृथक् यत् प्रार्थयसे तत् सर्वं कुर्वे ॥ ७३ ॥

व्याख्या—हे उर्वीपतिपुत्रि = हे राजकुमारि !, वा = अथवा, त्वया अपि = भवत्या अपि, किं, विधातु = कर्तुं, शङ्कितविक्रिये = सशयितविकारे, अस्मिन् = इह, विषये = वैवाहिकविषये, अहं = हस , अधिक्रिये = विनियुज्ये, अहमस्मिन् सन्दिग्धे वैवाहिकविषये न नियोज्य इति भावः । इतः = अस्मात्, विवाहसम्पादनकार्यात्, पृथक् = अन्यत्, यत् यत् = कार्यं, प्रार्थयसे=उपयाचसे, तत्, सर्वं = सकल, कार्यमिति शेषः, कुर्वे = करोमि ॥ ७३ ॥

अनुवाद.—हे राजकुमारि ! आप भी क्या करनेके लिए विकारके सशयवाले इस वैवाहिक कार्यमे मुझे नियुक्त करती है ? इससे भिन्न जिस-जिस कार्यको करनेके लिए आप प्रार्थना करेगी, उन सबको मैं करूँगा ॥ ७३ ॥

टिप्पणी—उर्वीपतिपुत्रि = उर्व्या पतिः (ष० त०), तस्य पुत्री, तत्सम्बुद्धौ (ष० त०), शङ्कितविक्रिये = शङ्किता विक्रिया यस्मिन्, स', तस्मिन् (बहु०) ।

अधिक्रिये = अधि + कृ + लट् (कर्ममे) + त । प्रार्थयसे = प्र + अर्थं + णिच् + लट् + थास् ॥ ७३ ॥

श्रवःप्रविष्टा इव तद्गिरस्ता विधूय वैमत्यधुतेन मूर्ध्ना ।
ऊचे ह्रिया विश्लथिताऽनुरोधा पुनर्धरित्रीपुरुहूतपुत्री ॥ ७४ ॥

अन्वयः—धरित्रीपुरुहूतपुत्री श्रव.प्रविष्टा इव तद्गिर. वैमत्यधुतेन मूर्ध्ना विधूय ह्रिया विश्लथिताऽनुरोधा (सती) पुन ऊचे ॥ ७४ ॥

व्याख्या—धरित्रीपुरुहूतपुत्री = भूमहेन्द्रकुमारी, भैमीतिभाव । श्रव प्रविष्टा इव = कृतकर्णप्रवेशा इव, न तु सम्यक् प्रविष्टा इति भाव. । तद्गिरः = हंस-वाच , वैमत्यधुतेन = असम्मतिकम्पितेन, मूर्ध्ना = शिरसा, विधूय = निरस्य, प्रतिषिध्येत्यर्थ. । ह्रिया = लज्जया कर्त्र्या, विश्लथिताऽनुरोधा = शिथिलिताऽनु-सरणा, त्यक्तलज्जा सतीति भाव । पुन =भूय , ऊचे = उवाच ॥ ७४ ॥

अनुवादः—राजकुमारी दमयन्ती कानोमे घुसे हुएके समान हसके वचनोको असम्मति (नामजूरी) से कम्पित शिरसे निवारण कर लज्जाको छोडकर फिर कहने लगी ॥ ७४ ॥

टिप्पणी—धरित्रीपुरुहूतपुत्री = धरित्र्या पुरुहूत. (ष० त०), तस्य पुत्री (ष० त०) । श्रव प्रविष्टा. = श्रवसी प्रविष्टाः, ता (द्वि० त०) । तद्गिर = तस्य गिर , ता. (ष० त०), वैमत्यधुतेन = विरुद्धा मतिर्विमति. (गति०) । विमतेर्भावो वैमत्यम्, विमति + ष्यञ् । वैमत्येन धुतः, तेन (तृ० त०) । विधूय = वि + धूञ् + क्त्वा (ल्यप्) । ह्रिया = कर्तृपद । विश्लथिताऽनुरोधा= विश्लथितः अनुरोधः यस्याः सा (बहु०) । इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ ७४ ॥

मदन्यदान प्रति कल्पना या वेदस्त्वदीये हृदि तावदेषा ।
निशोऽपि सोमेतरकान्तशङ्कामोङ्कारमग्रेसरमस्य कुर्याः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—(हे हस !) मदन्यदान प्रति या एषा कल्पना त्वदीये हृदि वेदः तावत् । निश अपि सोमेतरकान्तशङ्काम् अस्य ओङ्कारम् अग्रेसर कुर्या. ॥ ७५ ॥

व्याख्या—(हे हस !) मदन्यदान प्रति = मदपरसमर्पणं प्रति, या, एषा = इय, कल्पना = तर्क , "पितुर्नियोगेने" इत्यादि रूप इति भाव । वेद. = श्रुति, तावत्एव । (तर्हि) निश अपि = रात्रेः अपि, सोमेतरकान्तशङ्का = चन्द्रभिन्न-वल्लभकल्पनाम्, अस्य = पूर्वोक्तस्य वेदस्य, ओङ्कारं = प्रणवम्, अग्रेसरम् = आद्यं, कुर्याः = कुरु, पितुर्नियोगेन निजेच्छया वा मत्कर्तृक नलेतरवरण त्वं

वेदरूपं (सत्यम्) मन्यसे यदि तर्हि रात्रेरपि चन्द्रेतरवल्लभकल्पनं, तस्य पूर्वोक्तस्य वेदस्य पुरोवर्तिनमोङ्कार भावय, वेदस्य ओङ्कारपूर्वकत्वादिति भावः। यथा निशायाश्चन्द्रेतरो वल्लभो न तथैव ममाऽपि नलेतरवरण न भविष्यति हृदयम ॥ ७५ ॥

अनुवाद.—(हे हंस !) नलको छोडकर किसी दूसरेको मेरा दान होगा ऐसी कल्पना तुम्हारे हृदयमे वेद (सत्य) ही है, तो रात्रिका भी चन्द्रसे भिन्न कान्त है ऐसी शङ्काको उस वेदका आदिवर्ती प्रणव (ओङ्कार) बना डालो ॥ ७५ ॥

टिप्पणी—मदन्यदान = अन्यस्मै दानम् अन्यदानम् (च० त०), मम अन्यदान, तत् (ष० त०), "प्रति" के योगमे द्वितीया। त्वदीये = तव इदं त्वदीय = तस्मिन्, युष्मद् (त्वत्) + छ (ईय)। तावत् = "यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे।" इत्यमर। निश. = "निशा" शब्दका "पद्दन्नोमास्–हृन्निशसन्०" इत्यादि सूत्रसे निश् आदेश + ङस्। सोमेतरकान्तशङ्का = सोमात् इतरः (प० त०), स चाऽसौ कान्त (क० धा०) तस्य शङ्का, ताम् (ष० त०)। ओङ्कारम् = "ओङ्कारप्रणवौ समौ" इत्यमर.। अग्रेसरम् = अग्रे सरतीति अग्रेसर', तम्, अग्रे + उपपदपूर्वक 'सृ' धातुसे "पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तें" इति सूत्रसे "अग्रे" इस एदन्तत्वका निपातन होकर ट प्रत्यय (उपपद०)। जैसे रात्रिका चन्द्रसे भिन्न कान्त नही है वैसे ही मेरे भी नलसे अन्य कान्त नही है, यह भाव है। इस पद्यमे रूपक अलङ्कार है ॥ ७५ ॥

सरोजिनीमानसरागवृत्तेरनर्कसम्पर्कमतर्कयित्वा ।
मदन्यपाणिग्रहशङ्कितेयमहो ! महीयस्तव साहसिक्यम् ॥ ७६ ॥

अन्वय.—सरोजिनीमानसरागवृत्तेः अनर्कसम्पर्कम् अतर्कयित्वा तव इयं मदन्यपाणिग्रहशङ्किता महीय. साहसिक्यम् अहो ! ॥ ७६ ॥

व्याख्या—सरोजिनीमानसरागवृत्तेः = कमलिनीमनोऽनुरागस्थितेः, कमलिन्यभ्यन्तराऽरुणताप्रवृत्तेश्च, अनर्कसम्पर्कं = सूर्येतरकान्तसम्बन्धम्, अतर्कयित्वा = अनूहित्वा, तव = भवतः, इयम् = एषा, मदन्यपाणिग्रहशङ्किता = मम नलेतरपाणिपीडनसांशयिकता, महीयः = महत्तर, साहसिक्य = साहसिकत्वम्, अहो = आश्चर्यम् ॥ ७६ ॥

अनुवादः—(हे हस !) कमलिनीके मनकी अनुरागस्थितिका अथवा कमलिनीके भीतरकी अरुणता-स्थितिका सूर्यसे भिन्न प्रियके सम्बन्धकी तर्कना न

करके तुम्हारा यह मेरा नलसे भिन्न पुरुषके पाणिग्रहणकी शङ्का करना बहुत ही साहसका कर्म है, आश्चर्य है ! ॥ ७६ ॥

टिप्पणी—सरोजिनीमानसरागवृत्तेः = मनसि भवो मानस., मनस्+अण् । मानसश्चाऽसौ रागः (क० धा०) । तस्य वृत्ति. (ष० त०) । सरोजिन्या मानसरागवृत्ति·, तस्याः (ष० त०) । अनर्कसम्पर्कम् = न अर्क. अनर्कः (नञ्०) । अनर्केण सम्पर्कः, तम् (तृ० त०) । अतर्कयित्वा = न तर्कयित्वा (नञ्०) । मदन्यपाणिग्रहशङ्किता = पाणे ग्रह. (ष० त०), अन्यस्य पाणि-ग्रहः (ष० त०) । अन्यपाणिग्रह शङ्कते तच्छील. अन्यपाणिग्रहशङ्की, अन्य-पाणिग्रह+शकि+णिनि (उपपद०) । अन्यपाणिग्रहशङ्किनो भाव. अन्यपाणि-ग्रहशङ्किन्+तल्+टाप् । मम अन्यपाणिग्रहशङ्किता (ष० त०) । महीय = अतिशयेन महत्, महत्+ईयसुन् । साहसिक्यम् = सहसा वर्तत इति साहसिक, सहस् शब्दसे "ओज सहोऽम्भसा वर्तते" इस सूत्रसे ठक् (इक) प्रत्यय । साहसि-कस्य भावः कर्म वा, साहसिक+ष्यञ् । जैसे कमलिनीकी अनुरागवृत्ति सूर्यसे भिन्न हो नहीं सकती वैसे ही मेरा भी नलके सिवाय किसी दूसरेसे पाणिग्रहण नहीं होगा यह भाव है ॥ ७६ ॥

साधु त्वयाऽतर्कि तदेकमेव स्वेनाऽनलं यत्किल संश्रयिष्ये ।
विनाऽमुना स्वात्मनि तु प्रहर्तुं मृषागिरं त्वां नृपतौ न कर्तुम् ॥ ७७ ॥

अन्वयः—स्वेन अनलं संश्रयिष्ये (इति) यत् त्वया अतर्कि तत् एकम् एव साधु अतर्कि । तु अमुना विना स्वात्मनि प्रहर्तुम् (अनल सश्रयिष्ये), नृपतौ त्वां मृषागिर कर्तुम् अनल न संश्रयिष्ये ॥ ७७ ॥

व्याख्या—(हे हस !) स्वेन = आत्मना, स्वेच्छयेति भाव । अनलं = नलादन्य, "निजेच्छया वे"त्याकारकत्वद्वचनाऽनुसारादिति भाव । सश्रयिष्ये = आश्रयिष्ये, प्राप्स्यामीति भावः । इति, यत्, त्वया = भवता, अतर्कि = ऊहितं, तत्, एकम्, एव, साधु = समीचीनम्, अतर्कि = तर्कित, तु = परन्तु, अमुना विना = नलेन विना, नलाऽभावे इति भाव. । स्वात्मनि = निजशरीरे, प्रहर्तुं = हिंसितुम्, अनलम् = अग्निं, सश्रयिष्ये = आश्रयिष्ये, नृपतौ=राज्ञि, नले विषये, त्वां = भवन्तम् (उद्देश्यवाचकपदम्), मृषागिरम् = असत्यवाचं, कर्तुं = विधातुम्, अनलं = नलेतरं, न सश्रयिष्ये = न आश्रयिष्ये, नलाऽभावे प्राणास्त्य-क्ष्यामीति भावः ॥ ७७ ॥

अनुवादः—(हे हंस !) "स्वेच्छासे अनल (नलसे भिन्न पुरुष) का आश्रय

करूँगी" ऐसी जो तुमने तर्कना की वह एक ठीक तर्कना की। परन्तु नलके अलाभमे अपने शरीरको नष्ट करनेके लिए अनल ('अग्नि) को प्राप्त करूँगी। राजा नलके विषयमे तुमको झूठा बनानेके लिए अनल (नलसे भिन्न पुरुष) का आश्रय नही लूंगी ॥ ७७ ॥

टिप्पणी—अनल = न नल, तम् (नञ्०)। सश्रयिष्ये = स + श्रि + लृट् + इट्। अतर्कि = तर्क + लुङ् (कर्ममे) + त। अमुना = "विना" पदके योगमे तृतीया। स्वात्मनि = स्वस्य आत्मा तस्मिन् (ष० त०), कर्मके अधि-करणत्वकी विवक्षामे सप्तमी। प्रहर्तुम् = प्र + हृञ् + तुमुन्। अनल = "कृशानु: पावकोनल." इत्यमर.। नृपतौ = नृणा पति, तस्मिन् (ष० त०), मृषागिर= मृषा गीर्यस्य स मृषागी, तम् (बहु०)। कर्तुं = कृ + तुमुन् ॥ ७७ ॥

मद्विप्रलभ्यं पुनराह यस्त्वां तर्कः स किं तत्फलवाचि मूकः ?।
अशक्यशङ्कव्यभिचारहेतुर्वाणी न वेदा यदि सन्तु के तु ? ॥ ७८ ॥

अन्वयः—(किञ्च) य तर्क. मद्विप्रलभ्य त्वाम् आह स तत्फलवाचि मूकः किम् ? अशक्यशङ्कव्यभिचारहेतुः वाणी वेदा न यदि (तर्हि), के तु वेदा: ? ॥ ७८ ॥

व्याख्या—य: = तर्क =ऊह:, मद्विप्रलभ्य = मया प्रतारणीय, त्वाम्, आह = बोधयति, सः = तर्कः, तत्फलवाचि = तद्विप्रलम्भप्रयोजनकथने, मूक. किम् = अवाक् किम्, असमर्थ. किमिति भाव:। अशक्यशङ्कव्यभिचारहेतु. = शङ्काऽ-शक्यविप्रलिप्सालक्षणा, वाणी: = वाक्,वेदा न यदि = प्रमाण न चेत्। तर्हि के तु वेदाः सन्तु = न केऽपीति भावः। वेदवाचोऽसत्यत्व यदि मद्वाण्यपि तथा स्यादन्यथा नेति भावः ॥ ७८ ॥

अनुवादः—(हे हस !) जो तर्क मुझसे तुम्हारे ठगे जानेकी बात कहता है, वह तर्क ठगनेसे होनेवाले प्रयोजन कहनेमे असमर्थ है क्या ? व्यभिचारके कारणकी शङ्का नही की जा सकनेवाली वाणी यदि वेदरूप प्रमाणिक नही है तो वेद क्या है ? ॥ ७८ ॥

टिप्पणी—तर्कः = "अध्याहारस्तर्क ऊह." इत्यमर। मद्विप्रलभ्यं = मया विप्रलभ्य, तत् (तृ० त०)। विप्रलब्धु योग्य विप्रलभ्यम्। वि + प्र + उपसर्गपूर्वक "लभ" धातुसे "पोरदुपधात्" इस सूत्रसे यत् प्रत्यय। तत्फल-वाचि = तस्य फल (ष० त०), तस्य वाक् तस्याम् (ष० त०)। अशक्य-शङ्कव्यभिचारहेतु = न शक्या (नञ्०)। अशक्या शङ्का यस्य सः (बहु०)।

व्यभिचारस्य हेतु (ष० त०)। अशक्यशङ्को व्यभिचारहेतुर्यस्याः सा (बहु०), यह पद "वाणी" का विशेषण है ॥ ७८ ॥

अनैषधायैव जुहोति किं मां तातः कृशानौ न शरीरशेषाम् ।
ईष्टे तनूजन्मतनोस्तथाऽपि मत्प्राणनाथस्तु नलः स एव ॥ ७९ ॥

अन्वयः—तात माम् अनैषधाय एव जुहोति ? (तदा) शरीरशेषां (माम्) (तत्राऽपि) कृशानौ न जुहोति किं ? स तनूजन्मतनो ईष्टे, मत्प्राणनाथस्तु नल एव ॥ ७९ ॥

व्याख्या—अथ "पितुर्नियोगेने" ति हंसप्रतिपादितामाशङ्कां निरस्यति—अनैषधायैवेति । तात. = मम जनक॰, मा = पुत्रीम्, अनैषधाय एव = नलभिन्नाय एव, अनलाय संप्रदानभूताय एव, जुहोति = ददाति ? (काकु), (तदा) शरीरशेषा = देहमात्राऽवशिष्टां, मृतामित्यर्थं तादृशी मा, न जुहोति किम् ? = हवनं न करोति किं, तदङ्गीकार्यमेवेति भाव । (कुत) सः = जनक॰, तनूजन्मतनोः = आत्मजाशरीरस्य, ईष्टे = ईश. (स्वामी) भवतीति भाव. । पर, मत्प्राणनाथस्तु = मज्जीवनस्वामी तु, नल एव = नैषध एव, मत्प्राणानामजनकत्वात् न जनकः, मम शरीरमात्र पित्रधीन, जीवन तु नलाऽधीनमिति भाव । अतो मयि अविश्वास मा कार्षीरिति तात्पर्यम् ॥ ७९ ॥

अनुवाद.—पिताजी मुझे अनैषध = नलसे भिन्न व्यक्ति (अनल) को ही देते है ? तब तो देहमात्रसे अवशिष्ट मरी हुई मुझको अग्निमे हवन नही करते है क्या ? क्योकि वे (मेरे पिता) अपनी पुत्रीके शरीरके स्वामी है, परन्तु मेरे प्राणके स्वामी तो नल ही है ॥ ७९ ॥

टिप्पणी—तात = "तातस्तु जनकः पिता" इत्यमरः । अनैषधाय = न नैषधः, तस्मै, तदन्य अर्थमे नञ्समास । जुहोति = "हु दानादनयो." इस धातुसे लट् + तिप् । शरीरशेषा = शरीरम् एव शेषो यस्या. सा, ताम् (बहु०)। कृशानौ = "कृशानु पावकोऽनल" इत्यमर । तनूजन्मतनो = तन्वा जन्म यस्या. सा तनूजन्मा (बहु०), तस्याः तनु., तस्याः, (ष० त०) "अधीगर्थदयेशा कर्मणि" इस सूत्रसे 'ईश' धातुके योगमे षष्ठी । ईष्टे = "ईश ऐश्वर्ये" धातुसे लट् + त । मत्प्राणनाथ॰ = मम प्राणाः (ष० त०), तेषां नाथः (ष० त०)॥ ७९ ॥

तवैकदासीत्वपदादुदग्रे मदीप्सिते साधु विधित्सुता ते ।
अहेलिना किं नलिनी विधत्ते सुधाऽऽकरेणाऽपि सुधाकरेण ? ॥ ८० ॥

अन्वयः—(हे हंस !) तदेकदासीत्वपदात् उदग्रे मदीप्सिते तव विधित्सुता साधु । नलिनी सुधाऽऽकरेण अपि अहेलिना सुधाकरेण किं विधत्ते ? ॥ ८० ॥

व्याख्या—(हे हस ।) तदेकदासीत्वपदात् = नलैकसेविकात्वाऽधिकारात्, उदग्रे = उन्नते, अधिक इति भाव । मदीप्सिते = मदमीष्टे, नलपत्नीत्वरूप इति भाव. । तव = भवत , विधित्सुता = चिकीर्षुता, साधु = उचितम् । दृष्टान्ते स्वोक्तिं समर्थयते—अहेलिनेति । नलिनी = कमलिनी, सुधाऽऽकरेण अपि = अमृताधारेण अपि, अहेलिना = हेलीतरेण, सूर्यभिन्नेनेति भाव । सुधाकरेण = चन्द्रमसा, कि विधत्ते = किं करोति, यथा नलिन्याश्चन्द्रमसा तथैव ममाऽपि नलभिन्नेन यूना न प्रयोजनमिति भावः ॥ ८० ॥

अनुवादः—(हे हस !) नलके एकदासीत्वरूप अधिकारसे अधिक मेरे अभीष्ट (पत्नीत्वरूप) विषयमे तुम्हारी कार्यसपादकता उचित है। जैसे कि कमलिनी अमृतके आधार होनेपर भी सूर्यसे भिन्न चन्द्रसे क्या करती है ? ॥८०॥

टिप्पणी—तदेकदासीत्वपदात् = एका चाऽसौ दासी (क० धा०), तस्य एकदासी (ष० त०), तस्या भाव. तदेकदासीत्वम्, तदेकदासी + त्व । तदेव पद, तस्मात् (रूपक०) । मदीप्सिते = मम ईप्सित, तस्मिन् (ष० त०) । विधित्सुता = विधातुमिच्छु विधित्सु , वि + धा + सन् + उ । विधित्सोर्भावः, विधित्सु + तल् + टाप् । सुधाकरेण = सुधाया आकर , तेन (ष० त०) । अहेलिना=न हेलि: अहेलि, तेन (नञ् ० , यहाँपर तदन्यत्व रूप अर्थमे नञ् है । "भगस्त्वष्टाऽर्यमाहंसो हेलिस्तेजोनिधिर्हरि ।" इति भविष्यपुराणे । सूर्यनामानि यहाँपर पहला "सुधाकर" शब्द यौगिक और दूसरा अयौगिक है इसलिए पुनरुक्ति नही है । इस पद्यमे 'दृष्टान्त' अलङ्कार है ॥ ८० ॥

तदेकलुब्धे हृदि मेऽस्ति लब्धु चिन्ता न चिन्तामणिमप्यनर्घम् ।
चित्ते ममैकः स नलस्त्रिलोकीसारो निधिः पद्ममुखः स एव ॥ ८१ ॥

अन्वयः—तदेकलुब्धे मे हृदि अनर्घं चिन्तामणिम् अपि लब्धु चिन्ता न अस्ति । (तथा) चित्ते अपि मम स नलः त्रिलोकीसार. पद्ममुखः एक एव ॥ ८१ ॥

व्याख्या—तदेकलुब्धे = नलैकलोलुपे, मे = मम, हृदि = हृदये, अनर्घम् = अमूल्यं, चिन्तामणिम् अपि = चिन्तामणिनामकं रत्नम् अपि, लब्धु = प्राप्तुं, चिन्ता = विचार., न अस्ति = नो वर्तते । तथा चित्ते अपि = धने अपि, मम = दमयन्त्याः, सः = पूर्वोक्तः, प्रसिद्धो वा । नलः=नैषधः, त्रिलोकीसारः=त्रैलोक्य-

श्रेष्ठ , पद्ममुख. = पद्मानन , पद्मनिधिश्च, एक· = प्रमुख , एव, नलादन्यत्र कुत्रापि ममाऽभिलाषो नाऽस्ति, किमुत युवान्तर इति भाव. ॥ ८१ ॥

अनुवादः—नलमे एकमात्र लुब्ध मेरे हृदयमे अमूल्य चिन्तामणि रत्नको भी पानेकी चिन्ता नही है । उसी तरह धनके विषयमे भी मेरे वे नल, त्रैलोक्यमे श्रेष्ठ कमलतुल्य मुखवाले पद्मनिधिके समान एकमात्र है ॥ ८१ ॥

टिप्पणी—तदेकलुब्धे = एकं च तत् लुब्धम् (क० धा०) । तस्मिन् एक-लुब्ध, तस्मिन् (स० त०) । अनर्घम् = अविद्यमान अर्घं· यस्य तम् (नञ् बहु०) "मूल्ये पूजाविधावर्घ" इत्यमर । लब्धु = लभ्+तुमुन् । त्रिलोकीसार. = त्रयाणा लोकाना समाहार· त्रिलोकी (द्विगु०) । त्रिलोक्या: सार: (ष० त०) । पद्ममुख. = पद्मम् इव मुख यस्य स: (बहु०) । अथवा पद्म: (निधि:), मुखम् (आदि:) यस्य स: (बहु०) । इस पद्यमे श्लेष अलङ्कार है ॥ ८१ ॥

श्रुतश्च दृष्टश्च हरित्सु मोहाद् ध्यातश्च नीरन्ध्रितबुद्धिधारम् ।
ममाऽद्य तत्प्राप्तिरसुव्ययो वा हस्ते तवाऽऽस्ते द्वयमेव शेषः ॥ ८२ ॥

अन्वय.—(स.) श्रुत: मोहात् हरित्सु दृष्ट: नीरन्ध्रितबुद्धिधार ध्यातश्च । अद्य मम तत्प्राप्ति. असुव्ययो वा द्वयम् एव शेष: तव हस्ते आस्ते ॥ ८२ ॥

व्याख्या—(स = नल:) श्रुत: = आकर्णित , दूतद्विजादिमुखादिति शेष:, मोहात् = भ्रान्ते:, हरित्सु = प्राच्यादिदिक्षु, दृष्ट = अवलोकित , नीरन्ध्रित-बुद्धिधार = निरन्तरीकृतनलविषयकबुद्धिप्रवाह यथा तथा, ध्यातश्च = ध्यान-गोचरीकृत , चिन्तित इति भाव: । अथ अद्य = अस्मिन्, दिने, मम = भैम्या: तत्प्राप्ति. = नलासादनम्, असुव्ययो वा = प्राणत्यागो वा, द्वयम् एव = द्वितयम् एव, द्वयोरन्यतर एवेतिभाव । शेष. = कार्यशेष:, तव = भवत·, हस्ते = करे, आस्ते = तिष्ठति, त्वदधीन इति भाव ॥ ८२ ॥

अनुवादः—महाराज नलको मैने दूत, ब्राह्मण आदिके मुखसे सुन लिया है और भ्रान्तिसे दशो दिशाओमे देख भी लिया है तथा नलके विषयमे बुद्धिके प्रवाहको निरन्तर लगाकर ध्यान भी किया है । आज उनकी प्राप्ति वा प्राणत्याग दोनोमेसे एक कार्य तुम्हारे हाथमे है ॥ ८२ ॥

टिप्पणी—मोहात् = हेतुमे पञ्चमी । नीरन्ध्रितबुद्धिधार = बुद्धेर्धारा (ष० त०) । नीरन्ध्रिता बुद्धिधारा यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा (बहु०), क्रि० वि० । ध्यात: = ध्यै+क्त· । तत्प्राप्ति: = तस्य प्राप्ति (ष० त०) । असुव्यय: = असुना व्यय: (ष० त०) । द्वयम् = द्वि+तयप् (अयच्) । इस पद्यमे

अभिधाके प्रस्तुत अर्थके नियन्त्रणसे तत्पदार्थ (ब्रह्म) के श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे सम्पन्न पुरुषका ब्रह्मप्राप्ति और दुःखनिवृत्तिरूप लक्षणवाला मोक्ष गुरुके अधीन ही है ऐसे अर्थान्तरकी प्रतीतिरूप ध्वनि ही है ॥ ८२ ॥

सञ्चीयतामाश्रुतपालनोत्थं मत्प्राणविश्राणनजं च पुण्यम् ।
निवार्यतामार्य ! वृथा विशङ्का, भद्रेऽपि मुद्रेयमये ! भृशं का ॥ ८३ ॥

अन्वयः—(हे हंस !) आश्रुतपालनोत्थं मत्प्राणविश्राणनजं च पुण्यं सञ्चीयताम् । हे आर्य ! वृथा विशङ्का निवार्यताम् । अये ! भद्रे अपि भृशं का इयं मुद्रा ? ॥ ८३ ॥

व्याख्या—(हे हंस !) आश्रुतपालनोत्थम् = अङ्गीकृतार्थाऽनुष्ठानजनितं, मत्प्राणविश्राणनजं च = मदसुदानजनितं च, नलेन सह मत्सङ्घटनादिति शेषः । पुण्यं = सुकृतं, सञ्चीयतां = सगृह्यताम् । हे आर्य = हे श्रेष्ठ, वृथा = व्यर्थप्राया, विशङ्का = सन्देहः, "पितुर्नियोगेन" तिपद्यप्रतिपादितेति शेषः । निवार्यतां = दूरतस्त्यज्यताम् । अये = अङ्ग, भद्रे अपि = कल्याणरूपे विषये अपि, भृशम् = अत्यर्थं, का = कीदृशी, इयम् = एषा, मुद्रा = औदासीन्यम् । श्रेयसि विषये नोदासितव्यमिति भावः ॥ ८३ ॥

अनुवादः—(हे हंस !) अङ्गीकृत विषयके सपादनसे और मुझे प्राणदान कर उत्पन्न पुण्यका सचय करो । हे आर्य ! व्यर्थ सन्देहको छोड दो । कल्याणविषयमे भी यह कैसी उदासीन मुद्रा है ? ॥ ८३ ॥

टिप्पणी—आश्रुतपालनोत्थम् = आश्रुतस्य पालनम् (ष० त०), "अङ्गीकृतमाश्रुतं प्रतिज्ञातम्" इत्यमरः । आश्रुतपालनाद् उत्तिष्ठतीति, आश्रुतपालन + उद् + स्था + क (उपपद०) । सञ्चीयतां = सं + चि + लोट् + यक् + त, (कर्ममे) । विशङ्का = विरुद्धा शङ्का (गति०) । निवार्यतां = नि + वृ + णिच् + लोट + यक् + त (कर्ममे) ॥ ८३ ॥

अलं विलङ्घ्य प्रिय ! विज्ञ ! याच्ञां कृत्वाऽपि वाम्यं विविधं विधेये ।
यशःपथादाश्रवतापदोत्थात् खलु स्खलित्वाऽस्तखलोक्तिखेलात् ॥ ८४ ॥

अन्वयः—हे प्रिय ! हे विज्ञ ! याच्ञां विलङ्घ्य अलम् । विधेये विविधं वाम्यं कृत्वा अपि अलम् । आश्रवतापदोत्थात् अस्तखलोक्तिखेलात् यशःपथात् स्खलित्वा खलु ॥ ८४ ॥

व्याख्या—हे प्रिय = हे प्रियङ्कर !, हे विज्ञ = हे विशेषज्ञ, याच्ञां = प्रार्थनां, विलङ्घ्य = अतिक्रम्य, अलं = पर्याप्तं, प्रार्थना-भङ्गो न कार्यं इति

भाव । विधेये=विनीतजने, विविधम्=अनेकप्रकार, वाम्य = वक्रता, कृत्वा अपि= विधाय अपि, अल = पर्याप्त, वाम्य न कार्यमिति भाव । आश्रवतापदोत्थात् = वचनस्थितत्वस्थानोत्पन्नात्, अस्तखलोक्तिखेलात् = निरस्तदुर्जनवादविनोदात्, यश पथात् = कीर्तिमार्गात, स्खलित्वा खलु = न स्खलितव्यमिति भावः, नो चेद्धानि स्यादिति भाव ॥ ८४ ॥

अनुवादः—हे प्रिय ! हे विशेषज्ञ ! मेरी प्रार्थनाका लङ्घन मत करो। विनीतजनमे अनेक प्रकारकी कुटिलता भी मत करो। आज्ञाकारित्वपदसे उत्पन्न, दुर्जनका उक्तिरूप विनोदसे रहित कीर्तिमार्गसे तुम्हे स्खलित नही होना चाहिए ॥ ८४ ॥

टिप्पणी—प्रिय = प्रीणातीति प्रिय, तत्सम्बुद्धौ, प्री + क । विज्ञ = विशेषेण जानातीति विज्ञस्तत्सम्बुद्धो वि + ज्ञा + क । याच्ञा = याच् + नङ् + टाप् । विधेये = "विधेयो विनयग्राही वचनेस्थित आश्रव. । ' इत्यमर. । वाम्य= वामस्य भावो वाम्य, तत्, वाम + ष्यञ् । आश्रवतापदोत्थात् = आश्रवस्य भाव आश्रवता, आश्रव + तल् + टाप् । आश्रवता एव पदम् (रूपक०) । आश्रवतापदात् उत्तिष्ठतीति आश्रवतापदोत्थ आश्रवतापद + उद् + स्था + क, तस्मात् । अस्तखलोक्तिखेलात् = खलस्य उक्ति (ष० त०) । खलोक्ते खेला (ष० त०), "क्रीडा खेला च कूर्दनम्" इत्यमर । अस्ता खलोक्तिखेला येन स, तस्मात् (बहु०) । यश पथात् = यशस. पन्था यश पथ, तस्मात् (ष० त०), "ऋक्पूरब्धू पथामानक्षे" इस सूत्रसे समासान्त अप्रत्यय । स्खलित्वा = प्रतिषेधार्थक "खलु" पदके योगमे स्खल धातुसे "अलखल्वो प्रतिषेधयो प्राचां क्त्वा" इससे क्त्वा प्रत्यय, इसी तरह "कृत्वा" इस पदमे भी "अलम्" पदके योगमे क्त्वा प्रत्यय हुआ है ॥ ८४ ॥

स्वजीवमप्यार्तमुदे ददद्भ्यस्तव त्रपा नेदृशबद्धमुष्टे ? ।
मह्यं मदीयान् यदसूनदित्सोर्धर्मं कराद् भ्रश्यति कीर्तिधौत ॥ ८५ ॥

अन्वयः—ईदृशबद्धमुष्टे. तव आर्तमुदे स्वजीवम् अपि ददद्भ्य. त्रपा न ? यत् मदीयान् एव असून् मह्यम् अदित्सो तव कीर्तिधौतो धर्मं करात् भ्रश्यति ॥८५॥

व्याख्या—(हे हस ।) ईदृशबद्धमुष्टे. = ईदृङ्नद्धमुष्टिकस्य, कृपणस्येति भाव. । तव = भवत, आर्तमुदे = दीनहर्षाय, याचकाऽभिलाषपूर्त्यै इति भाव. । स्वजीवम् = आत्मजीवनम् अपि, ददद्भ्यः = वितरद्भ्य, स्वप्राणव्ययेन परं रक्षद्भ्य इति भावः, जीमूतवाहनादिभ्य इति शेष. । त्रपा न = लज्जा न ?

इति काकुः । यत् = यस्मात् कारणात्, मदीयान् एव = मामकान् एव, असून् = प्राणान्, मह्यं = सम्प्रदानभूतायै भैम्यै, आदित्सो: = दातुम् अनिच्छो., तव = भवत., कीर्तिधौत. = यशोधवल , धर्मं = पुण्य करात् = हस्तात्, भ्रश्यति = नश्यति, तव धर्मो यशश्च नश्यति, एतन्न तवाऽर्हमिति भाव: ॥ ८५ ॥

अनुवाद——ऐसे बद्धमुष्टि (कृपण) तुम्हे दीन पुरुषकी प्रीतिके लिए अपना जीवन भी देनेवाले शिवि आदियोसे लज्जा नही होती है ? क्योकि मेरे ही प्राणोको मुझे देनेकी इच्छा नही करनेवाले तुम्हारा यशसे उज्ज्वल धर्म हाथसे भ्रष्ट होता है ॥ ८५ ॥

टिप्पणी——ईदृशबद्धमुष्टे = बद्धा मुष्टिर्येन स (बहु०)। ईदृशश्चाऽसौ बद्धमुष्टि: तस्य (क० धा०) । आर्तमुदे = आर्ताना मुत्, तस्यै (ष० त०) । स्वजीव = स्वस्य जीव , तम् (ष० त०)। ददद्भ्यः = दा + लट् + (शतृ) + भ्यस् । दीनोकी रक्षाके लिए अपना जीवन देनेवाले जैसे—

"कर्णस्त्वच, शिविर्मास, जीव जीमूतवाहन. ।

ददौ दधीचिरस्थीनि, किमदेय महात्मनाम् ॥ (बृहच्छार्ङ्गधर०)

अर्थात् कर्णने सूर्यको अपना चर्म (चमडा), शिविने कबूतरको बचानेके लिए अपना मास, जीमूतवाहनने शङ्खचूड नामक नागको बचानेके लिए अपना जीवन और दधीचिने वज्रके लिए देवताओको अपना अस्थिसमूह दे दिया महात्माओको क्या अदेय है ? मदीयान् = अस्मद् + छ (ईय) + शस् । अदित्सो.= दातुमिच्छु. दित्सु , दा + सन् + उ । न दित्सु , तस्य, (नञ्०) । कीर्तिधौत = कीर्त्या धौत (तृ० त०) । भ्रश्यति = "भ्रंशु अध पतने" इस धातुसे लट् + तिप् ॥ ८५ ॥

दत्त्वात्मजीवं त्वयि जीवदेऽपि शुध्यामि, जीवाऽधिकदे तु केन ? ।
विधेहि तन्मां त्वदृणेष्वशोद्धुमसुद्रदारिद्र्यसमुद्रमग्नाम् ॥ ८६ ॥

अन्वय—(हे हस !) जीवदे त्वयि आत्मजीव दत्त्वा अपि शुध्यामि, जीवाऽधिकदे तु (त्वयि) केन शुध्यामि ? तत् मा त्वदृणेषु अशोद्धुम् अमुद्र-दारिद्र्यसमुद्रमग्ना विधेहि ॥ ८६ ॥

व्याख्या—(हे हस !) जीवदे = प्राणदे, त्वयि = भवति, आत्मजीव = स्वप्राणान्, दत्वा अपि = वितीर्य अपि, शुध्यामि = शुद्धा भवामि, अनृणा भवामीति भाव: । परं जीवाऽधिकदे तु = प्राणाऽधिक (नल) दातरि तु, त्वयि = भवति विषये, केन = पदार्थेन, शुध्यामि = शुद्धा भवामि, अनृणा भवामि ।

तत् = तस्मात्कारणात्, आनृण्यार्थं देयपदार्थाऽभावादिति भावः। मा = भैमीं, त्वदृणेषु = भवत्पर्युदश्वनेषु, विषये। अशोद्धुं = न अपाकर्तुम्, अमुद्रदारिद्र्यसमुद्र-मग्नाम् = अपरिमितदैन्यसागरब्रुडिता, विधेहि = कुरु, नलसघट्टनेन मामृणग्रस्तां कुर्वितिभाव ॥ ८६ ॥

अनुवाद.—(हे हंस !) प्राण देनेवाले तुम्हारे विषयमे अपने प्राणोको देकर शुद्ध (अनृण) हूँगी, परन्तु प्राणोसे अधिक (नल) को देनेवाले तुम्हारे विषयमे मै किस पदार्थसे शुद्ध (अनृण) हूँगी। इस कारणसे मुझे तुम्हारे ऋणोमे शुद्ध (अनृण) न करनेके लिए अपरिमित दारिद्र्यरूप समुद्रमे मग्न कर दो ॥ ८६ ॥

टिप्पणी—जीवदे=जीव+दा+क (उपपद०)+ङि। आत्मजीवम्= आत्मनो जीव, तम् (ष० त०)। दत्त्वा=दा+क्त्वा। शुद्ध्यामि=शुध +लट्+मिप्। त्वदृणेषु = तव ऋणानि, तेषु (ष० त०)। अशोद्धु=न शोद्धुम् (नञ०)। अमुद्रदारिद्र्यसमुद्रमग्नाम्=अविद्यमाना मुद्रा (मर्यादा) यस्य स. (नञबहु०)। दारिद्र्यम् एव समुद्र (रूपक०)। अमुद्रश्चाऽसौ दारिद्र्य-समुद्र (क० धा०), तस्मिन् मग्ना, ताम् (स० त०)। विधेहि=वि+धा+लोट्+सिप्। इस पद्यमे रूपक अलङ्कार है ॥

क्रीणीष्व मज्जीवितमेव पण्यमन्यन्न चेद्वस्तु तदस्तु पुण्यम्।
जीवेशदातर्यदि ते न दातु यशोऽपि तावत्प्रभवामि गातुम् ॥ ८७ ॥

अन्वयः—हे जीवेशदात ! मज्जीवितम् एव पण्य क्रीणीष्व, अन्यत् वस्तु न चेत् (तर्हि) पुण्यम् अस्तु, ते दातु न प्रभवामि (चेत्) तावत् यश अपि गातुं प्रभवामि ॥ ८७ ॥

व्याख्या—हे जीवेशदातः ! = हे प्राणेश्वरद !, मज्जीवितम् एव = मज्जीव-नम् एव, पण्य=क्रेयं वस्तु, क्रीणीष्व = जीवेशमूल्यरूपेण विनिमयं कुरु। अन्यत् = अपरम्, एतन्मूल्याऽनुरूप, वस्तु=पदार्थ, न चेत् = न भवेद्यदि, तर्हि, पुण्यं = धर्म, अस्तु = भवतु, ते = तुभ्य, दातु = वितरीतु, न प्रभवामि = न शक्नोमि यदि, तावत्=तर्हि, यश अपि = कीर्तिम् अपि, गातु = गान कर्तुं, प्रभवामि = शक्नोमि, प्रसिद्धिपुण्यार्थमेवोपकुरुष्वेत्यर्थ. ॥ ८७ ॥

अनुवादः—हे प्राणेश्वर (नल) को देनेवाले ! मेरे जीवनरूप क्रेय वस्तुको खरीद लो और वस्तु न होगा तो पुण्य ही हो। तुम्हे देनेके लिए समर्थ नही हूँ तो तुम्हारे यशको तो गानेके लिए समर्थ हूँगी ॥ ८७ ॥

स भूभृदष्टावपि लोकपालास्तैर्मे यदेकाऽग्रधियः प्रसेदे।
न हीतरस्माद् घटते यदेत्य स्वयं तदाप्तिप्रतिभूर्ममाऽभूः ॥ ८९ ॥

अन्वयः—स भूभृत् अष्टौ अपि लोकपालाः। तदेकाऽग्रधियो मे तैः प्रसेदे। इतरस्मात् स्वयम् एत्य मम तदाप्तिप्रतिभूः अभूः यत्, तत् न घटते हि ॥ ८९ ॥

व्याख्या—(हे हंस !) सः = पूर्वोक्तः, भूभृत् = राजा, नल इत्यर्थः, अष्टौ अपि = अष्टसंख्यका अपि, लोकपालाः = इन्द्रादयः इत्यर्थः, नलः इन्द्राद्यष्टलोकपालात्मक इति भावः। अतएव तदेकाऽग्रधियः = नलैकतानबुद्धेः, मे = मम, तैः = अष्टाभिर्लोकपालैः। प्रसेदे = प्रसन्नम्। देवता ध्यायतो जनस्य प्रसीदन्तीति भावः। कुतः इतरस्मात = इतरथा, लोकपालप्रसादं विना, स्वयम् = आत्मना, एत्य = आगत्य, मम = भैम्याः, तदाप्तिप्रतिभूः = नलप्राप्तिलग्नकः, अभूः = भूतवान् असि, यत्, तत, न घटते = न प्रवर्तते, हि = निश्चयेन। लोकपालाऽनुग्रहाऽभावे कुतो ममेदं श्रेय इति भावः॥ ८९ ॥

अनुवादः—(हे हंस !) वे राजा (नल) आठ लोकपालस्वरूप हैं। नलमें मेरी एकाग्रबुद्धि रहनेसे लोकपाल प्रसन्न हुए हैं। नहीं तो स्वयम् आकर मेरे नलकी प्राप्ति के लिए जो तुम जामिन हो गये हो वह नहीं होता था॥ ८९ ॥

टिप्पणी—भूभृत् = भुवं बिभर्तीति, भू + भृ + क्विप् (उप०)। लोकपालाः = लोकं पालयन्तीति लोक + पाल + अच् (उपपद०)। "अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृपः।" (मनु० ७–५) इस उक्तिके अनुसार इन्द्र आदि लोकपालोंके आठ अंशोंसे राजा होते हैं इस कारण नल आठ लोकपालस्वरूप हैं, यह अभिप्राय है। तदेकाऽग्रधियः = एकाऽग्रा धीर्यस्याः सा (बहु०), 'तस्मिन् एकाऽग्रधी, तस्याः (स० त०)। प्रसेदे = प्र + सद् + लिट् + त (भाववाच्य प्रयोग)। तदाप्तिप्रतिभूः = प्रतिभवतीति प्रतिभूः प्रति–उपसर्गपूर्वक भू धातुसे "भुवः संज्ञाऽन्तरयोः" इस सूत्रसे क्विप् प्रत्यय। "स्युर्लग्नकाः प्रतिभुवः" इत्यमरः। तस्य आप्तिः (ष० त०)। तदाप्तौ प्रतिभूः (स० त०)। अभूः = भू + लुङ् + सिप्। घटते = "घट चेष्टायाम्' इस धातुसे लट् + त। इस पद्यमें रूपक अलङ्कार है॥ ८९ ॥

अकाण्डमेवात्मभुवाऽर्जितस्य भूत्वाऽपि मूलं मयि वीरणस्य।
भवान्न मे किं नलदत्वमेत्य कर्ता हृदश्चन्दनलेपकृत्यम्?॥ ९० ॥

अन्वयः—(हे हंस !) किं भवान् अकाण्डम् एव आत्मभुवा मयि अर्जि-

तस्य रणस्य मूलं भूत्वा अपि अकाण्डम् आत्मभुवा अर्जितस्य वीरणस्य मूल भूत्वा नलदत्वम् एत्य हृद: चन्दनलेपकृत्य न कर्ता ? ।। ९० ।।

व्याख्या—(हे हंस !) वि· = पक्षी, भवान् = त्वम्, अकाण्डम् एव = अनवसर एव, आत्मभुवा = कामेन, मयि = मद्विषये, अर्जितस्य = कृतस्य, रणस्य = गाढप्रहारलक्षणस्य युद्धस्य, अथवा रणस्य = शब्दस्य, रहस्यकथनरूपस्येति भाव: । मूल = कारण, हसस्योद्दीपनत्वेनेति शेष: । भूत्वा अपि, अकाण्ड = दण्डरहित यथा तथा, आत्मभुवा = ब्रह्मणा, अर्जितस्य = सृष्टस्य, वीरणस्य = वीरतृणस्य, मूल = मूलाऽवयव· भूत्वा, अतएव नलदत्व = नैषधदातृत्व, पक्षान्तरे—उशीरत्वम्, एत्य = प्राप्य, हृद = हृदयस्य, सन्तप्तस्येति शेष· । चन्दनलेपकृत्यं = श्रीखण्डलेपनकार्यं, शैत्योत्पादनमिति भाव: । न कर्ता = न करिष्यति ?, कर्ता एवेति भाव: ।। ९० ।।

अनुवाद:—(हे हंस !) जैसे ब्रह्माजीसे दण्डके विना निर्मित वीरतृणका मूल उशीर होकर हृदयको चन्दनके सदृश होकर ठण्डा करता है वैसे ही पक्षी तुम (हस) अनवसरमे ही कामदेवसे मुझमे किये गये गाढ प्रहाररूप युद्धके कारण होकर भी नलको देनेके भावको प्राप्त कर कामसन्तप्त हृदयको चन्दनके लेपके समान होकर ठण्डा नहीं करोगे ? ।। ९० ।।

टिप्पणी—वि = "नगौकोवाजिविकिरविविष्करपतत्त्रय ।" इत्यमर । अकाण्ड = काण्डस्य अभाव (अव्ययी०) तद् यथा तथा । "कालाऽऽध्वनोरत्यन्तसयोगे" इससे द्वितीया । दूसरे पक्षमे अविद्यमान· काण्डो यस्य तत् (नञ-बहु०) "मूलम्" इसका विशेषण । "काण्डोऽस्त्री दण्डबाणाऽर्ववर्गाऽवसरवारिषु" इत्यमर । आत्मभुवा = आत्मना भवतीति आत्मभू , तेन आत्मन्–उपपदपूर्वक भू धातुसे "भुव· संज्ञाऽन्तरयो." इस सूत्रसे क्विप् प्रत्यय (उपपद०) "आत्मभूर्ना विधौ कामे" इति मेदिनी । वीरणस्य = "स्याद्वीरण वीरतृण मूलेऽस्योशीरमस्त्रियाम् । अभय नलद सेव्यम्" इत्यमर. । विर् + रणस्य = "रो रि" इससे रेफका लोप और "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽण." इससे दीर्घ होकर वीरणस्य । नलदत्व = नलं ददातीति नलद , नल + उपपदपूर्वक 'दा' धातुसे "आतोऽनुपसर्गे क " इससे क प्रत्यय (उपपद०) । नलस्य भावो नलदत्वं, तत्, नलद + त्व । एत्य = आङ् + इण् + क्त्वा (ल्यप्) । चन्दनलेपकृत्य=चन्दनस्य लेप: (ष० त०), तस्य कृत्यम् (ष० त०) । कर्ता = कृ + लुट् + तिप् । इस पद्यमे "वीरणस्य" यहाँपर शब्दश्लेष है अन्यत्र अर्थश्लेष । "नलदत्वम् एत्य"

यहाँपर प्रकृत और अप्रकृतके अभेदाऽध्यवसायसे हसमे आरोप्यमाण उशीरका प्रकृतिके साथ तादात्म्यसे चन्दनकृत्यस्वरूप प्रकृत कार्यमे उपयोग होनेसे परिणाम अलङ्कार है। इस प्रकार सङ्कर अलङ्कार है ॥ ९० ॥

अल विलम्ब्य, त्वरितुं हि वेला, कार्ये किल स्थैर्यसहे विचारः।
गुरूपदेशं प्रतिभेव तीक्ष्णा प्रतीक्षते जातु न कालमर्तिः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—(हे हस !) विलम्ब्य अल, हि त्वरितु वेला। स्थैर्यसहे कार्ये विचार· किल। हि तीक्ष्णा प्रतिभा गुरूपदेशम् इव अर्ति जातु काल न प्रतीक्षते ॥ ९१ ॥

व्याख्या—(हे हस !) विलम्ब्य = विलम्ब कृत्वा, अलं = पर्याप्त, न विलम्ब कर्तव्य इति भाव. । हि=यस्मात्कारणात्, त्वरितु = त्वरा कर्तुं, वेला-काल, अय त्वराया काल इति भाव । स्थैर्यसहे = विलम्बसहे, कार्ये = कर्मणि, विचार = विमर्श, किल = निश्चयेन । अर्थान्तरन्यासेनोक्तमर्थं द्रढयति—गुरूपदेशमिति । हि=यस्मात्कारणात्, तीक्ष्णा = तीव्रा, शीघ्रग्राहिणीति भाव । प्रतिभा = प्रज्ञा, गुरूपदेशम् इव = आचार्योपदेशम् इव, अर्ति = पीडा, जातु = कदाऽपि, काल = समय, न प्रतीक्षते = न प्रतीक्षा करोति, पीडा काल-क्षेप न सहत इति भाव ॥ ९१ ॥

अनुवाद.—(हे हस !) विलम्ब नही करना चाहिए, शीघ्रता करनेका समय ह। विलम्ब सहनेवाले कर्ममे विचार किया जाता है, क्योकि तीक्ष्ण बुद्धि जैसे गुरुके उपदेशकी प्रतीक्षा नही करती है वैसे ही पीडा कालकी प्रतीक्षा नही करती है ॥ ९१ ॥

टिप्पणी—विलम्ब्य = वि+लवि+क्त्वा (ल्यप्), यहाँपर "अलम्" इस पदके योगमे "अलंखल्वो प्रतिषेधयो प्राचा क्त्वा" इस सूत्रसे क्त्वा प्रत्यय होकर ल्यप् आदेश हुआ है। त्वरितु =त्वरा+तुमुन्, यहाँपर "वेला" पदके योगमे "कालसमयवेलासु तुमुन्" इस सूत्रसे तुमुन् प्रत्यय हुआ है। स्थैर्यसहे= स्थैर्यं सहत इति स्थैर्यसह, तस्मिन् स्थैर्य+सह+अच् (उपपद०)। गुरूपदेशं = गुरोरुपदेशः, तम् (ष० त०)। अर्ति = "अर्ति पीडाधनुष्कोट्यो" इत्यमर। प्रतीक्षते = प्रति+ईक्ष+लट्+तिप्। इस पद्यमे उपमा और अर्थान्तरन्यासकी ससृष्टि है ॥ ९१ ॥

अभ्यर्थनीय· स गतेन राजा त्वया न शुद्धान्तगतो मदर्थम्।
प्रियाऽऽस्यदाक्षिण्यबलात्कृतो हि तदोवयेदन्यवधूनिषेध· ॥ ९२ ॥

अन्वय.—(हे हंस !) गतेन त्वया स राजा शुद्धान्तगतः (सन्) मदर्थं न अभ्यर्थनीय । हि तदा प्रियाऽऽस्यदाक्षिण्यबलात्कृत अन्यवधूनिषेध· उदयेत् ॥ ९२ ॥

व्याख्या—अथाऽनन्तरकृत्य सविशेषमुपदिशति श्लोकपञ्चकेन—अभ्यर्थनीय इति । (हे हस !) गतेन = यातेन, इति शेष । त्वया = भवता, स = पूर्वोक्त, राजा = नृप, नल इत्यर्थ । शुद्धान्तगत = अन्त पुरस्थित सन्, मदर्थं = मत्प्रयोजन, न अभ्यर्थनीय = न प्रार्थनीय । हि = यस्मात्कारणात् । तदा = तस्मिन् समये, राज्ञोऽन्त पुरस्थिताविति भाव । प्रियाऽऽस्यदाक्षिण्य-बलात्कृतः = वल्लभामुखच्छन्दाऽनुवर्तिताप्रसभीकृत , अन्यवधूनिषेध = अपर-रमणीप्रतिषेध , उदयेत् = उत्पद्येत ॥ ९२ ॥

अनुवाद – (हे हम !) यहाँसे गये हुए तुम्हे अन्त पुर (रनिवास) मे रहे हुए राजा (नल) से मेरे लिए प्रार्थना नही करनी चाहिए, क्योकि उस समय प्यारी स्त्रियोके सामने उनके मनके अनुसार चलनेके विचारसे जबर्दस्तीसे किया गया दूसरी स्त्रीका निषेध उत्पन्न होगा ॥ ९२ ॥

टिप्पणी—शुद्धान्तगत = शुद्धाऽन्त गत (द्वि० त०), "शुद्धान्तश्चावरोधश्च" इत्यमर । मदर्थं = मह्यम् इदम् (यथा तथा) (च० त०) । अभ्यर्थनीय = अभि+अर्थ+णिच्+अनायर् । प्रियाऽऽस्यदाक्षिण्यबलात्कृत = प्रियाणाम् आस्यानि (ष० त०) । तेषा दाक्षिण्य (ष० त०), तेन बलात्कृतः (तृ० त०) । अन्यवधूनिषेध. = अन्या चाऽसौ वधू. (क० धा०) । तस्या निषेध (ष० त०) । उदयेत् = उद्+इ+विधिलिङ्+ति ॥ ९२ ॥

शुद्धान्तसभोगनितान्ततृप्ते न नैषधे कार्यमिद निगाद्यम् ।
अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा ॥ ९३ ॥

अन्वयः—(हे हंस !) शुद्धान्तसभोगनितान्ततृप्ते नैषधे इद कार्यं न निगाद्यम् । अपा तृप्ताय स्वादु सुगन्धि· तुषारा वारिधारा न स्वदते हि ॥ ९३ ॥

व्याख्या—(हे हस !) शुद्धान्तसभोगनितान्ततृप्ते = अन्त पुरस्त्रीरमणाऽतिशयसन्तुष्टे, नैषधे = नले, इदम् = एतत्, कार्यं = कर्म, मत्प्रार्थनारूपमिति शेष. । न निगाद्य = नो वक्तव्यम् । तथाहि, अपा तृप्ताय = जलेन सन्तुष्टाय जनाय, स्वादुः = मधुरा, सुगन्धि. = शोभनगन्धा, कर्पूरादिनेति शेषः । तुषारा = शीतला, वारिधारा=जलधारा, न स्वदते हि=नो रोचते हि ॥ ९३ ॥

अनुवादः—(हे हंस !) अन्तःपुरकी स्त्रीके समागमसे अतिशय तृप्त नलको

यह कार्य (मेरे विषयमे प्रार्थनारूप) तुम्हे नही कहना चाहिए । क्योकि जलसे तृप्त पुरुषको मधुर, खुशबूदार तथा ठण्डी जलधारा भी पसन्द नही होती है ।

टिप्पणी—शुद्धान्तसभोगनितान्ततृप्ते = शुद्धान्तस्य सभोग (ष० त०), यहाँ शुद्धान्तपदका शुद्धान्तकी स्त्रीमे लक्षणा करनी चाहिए । नितान्त यथा तथा तृप्त (सुप्सुपा०) । शुद्धान्तसभोगेन नितान्ततृप्त , तस्मिन् (तृ० त०) । निगाद्यम् = निगदितुं योग्यम्, नि + गद + ण्यत् । अपा "पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणे" इस सूत्रमे सुहितार्थक (तृप्त्यर्थक) शब्दसे षष्ठीसमासका निषेधरूप ज्ञापकसे षष्ठी हुई है। तृप्ताय 'स्वद' धातु रुच्यर्थक होनेसे "रुच्यर्थाना प्रीयमाण" इस सूत्रसे सम्प्रदान सज्ञा होनेसे चतुर्थी । सुगन्धि: = शोभनो गन्धो यस्या सा (बहु०) यहाँपर एकान्त नियमका कविने निरादर कर 'गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्य' इस सूत्रसे समासान्त इ प्रत्यय किया है । स्वदते = स्वद + लट् + त । इस पद्यमे दृष्टान्त अलङ्कार है ॥ ९३ ॥

विज्ञापनीया न गिरो मदर्था. क्रुधा कदुष्णे हृदि नैषधस्य ।
पित्तेन दूने रसने सिताऽपि तिक्तायते हसकुलाऽवतंस ! ॥ ९४ ॥

अन्वयः—हे हंसकुलाऽवतस ! नैषधस्य हृदि क्रुधा कदुष्णे (सति) मदर्था गिरो न विज्ञापनीया । पित्तेन दूने रसने सिता अपि तिक्तायते ॥ ९४ ॥

व्याख्या—हे हसकुलाऽवतस = हे मरालवशभूषण !, नैषधस्य = नलस्य, हृदि = हृदये, क्रुधा = कोपेन, कदुष्णे = ईषत्तप्ते सति, मदर्था = मत्प्रयोजना , गिर = वाच , न विज्ञापनीया. = नो वेदनीया । तथाहि पित्तेन = मायुना, पित्तदोषेणेत्यर्थं । रसने = रसनेन्द्रिये, दूने = उपतप्ते, दूषिते सतीति भाव । सिता अपि = शर्करा अपि, तिक्तायते = तिक्ता भवति ॥ ९४ ॥

अनुवाद.—हे हसवंशके भूषणस्वरूप ! नलका हृदय क्रोधसे कुछ तप्त होनेपर मेरे लिए प्रार्थना-वचनका निवेदन मत करो, क्योकि पित्तके दोषसे रसना इन्द्रियके दूषित होनेपर चीनी भी कड़ुवी हो जाती है ॥ ९४ ॥

टिप्पणी—हसकुलाऽवतस = हसाना कुल (ष० त०), तस्य अवतस , तत्सम्बुद्धौ (ष० त०) । कदुष्णे = ईषत् उष्ण, तस्मिन्, (गति०), "कव चोष्णे" इस सूत्रमें चकारके पाठसे 'कु' के स्थानमे "कत्" आदेश हुआ है। मदर्थाः = मह्यम् इमा. (च० त०) । विज्ञापनीया वि + ज्ञा + णिच् + अनीयर + टाप् + जस् । दूने = दु + क्त + ङि । तिक्तायते = तिक्ता भवति, तिक्ता शब्दसे "लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्" इससे क्यष् प्रत्यय और "वा

क्यष" इस सूत्रसे क्यषन्तसे आत्मनेपद, लट्+त। इस पद्यमे भी दृष्टान्त अलङ्कार है ॥ ९४ ॥

धरातुरासाहि मदर्थयाच्ञा कार्या न कार्याऽन्तरचुम्बिचित्ते ।
तदाऽर्थितस्याऽनवबोधनिद्रा बिभर्त्यवज्ञाऽऽचरणस्य मुद्राम् ॥ ९५ ॥

अन्वयः—(हे हंस !) धरातुरासाहि कार्याऽन्तरचुम्बिचित्ते सति मदर्थयाच्ञा न कार्या। (तथाहि) तदा अर्थितस्य अनवबोधनिद्रा अवज्ञाऽऽचरणस्य मुद्रा बिभर्ति ॥ ९५ ॥

व्याख्या--(हे हस !) धरातुरासाहि = महीन्द्रे, नले, कार्यान्तरचुम्बिचित्ते = कर्मान्तरव्यासक्तमानसे सति, मदर्थयाच्ञा = मत्प्रयोजनप्रार्थना, न कार्या = नो विधेया, (तथाहि) तदा = तस्मिन् समये, कार्यान्तरव्यासङ्गकाल इति भाव । अर्थितस्य = प्रार्थितस्य जनस्य, अनवबोधनिद्रा = अज्ञानरूपस्वाप , प्रार्थिताऽर्थज्ञानाऽभाव इति भाव । अवज्ञाऽऽचरणस्य = अनादरकरणस्य, मुद्रा = चिह्न, बिभर्ति = धारयति, अनादरप्रतीतिं करोतीति भाव ॥ ९५ ॥

अनुवाद.—(हे हंस !) पृथ्वीके इन्द्र (नल) के दूसरे कार्यमे आसक्त होनेके अवसरमे मेरे लिए प्रार्थना नही करनी चाहिए। क्योकि उस समय प्रार्थना किये गये पुरुषका प्रार्थित विषयका अज्ञान, अनादर करनेके चिह्नको धारण करता है ॥ ९५ ॥

टिप्पणी—धरातुरासाहि = तुतोर्त्तीति तुर, "तुर त्वरणे" धातुसे क प्रत्यय। तुरं (वेगवन्तम्) साहयति (अभिभवति) इति तुराषाट् तुर-उपपदपूर्वक णिजन्त सह धातुसे क्विप्, "नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु, क्वौ" इससे पूर्वपदका दीर्घ, "सहे साड. स." इससे मूर्धन्य षकार। "तुराषाण्मेघवाहन" इत्यमर॰। धराया. तुराषाट्, तस्मिन् (ष० त०)। ङि विभक्तिमे साड् रूपके न रहनेसे षका अभाव। कार्यान्तरचुम्बिचित्ते = अन्यत् कार्यं कार्यान्तरम् (रूपक०) तत् चुम्बतीति कार्यान्तरचुम्बि, कार्यान्तर+चुबि+णिनि॰ (उपपद०)। तत् चित्तं यस्य सः कार्यान्तरचुम्बिचित्त॰, तस्मिन् (बहु०)। मदर्थयाच्ञा = मह्यम् इय मदर्था (च० त०)। सा चाऽसौ याच्ञा (क० धा०)। कार्या = कृ +ण्यत् + टाप्। अर्थितस्य = अर्थ+णिच्+क्त+ङस। अनवबोधनिद्रा = न अवबोध: (नञ०), स एव निद्रा (रूपक०)। अवज्ञाऽऽचरणस्य = अवज्ञाया आचरण, तस्य (ष० त०)। बिभर्ति = भृ+लट्+तिप् ॥ ९५ ॥

विज्ञेन विज्ञाप्यमिदं नरेन्द्रे तस्मात्त्वयाऽस्मिन्समयं समीक्ष्य ।
आत्यन्तिकाऽसिद्धिविलम्बसिद्धयोः कार्यस्य काऽऽर्यस्य शुभा बिभाति ? ॥९६॥

अन्वय.—(हे हस !) तस्मात् विज्ञेन त्वया समय समीक्ष्य इदम् अस्मिन् नरेन्द्रे विज्ञाप्यम् । कार्यस्य आत्यन्तिकाऽसिद्धिविलम्बसिद्धयो आर्यस्य का शुभा बिभाति ? ॥ ९६ ॥

व्याख्या—(हे हस !) तस्मात् = कारणात्, विज्ञेन = विशेषाऽभिज्ञेन, विवेकिना इति भाव , त्वया = भवता, समयम् = अवसर, समीक्ष्य = दृष्ट्वा, इदम् = एतत्कार्यं, मत्प्रार्थनारूपम् इति भाव । अस्मिन् = एतस्मिन्, नरेन्द्रे = राजनि नले, विज्ञाप्यं = विज्ञापनीयम् । समयप्रतीक्षाया विलम्बमाशङ्क्याह— आत्यतिकेति । कार्यस्य = कर्मण , आत्यन्तिकाऽसिद्धिविलम्बसिद्धयो = सर्वथाऽसिद्धिदूरसिद्ध्योर्मध्ये, आर्यस्य = सभ्यस्य, विदुष इति भाव । का = कतरा, विभाति = प्रतिभाति, अप्रसङ्गविज्ञापने कार्यस्य असाफल्याद्वर विलम्बेनाऽपि कार्यसाफल्यमिति भाव ॥ ९६ ॥

अनुवादः—(हे हस !) इस कारणसे विवेकी तुम्हे अवसर देखकर इस कार्यको राजासे निवेदन करना चाहिए । कार्यकी ऐकान्तिक असफलता और विलम्बसे सफलता इनमेसे विद्वान् तुम्हे कौनसी उत्तम प्रतीत होती है ? ॥ ९६ ॥

टिप्पणी—विज्ञेन = वि + ज्ञा + क + टा । समीक्ष्य = सम् + ईक्ष + क्त्वा (ल्यप्) । नरेन्द्रे = नराणाम् इन्द्र , तस्मिन् (ष० त०) । विज्ञाप्यं = वि + ज्ञा + णिच् + क्त्वा (यत्) । आत्यन्तिकाऽसिद्धिविलम्बसिद्धयो = न सिद्धि- असिद्धि (नञ्०) । आत्यन्तिकी चाऽसौ असिद्धि (क० धा०), "पुवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु" इस सूत्रसे पूर्वपदका पुवद्भाव । विलम्बेन सिद्धिः (तृ० त०) । आत्यन्तिकाऽसिद्धिश्च विलम्बसिद्धिश्च आत्यन्तिकाऽसिद्धि- विलम्बसिद्धी, तयो. (द्वन्द्व०) । आर्यस्य = ऋ + ण्यत् + ङस् । विभाति = वि + भा + लट् + तिप् ॥ ९६ ॥

इत्युक्तवत्या यदलोपि लज्जा, साऽनौचिती चेतसि नश्चकास्तु ।
स्मरस्तु साक्षी तददोषतायामुन्माद्य यस्तत्तदवीवदत्ताम् ॥ ९७ ॥

अन्वय.—इति उक्तवत्या (तया) यत् लज्जा अलोपि, सा अनौचिती न. चेतसि चकास्तु, तु तददोषताया स्मर साक्षी । य. ताम् उन्माद्य तत् अवीवदत् ॥ ९७ ॥

व्याख्या—इति = इत्थम्, उक्तवत्या = कथितवत्या, भैम्येति शेषः, यत्

लज्जा = व्रीडा, अलोपि = त्यक्ता, सा = तादृशी, अनौचिती = अनौचित्य, न = अस्माक, शृण्वतामिति शेष । चेतसि = चित्ते, चकास्तु = प्रकाशताम् । तु = किन्तु, तददोषतायां = भैमीनिर्दोषिताया, लज्जात्यागस्येति शेष । स्मर = काम, साक्षी = साक्षाद्‌द्रष्टा, प्रमाणमिति भाव । य = स्मर, ता = दमयन्तीम्, उन्माद्य = उन्मत्ता कृत्वा, तत् तत् = अनुचित वचनम्, अवीवदत् = वादितवान् । लज्जात्याग प्रकृतिस्थाया एव कुमार्या दोषो न तु कामोपहतचित्ताया इति भाव ॥ ९७ ॥

अनुवादः—ऐसा कहनेवाली दमयन्तीने जो लज्जाका त्याग किया, वह अनौचित्य भले ही हमारे चित्तमे प्रकाशित हो, परन्तु दमयन्तीकी निर्दोषितामे कामदेव साक्षी है जिसने उनको उन्मत्त बनाकर ऐसा भाषण कराया ॥ ९७ ॥

टिप्पणी—उक्तवत्या = ब्रू (वच्) क्तवतु + ङीप् + टा । अलोपि = लुप् + लुङ् + त (कर्ममे) । अनौचिती = उचितस्य भाव औचिती, उचित + ष्यञ्, "हलस्तद्धितस्य" इससे यकारका लोप और "षिद्गौरादिभ्यश्च" इससे ङीष् । एक पक्षमे "औचित्यम्" ऐसा रूप भी होता है । न औचिती (नञ०) । चकास्तु = चकासृ + लोट् + तिप् । तददोषतायाम् = अविद्यमानो दोषो यस्य स अदोष (नञबहु०) अदोषस्य भाव अदोषता, अदोष + तल् + टाप् । तस्य (लज्जात्यागस्य) अदोषता, तस्याम् (ष० त०) । ताम् = वद् धातुके पूर्व कर्तृपदका णिच् होनेपर कर्मसज्ञक होकर द्वितीया । उन्माद्य = उद् + मद् + णिच् + क्त्वा (ल्यप्) । अवीवदत्=वद् + णिच् + चङ् + लुङ् + तिप् ॥ ९७ ॥

उन्मत्तमासाद्य हर. स्मरश्च द्वावप्यसीमां मुदमुद्वहेते ।
पूर्वः स्मरस्पर्द्धितया प्रसूनं नून द्वितीयो विरहाऽऽधिदूनम् ॥ ९८ ॥

अन्वय.—पूर्वः हर. स्मरस्पर्धितया उन्मत्त प्रसूनं, द्वितीयः स्मरश्च विरहाऽऽधिदूनम् उन्मत्तम् आसाद्य (इत्थम्) द्वौ अपि असीमा मुदम् उद्वहेते ॥ ९८ ॥

व्याख्या—स्मरेण सा किमर्थमुन्मादितेति प्रश्नस्य सदृष्टान्तमुत्तरमाह—उन्मत्तमिति । पूर्व = प्रथमः, अभ्यर्हित इति भाव । हर = महेश्वरः, स्मरस्पर्धितया = कामसधर्षित्वेन, उन्मत्तम् = उन्मत्तनामक, प्रसून = पुष्प, धत्तूरमिति भावः, द्वितीय = अपर', स्मरश्च = कामश्च, विरहाऽऽधिदून = वियोगमनोव्यथोपतप्तम्, उन्मत्तम्=उन्मादयुक्तं जनम्, आसाद्य = प्राप्य, इत्थं च द्वौ अपि = उभौ अपि, हरस्मरावपीति भाव । असीमा = सीमारहिताम्, अपरिमितामिति भाव., मुद = हर्षम्, उद्वहेते = धारयत ॥ ९८ ॥

अनुवादः - प्रथम महेश्वर, कामदेवसे स्पर्धा करनेसे उन्मत्त नामक फूल- (धतूर) को और दूसरा कामदेव भी विरहकी मनोव्यथासे सन्तप्त उन्मत्त (उन्मादयुक्त, पागल) को पाकर इस तरह दोनो ही असीम हर्षको धारण करते है ॥ ९८ ॥

टिप्पणी—हर = हृ + अच् । स्मरस्पर्धितया = स्मर स्पर्धते तच्छीलः स्मरस्पर्धी, स्मर + स्पर्ध + णिनि. (उपपद०) । स्मरस्पर्धिनो भाव स्मरस्पर्धिता, तया, स्मरस्पर्धि + तल् + टाप् + टा । उन्मत्तम् = उद् + मद् + क्त + अम् । "उन्मत्त उन्मादवति धुस्तूरमुचुकुन्दयो" इति विश्व । द्वितीय = द्वि + तीय + सु । विरहाऽऽधिदून = विरहेण आधि (तृ० त०), तेन दून, तम् (तृ० त०) । आसाद्य = आङ् + सद् + णिच् + क्त्वा (ल्यप्) । असीमाम् = अविद्यमाना सीमा यस्या सा असीमा, ताम् (नञ्-बहु०) । उद्वहेते = उद् + वह + लट् + आताम् । स्वरितकी इत्सञ्ज्ञा होनेसे वह धातु आत्मनेपदी भी है । इस पद्यमे शब्दश्लेष और अर्थश्लेष भी है, और उनसे उपमा व्यङ्ग्य होती है ॥ ९८ ॥

तथाऽभिधात्रीमथ राजपुत्रीं निर्णीय ता नैषधबद्धरागाम् ।
अमोचि चञ्चूपुटमौनमुद्रा विहायसा तेन विहस्य भूयः ॥ ९९ ॥

अन्वयः—अथ तथा अभिधात्री ता राजपुत्री नैषधबद्धरागा निर्णीय तेन विहायसा विहस्य भूय चञ्चूपुटमौनमुद्रा अमोचि ॥ ९९ ॥

व्याख्या—अथ=अनन्तर, तथा=तेन प्रकारेण, अभिधात्री = भाषमाणा, "श्रुत स दृष्टश्च ३-८३" इत्यादिरूपेणेति भाव. । ता = पूर्वोक्तां, राजपुत्री = नृपकुमारीम्, दमयन्तीम् । नैषधबद्धरागा = नले कृतप्रणया, निर्णीय = निश्चित्य, तेन = पूर्वोक्तेन, विहायसा = पक्षिणा, हसेन । विहस्य = हास्य विधाय, भूय = पुनरपि, चञ्चूपुटमौनमुद्रा = त्रोटिपुटतूष्णीकत्वचिह्नं, वचनाऽभाव इति भाव । अमोचि = मुक्ता, पुनरपि हसोऽवादीदिति भाव. ॥ ९९ ॥

अनुवाद.—तब वैसा कहनेवाली उन राजपुत्री (दमयन्ती) को नलमे प्रेम करनेवाली निश्चय करके उस पक्षी (हस) ने हँसकर फिर मौनको भङ्ग किया, (बोलने लगा) ॥ ९९ ॥

टिप्पणी—अभिधात्रीम् = अभिदधातीति अभिधात्री, ताम्, अभि + धा + तृच् + ङीप् + अम् । राजपुत्री = राज्ञः पुत्री, ताम् (ष० त०), नैषधबद्धरागा= बद्धो रागो यया सा बद्धरागा, (बहु०) । नैषधे बद्धरागा, ताम् (स० त०) ।

निर्णीय = निर् + णीञ् + क्त्वा (ल्यप्)। विहायसा = "विहायाः शकुने पुंसि गगने पुनपुसकम् ।" इति कोशः। विहस्य = वि + हस् + क्त्वा (ल्यप्)। चञ्चूपुटमौनमुद्रा = चञ्च्वोः पुटम् (ष० त०), मौनस्य मुद्रा (ष० त०)। चञ्चूपुटस्य मौनमुद्रा (ष० त०)। अमोचि = मुच् + लुङ् + त (कर्ममे)। इस पद्यमे "उक्तम्" इस पदार्थके लिए "अमोचि चञ्चूपुटमौनमुद्रा" ऐसे वाक्यार्थकी रचना होनेसे 'ओज' नामका गुण और छेक अनुप्रास है ॥ ९९ ॥

इत्थं यदि क्ष्मापतिपुत्रि ! तत्त्व पश्यामि तन्न स्वविधेयमस्मिन् ।
त्वामुच्चकैस्तापयता नृप च पञ्चेषुणैवाजनि योजनेयम् ॥ १०० ॥

अन्वय.—हे क्ष्मापतिपुत्रि ! इद तत्त्व यदि, तत् अस्मिन् स्वविधेय न पश्यामि। त्वा नृप च उच्चकै तापयता पञ्चेषुणा एव इय योजना अजनि ॥ १०० ॥

व्याख्या—हे क्ष्मापतिपुत्रि = हे राजकुमारि !, इद = त्वदुक्त वचन, तत्त्व यदि = सत्य चेत्, तत् = तर्हि, अस्मिन् = इह, विषये। स्वविधेय=आत्मकृत्य, न पश्यामि = नो विलोकयामि। तर्हि कार्यं कथ भविष्यतीत्यत्राह—त्वामिति। त्वा = भवती, नृप च = नैषध च, उच्चकै = अत्यन्त, तापयता = सन्ताप जनयता, पञ्चेषुणा एव = मन्मथेन एव, इयम् = एषा, योजना=घटना, अजनि= उत्पादिता, अतएव मद्व्यपारोऽत्र नाऽवशिष्यत इति भाव ॥ १०० ॥

अनुवाद—हे राजकुमारि ! आपका वचन सत्य हो तो इस विषयमे मै अपना कार्य नही देख रहा हूँ, क्योकि आपको और नलको अत्यन्त सन्तप्त करने-वाले कामदेवने ही इस योजनाको उत्पन्न किया है ॥ १०० ॥

टिप्पणी—हे क्ष्मापतिपुत्रि = क्ष्माया. पतिः (ष० त०) तस्य पुत्री, तत्स-म्बुद्धौ (ष० त०)। स्वविधेय = स्वस्य विधेयं, तत् (ष० त०)। उच्चकैः = उच्चैरेव, उच्चैस् + अकच्। तापयता = तप + णिच् + लट् (शतृ) + टा। पञ्चेषुणा = पञ्च इषवो यस्य स पञ्चेषुः, तेन (बहु०)। अजनि = जन् + लुङ् + च्लि (चिण्) + त (कर्ममे) ॥ १०० ॥

त्वद्बद्धबुद्धेर्बहिरिन्द्रियाणां तस्योपवासव्रतिनां तपोभिः ।
त्वामद्य लब्ध्वाऽमृततृप्तिभाजां स्वं देवभूयं चरितार्थमस्तु ॥ १०१ ॥

अन्वयः—(हे भैमि !) त्वद्बद्धबुद्धेः तस्य उपवासव्रतिना तपोभिः अद्य त्वां लब्ध्वा अमृततृप्तिभाजा बहिरिन्द्रियाणां स्वं देवभूयं चरितार्थम् अस्तु ॥ १०१ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) त्वद्बद्धबुद्धे॰ = भवन्निबद्धमतेः, त्वामेव ध्यायत इति भाव । तस्य = नलस्य, उपवासव्रतिनाम् = अनुपभोगव्रतयुक्तानां, विषयान्तरव्यावृत्तानामिति भाव । तपोभि = उक्तोपवासव्रतरूपै पुण्यै॰, अद्य = अस्मिन्दिने, त्वा = भवती, लब्ध्वा = प्राप्य, अमृततृप्तिभाजा = पीयूषसौहित्ययुक्ताना, बहिरिन्द्रियाणा = चक्षुरादीना, स्व = स्वीय, देवभूय = देवत्वम्, इन्द्रियत्व सुरत्व च, चरितार्थं = कृतकार्यं, सफलमिति भाव. । अस्तु = भवतु, अमृतपानैकफलत्वाद्देवभावो भवेदिति भाव. ॥ १०१ ॥

अनुवाद—हे राजकुमारि ! आपका ही ध्यान करनेवाले नलके उपवास व्रत करनेवाले तथा तपस्याओसे आज आपको प्राप्त करके अमृतपानसे मिलनेवाली तृप्तिको प्राप्त करनेवाले नेत्र आदि बाह्य इन्द्रियोका अपना देवत्व सफल हो ॥ १०१ ॥

टिप्पणी—त्वद्बद्धबुद्धे॰ = बद्धा बुद्धिर्येन स बद्धबुद्धि (बहु०), त्वयि बद्धबुद्धि , तस्य (स० त०) । उपवासव्रतिनाम् = उपवासेन व्रतिनः, तेषाम् (तृ० त०) । लब्ध्वा = लभ् + क्त्वा । अमृततृप्तिभाजाम् = अमृतेन तृप्तिः (तृ० त०), ता भजन्तीति अमृततृप्तिभाञ्जि, तेषाम्, अमृततृप्ति + भज् + ण्विः + आम् (उपपद०) । बहिरिन्द्रियाणा = बहि॰ स्थितानि इन्द्रियाणि तेषाम् (मध्यमपद०) । देवभूयं = देवस्य भाव , "भुवो भावे" इस सूत्रसे क्यप्, देव + भू + क्यप् । "आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्" (ऐत० २।४) इस श्रुतिवाक्यसे अर्थात् सूर्यने चक्षु होकर नेत्रोमे प्रवेश किया । इसके अनुसार यह उक्ति है । । चरितार्थम् = चरित॰ अर्थ॰ यस्य तत् (बहु०) । अस्तु = अस् + लोट् + तिप् ॥ १०१ ॥

तुल्याऽऽवयोर्मूर्तिरभून्मदीया दग्धा, परं साऽस्य न ताप्यतेऽपि ।
इत्यभ्यसूयन्निव देहतापं तस्याऽतनुस्त्वद्विरहाद्विधत्ते ॥ १०२ ॥

अन्वयः—आवयो मूर्ति॰ तुल्या अभूत्, पर मदीया दग्धा, अस्य सा न ताप्यतेऽपि, इति असूयन् इव अतनु त्वद्विरहात् तस्य देहताप विधत्ते ॥ १०२ ॥

व्याख्या—(हे राजकुमारि !) आवयो॰ = नलस्य मम च, मूर्ति = तनु, तुल्या=सदृशी, समानरूपा इति भाव. । अभूत् = जाता, पर = किन्तु, मदीया = मामकीना मूर्तिः, दग्धा = भस्मीकृता, हरतृतीयनयनेनेति शेष., अस्य = नलस्य सा = मूर्तिः, न ताप्यतेऽपि = तापम् अपि न प्राप्यते, दाहस्य का कथेति शेषः । इति = अस्मात् कारणात्, असूयन् इव = ईर्ष्यन् इव, अतनुः = अनङ्ग॰ कामः ।

त्वद्विरहात् = भवत्या वियोगात्, तस्य = नलस्य, देहतापं = शरीरसन्तापं, **विधत्ते** = करोति ॥ १०२ ॥

अनुवादः—(हे राजकुमारि !) हम दोनोके (नलके और मेरे) शरीर समान थे, परन्तु मेरा शरीर जलाया गया, नलका शरीर तापको भी प्राप्त नही कर रहा है, इस कारणसे मानो ईर्ष्या करता हुआ अनङ्ग (कामदेव) आपके वियोगसे नलके शरीरमे ताप कर रहा है ॥ १०२ ॥

टिप्पणी—आवयो. = अह च नलश्च आवा, तयो. "त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्" इस सूत्रसे एकशेष । मूर्ति = "मूर्तिः काठिन्यकाययो." इत्यमर । तुल्या=तुलया समिता, "नौवयोधर्म०" इत्यादि सूत्रसे यत्, तुला+यत्+टाप् । मदीया = मम इयम्, अस्मद् (मद्)+छ (ईय) +टाप् । दग्धा= दह्+क्त.+टाप् । ताप्यते = तप+णिच्+लट् (कर्म मे) +यक्+त । अभ्यसूयन् = अभ्यसूयतीति अभि+पूर्वक "असूञ् उपतापे" इस कण्ड्वादि धातुसे "कण्ड्वादिभ्यो यक्" इस सूत्रसे यक् । अभि+असूञ्+यक्+लट् (शतृ)+सु. । अतनु=अविद्यमाना तनु यस्य स (नञ्बहु०) त्वद्विरहात् = तव विरह तस्मात् (ष० त०) । देहताप = देहस्य तापः तम् (ष० त०) । विधत्ते=वि+धा+लट्+त । इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ १०२ ॥

लिपिं दृशा भित्तिविभूषण त्वां नृपः पिबन्नादरनिर्निमेषम् ।
चक्षुर्जलैरार्जितमात्मचक्षूराग स धत्ते रचितं त्वया नु ? ॥ १०३ ॥

अन्वयः—(हे भैमि !) स नृप भित्तिविभूषण लिपिं त्वा दृशा आदरनिर्निमेष पिबन् चक्षुर्जलै आर्जित त्वया नु रचितम् आत्मचक्षूराग धत्ते ॥१०३॥

व्याख्या—अथ कामस्य दशाऽवस्था वर्णयन् पद्यद्वयेन नयनप्रीतिं वर्णयति । (हे भैमि !) सः = पूर्वोक्त , नृप. = राजा नल., भित्तिविभूषणं = कुड्याऽलङ्कारभूता, लिपिं = चित्रमयी, त्वा = भवती, दृशा = नेत्रेण, आदरनिर्निमेषम् = आस्थया निमेषव्यापाररहितं यथा तथा, पिबन् = पान कुर्वन्, प्रणयाऽतिशयेन पश्यन्निति भावः । चक्षुर्जलैः=नयनसलिलै., अश्रुभिरिति भावः । आर्जितम् = उपार्जित, त्वया नु = भवत्या वा, रचित = निर्मितम्, आत्मचक्षूराग = स्वनयनलौहित्य निजनेत्रप्रणय च धत्ते = धारयति, ॥ १०३ ॥

अनुवाद.—(हे भैमि !) वे राजा (नल) दीवालकी अलङ्कारस्वरूप चित्रमयी आपको नेत्रोसे आदरपूर्वक पलक भी न झुकाकर देखते हुए आँसूसे

उपार्जित वा आपसे रचित अपने नेत्रोकी अरुणता (लाली) और प्रेमको धारण करते है ॥ १०३ ॥

टिप्पणी—अब हंस नळको कामसे उत्पन्न दश अवस्थाओका वर्णन करता है। दश अवस्थाएँ ये है—

"नयनप्रीतिः प्रथमं, चित्ताऽऽसङ्गस्ततोऽथ संकल्पः।
निद्राच्छेदस्तनुता, विषयनिवृत्तिस्त्रपानाश.॥
उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येता स्मरदशा दशैव स्यु·।"

अर्थात् नेत्रप्रीति, चित्तकी आसक्ति, सकल्प, निद्राका नाश, कृशता, विषयोकी निवृत्ति, लज्जाका नाश, उन्माद (पागलपन), मूर्च्छा और मरण ये दश कामकृत अवस्थाएँ है। पहले दो श्लोकोसे नेत्रप्रीतिका वर्णन करता है। भित्तिविभूषण = भित्ते विभूषण, तत् (ष० त०)। आदरनिर्निमेषं = निर्गता निमेषा (निमेषव्यापारा) यत्र, (बहु०)। आदरेण निर्निमेषम् (तृ० त०) क्रि० वि०। पिबन् = पा + लट् (शतृ)। + सु. चक्षुर्जलैः = चक्षुषोर्जलानि, तै (ष० त०)। आत्मचक्षूरागम् = आत्मन चक्षु (ष० त०), तस्य राग, तम् (ष० त०)। "राग" पदके यहाँपर दो अर्थ है—एक अरुणता (लाली) दूसरा अनुराग (प्रम)। धत्ते = धा + लट् + त। इस पद्यमे राजाके नेत्रका राग निर्निमेष दृष्टिसे देखनेसे हुआ है वा आपसे रचित है ऐसा सन्देह होनेसे "सन्देह" अलङ्कार है ॥ १०३ ॥

पातुर्दृशाऽऽलेख्यमयीं नृपस्य त्वामादरादस्तनिमीलयाऽस्ति।
ममेदमित्यश्रुणि नेत्रवृत्ते. प्रीतेर्निमेषच्छिदया विवाद.॥ १०४ ॥

अन्वय—(हे राजकुमारि !) अस्तनिमीलया दृशा आलेख्यमयी त्वाम् आदरात् पातु नृपस्य नेत्रवृत्तेः प्रीते· निमेषच्छिदया अश्रुणि विवाद अस्ति।१०४।

व्याख्या—(हे राजकुमारि !) अस्तनिमीलया = निमेषरहितया, दृशा = नेत्रेण, आलेख्यमयी = चित्रस्थितां, त्वा = भवतीम्, आदरात् = प्रणयात्, पातुः = पानकर्तुः, द्रष्टुरिति भावः। तादृशस्य नृपस्य=राज्ञ., नलस्य, नेत्रवृत्तेः= नयनवर्तिन्या, प्रीते. = प्रणयस्य नेत्रप्रणयस्य, निमेषच्छिदया = निमेषच्छेदेन सह, अश्रुणि = नेत्रजले विषये, विवाद = कलह., अस्ति = वर्तते ॥ १०४ ॥

अनुवाद—(हे राजकुमारि !) पलक न मारनेवाले नेत्रसे चित्रमे स्थित आपको आदरसे देखनेवाले राजाके नेत्रोमे रहनेवाली प्रीतिका नेत्रोमे रहनेवाले निमेषविच्छेदके साथ आँसूके विषयमे कलह होता है ॥ १०४ ॥

टिप्पणी—पूर्व पद्यमे वर्णित विषयको दूसरे रूपसे कहते है। अस्तनिमीलया= अस्तो निमीलो यस्या सा अस्तनिमीला, तया (बहु०)। आलेख्यमयीम् = आलेख्य+मयट् (स्वरूप अर्थमे)+डीप्+अम्। पातु: = पिबतीति पाता, तस्य, पा+तृच्+डस्। नेत्रवृत्ते = नेत्रयो वृत्ति यस्या: सा नेत्रवृत्ति, तस्या: (व्यधिकरण बहु०)। प्रीते = प्री+क्तिन्+डस्। निमेषच्छिदया = छेदनं छिदा, "छिदिर् द्वैधीकरणे" धातुसे भिदादिगणमे पाठ होनेसे "षिद्भिदादिभ्योऽङ्" इस सूत्रसे अङ् प्रत्यय, टाप्। निमेषस्य छिदा, तया (ष० त०)। विवाद: = विरुद्धो वाद: (गति०)। इस पद्य का तात्पर्य यह है कि हे राजकुमारि! निर्निमेष दृष्टिसे आपके चित्रको देखनेपर राजाको जो आँसू आ गया, उसके विषयमे नेत्रप्रीति और नेत्रविच्छेदका परस्पर मेरे कारण आँसू आया है ऐसा कहकर विवाद होता है। यह नेत्रप्रीतिरूप कामदशाका वर्णन है ॥ १०४ ॥

त्वं हृद्गता भैमि! बहिर्गताऽपि प्राणायिता नासिकयास्यगत्या।
न चित्तमाक्रामति तत्र चित्रमेतन्मनो यद्भवदेकवृत्ति ॥ १०५ ॥

अन्वय—हे भैमि! त्वं बहिर्गता अपि हृद्गता। कया गत्या अस्य प्राणायिता न असि। (किन्तु) तत्र चित्र चित्तं न आक्रामति। यत् एतन्मनो भवदेकवृत्ति ॥ १०५ ॥

व्याख्या—अथ मन सङ्गमाह—हे भैमि = हे दमयन्ति!, त्वं = भवती, बहिर्गता अपि = बाह्यदेशयाता अपि, हृद्गता = अन्तर्गता, कया गत्या = केन प्रकारेण, अस्य = नलस्य, प्राणायिता = प्राणसमा, न असि = न भवसि, भवस्येवेत्यर्थ.। अत: प्राणोऽपि नासिकया = नासिकाद्वारेण, आस्यगत्या = मुखद्वारेण उच्छ्वासनिश्वासरूपेण बहिर्गतोऽपि अन्तर्गतो भवतीति शब्दश्लेष। (किन्तु) तत्र = तस्मिन्, प्राणायितत्वे इति भाव:। चित्रम् = आश्चर्यरस:, चित्तं = मन:, न आक्रामति = न उत्क्रम्य गच्छति, अत्र न किञ्चिच्चित्रमिति भाव.। कुत: ? यत् = यस्मात् कारणात्, एतन्मन: = नलचित्त, भवदेकवृत्ति = त्वदेकाऽवस्थानम् ॥ १०५ ॥

अनुवाद—हे भैमि। आप बाहर रहनेपर भी नलके चित्तके भीतर गयी हुई है। कैसे आप नलके प्राणकी समान नही हैं? उनमे प्राणके समान होनेपर आश्चर्यरस चित्तको नही छोडता है। जिस कारणसे कि नलका मन आपमे ही अवस्थित है ॥ १०५ ॥

टिप्पणी—हे भैमि = भीमस्य अपत्य स्त्री भैमी, तत्सम्बुद्धौ, भीम+

अण्+ङीप्। हृद्गता = हृत् गता (द्वि० त०)। "स्वान्तं हृन्मानसं मनः" इत्यमरः। प्राणायिता = प्राणवदाचरिता, 'प्राण' शब्दसे "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" इस सूत्रसे क्यङ् होकर क्त+टा। आस्यगत्या = आस्यत्य गतिः, तया (ष० त०)। एतन्मनः = एतस्य मनः (ष० त०)। भवदेकवृत्ति = एका वृत्तिर्यस्मिंस्तत् (बहु०)। भवत्याम् एकवृत्ति (स० त०)। 'भवती' शब्दका "सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भाव" इससे पुंवद्भाव। इस पद्यमे विरोधाभास, शब्दश्लेष और उपमाका सङ्कर है ॥ १०५ ॥

अजस्रमारोहसि दूरदीर्घां सङ्कल्पसोपानततिं तदीयाम्।
श्वासान् स वर्षत्यधिकं पुनर्यद्ध्यानात्तव त्वन्मयतामवाप्य ॥ १०६ ॥

अन्वय—(हे भैमि !) दूरदीर्घां तदीयां सङ्कल्पसोपानततिम् (त्वम्) अजस्रं आरोहसि। यत् पुनः स नलः तव ध्यानात् तदा त्वन्मयताम् अवाप्य अधिकं श्वासान् वर्षति ॥ १०६ ॥

व्याख्या—अथ द्वाभ्यां सङ्कल्पावस्थामाह। (हे भैमि !) दूरदीर्घाम् = अत्यन्तायता, तदीया = नलसम्बन्धिनी, सङ्कल्पसोपानततिं=मनोरथारोहणपङ्क्तिं, त्वम्, अजस्रं = निरन्तरम्, आरोहसि = अधितिष्ठसि, "कथं भैमी प्राप्नुयां प्राप्ताया तस्यामहमेव करिष्यामीत्यादिकं नलो विचारयतीति" भाव। यत् पुनः = भूय, स = पूर्वोक्तः, नल = नैषध, तव = भवत्याः, ध्यानात् = चिन्तनात, तदा = चिन्तनसमये, त्वन्मयता = त्वदात्मकत्वम्, अवाप्य = प्राप्य, अधिक = प्रचुर, यथा तथा, श्वासान् = निश्वासान्, वर्षति = मुञ्चति ॥ १०६ ॥

अनुवादः—(हे भैमि !) अत्यन्त दीर्घ नलके मनोरथोकी सीढियोमे आप निरन्तर चढती रहती है। फिर वे नल आपके चिन्तनसे उस समय आपके स्वरूपको प्राप्त कर लम्बे श्वासोको छोडते है ॥ १०६ ॥

टिप्पणी—दूरदीर्घां = दूरं दीर्घा, ताम् (सुप्सुपा०)। तदीया = तस्येयं, ताम्, तद्+छ (ईय)+टाप्+अम्। सङ्कल्पसोपानततिं = सङ्कल्पा एव सोपानानि (रूपक०)। "सङ्कल्पः कर्म मानसम्" इति "आरोहणं स्यात्सोपानम्" इति चाऽमरः। सङ्कल्पसोपानाना तति, ताम् (ष० त०)। आरोहसि = आङ्+रुह+लट्+सिप। त्वन्मयता = त्वमेव स्वरूप यस्य स त्वन्मयः, युष्मद् (त्वद्) + मयट् (स्वार्थमे । त्वन्मयस्य भावस्त्वन्मयता ताम्; त्वन्मय+तल्+टाप्+अम्। आप्य = आङ्+आप्+क्त्वा (ल्यप)। वर्षति = वृष+लट्+तिप्। इस पद्यमे सङ्कल्पसोपानमे आरोहणरूप कारणता दमयन्तीमें

है और श्वासवर्षणरूप कार्यता नलमे है अत. दोनो विषयोमे भिन्न-भिन्न अधिकरण होनेसे असङ्गति अलङ्कार है और तादात्म्यमे उत्प्रेक्षा, इस प्रकार दो अलङ्कारोका सङ्कर है ॥ १०६ ॥

हृत्तस्य यां मन्त्रयते रहस्त्वां तां व्यक्तमामन्त्रयते मुखं यत् ।
तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्यौचिती सा खलु तन्मुखस्य ॥ १०७ ॥

अन्वयः—तस्य हृत् या त्वा रहो मन्त्रयते, ता त्वा मुख व्यक्तम् आमन्त्रयते। सा तन्मुखस्य तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्यौचिती खलु ॥ १०७ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) तस्य = नलस्य, हृत् = हृदय, या, त्वा = भवती, रह = एकान्ते, मन्त्रयते = संभाषते । ता = तादृशी, त्वा = भवती, मुख = नलस्य आनन, व्यक्त = प्रकाशम्, आमन्त्रयते = उच्चारयति, "हे प्रिये ! कुत्र गच्छसि=, त्वा चिन्तयन्त मां पश्ये" ति कथयतीति भाव. । सा = तद्रहस्यप्रकाशनक्रिया, तन्मुखस्य = नलमुखस्य, तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्यौचिती = नलशत्रुमदनसुहृदिन्दुमैत्र्यौचित्यम्, खलु = निश्चयेन ॥ १०७ ॥

अनुवादः—नलका हृदय जिन आपसे एकान्तमे मन्त्रणा करता है, उन आपसे नलका मुख स्पष्टरूप (प्रकाशरूप) से भाषण करता है। वह रहस्यप्रकाशनकी क्रिया नलके शत्रु कामदेवके मित्र चन्द्रसे मित्रताके औचित्यके अनुसार है ॥ १०७ ॥

टिप्पणी—रह = रहश्चोपांशु चाऽलिङ्गे" इत्यमर. । मन्त्रयते = "मत्रि गुप्तपरिभाषणे" धातुसे णिच् होकर लट्+त । सा = विधेय "तद्वैरि० सख्यौचितौ" की प्रधानतासे यह स्त्रीलिङ्गता है । तन्मुखस्य = तस्य मुख, तस्य (ष० त०) । तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्यौचिती = तस्य वैरी (ष० त०)। पुष्पाणि आयुधानि यस्य सः (बहु०) । तद्वैरी चाऽसौ पुष्पायुधः (क० धा०)। तस्य मित्रं (ष० त०), तेन सख्यम् (तृ० त०)। तस्य औचिती (ष० त०)। हृदयसे की गयी गुप्त मन्त्रणाको मुखके प्रकाश करनेका यह भाव है कि नलके वैरी कामदेवके मित्र चन्द्र हैं, उनके साथ नलके मुखकी मैत्री होनेसे (सादृश्यके कारण) मित्रके शत्रुका भेद-प्रकाश करना उचित ही है यह भाव है। इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ॥ १०७ ॥

स्थितस्य रात्रावधिशय्य शय्यां मोहे मनस्तस्य निमज्जयन्ती ।
आलिङ्ग्य या चुम्बति लोचने सा निद्राऽधुना न त्वदृतेऽङ्गना वा ॥१०८॥

अन्वयः—रात्रौ शय्याम् अधिशय्य स्थितस्य तस्य मनो मोहे निमज्जयन्ती या आलिङ्ग्य लोचने चुम्बति, सा निद्रा त्वत् ऋते अङ्गना वा अधुना न ॥ १०८ ॥

व्याख्या—अथैकेन पद्येन निद्राच्छेद विषयनिवृत्ति चाह—स्थितस्येति। रात्रौ = निशाया, शय्या = पर्यङ्कम्, अधिशय्य = शयित्वा, स्थितस्य = विद्यमानस्य, तस्य = नलस्य, मन. = मानसं, मोहे = वैचित्ये, सुखपारवश्य इति भाव.। निमज्जयन्तो = प्रापयन्ती सती, या, आलिङ्ग्य = आश्लिष्य, लोचने = नेत्रे, चुम्बति = तत्र सम्बन्ध करोति, सा = तादृशी, निद्रा = स्वापक्रिया, त्वत् = भवत्याः, ऋते = विना, अङ्गना वा = नायिका वा, अधुना = इदानीं, न = नास्ति, रात्रौ नलस्य निद्रा त्वा विना काऽपि नायिका च न वर्तत इति भाव। अत्र निद्रानिषेधाज्जागरः, अन्यस्या अङ्गनाया निषेधाद्विषयनिवृत्तिश्चोक्ता ॥ १०८ ॥

अनुवादः—(हे राजकुमारि !) रातमे पलंगपर लेटनेवाले नलके मनको मोहमे डालती हुई जो आलिङ्गन कर नेत्रोको चूमती है वह निद्रा अथवा आपके सिवाय कोई स्त्री अभी नहीं है ॥ १०८ ॥

टिप्पणी—शय्याम् = "अधिशय्या" अधिपूर्वक शीङ् धातुके योगमे "अधिशीङ्स्थाऽऽसा कर्म" इस सूत्रसे कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया। अधिशय्य = अधि + शीङ् + क्त्वा (ल्यप्)। निमज्जयन्ती = नि + मस्ज + णिच् + लट् (शतृ) + ङीप् + सु। चुम्बति = चुबि + लट् + तिप्। त्वत् = "ऋते" इस पदके योगमे "अन्यारादितरर्ते०" इस सूत्रसे पञ्चमी। इस पद्यमे प्रस्तुत निद्रा और अङ्गनाका चुम्बन आदि धर्मके साथ सम्बन्ध होनेसे तुल्ययोगिता अलङ्कार है ॥ १०८ ॥

स्मरेण निस्तक्ष्य वृथैव बाणैर्लावण्यशेषां कृशतामनायि।
अनङ्गतामप्ययमाप्यमान· स्पर्धां न सार्धं विजहाति तेन ॥ १०९ ॥

अन्वयः—(हे भैमि !) अय स्मरेण बाणै निस्तक्ष्य वृथा एव लावण्यशेषा कृशताम् अनायि। (अयम्) अनङ्गताम् आप्यमानोऽपि तेन सार्धं स्पर्धां न विजहाति ॥ १०९ ॥

व्याख्या—अत्र नलस्य तनुताम् (कार्श्याऽवस्थाम्) आह-स्मरेणेति। (हे भैमि !) अय = नलः, स्मरेण = कामदेवेन, बाणै = शरै, निस्तक्ष्य = निशात्य, वृथा एव = व्यर्थम् एव, लावण्यशेषा = सौन्दर्याऽवशेषा, कृशता = तनुताम्, अनायि = प्रापित.। वृथात्वं व्यनक्ति—अनङ्गतामिति। अनङ्गतां =

कृशाऽङ्गताम्, आप्यमानोऽपि = नीयमानोऽपि, तेन = स्मरेण, सार्धं = सम, स्पर्धां = सङ्घर्षं, साम्यमिति भाव । न विजहाति = न परित्यजति । अङ्गस्य कार्श्येऽपि स्पर्धाबीजलावण्यस्य कार्श्याऽभावादङ्गकर्शनं वृथैवेति भाव ॥ १०९ ॥

अनुवाद:—(हे राजकुमारि !) नलको कामदेवने बाणोसे भेदन कर सौन्दर्यमात्र शेष रखकर कृश बना डाला । (परन्तु) वे (नल) अनङ्ग (कृश) होकर भी उन (कामदेव) के साथ (लावण्यमे) सङ्घर्षको नही छोड रहे हैं ॥ १०९ ॥

टिप्पणी—इस पद्यमे नलकी तनुता (कृश अवस्था) का वर्णन है । निस्तक्ष्य = निस्—उपसर्गपूर्वक "तक्ष त्वचने" धातुसे क्त्वाके स्थानमे ल्यप् । लावण्यशेषां = लावण्यम् एव शेषो यस्याः सा, ताम् (बहु०) । कान्तिविशेषको "लावण्य" कहते है, उसका लक्षण है—

"मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा ।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥"

अर्थात् जैसे मोतीमे तरलता दिखाई पडती है वैसे ही अङ्गोमे जो तरलता प्रतीत होती है उसे "लावण्य" कहते है । कृशता = कृश + तल् + टाप् + अम् । अनायि = नी + लुङ् (कर्ममे) + त । अनङ्गताम् = अविद्यमानम् अङ्गं यस्य सः (नञ्बहु०), तस्य भावः, तत्ता, ताम् । अनङ्ग + तल् + टाप् + अम् । यहाँपर नञ् अल्पाऽर्थक है । आप्यमानः = आप् + लट् (कर्ममे) (शानच्) यक् + सु । तेन = "सार्धम्" के योगमे तृतीया । विजहाति = वि + हा + लट् + तिप् । कामदेवने नलके सौन्दर्यसे क्रुद्ध होकर उन्हे बाणोंसे भेदन कर अत्यन्त कृश बना डाला, तो भी सौन्दर्यमात्र शेष होकर भी नल कामदेवके साथ स्पर्धा नही छोड़ रहे हैं, यह इस पद्यका भावार्थ है । इस पद्यमें विशेषोक्ति अलङ्कार है ॥ १०९ ॥

त्वत्प्रापकात् त्रस्यति नैनसोऽपि, त्वय्येव दास्येऽपि न लज्जते यत् ।
स्मरेण बाणैरतितक्ष्य तीक्ष्णैर्लूनः स्वभावोऽपि कियान् किमस्य ? ॥११०॥

अन्वयः—(हे भैमि !) स्मरेण तीक्ष्णै बाणै अतितक्ष्य अस्य स्वभावोऽपि कियान् अपि लूनः किम् ? यत् त्वत्प्रापकात् एनसः अपि न त्रस्यति, त्वयि दास्ये अपि न लज्जते एव ॥ ११० ॥

व्याख्या—अथ द्वाभ्या पद्याभ्या लज्जात्यागमाह । (हे भैमि !) स्मरेण = कामदेवेन, तीक्ष्णैः = निशितैः, बाणैः = शरैः, अतितक्ष्य = भृश तनूकृत्य, शरीर-

मिति शेषः। अस्य = नलस्य, स्वभावोऽपि = पापभीरुत्वादिरूपा प्रकृतिरपि, कियान् अपि = अल्पः अपि, लूनः किं = छिन्नः किम् ? यत् = यस्मात्कारणात्, त्वत्प्रापकात् = त्वत्प्राप्तिसाधनात्। एनस अपि = पापात् अपि, न त्रस्यति = नो बिभेति, एव च—त्वयि = भवत्या, दास्ये अपि = दासकर्मणि अपि, न लज्जते एव = नो जिह्रेति एव, स इति शेष.॥ ११०॥

अनुवादः—(हे राजकुमारि !) कामदेवने तीखे बाणोसे अत्यन्त भेदन कर नलके स्वभावको भी कुछ छिन्न कर दिया है क्या ? जो कि नल आपको पानेके साधनभूत पापसे भी नही डरते है और आपके दासभावमे भी लज्जित नहीं हो रहे है ॥ ११० ॥

टिप्पणी—लूनः = लूञ् + क्तः + सुः। त्वत्प्रापकात् = तव प्रापकं तस्मात् (ष० त०)। एनस = त्रस धातुके योगमे "भीत्राऽर्थाना भयहेतु" इससे अपादानसंज्ञक होकर पञ्चमी। त्रस्यति = "त्रसी उद्वेगे" धातुसे "वा भ्राशम्लाशभ्रमुक्लमुत्रसित्रुटिलष." इससे विकल्पसे श्यन्, लट् + तिप् ॥ ११० ॥

स्मारं ज्वरं घोरमपत्रपिष्णोः सिद्धाऽगदङ्कारचये चिकित्सौ।
निदानमौनादविशद्विशाला सांक्रामिकी तस्य रुजेव लज्जा॥ १११॥

अन्वयः—घोरं स्मार ज्वर चिकित्सौ सिद्धाऽगदङ्कारचये निदानमौनात् अपत्रपिष्णो तस्य विशाला लज्जा साक्रामिकी रुजा इव अविशत्॥ १११॥

व्याख्या—घोरं = दारुण, स्मार = स्मरसम्बन्धित, ज्वर = रोगविशेषं, कामसन्तापमित्यर्थं। चिकित्सौ = रोगप्रतिकर्तरि, सिद्धाऽगदङ्कारचये = समर्थवैद्यसमूहे, निदानमौनात् = रोगकारणाऽनभिधानात्, अपत्रपिष्णो = लज्जाशीलस्य, तस्य = नलस्य, विशाला = महती, लज्जा = व्रीडा, साक्रामिकी = ससर्गजनिता, रुजा इव = रोग इव, अविशत् = प्रविष्टा॥ १११॥

अनुवादः—दारुण कामसन्तापका प्रतिकार करनेवाले समर्थ वैद्यसमूहमें रोगके कारणको नही कहनेसे लज्जाशील नलको बडी लज्जा ससर्गसे उत्पन्न रोगके समान प्रविष्ट हुई॥ १११॥

टिप्पणी—स्मार = स्मरस्य अय स्मारः, तम्, स्मर + अण् + अम्। चिकित्सौ = केतितुम् इच्छु. चिकित्सु, तस्मिन्, "कित निवासे रोगाऽपनयने च" इस धातुसे "गुप्तिज्किद्भ्यः सन्" इससे सन् होकर "सनाशसभिक्ष उः" इससे उप्रत्यय। सिद्धाऽगदङ्कारचये = अगद कुर्वन्तीति अगदङ्काराः, अगद-उपपदपूर्वक कृ धातुसे "कर्मण्यण्" इससे अण् प्रत्यय। "कारे सत्याऽगदस्य"

इससे मुम् आगम। सिद्धाश्च ते अगदङ्कारा (क० धा०), तेषा चयः, तस्मिन् (ष० त०)। निदानमौनात् = निदानस्य मौनं, तस्मात् (ष० त०), हेतुमे पञ्चमी। अपत्रपिष्णो = अपत्रपते तच्छील. अपत्रपिष्णु', तस्य, अप+त्रपूष्+इष्णुच्। "लज्जाशीलो पत्रपिष्णु." इत्यमर। साक्रामिकी = सक्रमात् आगता, संक्रम शब्दसे "अध्यात्मादेष्ठञिष्यते" इससे ठञ् (इक) प्रत्यय और "अनुशतिकादीना च" इससे उभयपदवृद्धि। रुजा = स्त्रीरुग्रुजा चोपतापरोगव्याधिगदामया।" इत्यमर.। ससर्गसे उत्पन्न रोगको "साक्रामिक" कहते हैं, जैसे कि—

"अक्षिरोगो ज्वरः कुष्ठं तथाऽपस्मार एव च।
सहभुक्त्यादिसम्बन्धात्सक्रामन्ति नरान्नरम्॥"

अर्थात् नेत्ररोग, ज्वर (बुखार), कुष्ठ (कोढ), अपस्मार (मिरगी) ये रोग सहभोज आदि सम्बन्धसे एक मनुष्यसे दूसरे मनुष्यके पास सक्रान्त होते है। अविशत् = विश+लङ्+तिप्॥ १११॥

बिभेति रुष्टाऽसि किलेत्यकस्मात्स त्वां किलोपेत्य हसत्यकाण्डे।
यान्तीमिव त्वामनुयात्यहेतोरुक्तस्त्वयेव प्रतिवक्ति मोघम॥ ११२॥

अन्वयः—स. अकस्मात् रुष्टा असि इति बिभेति, अकाण्डे उपेत्य किल हसति, अहेतो यान्तीम् इव त्व म् अनुयाति, त्वया उक्त इव मोघ प्रतिवक्ति॥ ११२॥

व्याख्या—अथ उन्मादाऽवस्थामाह—बिभेतीति। (हे भैमि!) सः = नल, अकस्मात् = अकाण्डे, रुष्टा = कुपिता, असि = भवसि, त्वमिति शेष.। इति = सभाव्य, बिभेति = त्रस्यति। अकाण्डे = अनवसरे, उपेत्य = प्राप्य, किल = इव, त्वामिति शेष.। हसति = हास्य करोति। अहेतोः = अकारणात्, यान्तीम् इव = गच्छन्तीम् इव, त्वां = भवतीम्, अनुयाति = अनुसरति, त्वया= भवत्या, उक्त इव = सभाषित इव, मोघ = निष्फल, प्रतिवक्ति = प्रत्युत्तरयति। अयं सर्वोऽप्युन्मादाऽनुभाव॥ ११२॥

अनुवाद.—(हे राजकुमारि!) वे (नल) अकस्मात् आप कुपित हैं ऐसा समझकर डर जाते है। अनवसरमे ही आप प्राप्त हो गयी है ऐसा विचार कर हँसते हैं। बिना कारणके ही आप जा रही है ऐसा समझकर अनुसरण करते है और वे (नल) आपसे भाषित-से होकर उत्तर देते है॥ ११२॥

टिप्पणी—रुष्टा = रुष्+क्त+टाप्+सु'। बिभेति = भी+लट्+तिप्।

अकाण्डे = न काण्डः (नञ्०) तस्मिन् । उपेत्य = उप + आङ् + इण् + क्त्वा (ल्यप्) । हसति = हस् + लट् + तिप् । अहेतोः = न हेतुः, तस्मात् (नञ्०) । यान्ती = या + लट् (शतृ) + ङीप् + अम् । प्रतिवक्ति = प्रति + वच् + तिप् । यह सब उन्मादका कार्य है ॥ ११२ ॥

भवद्वियोगाद् भिदुरार्तिधारायमस्वसुर्मज्जति निःशरण्यः ।
मूर्च्छामयद्वीपमहाऽऽन्ध्यपङ्के हा हा ! महीभृद्भटकुञ्जरोऽयम् ॥ ११३ ॥

अन्वयः—(हे भैमि !) भवद्वियोगात् भिदुरार्तिधारायमस्वसुः मूर्च्छामयद्वीपमहाऽऽन्ध्यपङ्के अयं महीभृद्भटकुञ्जरः निःशरण्यः (सन्) मज्जति । हा हा ! ॥ ११२ ॥

व्याख्या—अथ मूर्च्छाऽवस्थामाह—भवदिति । भवद्वियोगात् = त्वद्विरहात् हेतोः, भिदुराऽऽर्तिधारायमस्वसुः = अविच्छिन्नदुःखपरम्परायमुनायाः, मूर्च्छामयद्वीपमहाऽऽन्ध्यपङ्के = मूर्च्छारूपजलमध्यस्थानमहामोहकर्दमे, अयम् = एषः, महीभृद्भटकुञ्जरः = राजवीरकरी, निःशरण्यः = निरवलम्बः सन्, मज्जति = ब्रुडति । हा हा इति खेदाऽतिशयः ॥ ११३ ॥

अनुवादः—(हे राजकुमारि !) आपके वियोगसे अविच्छिन्नदुःखधारारूप यमुनाके मूर्च्छारूप द्वीपके महामोहरूप कीचडमे पडकर ये वीर राजा नल, हाथीके समान अवलम्बनहीन होकर डूब रहे है, हाय हाय ! ॥ ११३ ॥

टिप्पणी—भवद्वियोगात् = भवत्या वियोगः, तस्मात् (ष० त०), "सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः" इस नियमसे पुंवद्भाव, हेतुमे पञ्चमी । भिदुरार्तिधारायमस्वसुः = आर्तेर्धारा (ष० त०)। नारायणी टीकामे "भिदुरा" के बदलेमे "छिदुरा" ऐसा पाठ है, "अच्छिदुरा" का अर्थ हुआ निरन्तर । भिदुरा चाऽसौ आर्तिधारा (क० धा०)। यमस्य स्वसा (ष० त०)। भिदुराऽऽर्तिधारा एव यमस्वसा, तस्याः (रूपक०)। मूर्च्छामयद्वीपमहाऽऽन्ध्यपङ्के = मूर्च्छा एव मूर्च्छामयम्, मूर्च्छा + मयट् (स्वरूप अर्थमे)। मूर्च्छामयं च तद् द्वीपम् (क० धा०)। अन्धस्य भावः आन्ध्यम् (अन्ध + ष्यञ्)। महच्च तत् आन्ध्यम् (क० धा०)। मूर्च्छामयद्वीपे महान्ध्यं (स० त०), तदेव पङ्कः, तस्मिन् (रूपक०)। महीभृद्भटकुञ्जरः = महीं बिभर्तीति महीभृत्, मही + भृ + क्विप् (उपपद०)। स चाऽसौ भटः (क० धा०)। स एव कुञ्जरः (रूपक०)। निःशरण्यः = निर्गतः शरण्यो यस्मात् सः (बहु०)। मज्जति =

(टु) + मस्जो + लट + तिप् । इस पद्यमे आर्तिधारामे यमस्वसाका आरोप होनेसे रूपक अलङ्कार है ॥ ११३ ॥

सव्याऽपसव्यत्यजनाद् द्विरुक्तैः पञ्चेषुबाणैः पृथगर्जितासु ।
दशासु शेषा खलु तद्दशा या तया नभः पुष्प्यतु कोरकेण ॥ ११४ ॥

अन्वयः—सव्याऽपसव्यत्यजनात् द्विरुक्तैः पञ्चेषुबाणैः पृथक् अर्जितासु दशासु शेषा या तद्दशा तया कोरकेण नभः पुष्प्यतु ॥ ११४ ॥

व्याख्या—दशमी कामदशा तु कदाऽपि माभूदिति आह–सव्येति। (हे भैमि !) सव्याऽपसव्यत्यजनात् = वामदक्षिणहस्तमोचनात्, द्विः = द्विवारम्, उक्तैः = प्रतिपादितैः, द्विगुणीकृतैः, पञ्चेषुबाणैः = कामशरैः, दशभिरिति भावः। पृथक् = प्रत्येकम्, अर्जितासु = उत्पादितासु, दशासु = अवस्थासु, शेषा = अवशिष्टा, या तद्दशा = दशमावस्था, तया = दशमाऽवस्थया, कोरकेण = कलिकया, नभः = आकाशं, पुष्प्यतु = पुष्पितम् अस्तु, नलस्य सा दशमी (मरणरूपा) अवस्था नभःपुष्पकल्पा अस्तु, कदापि मा भूदिति भावः। त्वत्प्राप्तेरिति शेषः ॥ ११४ ॥

अनुवादः—(हे राजकुमारि !) बाये और दाहिने हाथोसे छोडनेसे कामदेवके दुगुने (दश) बाणोसे अलग-अलग उत्पन्न अवस्थाओमे अवशिष्ट जो दशवी अवस्था (मरणरूपवाली) है उस अवस्थारूप कलीसे आकाश पुष्पित हो, अर्थात् कदाऽपि न हो ॥ ११४ ॥

टिप्पणी—सव्याऽपसव्यत्यजनात् = सव्यश्च अपसव्यश्च सव्याऽपसव्यौ (द्वन्द्व), ताभ्या त्यजनं, तस्मात् (तृ० त०)। द्विः = द्वि शब्दसे "द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्" इस सूत्रसे सुच् प्रत्यय। पञ्चेषुबाणैः = पञ्च इषवो यस्य स (बहु०), पञ्चेषोः बाणाः, तैः (ष० त०)। तद्दशा = सा चाऽसौ दशा. (क० धा०), मरणरूप दशा अशुभ होनेसे उसका यद् और तद् शब्दसे निर्देश किया गया है। तया कोरकेण = उस दशमी अवस्थामे कोरकका आरोप होनेसे रूपक अलङ्कार है। "कलिका कोरकः पुमान्" इत्यमरः। पुष्प्यतु = "पुष्प विकसने" धातुसे लोट् + तिप् ॥ ११४ ॥

धन्याऽसि वैदर्भि ! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥ ११५ ॥

अन्वयः—हे वैदर्भि ! धन्या असि, यया उदारैः गुणैः नैषधोऽपि समाकृष्यत। चन्द्रिकायाः यत् अब्धिम् अपि उत्तरलीकरोति, इतः का स्तुतिः खलु ॥ ११५ ॥

व्याख्या—हे वैदर्भि = हे दमयन्ति ! हे वैदर्भि रीते ! इत्यपि गम्यते । धन्या= पुण्यवती, असि = वर्तसे, यया = त्वया, उदारैः = उत्कृष्टैः, गुणैः = लावण्य-विनयादिभिः, अन्यत्र श्लेषप्रसादादिभिः गुणैः, नैषधोऽपि = नलोऽपि, तादृशो धीरोपि, समाकृष्यत = सम्यक् आकृष्ट , वशीकृत इति भाव । चन्द्रिकायाः = कौमुद्या , यत् = यस्माद्धेतो , अब्धिम् अपि = समुद्रम् अपि, गभीरमपीति भावः, उत्तरलीकरोति = क्षोभयति, इत = अस्मात्, का, स्तुति खलु = का, वर्णना, खलु । न काऽपीति भाव ॥ ११५ ॥

अनुवादः—हे विदर्भदेशकी राजकुमारि ! आप धन्य है, जिन आपने नलको भी आकृष्ट कर दिया है । जो चन्द्रिका समुद्रको भी क्षुब्ध कर देती है, इससे अधिक उसका क्या वर्णन किया जा सकता है ? ॥ ११५ ॥

टिप्पणी—वैदर्भि = विदर्भ + अण् + ङीप् + सु (सम्बुद्धिमे) । एक पक्षमे वैदर्भीरीति । धन्या = धनं लब्ध्री, धन शब्दसे "धनगणं लब्धा" इस सूत्रसे यत् प्रत्यय, स्त्रीत्वविवक्षामे टाप् । गुणैः = वैदर्भी रीतिके पक्षमे श्लेष, प्रसाद आदि गुण लिये जाते है । समाकृष्यत = सम् + आङ् + कृष + लङ् (कर्ममे) + त । उत्तरलीकरोति = उत्तरल + च्वि + कृ + लट् + तिप् । इस पद्यमे प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार है, जैसे कि साहित्यदर्पणमे उसका लक्षण है—

"प्रतिवस्तूपमा साम्याद्वाक्ययोर्गम्यसाम्ययो ।
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ॥" १०–६८ ।

इसमे समाकर्षण और उत्तरलीकरण क्रिया एक ही है । पुनरुक्ति हटानेके लिए भिन्नवाचक शब्दसे निर्देश किया गया है ॥ ११६ ॥

नलेन भायाः शशिना निशेव, त्वया स भायान्निशया शशीव ।
पुनः पुनस्तद्युगयुग् विधाता स्वभ्यासमास्ते नु युवां युयुक्षुः ॥ ११७ ॥

अन्वयः—शशिना निशा इव (त्वम्) नलेन भायाः । सः (अपि) निशया शशी इव त्वया भायात् । पुनः पुनः तद्युगयुक् विधाता युवां युयुक्षु स्वभ्यासम् आस्ते नु ? ॥ ११७ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) शशिना = चन्द्रमसा, निशा इव = रात्रिः इव, (त्वं = भवती), नलेन = नैषधेन, भायाः = शोभस्व । सः = नलः अपि, निशया = रात्र्या, शशी इव = चन्द्रमा इव, त्वया = भवत्या, भायात् = शोभ-ताम् । पुनः पुनः = वारं वारं, प्रतिमासमिति भावः । तद्युगयुक् = निशाशशि-

-युगलयोजकः, विधाता = ब्रह्मा, युवा = नलं त्वां च, युयुक्षुः = योजनेच्छुः, सन्। स्वभ्यासं = निरन्तराऽभ्यासे। आस्ते नु = तिष्ठति किम् ?॥ ११७॥

अनुवादः—(हे राजकुमारि !) चन्द्रके साथ रात्रिके समान आप नलसे शोभित हो। नल भी रात्रिके साथ चन्द्रके समान आपसे शोभित हो। इस प्रकार वारवार रात्रि और चन्द्रकी जोडोको मिलानेवाले ब्रह्माजी आप दोनोको भी मिलानेकी इच्छा करते हुए निरन्तर अभ्यास बढानेमे तत्पर रहते हैं क्या ?॥ ११७॥

टिप्पणी—भाया = "भा दीप्तौ" धातुसे आशीर्लिङ्मे सिप्। तद्युगयुक् = तयोर्युग (ष० त०), तद् युनक्तीति, तद्युग + युज् + क्विप् (उपपद०)। युवां= नलं च त्वां च युवां, तौ "त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्" इससे एकशेष। युयुक्षु =योक्तुमिच्छु युज् + सन् + उ। स्वभ्यासम् = अभ्यासस्य समृद्धौ, समृद्धिके अर्थमे "अव्ययं विभक्तिसमृद्धि०" इत्यादि सूत्रसे अव्ययीभाव समास और "तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्" इस सूत्रसे सप्तमी विभक्तिका विकल्पसे अम्भाव। "योग्यामुपास्ते" इस पाठान्तरमे योग्याम् = अभ्यासम्। उपास्ते = करोति, यह अर्थ है। "योग्याऽभ्यासाऽर्थयोषितो." इति विश्वः। आस्ते + आस + लट् + त। इस पद्यमे अन्योन्य अलङ्कार, दो उपमाएँ और उत्प्रेक्षा इनका सङ्कर है॥ ११७॥

स्तनद्वये तन्वि ! परं तवैव पृथौ यदि प्राप्स्यति नैषधस्य।
अनल्पवैदग्ध्यविवर्धिनीनां पत्त्रावलीनां रचना समाप्तिम्॥ ११८॥

अन्वयः—हे तन्वि ! नैषधस्य अनल्पवैदग्ध्यविवर्धिनीनां पत्त्रावलीनां रचना समाप्तिं प्राप्स्यति यदि (तर्हि) पृथौ तव एव स्तनद्वये परं प्राप्स्यति॥ ११८॥

व्याख्या—हे तन्वि = हे कृशाङ्गि, नैषधस्य = नलस्य, अनल्पवैदग्ध्यविवर्धिनीनां = महानैपुण्योज्जृम्भणीनां, पत्त्रावलीनां = पत्त्रपङ्क्तीनां, रचना = निर्मितिः, समाप्तिं = सम्पूर्णता, प्राप्स्यति यदि = आसादयिष्यति चेत्, तर्हि, पृथौ = विशाले, तव एव = भवत्या एव, स्तनद्वये = कुचद्वितये, परम् = उत्कर्षं यथा तथा, प्राप्स्यति=आसादयिष्यति, अन्यस्या अयोगत्वादिति भावः॥ ११८॥

अनुवादः—हे कृशाङ्गि ! नलकी बडी निपुणतासे बढायी गयी पत्त्रावलियोंकी रचना समाप्तिको प्राप्त करेगी तो आपके ही विशाल पयोधरोमे उत्कर्षपूर्वक प्राप्त करेगी॥ ११८॥

टिप्पणी—अनल्पवैदग्ध्यविवर्धिनीनाम् = अनल्पं च तत् वैदग्ध्यम् (क० धा०), तेन विवर्धिन्यः, तासाम् (तृ० त०)। पत्त्राऽऽवलीनां = पत्त्राणामा-

बल्य', तासाम् (ष० त०)। प्राप्स्यति = प्र+आप्+लृट्+तिप्। पृथौ = पृथु शब्दके भाषितपुस्क होनेसे "तृतीयाऽऽदिषु भाषितपुस्क पुंवद्गालवस्य" इस सूत्रसे पुवद्भाव। स्तनद्वये = स्तनयोर्द्वयं तस्मिन् (ष० त०)। इस पद्यमे "सम" अलङ्कार है, उसका लक्षण है—

"सम स्यादानुरूप्येण श्लाघा या योग्यवस्तुनो।" ६–९२ ॥ ११८ ॥

एकः सुधांऽशुर्न कथञ्चन स्यात्तृप्तिक्षमस्त्वन्नयनद्वयस्य।
त्वल्लोचनाऽऽसेचनकस्तदस्तु नलाऽऽस्यशीतद्युतिसद्वितीयः ॥ ११९ ॥

अन्वयः—एक. सुधा.शु त्वन्नयनद्वयस्य कथञ्चन तृप्तिक्षमो न स्यात्, तत् नलाऽऽस्यशीतद्युतिसद्वितीयः (सन्) त्वल्लोचनाऽऽसेचनक अस्तु ॥ ११९ ॥

व्याख्या—एक = एकाकी, सुधाऽशुः = चन्द्र, त्वन्नयनद्वयस्य = भवन्नेत्रद्वितयस्य, कथञ्चन = केनाऽपि प्रकारेण, तृप्तिक्षम. = प्रीणनसमर्थः, न स्यात् = नो भवेत्, तत् = तस्मात्कारणात्, नलाऽऽस्यशीतद्युतिसद्वितीय = नलास्यशीतद्युतिना (नलमुखचन्द्रेण) सद्वितीय (द्वितीययुक्त) सन्, त्वल्लोचनाऽऽसेचनक = त्वल्लोचनयो. (भवन्नयनयो) आसेचनकः (अत्यन्ततृप्तिकरः), अस्तु = भवतु ॥ ११९ ॥

अनुवादः—एक चन्द्र आपके दोनो नेत्रोको किसी प्रकारसे तृप्त करनेमे समर्थ नही होगे, इस कारणसे वे (चन्द्र) नलके मुखचन्द्रके साथ दूसरे होते हुए आपके दोनो नेत्रोको अत्यन्त तृप्ति करनेवाले हो ॥ ११९ ॥

टिप्पणी—सुधाऽशुः = सुधा अशु. यस्य सः (बहु०)। त्वन्नयनद्वयस्य = नयनयोर्द्वयम् (ष० त०), तव नयनद्वय, तस्य (ष० त०)। तृप्तिक्षमः = तृप्तौ क्षम (स० त०)। नलाऽऽस्यशीतद्युतिसद्वितीय = नलस्य आस्यम् (ष० त०)। शीता द्युतिर्यस्य स (बहु०)। नलाऽऽस्यम् एव शीतद्युतिः (रूपक०)। द्वितीयेन सहित सद्वितीय. (तुल्ययोग-बहु०)। नलाऽऽस्यशीतद्युतिना सद्वितीय. (तृ० त०)। त्वल्लोचनाऽऽसेचनक = तव लोचने (ष० त०), तयो आसेचनकः (ष० त०)। "तदासेचनक तृप्तेर्नाऽस्त्यन्तो यस्य दर्शनात्" इत्यमर ॥ ११९ ॥

अहो! तपःकल्पतरुर्नलीयस्त्वत्पाणिजाग्रस्फुरदङ्कुरश्रीः।
त्वद्भ्रूयुगं यस्य खलु द्विपत्री, तवाऽधरो रज्यति यत्कलम्बः ॥ १२० ॥
यस्ते नवः पल्लवितः कराभ्यां, स्मितेन यः कोरकितस्तवाऽऽस्ते।
अङ्गम्रदिम्ना तव पुष्पितो यः, स्तनश्रिया यः फलितस्तवैव ॥ १२१ ॥

अन्वयः—(हे राजकुमारि !) नलीयः तपःकल्पतरुः अहो ! (यः) त्वत्पाणिजाऽग्रस्फुरदङ्कुरश्री , यस्य त्वद्भ्रूयुग द्विपत्री, तव अधरो यत्कलम्बो रज्यति ॥ १२० ॥

य. ते कराभ्या नव पल्लवित । य. तव स्मितेन कोरकित. आस्ते ।
य तव अङ्गम्रदिम्ना पुष्पित. । य तव एव स्तनश्रिया फलित ॥१२१॥

व्याख्या—अथ द्वाभ्या पद्याभ्या नलस्य तप.साफल्यमाह—अहो इत्यादिना । (हे भैमि !) नलीय = नलसम्बन्धी, तप कल्पतरु = तपस्याकल्पवृक्ष , अहो = आश्चर्यस्वरूप । (य = कल्पतरु), त्वत्पाणिजाऽग्रस्फुरदङ्कुरश्री त्वत्पाणिजाग्रै· (त्वत्कराऽग्रै) स्फुरदङ्कुरश्रीः (प्रकाशमानाऽङ्कुरशोभ), यस्य = कल्पतरो., त्वद्भ्रूयुग=भवद्भ्रूयुग्मं, द्विपत्री = पत्रद्वय, प्रथमोत्पन्नमिति शेष । तव = भवत्याः, अधर = ओष्ठ , यत्कलम्ब = कल्पतरुनाल, रज्यति = रक्तो भवति, स्वयमेवेति शेष· ॥ १२१ ॥

य = नलीयः कल्पतरु , ते = तव, कराभ्या = हस्ताभ्या, नव. = नूतन , पल्लवित = सञ्जातपल्लव । य = कल्पतरु , तव = भवत्या , स्मितेन = मदहास्येन, कोरकित. = सञ्जातकोरकः सन्, आस्ते = तिष्ठति । य.=कल्पतरु , तव = भवत्या , अङ्गम्रदिम्ना = शरीरमार्दवेन, पुष्पित = सञ्जातपुष्प । य = कल्पतरु·, तव एव = भवत्या एव, स्तनश्रिया = पयोधरशोभया, फलित = सञ्जातफल आस्ते ॥ १२१ ॥

अनुवाद.—(हे राजकुमारि !) नल का तपस्यारूप कल्पवृक्ष आश्चर्यस्वरूप है। जो कि आपके नाखूनोके अग्रभागोसे इसके अङ्कुरोकी शोभा प्रकाशित हो रही है। जिस (कल्पवृक्ष) के आपकी भौहे दो पत्ते है। आपका ओष्ठ जिसका लाल नाल हो रहा है ॥ १२० ॥

जो (नलका तपःसम्बन्धी कल्पवृक्ष) आपके दो हाथोसे नया पल्लववाला है। जो आपके मन्दहास्यसे कलीसे युक्त है। जो आपके शरीरकी कोमलतासे पुष्पयुक्त है। जो नलका तपस्यारूप कल्पवृक्ष आपकी ही पयोधर–शोभासे फलसम्पन्न है ॥ १२१ ॥

टिप्पणी—नलीयः = नलस्य अयम्, "वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या' इससे वृद्धसज्ञक होकर नल-शब्दसे "वृद्धाच्छ." इस सूत्रसे छ (ईय) प्रत्यय। तप:कल्पतरु. = तप एव कल्पतरुः (रूपक०), त्वत्पाणिजाऽग्रस्फुरदङ्कुरश्री. = पाणिभ्या जाताः पाणिजाः (नखाः), पाणि + जन् + डः (उपपद०)

पाणिजानाम् अग्राणि (ष० त०)। तव पाणिजाग्राणि (ष० त०)। अङ्कुराणां श्री (ष० त०)। स्फुरन्ती अङ्कुरश्रीर्यस्य (बहु०)। त्वत्पाणिजाऽग्रैः स्फुरदङ्कुरश्री. (तृ० त०)। त्वद्भ्रूयुग = भ्रुवोर्युगम् (ष० त०), तव भ्रूयुगम् (ष० त०)। द्विपत्री = द्वयोः पत्त्रयो. समाहारः (द्विगु०)। यत्कलम्ब· = यस्य कलम्ब. (ष० त०) "अस्य तु नालिका कलम्बश्च" इत्यमरः। रज्यति= "रञ्ज रागे" धातुसे "कुषिरञ्जोः प्राचा श्यन्परस्मैपद च" इस सूत्रसे कर्मकर्त्ता मे श्यन् और परस्मैपदित्व ॥ १२० ॥

पल्लवित = पल्लवानि सजातानि अस्य स, पल्लव+इतच्। कोरकित = कोरका संजाता अस्य सः, कोरक+इतच्। अङ्गम्रदिम्ना=मृदोर्भावो म्रदिमा, "मृदु" शब्दसे "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इस सूत्रसे इमनिच्प्रत्यय और "र ऋतो र्हलादेर्लघो "इस सूत्रसे 'ऋ' के स्थानमे 'र' आदेश। अङ्गाना म्रदिमा, तेन (ष० त०)। पुष्पित = पुष्पाणि संजातानि अस्य स, पुष्प+इतच्। स्तन-श्रिया = स्तनयो श्रीः, तया (ष० त०)। फलित = फले सञ्जाते अस्य सः, फल+इतच्। सर्वत्र "तदस्य सजातं तारकादिभ्य इतच्" इससे इतच्प्रत्यय। यहाँपर दो श्लोकोमे तपमे कल्पतरुत्वका और दमयन्तीके नख आदियोमे अव-यवत्वका आरोप करनेसे साऽवयवरूपक, तथा अवयवी परस्पर कार्यकारणभूत कल्पतरुका और अवयव नखाऽङ्कुर आदियोका भिन्न देशमे रहनेसे असङ्गति अलङ्कारसे मिश्रित हे, इस प्रकार सङ्कर है। असङ्गतिका लक्षण है—

"कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसङ्गति ।" (सा० द० १०–९०) ॥१२१॥

कंसीकृताऽऽसीत् खलु मण्डलीन्दोः संसक्तरश्मिप्रकरा स्मरेण।
तुला च नाराचलता निजैव मिथोऽनुरागस्य समीकृतौ वाम् ॥ १२२ ॥

अन्वयः—(हे भैमि !) स्मरेण वां मिथोऽनुरागस्य समीकृतौ ससक्तरश्मि-प्रकरा इन्दोः मण्डली कंसीकृता आसीत्। निजा नाराचलता एव तुला (कृता आसीत्) ॥ १२२ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) स्मरेण = कामदेवेन कर्त्रा, वा = युवयो., मिथोऽ-नुरागस्य = अन्योन्यप्रणयस्य, समीकृतौ = समीकरणे निमित्ते, ससक्तरश्मि-प्रकरा = संयोजितकिरणसमूहा, संयोजितसूत्रसमूहा च, इन्दो = चन्द्रमस., मण्डली = बिम्ब, कसीकृता = लोहपात्रीकृता, आसीन् = अभवत्। निजा = स्वकीया, नाराचलता एव = बाणवल्ली एव, तुला = तुलादण्ड., कृता आसीदिति शेषः ॥ १२२ ॥

अनुवाद:—(हे राजकुमारि !) कामदेवने आप दोनोके (नल और आपके) परस्परके अनुरागको बराबर करनेके लिए चन्द्रमण्डलको तराजूका पलडा बनाया, चन्द्रकिरणोको रस्सी बनाया और अपनी बाणलताको तराजूका दण्ड बना डाला ॥ १२२ ॥

टिप्पणी—ससक्तरश्मिप्रकरा = रश्मीना प्रकर (ष० त०)। "किरण-प्रग्रहौ रश्मी" इत्यमरः। ससक्तो रश्मिप्रकरो यस्या सा (बहु०)। कसीकृता= अकस: कसो यथा सम्पद्यते तथा कृता, कस+च्वि+कृता। "कंसोऽस्त्री लोहभाजनम्" इति शाब्दिकमण्डनम्। नाराचलता = नाराच एव लता (रूपक०)। इस पद्यमे इन्दुदण्ड आदिमे कस आदिका रूपण शाब्द और रश्मिमे सूत्रका आरोप आर्थं होनेसे एकदेशविवर्ति रूपक अलङ्कार है, जैसे कि—

"यत्र कस्यचिदार्थत्वमेकदेशविवर्ति तत्।" (सा० द० १०–४६) ॥१२२॥

सत्त्वस्रुतस्वेदमधूत्थसान्द्रे तत्पाणिपद्मे मदनोत्सवेषु।
लग्नोत्थितास्त्वत्कुचपत्त्ररेखास्तन्निर्गतास्तत् प्रविशन्तु भूय.॥ १२३ ॥

अन्वय:—मदनोत्सवेषु सत्त्वस्रुतस्वेदमधूत्थसान्द्रे तत्पाणिपद्मे लग्नोत्थिता. तन्निर्गता· त्वत्कुचपत्त्ररेखा भूय. तत् प्रविशन्तु ॥ १२३ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) मदनोत्सवेषु = रतिक्रीडासु, तत्त्वस्रुतस्वेदमधूत्थसान्द्रे = मनोविकारजनितघर्मोदकरूपमधूच्छिष्टनिबिडे, तत्पाणिपद्मे = नलकरकमले, लग्नोत्थिता. = सक्रान्तविश्लिष्टा·, तन्निर्गता = नलपाणिकमल-लिखिता·, त्वत्कुचपत्त्ररेखा. = भवत्पयोधरपत्त्रावलय·, भूय = पुन, तत् = नलपाणिपद्म, प्रविशन्तु = प्रवेशं कुर्वन्तु, कार्यस्य कारणे लयनियमादिति भाव। युवयो समागमोऽस्तु इत्यभिप्राय.॥ १२३ ॥

अनुवाद:—(हे राजकुमारि !) रतिक्रीडाओमे मनोविकारसे उत्पन्न स्वेदरूप मोमसे गाढ नलके करकमलमे लगकर आपके कुच तटसे विश्लिष्ट नलके करकमलसे उत्पन्न आपके पयोधरोकी पत्त्रावलियाँ फिर नलके करकमलमे प्रवेश करें॥ १२३ ॥

टिप्पणी—मदनोत्सवेषु = मदनस्य उत्सवा·, तेषु (ष० त०)। सत्त्वस्रुत-स्वेदमधूत्थसान्द्रे = सत्त्वेन स्रुतः (तृ० त०), स चाऽसौ स्वेद. (क० धा०)। मधुन उत्तिष्ठतीति मधूत्थम्, मधु+उद्+स्था+क: (उपपद०)। सत्त्व स्रुतस्वेद एव मधूत्थम् (रूपक०)। तेन सान्द्रस्तस्मिन् (तृ० त०)। तत्पा णिपद्मे = पाणि· पद्मम् इव (उपमेयपूर्वपद-कर्म०)। तस्य पाणिपद्मं, तस्मिन्

(ष० त०)। लग्नोत्थिता. = पूर्वं लग्ना पश्चात् उत्थिताः, "पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवला समानाऽधिकरणेन" इससे समास। तन्निर्गताः = तेन निर्गता (तृ० त०)। त्वत्कुचपत्त्ररेखाः = तव कुचौ (ष० त०)। तयोः पत्त्ररेखाः (ष० त०)। इस पद्यमे रूपक अलङ्कार है ॥ १२३ ॥

बन्धाऽऽढ्यनानारतमल्लयुद्धप्रमोदितैः केलिवने मरुद्भिः।
प्रसूनवृष्टिं पुनरुक्तमुक्तां प्रतीच्छतं भैमि! युवां युवानौ ॥ १२४ ॥

अन्वयः—हे भैमि! बन्ध्याऽऽढ्यनानारतमल्लयुद्धप्रमोदितै. केलिवने मरुद्भिः पुनरुक्तमुक्ता प्रसूनवृष्टिं युवानौ युवा प्रतीच्छतम् ॥ १२४ ॥

व्याख्या—हे भैमि = हे दमयन्ति!, बन्धाऽऽढ्यनानारतमल्लयुद्धप्रमोदितैः = उत्तानाद्यासनसंपूर्णविविधसुरतमल्लसमरसन्तोषितै. केलिवने = क्रीडोपवने, मरुद्भिः वायुभिर्देवैश्च, पुनरुक्तयुक्ता = सान्द्रविसृष्टां, प्रसूनवृष्टिं = पुष्पवर्षं, युवानौ = तरुणौ, युवा = भवन्तौ, नलस्त्व चेति भाव । प्रतीच्छतं = स्वीकुरुतम् । समरवीरा जना अमरै. प्रसूनवृष्ट्या सत्क्रियन्त इति भाव ॥ १२४ ॥

अनुवादः—हे दमयन्ति! क्रीडाके उपवनमे आसनोसे समृद्ध अनेक रतिक्रीडारूप मल्लयुद्धोसे प्रसन्न बनाये गये वायुवर्ग और देवताओसे वारवार छोड़ी गयी पुष्पवृष्टिको तरुण और तरुणी आप दोनो (नल और आप) स्वीकार करें ॥१२४॥

टिप्पणी—बन्धाढ्यनानारतमल्लयुद्धप्रमोदितै = बन्धै. आढ्य (तृ० त०), तच्च तत् नानारतम् (क० धा०), तदेव मल्लयुद्ध (रूपक)। तेन प्रमोदिता', तै. (तृ० त०)। केलिवने = केलेर्वनं, तस्मिन् (ष० त०)। मरुद्भिः = "मरुतौ पवनाऽमरौ" इत्यमर। पुनरुक्तमुक्तां = पुनरुक्त (यथा तथा) मुक्ता, ताम् (सुप्सुपा०)। प्रसूनवृष्टिं = प्रसूनानां वृष्टि, ताम् (ष० त०)। युवानौ = युवतिश्च युवा च "पुमान् स्त्रिया" इस सूत्रसे एकशेष। प्रतीच्छतं = प्रति + इष् + लोट् + थस्। इस पद्यमे रूपक अलङ्कार है ॥ १२४ ॥

अन्योन्यसङ्गमवशादधुना विभातां, तस्याऽपि तेऽपि मनसी विकसद्विलासे।
स्रष्टुं पुनर्मनसिजस्य तनुं प्रवृत्तमादाविव द्व्यणुककृत् परमाणुयुग्मम् ॥ १२५ ॥

अन्वयः—(हे भैमि!) अधुना अन्योन्यसङ्गमवशात् विकसद्विलासे तस्य अपि ते अपि मनसी मनसिजस्य तनु पुनः स्रष्टुं प्रवृत्तम् आदौ द्व्यणुककृत् परमाऽणुयुग्मम् इव विभाताम् ॥ १२५ ॥

व्याख्या—(हे भैमि!) अधुना = इदानीम्, उभयसम्बन्धाऽनन्तरमिति भावः। अन्योन्यसङ्गमवशात् = परस्परसयोगवशात्, विकसद्विलासे = वर्ध-

मानोल्लासे, तस्य अपि = नलस्य अपि, ते अपि = भवत्या अपि, मनसि = मानसे, मनसिजस्य = कामस्य, तनुं = शरीरं, पुनः = भूयः, स्रष्टुम् = आरब्धुं, प्रवृत्तम् = उद्यतम्, आदौ = पूर्वकाले, द्वयणुककृत् = द्वयणुकाऽऽरम्भक, परमाणुयुग्म = परमाणुयुगलम् इव, विभाता = शोभेताम् ॥ १२५ ॥

अनुवादः—(हे दमयन्ती !) इस समय परस्परमे सयोग होनेसे विकसित विलासवाले नलके और आपके मन आरम्भमे द्वयणुकको बनाने वाले दो परमाणुओके समान कामदेव के शरीरको फिर उत्पन्न कर शोभित हो ॥ १२५ ॥

टिप्पणी—अन्योन्यसङ्गमवशात् = अन्योन्ययो सङ्गमः (ष० त०), तस्य वश , तस्मात् (ष० त०)। विकसद्विलासे = विकसन् विलासो ययोस्ते (बहु०)। मनसिजस्य = मनसि जायते इति मनसिजः, तस्य, जन धातुसे "सप्तम्यां जनेर्डः" इस सूत्रसे ड प्रत्यय, "हलदन्तात्सप्तम्या. संज्ञायाम्" इससे अलुक् समास। "शम्बरारिर्मनसिजः कुसुमेषुरनन्यजः" । इत्यमरः। स्रष्टु = सृज + तुमुन् । द्वयणुककृत् = द्वयणुक करोतीति, द्वयणुक + कृ + क्विप् (उपपद०)। परमाणुयुग्म = परमाण्वोर्युग्मम् (ष० त०)। विभाता = वि + भा + लोट् + तस (ताम्)। न्यायशास्त्रके सिद्धान्तके अनुसार जैसे सक्रिय दो परमाणुओसे द्वयणुक उत्पन्न होता है, उसी तरह आप दोनोके मन भी मिलकर विलासपूर्ण होकर कामदेवके शरीरको उत्पन्न करें यह अभिप्राय है। इस पद्यमे उत्प्रेक्षा अलङ्कार और वसन्ततिलका वृत्त है ॥ १२५ ॥

कामः कौसुमचापदुर्जयममुं जेतु नृपं त्वां धनु—
र्वल्लीमव्रणवंशजामधिगुणामासाद्य माद्यत्यसौ।
ग्रीवाऽलङ्कृतिपट्टसूत्रलतया पृष्ठे कियल्लम्बया
भ्राजिष्णुं कषरेखयेव निवसत्सिन्दूरसौन्दर्यया ॥ १२६ ॥

अन्वयः—असौ काम. कौसुमचापदुर्जयम् अमु नृप जेतुम् अव्रणवशजाम् अधिगुणां निवसत्सिन्दूरसौन्दर्यया कषरेखया इव पृष्ठे कियल्लम्बया ग्रीवाऽलङ्कृतिपट्टसूत्रलतया भ्राजिष्णु त्वाम् एव धनुर्वल्लीम् आसाद्य माद्यति ॥ १२६ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) असौ=अयं, नलजिगीषुरिति भावः। कामः=मदनः कौसुमचापदुर्जय = पुष्पधनुरजय्यम्, अमुम् = इमं, नृपं = राजान नलं, जेतु = वशीकर्तुम्, अव्रणवशजा = सत्कुलप्रसूता, दृढवेणुजन्यां च, अधिगुणाम् = अधिकसौन्दर्यादिगुणाम्, अधिज्या च, निवसत्सिन्दूरसौन्दर्यया = अनुवर्तमान-सिन्दूरसमशोभायुक्तया, कषरेखया = कृतघर्षणरेखया, इव, पृष्ठे = ग्रीवापश्चा-

कियल्लम्बया = कियद्दीर्घया, ग्रीवाऽलङ्कृतिपट्टसूत्रलतया = शिरोधिभूषणकौशेयतन्तुवल्ल्या, भ्राजिष्णु = शोभमानां, त्वाम् एव = भवतीम् एव, धनुर्वल्ली = चापलताम्, आसाद्य = प्राप्य, माद्यति = हृष्यति ॥ १२६ ॥

अनुवाद.—(हे राजकुमारि !) वह कामदेव, फूलोके धनुषसे नही जीते जानेवाले राजा नलको जीतनेके लिए उत्तम कुलमे उत्पन्न, सौन्दर्य आदि अधिक गुणोवाली, सिन्दूरके सौन्दर्यसे युक्त घर्षणकी रेखाकी समान, पीठपर कुछ लटकनेवाले ग्रीवाके भूषण रेशमीवस्त्रकी सूत्रलतासे चमकनेवाली आपको ही धनुष् के रूपमे प्राप्त कर प्रसन्न हो रहा है॥ १२६ ॥

टिप्पणी—कौसुमचापदुर्जयं = कुसुमानामयं कौसुम, कुसुम + अण्। कौसुमश्चाऽसो चाप. (क० धा०) । तेन दुर्जय तम् (तृ० त०) । जितेन्द्रिय होनेसे कामदेवके फूलोके बाणसे नही जीते जानेवाले राजा नलको यह तात्पर्य है । जेतु = जि + तुमुन् । अव्रणवशजाम् = अविद्यमान. व्रण. (छिद्र दोषो वा) यस्मिन् स: अव्रण (नञ-बहु०) । स चाऽसौ वश (क० धा०), तस्मिन् जाता, ताम् । अव्रणवश + जन् + ड (उपपद०) + टाप् अम् । दमयन्तीके पक्षमे निर्दोष कुलमे उत्पन्न, धनुर्वल्लीपक्षमे निश्छिद्र अर्थात् दृढ वशमे उत्पन्न "द्वौ वशौ कुलमस्करौ" इत्यमर । अधिगुणाम् = अधिका गुणाः यस्यां सा, ताम् (बहु०) । दमयन्तीके पक्षमे लावण्य आदि अधिक गुणोवाली । धनुर्वल्ली-पक्षमे—गुणे इति अधिगुणा, ताम् (विभक्त्यर्थमे अव्ययीभाव) प्रत्यञ्चासे युक्त धनुर्वल्ली । निवसत्सिन्दूरसौन्दर्यया = सिन्दूरस्य सौन्दर्यम् (ष० त०), निवसत् सिन्दूरसौन्दर्यं यस्या सा (बहु०) कषरेखया = कषस्य रेखा, तया (ष० त०), "शाणस्तु निकषः कष." इत्यमरः । धनुष् लायक बांसकी परीक्षा उसपर डाला गया सिन्दूर रगड़नेपर सिन्दूरका वर्ण मिटे तो वह परिपक्व होनेसे उत्तम माना जाता है । कियल्लम्बया = कियत् (यथा तथा) लम्बा, तया (सुप्सुपा०) । ग्रीवाऽलङ्कृतिपट्टसूत्रलतया = ग्रीवाया अलङ्कृतिः (ष० त०), पट्टस्य सूत्र (ष० त०) । पट्टसूत्रम् एव लता (रूपक०) । ग्रीवाऽलङ्कृतिश्चाऽसौ पट्टसूत्रलता (क० धा०), तया । भ्राजिष्णुं = भ्राजते तच्छीला भ्राजिष्णु, ताम् "भ्राजृ दीप्तौ" धातुसे "भुवश्च" इस सूत्रसे "च" के पाठसे इष्णुच प्रत्यय । धनुर्वल्ली = धनुरेव वल्ली, ताम् (रूपक०) । आसाद्य = आङ् + सद् + णिच् + क्त्वा (ल्यप्) । माद्यति = "मदी हर्षे" धातुसे लट् + तिप् । इस पद्यमे श्लेष, और रूपकका अङ्गाङ्गिभाव होनेसे सङ्कर अलङ्कार और शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ १२६ ॥

त्वद्गुच्छाऽऽवलिमौक्तिकानि घुटिकास्तं राजहंसं विभो-
र्वेध्यं विद्धि मनोभुवः स्वमपि तां मञ्जुं धनुर्मञ्जरीम् ।
यन्नित्याङ्कनिवासलालिततमज्याभुज्यमानं लस-
न्नाभीमध्यबिला विलासमखिलं रोमाऽऽलिरालम्बते ॥ १२७ ॥

अन्वयः—(हे भैमि) विभोः मनोभुवः त्वद्गुच्छाऽऽवलिमौक्तिकानि घुटिकाः, तं राजहंस वेध्यं, स्वम् अपि ता मञ्जु धनुर्मञ्जरी विद्धि । यन्नित्याऽङ्कनिवासलालिततमज्याभुज्यमानम् अखिलं विलास लसन्नाभीमध्यबिला रोमाऽऽलिः आलम्बते ॥ १२७ ॥

व्याख्या—(हे भैमि !) विभोः = प्रभो., मनोभुव = कामस्य, पक्षिवेद्धुरिति शेष । त्वद्गुच्छाऽऽवलिमौक्तिकानि = भवद्धारविशेषमुक्ता', घुटिका. = गुलिका , त = पूर्वोक्त, राजहंसं = राजश्रेष्ठ नलं, कलहसम् (अत्र श्लिष्टरूपकम्), वेध्यं = लक्ष्यं, स्वम् अपि = आत्मानम् अपि, ता = वक्ष्यमाणप्रकारा, मञ्जुं = मनोहरां, धनुर्मञ्जरी = चापवल्लरी, विद्धि = जानीहि । यन्नित्याऽङ्कनिवासलालिततमज्याभुज्यमानं = यत्सततोत्सङ्गवासाऽत्याहतमौर्व्यनुभूयमानम्, अखिल= समस्तं, विलास = शोभा, ज्यारूपतामित्यर्थं । लसन्नाभीमध्यबिला = दीप्यन्नाभीगुलिकास्थाना, रोमालिः = त्वल्लोमपङ्क्ति., आलम्बते = भजति ॥ १२७ ॥

अनुवादः—(हे राजकुमारि !) आपकी हारपङ्क्तियोंके मोतियोको कामदेवकी गोलियाँ जानिए, उन राजहस नलको लक्ष्य (निशाना) समझिए, और अपनेको कामदेवकी सुन्दर धनुर्लता जानिए, जिसकी गोद (मध्यभाग)-मे नित्य निवास करनेसे अत्यन्त आदृत प्रत्यञ्चासे अनुभव की जानेवाली सम्पूर्ण शोभाको प्रकाशित नाभिरूप मध्यच्छिद्र (गोली रखनेका स्थान) से युक्त रोमपङ्क्ति आश्रय कर रही है ॥ १२७ ॥

टिप्पणी— त्वद्गुच्छाऽऽवलिमौक्तिकानि = गुच्छानाम् आवलिः (ष० त०), "हारभेदा यष्टिभेदा गुच्छगुच्छार्धगोस्तनाः" इत्यमरः । तव गुच्छाऽऽवलिः (ष० त०) तस्या मौक्तिकानि (ष० त०) । मुक्ता एव मौक्तिकानि । मुक्ता + ठक् । स्वार्थमे ठक् (इक) प्रत्यय । राजहसं = राजा हस इव, तम् (उपमितकर्म०) । तमेव राजहसम्=हसाना राजा, तम् (ष० त०) "राजदन्तादिषु परम्" इससे राजपदका पूर्वप्रयोग । श्लिष्टरूपक है । "राजहंसो नृपश्रेष्ठे कादम्बकलहंसयो." इति विश्व. । वेध्यं = वेधितुं योग्यः, तम् । "विध विधाने" धातुसे "ऋहलोर्ण्यत्" इस सूत्रसे ण्यत्, "धातूपसर्गाणामनेकाऽर्थाः" इस न्यायसे विध

धातुका यहाँ ताडन अर्थमे प्रयोग किया गया है। स्व = "स्वो ज्ञातावात्मनि स्वम्" इत्यमर । धनुर्मञ्जरी = धनुषो मञ्जरी, ताम् (ष० त०) । विद्धि = विद्+लोट्+सिप् । यन्नित्याऽङ्कनिवासलालिततमज्याभुज्यमानम्=अङ्कनिवासः (स० त०) । नित्यम् अङ्कनिवास. (सुप्सुपा०) । यस्या नित्याऽङ्कनिवास. (ष० त०) । अत्यर्थं लालिता लालिततमा, लालित+तमप+टाप् । लालिततमा चाऽसौ ज्या (क० धा०) । यन्नित्याऽङ्कनिवासेन लालिततमज्या (तृ० त०), तया भुज्यमान', तम् (तृ० त०) । लसन्नाभीमध्यबिला = मध्य च तत् बिलम् (क० धा०) । नाभी एव मध्यबिलम् (रूपक०) लसत् नाभीमध्यबिल यस्याः सा (बहु०) । रोमाऽऽलिः = रोम्णाम् आलि (ष० त०) । आलम्बते = आङ्+लबि+लट्+त । इस पद्यमे मौक्तिक आदिमे गुटिकादि अवयवका शब्द आरोप और अवयवी काममे वेद्धृत्वका अर्थ आरोप होनेसे एक देशविवर्ति साऽवयव रूपक अलङ्कार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ १२७ ॥

पुष्पेषुश्चिकुरेषु ते शरचयं स्वं भालमूले धनू
रौद्रे चक्षुषि यज्जितस्तनुमनुभ्राष्ट्रं च यश्चिक्षिपे ।
निर्विद्याऽऽश्रयदाश्रमं स वितनुस्त्वां तज्जयायाऽधुना
पत्त्राऽऽलिस्त्वदुरोजशैलनिलया तत्पर्णशालायते ॥ १२८ ॥

अन्वयः—य पुष्पेषु' यज्जितः निर्विद्य ते चिकुरेषु स्व शरचय, भालमूले धनु, रौद्रे चक्षुषि अनुभ्राष्ट्र तनुं चिक्षिपे । स वितनु (सन्) अधुना तज्जयाय त्वाम् आश्रमम् आश्रयत् । (अतएव) त्वदुरोजशैलनिलया पत्त्रालि. तत्पर्णशालायते ।

व्याख्या—(हे भैमि !) य, पुष्पेषुः=कामः, यज्जित =नलपराभूत', अतएव, निर्विद्य = निर्वेदमनुभूय, ईर्ष्या जीवननैष्फल्य ज्ञात्वेति भाव' । ते = तव, चिकुरेषु = केशेषु, स्वं = स्वकीय, शरचय = बाणसमूह, त्वद्धृतपुष्पच्छलादिति भावः । भालमूले = त्वल्ललाटभागे, धनु. = कार्मुकं, भ्रूव्याजादिति भाव. । रौद्रे = रुद्रसम्बन्धिनि, चक्षुषि = नेत्रे, तस्मिन्नेव अनुभ्राष्ट्र = भर्जनपात्रे, तनु च = स्वशरीर च, चिक्षिपे = क्षिप्तवान् । पूर्वमेव दग्धतनुव्याजादिति भावः । इत्थं च स. = काम., वितनु. = अनङ्ग. सन्, अधुना = इदानी, तज्जयाय = नलविजयार्थं, त्वा = भवतीम् एव, आश्रमं = तपोवनम्, आश्रयत् = आश्रितवान्, तपश्चर्यार्थमिति भावः । अन्यथा त कथ जेष्यतीति तात्पर्यम् । अतएव त्वदुरोजशैलनिलया = भवत्स्तनपर्वतस्थिता, पत्त्रालिः = पत्त्ररचना, पर्णसमूहश्च, तत्पर्णशालायते = कामस्य पर्णशालावत् आचरति ॥ १२८ ॥

अनुवादः—(हे राजकुमारि !) जिस कामदेवने नलसे पराजित होनेसे विरक्त होकर आपके केशोमे अपने बाणोको, आपके ललाट भागमे (भौंहोके बहानेसे) धनुषको और रुद्रके नेत्र रूप भट्टीमे अपने शरीरको डाल दिया है। इस प्रकार उस कामदेवने अनङ्ग (शरीररहित) होकर इस समय नलको जीतनेके लिए आश्रमके समान आपका आश्रय लिया है, इसी कारणसे आपके पर्वतरूप पयोधरोमे रहनेवाली पत्ररचना वा पर्णसमूह कामदेवकी पर्णशालाके समान आचरण कर रहा है ॥ १२८ ॥

टिप्पणी—पुष्पेषु.=पुष्पाणि इषव. अस्य स (बहु०)। यज्जित = येन जितः (तृ० त०)। निर्विद्य = निर् + विद् + क्त्वा (ल्यप्)। निर्वेदका लक्षण है—"तत्त्वज्ञानाऽऽपदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम्" (सा० द० ३–१४९) अर्थात् तत्त्वज्ञान, आपत्ति और ईर्ष्यादिसे अपना अपमान करना "निर्वेद" कहलाता है। शरचयं = शराणा चय, तम् (ष० त०)। भालमूले = भालस्य मूल, तस्मिन् (ष० त०), रौद्रे = रुद्र + अण् + ङि। अनुभ्राष्ट्रं = भ्राष्ट्रे इति, विभक्तिके अर्थमे "अव्यय विभक्ति०" इत्यादि सूत्रसे अव्ययीभाव समास । क्लीबेऽम्बरीष भ्राष्ट्रो ना" इत्यमर। चिक्षिपे = क्षिप् + लिट् + त। वितनु = विगता तनुर्यस्य स (बहु०)। तज्जयाय = तस्य जयः, तस्मै (ष० त०)। आश्रयत् = आङ् + श्रिञ् + लङ् + तिप्। त्वदुरोजशैलनिलया= उरसि जातौ उरोजौ, उरस् + जन् + ड + औ। उरोजौ एव शैलौ (रूपक०)। तव उरोजशैलो (ष० त०), त्वदुरोजशैलौ निलय यस्या. सा (बहु०)। पत्त्रालिः = पत्त्राणामालि. (ष० त०)। तत्पर्णशालायते = पर्णाना शाला (ष० त०), तस्य पर्णशाला (ष० त०)। तत्पर्णशाला इव आचरति, तत्पर्णशाला + क्यङ् + लट् + त। इस पद्यमे पूर्वार्द्धमे शर और चाप आदियोका पूर्वोक्त पुष्प आदि विषयका निगरण (अप्रतिपादन)से उनके साथ अभेदका अध्यवसाय होनेसे अभेदलक्षण अतिशयोक्ति, "तत्पर्णशालायते" कहनेसे उपमा और "त्वाम् आश्रमम्" कहनेसे रूपकसे सङ्कीर्ण, उत्प्रेक्षावाचक इव आदिका प्रयोग न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा इनका सङ्कर और शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥१२८॥

इत्यालपत्यथ पतत्रिणि तत्र भैमीं, सख्यश्चिरात्तदनुसन्धिपराः परीयुः ।
शर्माऽस्तु ते विसृज मामिति सोऽप्युदीर्य, वेगाज्जगाम निषधाऽधिपराजधानीम् ॥ १२९ ॥

अन्वयः—तत्र पतत्रिणि भैमीम् इति आलपति (सति) अथ चिरात् तदनुसन्धिपरा सख्य. परीयुः। सोऽपि ते शर्म अस्तु, मा विसृज इति उदीर्य वेगात् निषधाऽधिपराजधानी जगाम ॥ १२९ ॥

व्याख्या—तत्र = तस्मिन्, पतत्रिणि = पक्षिणि, हंसे। इति = इत्थम् आलपति = आभाषमाणे सति, अथ = अस्मिन् अवसरे, चिरात् = बहुकालात्, तदनुसन्धिपरा = दमयन्त्यन्वेषणपरा, सख्य = वयस्या, परीयु = परिवव्रुः। सोऽपि = हंसोऽपि, ते = तव, शर्म = सुखम्, अस्तु=भवतु, मां = हंस, विसृज= प्रेषय, नलसमीप इति भाव.। इति=एवम्, उदीर्य = उक्त्वा, वेगात् = जवात्, निषधाऽधिपराजधानी=नलनगरी, जगाम = वव्राज ॥ १२९ ॥

अनुवाद—हंसके दमयन्तीको ऐसा कहनेपर उस अवसरमे बहुत समयसे दमयन्तीको ढूँढती हुई सखियोने उसको घेर लिया। हंसने भी "आपको सुख मिले, मुझे रुखसत दीजिए" ऐसा कहकर वेगपूर्वक नलकी राजधानीमे प्रस्थान किया ॥ १२९ ॥

टिप्पणी—पतत्रिणि = पतत्र + इनि + ङि। आलपति = आङ् + लप + शतृ + ङि। तदनुसन्धिपरा = तस्या अनुसन्धि (ष० त०), तस्मिन् परा: (स० त०)। परीयु = परि + इण् + लिट् + झि:। विसृज = वि + सृज + लोट् + सिप्। उदीर्य = उद् + ईर + क्त्वा (ल्यप्)। निषधाऽधिपराजधानीं= निषधानाम् अधिप: (ष० त०)। राज्ञा धीयतेऽस्यामिति राजधानी, राजन् + धा + ल्युट् + ङीप् (उपपद०)। निषधाऽधिपस्य राजधानी, ताम् (ष० त०)। इस पद्यमे ओजगुण और वसन्ततिलका छन्द है ॥ १२९ ॥

चेतोजन्मशरप्रसूनमधुभिर्व्यामिश्रतामाश्रयत्
प्रेयोदूतपतत्ङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीनं रसात्।
स्वाद स्वादमसीम मृष्ट सुरभि प्राप्ताऽपि तृप्ति न सा
तापं प्राप नितान्तमन्तरतुलामानर्च्छ मूर्च्छामपि ॥ १३० ॥

अन्वयः—सा चेतोजन्मशरप्रसूनमधुभिः व्यामिश्रताम् आश्रयत्, असीम-मृष्टसुरभि प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीन रसात् स्वादं स्वादं तृप्ति प्राप्ता अपि अन्त नितान्त ताप न प्राप, अतुला मूर्च्छाम् अपि न आनर्च्छ ॥ १३० ॥

व्याख्या—सा=दमयन्ती, चेतोजन्मशरप्रसूनमधुभि = कामबाणभूतपुष्परसैः क्षौद्रैश्च, व्यामिश्रता = मेलनम्, आश्रयत् = प्राप्नुवत्, मिश्रं सदिति भावः। असीम = सीमारहितम्, अपरिमितमिति भाव। मृष्टसुरभि = शुद्धसुरभि, प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीन = नलसन्देशहरराजहंसवाणीघृत, रसात् = अनुरागात्, स्वादं स्वाद = पुन पुनरास्वाद्य, तृप्ति= सौहित्य, प्राप्ता अपि = प्राप्तवत्यपि, अन्त =अन्तःकरणे, नितान्तम् = अविरतं, ताप=सन्ताप, न प्राप=

अनुवादः—(हे राजकुमारि !) जिस कामदेवने नलसे पराजित होनेसे विरक्त होकर आपके केशोमे अपने बाणोको, आपके ललाट भागमे (भौहोके बहानेसे) धनुषको और रुद्रके नेत्र रूप भट्टीमे अपने शरीरको डाल दिया है। इस प्रकार उस कामदेवने अनङ्ग (शरीररहित) होकर इस समय नलको जीतनेके लिए आश्रमके समान आपका आश्रय लिया है, इसी कारणसे आपके पर्वतरूप पयोधरोमे रहनेवाली पत्ररचना वा पर्णसमूह कामदेवकी पर्णशालाके समान आचरण कर रहा है ॥ १२८ ॥

टिप्पणी—पुष्पेषुः = पुष्पाणि इषवः अस्य स (बहु०)। यज्जित = येन जितः (तृ० त०)। निर्विद्य = निर् + विद् + क्त्वा (ल्यप्)। निर्वेदका लक्षण है—"तत्त्वज्ञानाऽऽपदीर्ष्यादि निर्वेदः स्वावमाननम्" (सा० द० ३–१४९) अर्थात् तत्त्वज्ञान, आपत्ति और ईर्ष्यादिसे अपना अपमान करना "निर्वेद" कहलाता है। शरचयं = शराणा चय, तम् (ष० त०)। भालमूले = भालस्य मूल, तस्मिन् (ष० त०), रौद्रे = रुद्र + अण् + ङि। अनुभ्राष्ट्रं = भ्राष्ट्रे इति, विभक्तिके अर्थमे "अव्यय विभक्ति०" इत्यादि सूत्रसे अव्ययीभाव समास। क्लीबेऽम्बरीष भ्राष्ट्रो ना" इत्यमर। चिक्षिपे = क्षिप् + लिट् + त। वितनु = विगता तनुर्यस्य स (बहु०)। तज्जयाय = तस्य जय., तस्मै (ष० त०)। आश्रयत् = आङ् + श्रिञ् + लङ् + तिप्। त्वदुरोजशैलनिलया = उरसि जातौ उरोजौ, उरस् + जन् + ड + औ। उरोजौ एव शैलौ (रूपक०)। तव उरोजशैलो (ष० त०), त्वदुरोजशैलौ निलय· यस्या. सा (बहु०)। पत्त्रालिः = पत्त्राणामालि (ष० त०)। तत्पर्णशालायते = पर्णाना शाला (ष० त०), तस्य पर्णशाला (ष० त०)। तत्पर्णशाला इव आचरति, तत्पर्णशाला + क्यङ् + लट् + त। इस पद्यमे पूर्वार्द्धमे शर और चाप आदियोका पूर्वोक्त पुष्प आदि विषयका निगरण (अप्रतिपादन)से उनके साथ अभेदका अध्यवसाय होनेसे अभेदलक्षण अतिशयोक्ति, "तत्पर्णशालायते" कहनेसे उपमा और "त्वाम् आश्रमम्" कहनेसे रूपकसे सङ्कीर्ण, उत्प्रेक्षावाचक इव आदिका प्रयोग न होनेसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा इनका सङ्कर और शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥१२८॥

इत्यालपत्यथ पतत्रिणि तत्र भैमीं, सख्यश्चिरात्तदनुसन्धिपरा परीयुः।
शर्माऽस्तु ते विसृज मामिति सोऽप्युदीर्य, वेगाज्जगाम निषधाऽधिपराजधानीम्॥१२९॥

अन्वयः—तत्र पतत्रिणि भैमीम् इति आलपति (सति) अथ चिरात् तदनुसन्धिपरा सख्य. परीयुः। सोऽपि ते शर्म अस्तु, मा विसृज इति उदीर्य वेगात् निषधाऽधिपराजधानी जगाम ॥ १२९ ॥

व्याख्या—तत्र = तस्मिन्, पतत्रिणि = पक्षिणि, हंसे। इति = इत्थम् आलपति = आभाषमाणे सति, अथ = अस्मिन् अवसरे, चिरात् = बहुकालात्, तदनुसन्धिपरा = दमयन्त्यन्वेषणपरा, सख्यः = वयस्या, परीयु = परिवव्रुः। सोऽपि = हंसोऽपि, ते = तव, शर्म = सुखम्, अस्तु = भवतु, मां = हंस, विसृज = प्रेषय, नलसमीप इति भाव। इति = एवम्, उदीर्य = उक्त्वा, वेगात् = जवात्, निषधाऽधिपराजधानी = नलनगरी, जगाम = वव्राज॥ १२९॥

अनुवादः—हंसके दमयन्तीको ऐसा कहनेपर उस अवसरमे बहुत समयसे दमयन्तीको ढूँढती हुई सखियोने उसको घेर लिया। हंसने भी "आपको सुख मिले, मुझे रुखसत दीजिए" ऐसा कहकर वेगपूर्वक नलकी राजधानीमे प्रस्थान किया॥ १२९॥

टिप्पणी—पतत्रिणि = पतत्र + इनि + ङि। आलपति = आङ् + लप + शतृ + ङि। तदनुसन्धिपराः = तस्या अनुसन्धि (ष० त०), तस्मिन् पराः (स० त०)। परीयु. = परि + इण् + लिट् + झि। विसृज = वि + सृज + लोट् + सिप। उदीर्य = उद् + ईर + क्त्वा (ल्यप्)। निषधाऽधिपराजधानीं = निषधानाम् अधिप (ष० त०)। राज्ञा धीयतेऽस्यामिति राजधानी, राजन् + धा + ल्युट् + ङीप् (उपपद०)। निषधाऽधिपस्य राजधानी, ताम् (ष० त०)। इस पद्यमे ओजगुण और वसन्ततिलका छन्द है॥ १२९॥

चेतोजन्मशरप्रसूनमधुभिर्व्यामिश्रतामाश्रयत्
प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीनं रसात्।
स्वादं स्वादमसीम मृष्ट सुरभि प्राप्ताऽपि तृप्तिं न सा
तापं प्राप नितान्तमन्तरतुलामानर्च्छ मूर्च्छामपि॥ १३०॥

अन्वयः—सा चेतोजन्मशरप्रसूनमधुभिः व्यामिश्रताम् आश्रयत्, असीम-मृष्टसुरभि प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीन रसात् स्वादं स्वादं तृप्तिं प्राप्ता अपि अन्त नितान्त ताप न प्राप, अतुला मूर्च्छाम् अपि न आनर्च्छ॥ १३०॥

व्याख्या—सा = दमयन्ती, चेतोजन्मशरप्रसूनमधुभि = कामबाणभूतपुष्परसैः क्षौद्रैश्च, व्यामिश्रता = मेलनम्, आश्रयत् = प्राप्नुवत्, मिश्रं सदिति भाव। असीम = सीमारहितम्, अपरिमितमिति भाव। मृष्टसुरभि = शुद्धसुरभि, प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीन = नलसन्देशहरराजहंसवाणीघृत, रसात् = अनुरागात्, स्वादं स्वादं = पुन पुनरास्वाद्य, तृप्ति = सौहित्यं, प्राप्ता अपि = प्राप्तवत्यपि, अन्तः = अन्त.करणे, नितान्तम् = अविरतं, ताप = सन्ताप, न प्राप =

अन्वयः—वियति बन्धुम् अनुव्रजन्त्या तस्या दृश: तद्बाष्पवारि चिरात् न अवधि. बभूव । तत् अनेन दृष्टे. पार्श्वे अपि विप्रचकृषे, चित्तवृत्तेस्तु आरात् अपि न व्यवदधे ॥ १३१ ॥

व्याख्या—वियति = आकाशे, बन्धु = बान्धवभूतं हंसमित्यर्थं. । अनुव्रजन्त्याः = अनुगच्छन्त्या , तस्या = भैम्या , दृशः = दृष्टे:, तद्बाष्पवारि = तन्नयनजलं, चिरात् = बहुकालं यावत्, न अवधिर्बभूव= न सीमारूप बभूव, "ओदकान्तमनुव्रजेत्" इति शास्त्रात् अग्रे गन्तु न ददौ इति भाव । तत् = तस्मात्कारणात्, अनेन = हंसेन, पार्श्वे अपि = समीपे अपि, विप्रचकृषे = विप्रकृष्टेन बभूवे । चित्तवृत्तेस्तु = मनोवृत्तेस्तु, आरात् अपि = दूरे अपि, न व्यवदधे = व्यवहितेन न बभूवे ॥ १३१ ॥

अनुवादः—आकाशमे बन्धु हंसका दृष्टिसे अनुगमन करनेवाली दमयन्तीके नेत्रोके जल बहुत समयतक अवधिभूत नही हुए । इस कारणसे दमयन्तीके नेत्रोसे निकटमे भी हंस दूर हुआ और दूर होनेपर भी व्यवहित नही हुआ ॥ १३१ ॥

टिप्पणी—अनुव्रजन्त्या. = अनु + व्रज + लट् (शतृ) + ङीप् + ङस् । तद्बाष्पवारि = तस्या बाष्पम् (ष० त०), तस्य वारि (ष० त०) । आकाशमे अपने बन्धुको देखनेवाली दमयन्तीकी आँखोसे वियोगके दु खसे उत्पन्न आँसू बहुत समयतक उनकी दृष्टिके सीमाभूत नही हुए अर्थात् अपने बन्धुका कुछ दूरतक अनुगमनमे "ओदकान्तमनुव्रजेत्" अर्थात् जलाशयतक अनुगमन करे ऐसी शास्त्राज्ञा है । दमयन्तीकी आँखोमे आँसू आ जानेसे वह हंसका अनुगमन न कर सकी यह अभिप्राय है । विप्रचकृषे = वि + प्र + कृ + लिट् (भावमे) + त । चित्तवृत्ते: = चित्तस्य वृत्तिः, तस्या. (ष० त०) । आरात् = "आराद् दूरसमीपयो." इत्यमरः । व्यवदधे = वि + अव + धा + लिट् (भावमे) + त । हंसके जानेपर दमयन्तीकी आंखोमे आसू आ जानेसे हंस निकट होनेपर भी ओझल हुआ परन्तु दूर होनेपर भी चित्तवृत्तिसे ओझल नही हुआ यह तात्पर्य है । इस पद्यमे निकटस्थकी दूरता और दूरस्थकी निकटस्थताका वर्णन होनेसे विरोधाभास अलङ्कार है ॥ १३१ ॥

अस्तित्वं कार्यसिद्धेः स्फुटमथ कथयन्पक्षयोः कल्पभेदै-
राख्यातु वृत्तमेतन्निषधनरपतौ सर्वमेकः प्रतस्थे ।
कान्तारे निर्गताऽसि प्रियसखि ! पदवी विस्मृता किं नु मुग्धे !
मा रोदीरेहि यामेत्युपहृतवचसो निन्युरन्यां वयस्याः ॥ १३२ ॥

अन्वयः—अथ एक पक्षयोः कल्पभेदैः कार्यसिद्धेः अस्तित्वं स्फुटं कथयन् एतत् सर्वं वृत्त निषधनरपतौ आख्यातुं प्रतस्थे। अन्या वयस्याः "हे प्रियसखि ! हे मुग्धे ! कान्तारे निर्गता असि, पदवी विस्मृता किं नु ? मा रोदी.। एहि याम." इति उपहृतवचस· (सत्य·) (एनाम्) निन्यु ॥ १३२ ॥

व्याख्या—अथ = अनन्तरम्, एक = अन्यतरः, अनयोरिति शेष, हंस इत्यर्थ·। पक्षयो· = पतत्रयो, कम्पभेदै. = वेपथुरूपचेष्टाविशेषै, कार्यसिद्धे. = कृत्यासाफल्यस्य, अस्तित्व = सत्ता, स्फुट = व्यक्त, कथयन् = सूचयन्, एतत् = इद, सर्वं=सकलं, वृत्त=व्यतीत, दमयन्त्या सह संलापादिकमिति भावः। निषधनरपतौ=नले विषये, आख्यातु=कथयितु, प्रतस्थे=प्रस्थित। अन्याम्=अपराम्, अनयोरिति शेष। दमयन्तीमित्यर्थं। वयस्या = सख्य, "हे प्रियसखि = हे वल्लभवयस्ये !, हे मुग्धे = हे मूढचित्ते !, कान्तारे = दुर्गमे वर्त्मनि, निर्गता = निष्क्रान्ता, असि=वर्तसे, पदवी=मार्ग, विस्मृता किं नु=प्रस्मृता किं नु, त्वयेति शेष। मा रोदी = रोदनं मा कुरु। एहि = आगच्छ। याम. = गच्छामः, सर्वा मिलित्वेति शेष, इति = इत्थम्, उपहृतवचस. = दत्तवचना सत्य., निन्यु = प्रापयामासु·, राजप्रासादमिति शेष· ॥ १३२ ॥

अनुवाद·—तब उन दोनोमे एक (हंस) ने पङ्खोकी कम्परूप चेष्टाओसे कार्य-साफल्यकी सत्ताको स्पष्ट रूपसे जताकर यह सब व्यतीत संभाषणरूप वृत्तान्तको महाराज नलको कहनेके लिए प्रस्थान किया। दमयन्तीको उनकी सखियाँ "हे प्रिय सखि ! हे मूढचित्तवाली ! आप दुर्गम मार्गमे निकली है, राहको भूल गयी है क्या ? मत रोइए। आइए, हम सब चले" इस प्रकारके वचनोंको कहती हुई दमयन्तीको राजप्रासादमे ले गयी ॥ १३२ ॥

टिप्पणी—कम्पभेदैः = कम्पस्य भेदा·, तै· (ष० त०), कार्यसिद्धेः = कार्यस्य सिद्धि, तस्याः (ष० त०)। अस्तित्वम् = विद्यमानका समानार्थक "अस्ति" अव्ययसे त्वप्रत्यय। कथयन् = कथ + णिच् + लट् (शतृ) + सुः। निषधनरपतौ = नराणां पति· (ष० त०), निषधानां नरपतिः, तस्मिन् (ष० त०), विषयमे सप्तमी। आख्यातुम् = आङ् + ख्या + तुमुन्। प्रतस्थे = प्र–उपसर्गपूर्वक स्था धातुसे "समवप्रविभ्यः स्थ" इस सूत्रसे आत्मनेपदमे लिट् + त। वयस्या· = वयसा तुल्या., वयस् शब्दसे "नौवयोधर्म०" इत्यादि सूत्रसे यत् प्रत्यय और टाप्। प्रियसखि = प्रिया चाऽसौ सखी (क० धा०), तत्सम्बुद्धौ। कान्तारे = "कान्तार वर्त्म दुर्गमम्" इत्यमरः। विस्मृता = वि + स्मृ + क्त +

टाप्+सु । मा रोदी = माङ्के योगमे "रुदिर् अश्रुविमोचने" धातुसे अट्के अभावपक्षमे "माङि लुङ्" इससे लुङ्+सिप् । "न माङ्योगे" इससे अट्का अभाव । याम = या+लट्+मस् । उपहृतवचस = उपहृत वचो याभिस्ताः (बहु०) । निन्युः = नी+लिट्+झिः ॥ १३२ ॥

सरसि नृपमपश्यद्यत्र तत्तीरभाजः
स्मरतरलमशोकाऽनोकहस्योपमूलम् ।
किसलयदलतल्पम्लापिन प्राप तं स
ज्वलदसमशरेषुस्पर्धिपुष्पर्द्धिमौलेः ॥ १३३ ॥

अन्वयः—स यत्र सरसि नृपम् अपश्यत्, तत्तीरभाज ज्वलदसमशरेषुस्पर्धिपुष्पर्द्धिमौले. अशोकाऽनोकहस्य उपमूल स्मरतरलं किसलयदलतल्पम्लापिनं तं प्राप ।

व्याख्या—स =हस , यत्र=यस्मिन्, सरसि=कासारसमीपे, नृप=राजानं नलम्, अपश्यत्=दृष्टवान्, तत्तीरभाज.=तत्तटरुहस्य, ज्वलदसमशरेषुस्पर्धिपुष्पर्द्धिमौले = दीप्यमानकामवाणसङ्घर्षिकुसुमसमृद्धिशिखरस्य, अशोकाऽनोकहस्य=अशोकवृक्षस्य, उपमूल=मूल समीपे, स्मरतरल=कामचञ्चलं, किसलयदलतल्पम्लापिन = पल्लवपत्त्रशयनम्लानिकारकं, त=नृपं, नलं, प्राप=प्राप्तवान् ॥ १३३ ॥

अनुवादः—उस हसने जिस तालाबके समीपमे राजा नलको देखा था उसके तीरमे उत्पन्न और चमकते हुए कामबाणोसे स्पर्धा करनेवाले फूलोसे युक्त चोटीवाले अशोक वृक्षके नीचे कामदेवसे चञ्चल, पल्लवोके पत्तेकी सेजको म्लान करने वाले राजाको प्राप्त किया ॥ १३३ ॥

टिप्पणी—अपश्यत् = दृश्+लङ्+तिप् । तत्तीरभाजः = तस्य तीर (ष० त०), तत् भजतीति तत्तीरभाक्, तस्य, तत्तीर+भज्+ण्वि.+ (उपपद०) ङस् । ज्वलदसमशरेषुस्पर्धिपुष्पर्द्धिमौले = न समाः (नञ्०) । असमा. शरा यस्य स. (बहु०), तस्य इषवः (ष० त०) । ज्वलन्तश्च ते असमशरेषव. (क० धा०) । तान् स्पर्धत इति ज्वलदसमशरेषुस्पर्धिनी, ज्वलदसमशरेषु+स्पर्ध+णिनि+ङीप् (उपपद०), पुष्पाणाम् ऋद्धिः (ष० त०) । ज्वलदसमशरेषुस्पर्धिनी चाऽसौ पुष्पर्द्धि. (क० धा०) सा मौलौ यस्य स. (व्यधिकरणबहु०), तस्य । अशोकाऽनोकहस्य = अशोकश्चाऽसौ अनोकह, तस्य (क० धा०) । उपमूल = मूलस्य समीपे, "अव्ययं विभक्ति" समीप०"—इत्यादि सूत्रसे समीप अर्थमे अव्ययीभाव । स्मरतरल = स्मरेण तरल. तम् (तृ० त०) । किसलयदलतल्पम्लापिन = किसलयानां दलानि (ष० त०),

तेषां तल्पं (ष० त०), तत्, म्लापयतीति तच्छील: तम्, किसलदलतल्प+म्लै+णिच्+पुक्+णिनिः (उपपद०)+अम् । प्राप = प्र+आप्+लिट+तिप् । मालिनी छन्द है ॥ १३३ ॥

"परवति दमयन्ति ! त्वां न किञ्चिद्वदामि
द्रुतमुपनम, किं मामाह सा ? शंस हंस !" ।
इति वदति नलेऽसौ तच्छशंसोपनम्रः
प्रियमनु सुकृतां हि स्वस्पृहाया विलम्बः ॥ १३४ ॥

अन्वयः—"परवति हे दमयन्ति ! त्वा किञ्चित् न वदामि" । "हे हस ! द्रुतम्, उपनम सा मां किम् आह ? शस" । इति वदति नले असौ उपनम्र. (सन्) तत् शशस । हि सुकृतां प्रियम् अनु स्वस्पृहाया (एव) बिलम्ब ॥१३४॥

व्याख्या—परवति = हे पराऽधीने !, हे दमयन्ति=हे भैमि ! त्वा = भवती, किञ्चित् = किमपि, न वदामि = न कथयामि, मत्सविधे शीघ्र प्रणयसन्देशः किमर्थं न प्रहित इति कृत्वा नोपालभ इति भाव. हे हंस=हे राजहंस !, द्रुतं = शीघ्रम्, उपनम = समीपम् आगच्छ । सा = दमयन्ती, मा = नल, किम्, आह= वदति, शंस = कथय, तदिति शेष. । इति = एव वदति = भाषमाणे, नले = नैषधे, असौ = हसः, उपनम्र. = समीपमागत सन् तत् = वृत्तान्तजात, शशस= कथयामास । हि = यत', सुकृता = पुण्यात्मना, प्रियम् अनु = इष्टाऽर्थं प्रति, स्वपृहाया' = निजेच्छाया एव, विलम्ब. = समयाधिक्यम्, न तु इच्छाऽनन्तर तत्सिद्धेर्विलम्ब इति भाव ॥ १३४ ॥

अनुवाद.—"हे पराऽधीने दमयन्ति ! मै तुम्हे कुछ भी नही कहता हूँ" । 'हे हंस । तुम शीघ्र मेरे पास आओ । दमयन्ती ने मुझे क्या कहा ? कहो ।" नलके ऐसा कहनेपर उस हसने राजाके समीप आकर सब वृत्तान्त बतलाया, क्योकि पुण्यात्माओको अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिके लिए अपनी इच्छाका मात्र विलम्ब होता है (इच्छाके अनन्तर अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिमे विलम्ब नही होता है) ।

टिप्पणी—परवति = पर+मतुप्+ङीप् (सम्बुद्धिमे), "परतन्त्र पराऽधीनः परवान्नाथवानपि" । इत्यमरः । वदामि = वद+लट्+मिप् । उपनम = उप+नम्+लोट्+सिप् । शस = शंस्+लोट्+सिप् । वदति = वद+लट्(शतृ)+ङि । शशस = शंसँ+लिट्+तिप् । सुकृतां = शोमन कृतवन्त इति सुकृतः, तेषाम्, सु—उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातुसे "सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः" इस सूत्रसे क्विप् प्रत्यय । प्रियम् = "अनु" इस पद की "अनुर्लक्षणे" इस सूत्रसे

कर्मप्रवचनीय सञ्ज्ञा होनेसे उसके योगमे "कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया" इससे द्वितीया। स्वस्पृहायाः = स्वस्य स्पृहा, तस्याः (ष० त०)। इस पद्यमे सामान्यसे विशेषका समर्थन होनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। मालिनी छन्द है॥ १३४॥

कथितमपि नरेन्द्रः शंसयामास हंसं
किमिति किमिति पृच्छन् भाषितं स प्रियायाः।
अधिगतमतिवेलानन्दमार्द्वीकमत्तः
स्वयमपि शतकृत्वस्तत्तथाऽन्वाचचक्षे॥ १३५॥

अन्वयः—स नरेन्द्र कथितम् अपि प्रियाया भाषितं किमिति किमिति पृच्छन् हंसं शंसयामास। (किं च) अतिवेलानन्दमार्द्वीकमत्तः (सन्) अधिगतं तत् स्वयम् अपि शतकृत्व अन्वाचचक्षे॥ १३५॥

व्याख्या—स = पूर्वोक्त, नरेन्द्रः = राजा, नलः, कथितम् अपि = उक्तम् अपि, प्रियाया = दयिताया, दमयन्त्या इत्यर्थ.। भाषित = वचन, किमिति किमिति = कीदृक् कीदृक् इति, पृच्छन् = अनुयुञ्जानः सन्, हस = राजहंसं, शसयामास = पुन आख्यापयामास। (किं च) अतिवेलाऽऽनन्दमार्द्वीकमत्त. = अत्यन्तप्रमोदद्राक्षामदयुक्त (सन्) अधिगत = सम्यग्गृहीत, तत्=हसप्रतिपादितं दमयन्तीभाषित, स्वयम् अपि=आत्मना अपि, शतकृत्व =शतवारम्, अन्वाचचक्षे= अनूदितवान्, मत्तोऽपि उक्तमेव वचन भूयो भूयो वक्तीति भाव॥ १३५॥

अनुवाद.—राजा नलने हंससे कहे गये भी दमयन्तीके वचनको कैसा ? कैसा ? ऐसा पूछकर हंससे फिर कहलवाया। अत्यन्त आनन्दस्वरूप द्राक्षामद्यसे मत्त होकर सुने गये, हंससे प्रतिपादित दमयन्तीके वचनका स्वयम् भी सैकड़ो वार अनुवाद किया॥ १३५॥

टिप्पणी—नरेन्द्र = नराणाम् इन्द्र (ष० त०)। पृच्छन् = प्रच्छ + लट् (शतृ) + सु। हसम् = शंस धातुके शब्दकर्मक होनेसे णिच्के न होनेपर कर्तृ-सञ्ज्ञक हंससे णिच् होनेपर "गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माऽकर्मकाणामणि कर्ता स णौ" इससे कर्मसञ्ज्ञक होकर द्वितीया। शंसयामास = शंस + णिच् + लिट् + तिप्। अतिवेलाऽऽनन्दमार्द्वीकमत्त = अतिवेलश्चाऽसौ आनन्द. (क० धा०)। मृद्वीकाया (द्राक्षाया) विकारो मार्द्वीकम्, मृद्वीका शब्दसे "तस्य विकार" इससे अण्, आदिवृद्धि। अतिवेलाऽऽनन्द एव मार्द्वीक (रूपक०), तेन मत्तः (तृ० त०)। शतकृत्व. = शतवारम्, शत शब्दसे "सङ्ख्यायाः क्रियाऽऽभ्यावृत्ति-गणने कृत्वसुच्" इस सूत्रसे कृत्वसुच् प्रत्यय। अन्वाचचक्षे = अनु + आङ् + चक्षिङ् + लिट् + त। इस पद्यमे रूपक अलङ्कार और मालिनी छन्द है॥१३५॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुत
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
तार्तीयीकतया मितोऽयमगमत्तस्य प्रबन्धे महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ १३६ ॥

अन्वयः—कविराजराजिमुकुटाऽलङ्कारहीरः श्रीहीर मामल्लदेवी च जितेन्द्रियचयं य श्रीहर्षं सुत सुषुवे । तस्य प्रबन्धे चारुणि नैषधीयचरिते महाकाव्ये अय तार्तीयीकतया मित. निसर्गोज्ज्वल॰ सर्ग अगमत् ॥ १३६ ॥

व्याख्या— व्याख्यातपूर्व श्लोक: सक्षेपेण पुनर्व्याख्यायते । कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः = पण्डितश्रेष्ठश्रेणीकिरीटभूषणवज्रमणि , श्रीहीर , मामल्लदेवी च, जितेन्द्रियचय = वशीकृतहृषीकसमूह, य श्रीहर्षं, सुत = पुत्र, सुषुवे = जनयामास । तस्य = श्रीहर्षस्य, प्रबन्धे = रचनाया, चारुणि = सुन्दरे, नैषधीयचरिते = तदाख्ये, महाकाव्ये, अय = सन्निकृष्टस्थः, तार्तीयीकतया = तृतीयत्वेन, मित॰ = परिमित॰ निसर्गोज्ज्वल॰ = स्वभावसुन्दर॰, सर्ग = अध्यायः, अगमत् = गतः समाप्त इति भाव॰ ॥ १३६ ॥

अनुवादः—श्रेष्ठ पण्डितोकी श्रेणीके मुकुटके हीरकस्वरूप श्रीहीर और मामल्लदेवीने इन्द्रियोको जीतनेवाले जिन श्रीहर्ष पुत्रको उत्पन्न किया, उनकी रचनामे सुन्दर, नैषधीयचरित महाकाव्यमे यह तृतीयरूपसे परिमित, स्वभावसे सुन्दर सर्ग समाप्त हुआ ॥ १३६ ॥

टिप्पणी—तार्तीयीकतया = त्रयाणा पूरण तृतीय , 'त्रि' शब्दसे "त्रेः सम्प्रसारणं च" इससे तीय प्रत्यय और सम्प्रसारण । तृतीय एव तार्तीयीक., 'तृतीय' शब्दसे "तृतीयादीकक् स्वार्थे वा वाच्य." इस वार्तिकसे स्वार्थमे विकल्पसे ईकक् प्रत्यय और कित् होनेसे "किति च" इस सूत्रसे आदिवृद्धि । तार्तीयीकस्य भावः तार्तीयीकता, तया तार्तीयीक+तल्+टाप्+टा । शेष भाग पहले के समान ॥ १३६ ॥

इति श्रीचन्द्रकलाऽभिख्यायां नैषधीयचरितव्याख्यायां तृतीयः सर्ग ।

छात्रप्रबोधकरणाऽर्थमयं प्रयास-
ष्टीकाकृतोऽत्र नहि कोऽपि मतिप्रकाशः ।
स्यात्संभ्रमभ्रमकृत मम दूषणं चेत्
क्षाम्यन्तु तद्बुधवराः सुकृत. प्रतीक्ष्याः ॥



श्लोकानुक्रमणिका

(तृतीयः सर्गः)